

# शोध दिशा

ISSN 0975-735X

शोध अंक 15

जुलाई-सितंबर 2011

100 रुपए

## संपादकीय कार्यालय

हिंदी साहित्य निकेतन,

16 साहित्य विहार

बिजनौर 246701 (उ०प्र०)

फोन : 01342-263232, 09368141411

ई-मेल : giriraj3100@gmail.com

वैब साइट : www.hindisahityaniketan.com

## गुड़गाँव कार्यालय

डॉ० मीना अग्रवाल

एफ-403, पार्क व्यू सिटी-2

सोहना रोड, गुड़गाँव (हरियाणा)

फोन : 0124-4076565, 07838090237

## क्षेत्रीय कार्यालय

दिल्ली एन०सी०आर०

अनुभूति

सी-106, शिव कला

बी 9/11, सैक्टर 62, नोएडा

फोन : 09952070700

## हरियाणा, हिमाचल एवं पंजाब

डॉ० हरिशरण वर्मा

710/35 जनता कालोनी

रोहतक (हरियाणा) 124001

फोन : 01262-248211, 09355676460

(सभी पद मानद एवं अवैतनिक हैं।)

## संपादक

डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल

## प्रबंध संपादक

डॉ० मीना अग्रवाल

## अतिथि संपादक

डॉ० किरण वालिया

## संयुक्त संपादक

डॉ० शंकर क्षेम

## सहसंपादक

डॉ० रश्मि त्रिवेदी

## कला संपादक

गीतिका गोयल/ 09582845000

अनुभूति/ 09952070700

## उपसंपादक

डॉ० अशोककुमार/ 09557746346

## विधि परामर्शदाता

अनिलकुमार जैन, एडवोकेट

## आर्थिक परामर्शदाता

ज्योतिकुमार अग्रवाल, सी०ए०

## शुल्क

आजीवन : तीन हजार रुपए

वार्षिक शुल्क : चार सौ रुपए

यह प्रति : एक सौ रुपए

प्रकाशित सामग्री से संपादकीय सहमति आवश्यक नहीं है। पत्रिका से संबंधित सभी विवाद केवल बिजनौर स्थित न्यायालय के अधीन होंगे। शुल्क की राशि 'शोध दिशा' बिजनौर के नाम भेजें। (सन् 1989 से प्रकाशन-क्षेत्र में सक्रिय)

स्वत्वाधिकारी, मुद्रक, प्रकाशक डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल द्वारा श्री लक्ष्मी आफसैट प्रिंटर्स, बिजनौर 246701 से मुद्रित एवं 16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ०प्र०) से प्रकाशित। पंजीयन संख्या : UP HIN 2008/25034

संपादक : डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल

## परामर्श-मंडल

- डॉ० आर.पी.सिंह (पूर्व कुलपति, मेरठ विश्वविद्यालय) प्राचार्य बरेली कॉलेज, बरेली (उ०प्र०)
- डॉ० अशोक चक्रधर, उपाध्यक्ष केंद्रीय हिंदी संस्थान आगरा एवं हिंदी अकादमी दिल्ली
- डॉ० हरिमोहन, प्रोफेसर हिंदी विभाग, के०एम०मुंशी हिंदी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा (उ०प्र०)
- डॉ० हरमहेंद्रसिंह बेदी, पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर
- डॉ० रामसजन पांडेय, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)
- डॉ० आनंदप्रकाश त्रिपाठी, अध्यक्ष हिंदी अध्ययन मंडल, डॉ० हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर
- डॉ० मीताली भट्टाचार्य, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, बैंगलौर विश्वविद्यालय, बैंगलौर (कर्नाटक)
- डॉ० पद्मा पाटिल, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर (महा०)
- डॉ० पद्मा सिंह, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इंदौर (म०प्र०)
- डॉ० पद्मा पाटिल, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर (महा०)
- डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण', (पूर्व प्राचार्य) 74/3 नया नेहरूनगर, रुड़की (उत्तराखंड)
- डॉ० आदित्य प्रचंडिया, प्रोफेसर हिंदी विभाग, दयालबाग एजुकेशनल इंस्टीट्यूट (डीम्ड यूनिवर्सिटी) दयालबाग, आगरा (उ०प्र०)
- डॉ० माया टाक, प्रोफेसर संगीत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज०)
- डॉ० अनिलकुमार जैन, प्रोफेसर हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज०)
- डॉ० हनुमानप्रसाद शुक्ल, प्रोफेसर हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज०)
- डॉ० बाबूराम, एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी-विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र (हरियाणा)
- डॉ० मुकेश गर्ग, रीडर हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- डॉ० जितेंद्र वत्स, प्रोफेसर हिंदी विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया (बिहार)
- डॉ० दिनेशकुमार चौबे, हिंदी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग (मेघालय)
- डॉ० लालबहादुर रावल, प्राचार्य, आर०एस०एम० स्नातकोत्तर महाविद्यालय, धामपुर (उ०प्र०)
- डॉ० महेश दिवाकर, अध्यक्ष हिंदी विभाग, गुलाबसिंह कॉलेज, चाँदपुर (उ०प्र०)
- डॉ० शाहबुद्दीन शेख, प्राचार्य, लोकसेवा कला व विज्ञान महा०, औरंगाबाद (महा०)
- डॉ० महेशचंद्र, एसो० प्रोफेसर हिंदी विभाग, मेरठ कॉलेज (चौ० चरणसिंह विश्वविद्यालय), मेरठ (उ०प्र०)
- डॉ० हरeram पाठक, अध्यक्ष हिंदी विभाग, डिगबोई महिला महाविद्यालय, डिगबोई (तिनसुकिया) असम
- डॉ० शंभुनाथ तिवारी, रीडर हिंदी विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, भीलवाड़ा (राज०)
- डॉ० सुरेंद्र विक्रम, अध्यक्ष हिंदी विभाग, लखनऊ क्रिश्चियन कॉलेज, लखनऊ (उ०प्र०)
- डॉ० श्यामधर तिवारी, प्रोफेसर हिं०वि०, संघटक महाविद्यालय पौड़ी, गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर
- डॉ० प्रवीणकुमार वर्मा, रीडर हिंदी विभाग, सनातन धर्म कॉलेज, पलवल (हरियाणा)
- डॉ० संतोषकुमार गौड़, एसो० प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ (उ०प्र०)
- डॉ० सभापति मिश्र, पूर्व प्राचार्य, हॉडिया पोस्टग्रेजुएट कॉलेज, हॉडिया (इलाहाबाद)
- डॉ० घनश्याम अरोरा, पूर्व रीडर इतिहास विभाग, वर्धमान कालेज, बिजनौर (उ०प्र०)

## साहित्य में आंदोलनात्मक खेमाबंदी

साहित्य की रचनात्मक गतिविधियों को जितनी क्षति आंदोलनात्मक खेमाबंदी अथवा किसी और प्रकार की धड़ेबंदी से पहुँचती है, उतनी किसी और कारण से नहीं पहुँचती। यह बात निस्संकोच कही जा सकती है कि कला और साहित्य के क्षेत्र को जितनी स्वाधीनता, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, आत्मनिर्णय की प्रवृत्ति चाहिए, उतनी स्वायत्तता किसी और क्षेत्र के लिए नहीं चाहिए। हर व्यक्ति अपना कोई भी व्यवसाय किसी भी अन्य व्यक्ति के साथ या उसके मार्गदर्शन में करने के लिए स्वतंत्र है। वह साझे में दुकान कर सकता है, उद्योग लगा सकता है, कृषिकार्य कर सकता है, शिक्षा-संबंधी कोई व्यवसाय कर सकता है, राजनीति कर सकता है। इन सभी कामों में वह किसी अन्य के मार्गदर्शन का लाभ भी उठा सकता है, परंतु कला और साहित्य के रचनात्मक क्षेत्र में ऐसी किसी भी साझेदारी या किसी अन्य से मार्गदर्शन लेने की संभावना नहीं है। साहित्य का सृजन पूर्ण रूप से रचनाकार का व्यक्तिगत दायित्व है। इसमें न तो किसी का सहयोग लिया जा सकता है, न किसी को भागीदार ही बनाया जा सकता है और न ही किसी से दिशा-निर्देश ही लिया जा सकता है। रचनाकार को अपने-आप निर्णय लेना होता है, अपने अनुभव का स्वयं विश्लेषण करना होता है और लेखनकार्य की दिशा स्वयं निर्धारित करनी होती है। जब भी रचनाकार के सर्वाधिकार-संपन्न अस्तित्व पर चोट पड़ी है, रचना का स्तर गिरा है और उसकी पवित्रता पर आँच आई है।

कला के क्षेत्र में काम करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह अपने आप पर ध्यान देते हुए संसार के उस सबसे बड़े रचयिता का ध्यान करे, जिसकी रचनाधर्मिता में किसी अन्य का कोई हस्तक्षेप नहीं होता। वह रचता है, अपने निर्णय से, अपने निश्चय के साथ, पूर्ण स्वतंत्रता और पूरे अधिकार से। ब्रह्मांड के रचयिता को न कोई परामर्श देनेवाला है और न कोई दिशा बतानेवाला, न समय की सूचना देनेवाला, न साँचे और न रूप-रंग की जानकारी देनेवाला। अपनी रचनाओं को अस्तित्व में लाने के लिए वह पूर्ण रूप से स्वतंत्र और सर्वाधिकार-संपन्न है। छोटे स्तर पर ऐसा ही रचनाकार साहित्य और कला के क्षेत्र में काम करनेवाला व्यक्ति भी है। उसे भी लगभग उतना ही स्वतंत्र और स्वावलंबी होना चाहिए, जितना संसार का सबसे बड़ा रचयिता है। कारण यह है कि रचनाधर्मिता को बाहर का कोई भी हस्तक्षेप स्वीकार नहीं है। बाहर का हस्तक्षेप रचनाकार के विवेक और उसके स्वतंत्र निर्णय पर यदि प्रभाव डालता है तो रचना की वह शुद्धता ख़तरे में पड़ जाती है, जो हस्तक्षेप न होने की स्थिति में शेष रह सकती है।

अंतर यह है कि साहित्यकार और कलाकार को अपने आरंभ और अभ्यास के दिनों

में शिक्षण और प्रशिक्षण की प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है, उसे बहुत ही चीजें सीखनी होती हैं। कला और साहित्य के क्षेत्रों से संबंधित ज्ञान भी अर्जित करना होता है। लंबे अभ्यास से उसे अपने विषय में परिपक्वता भी प्राप्त करनी होती है। ज्ञान और परिपक्वता की प्राप्ति के बाद ही वह अपनी रचनात्मक गतिविधियों को स्वतंत्रतापूर्वक चलाने का अधिकारी बनता है, जबकि ब्रह्मांड के सबसे बड़े रचयिता के लिए शिक्षण और अभ्यास की जरूरत नहीं है। कलाकार और साहित्यकार मनुष्य हैं, किंतु सृष्टि का रचयिता वह मनुष्य नहीं है। पर सृजन के स्तर पर दोनों ही पूर्ण स्वतंत्रता के अधिकारी हैं। यदि उन्हें पूर्ण व्यक्तिगत स्वतंत्रता नहीं दी जाती तो उनसे किसी उत्तम और उच्चस्तरीय रचना की आशा भी नहीं की जा सकती।

बाहर के किसी हस्तक्षेप की बात तो बहुत दूर की है, यदि साहित्यकार अपनी सोच पर स्वयं अपनी इच्छा से कोई मत, कोई विशेष विचारधारा, कोई मान्यता हावी कर लेता है और वह मत या मान्यता उसकी स्वतंत्र सोच को प्रभावित या उसकी रचनात्मक गतिविधियों में हस्तक्षेप करने लगती है तो निश्चित रूप से सृजनात्मक निष्पक्षता प्रभावित होती है। साहित्य में बाहर के हस्तक्षेप या मान्यताओं को स्वीकार करने की समस्या वर्तमान समय की देन है। पहले यह समस्या नहीं थी। कबीर, तुलसीदास, जायसी, मीरा अथवा ग़ालिब से क्या कभी किसी ने यह कहा था कि ऐसा न लिखकर वैसा लिखो। इस विषय पर न लिखकर उस विषय पर लिखो अथवा इस शैली में न लिखकर उस शैली में लिखो। उक्त साहित्यकारों ने वही लिखा, जिसका निर्णय उन्होंने स्वयं स्वतंत्रतापूर्वक किया। जीवन से जुड़े विभिन्न पक्षों के वही निष्कर्ष निकाले, जो उन्हें स्वयं सच दिखाई दिए। तब कोई भी ऐसा नहीं था, जो उनकी रचनात्मक गतिविधियों में हस्तक्षेप करता। यह बात भी स्पष्ट कर देनी चाहिए कि रचना के अस्तित्व में आने के उपरांत किसी अन्य से विचार-विमर्श करना बिलकुल अलग बात है और रचनात्मक प्रक्रिया के बीच किसी अन्य का मार्गदर्शन ग्रहण करना बिलकुल दूसरी बात। यहाँ मेरा अभिप्राय दूसरी स्थिति से है। यदि कोई रचनाकार अस्तित्व में आ गई कृति पर किसी अन्य से विचार-विमर्श करता है और उसके किसी बेहतर सुझाव को मानते हुए अपनी रचना में कोई जरूरी संशोधन भी कर देता है तो रचनाकार का यह आचरण आपत्तिजनक नहीं है। यह आपत्तिजनक उस समय हो जाता है, जब साहित्यकार अपनी रचनात्मकता को सृजन-कार्य से पूर्व ही, उन मान्यताओं या परामर्शों को सौंप देता है, जिनसे उसका कोई व्यक्तिगत सरोकार नहीं होता।

हमने कहा था कि साहित्य की नितांत व्यक्तिगत क्रियाशीलता में बाहरी हस्तक्षेप की समस्या वस्तुतः वर्तमान युग की देन है। जैसे-जैसे देश में राजनीति का प्रभाव बढ़ता गया, जैसे-ही-वैसे सामाजिक जीवन के अन्य पक्षों के साथ-साथ साहित्य और कला के क्षेत्र भी इसकी सीमाओं में आते चले गए। साहित्य में अनेक आंदोलन शुरू हुए, गुटबाँदियाँ हुईं, विचारधाराओं के आधार पर साहित्यकार बँटे। इतने वर्ग बन गए कि आज उनकी गिनती करना भी आसान नहीं है। राजनीति ने साहित्य पर जबरदस्त धावा बोला। यह सिलसिला अब भी चल रहा है, बंद होनेवाला नहीं है। साहित्यकारों का किसी आंदोलन या विचारधारा से जुड़ना कोई

बुरी बात नहीं थी, इस शर्त के साथ कि वे अपनी वैचारिक एवं रचनात्मक स्वतंत्रता बनाए रखते। किंतु ऐसा नहीं हुआ। अनेक साहित्यकार अपनी व्यक्तिगत और वैचारिक स्वतंत्रता गवाँ बैठे। उन्होंने किसी आंदोलन या किसी भीड़ का अंग बनकर वैसी ही बोलियाँ बोलनी पसंद कीं, जो उनके भीतर से नहीं निकली थीं, बाहर से आयात की जा रही थीं।

साहित्य में आंदोलनों का जो सिलसिला प्रगतिशील विचारधारा के साथ शुरू हुआ था, वह आगे चलकर दलित साहित्य, विद्रोही साहित्य तथा आधुनिक और अति आधुनिक साहित्य तक पहुँचा। ट्रेड मार्क लगे इस साहित्य के अंतर्गत लिखा तो बहुत गया, किंतु साहित्यिक स्तर पर बहुत कम टिक पाया। हम यहाँ इन सभी विचारधाराओं की चर्चा करेंगे और यह बताएँगे कि किसी राजनीतिक और सामाजिक विचारधारा को साहित्य में प्रयोग करने की स्वस्थ विधि क्या हो सकती है? नारों के साथ बह जाने तथा विचारधारा को आत्मसात करने के बीच जो अंतर होता है, उसे समझे बिना हम सही निष्कर्षों पर नहीं पहुँच पाएँगे।

सिद्धांत, दर्शन और विचारधारा साहित्य का लक्ष्य नहीं होते। वे सच्चाई को समझने और सही निष्कर्षों तक पहुँचने का माध्यम होते हैं। एक साहित्यकार इन माध्यमों द्वारा अपनी प्रतिक्रियाओं तथा अनुभवों की जाँच-परख कर सकता है। उनके माध्यम से अपने निष्कर्षों का विश्लेषण भी कर सकता है। किंतु अभिव्यक्ति के क्षण आने पर उसे इन सबकी पकड़ से मुक्त हो जाना होता है। अगर मुक्त नहीं होगा तो वह रचनाधर्मिता के प्रति न्याय नहीं कर सकेगा। वास्तव में रचनात्मक गतिविधियों के क्षण ऐसी प्रेमिका की तरह होते हैं, जो रचनाकार के स्वतंत्र अस्तित्व के अतिरिक्त किसी और को सहन नहीं करते।

सबसे पहले प्रगतिशील लेखकों के आंदोलन की बात लेते हैं। भारत में प्रगतिशील लेखक संघ की नींव 1936 में रखी गयी थी। सोवियत संघ अस्तित्व में आ चुका था। रूस में आई मजदूर क्रांति ने पूरे विश्व का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया था। भारत अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व में अँग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ रहा था। पुरानी परंपराएँ टूट रही थीं। समाज के सामंती ढाँचे पर रुक-रुककर चोट पड़ रही थी। राजा-महाराजाओं तथा समाज के संभ्रांत वर्गों का मनोरंजन करनेवाली ललितकलाओं की धारा अपनी दिशाएँ बदलकर सामाजिक संदर्भों की ओर मुड़ने लगी थीं। रूस तथा अन्य देशों के जनवादी लेखकों का साहित्य भारतीय भाषाओं में अनुवादित होकर हम तक पहुँचने लगा था। कहानी सम्राट् प्रेमचंद ने हिंदी-कथासाहित्य को नई दिशाओं की तरफ़ मोड़ना शुरू कर दिया था। रूस की लाल क्रांति भारतीय नौजवानों का आदर्श बन रही थी। जोशीले क्रांतिकारी नौजवान सामंती युग की नैतिक व्यवस्था पर विद्रोही तेवरों के साथ हमले कर रहे थे। प्रेमचंद ने मनोरंजक साहित्य की परंपरा का त्याग करते हुए सुधारवादी साहित्य की रचना आरंभ की। साहित्य में निचले वर्गों का आम आदमी जगह पाने लगा। इस वातावरण में जो दो परस्पर विरोधी विचारधाराएँ भारत के नए साहित्यकारों में लोकप्रिय हुईं, उनमें से एक विचारधारा मार्क्सवाद की तरफ़ जाती थी और दूसरी फ्रायडवाद की तरफ़। मार्क्सवाद समाज में मजदूर-क्रांति का बिगुल बजाता था, जबकि फ्रायडवाद मनोवैज्ञानिक तथा यौन-संबंधी मूलप्रवृत्तियों के यथार्थ

पर बल देता था। बीसवीं शताब्दी के छठे दशक तक यह रोचक स्थिति बनी रही कि भारत के साहित्यकार तथा आम बुद्धिजीवी मार्क्सवाद और फ्रायडवाद के बीच कोई विशेष अंतर नहीं करते थे। मार्क्सवादी दर्शन को माननेवाले भी प्रगतिशील समझे जाते थे, और फ्रायड के सैक्स दर्शन को माननेवाले भी। दोनों की लड़ाई पुरानी परंपराओं, रीति-रिवाजों तथा प्राचीन नैतिक एवं धार्मिक व्यवस्था के विरुद्ध थी। कई दशक तक यह घालमेल चलता रहा। यही वह समय था, जब साहित्य के मंच पर व्याख्याकारों का उदय हुआ। उनमें से एक समूह ने साहित्य की व्याख्या फ्रायड के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से की तो दूसरे ने कार्लमार्क्स के भौतिक दर्शन से। भारतीय लेखकों ने दोनों को एक साथ ग्रहण किया। दोनों दर्शनों का साथ-साथ ग्रहण करना भी कोई आपत्तिजनक बात नहीं थी, क्योंकि यदि कोई दर्शन मनुष्य और उसके जीवन को समझने, अपने समय की सच्चाई को सामने लाने तथा यथार्थ तक पहुँचने में सहायक बन रहा है तो उसे अपनाने में कोई संकोच नहीं किया जाना चाहिए। किंतु जब कोई दर्शन, विचारधारा या दृष्टिकोण, रचनाधर्मिता पर वर्चस्व स्थापित करने लगता है और अभिव्यक्ति पर हावी हो जाता है तो साहित्यिक रचनाओं की मौलिकता ख़तरे में पड़ जाती है। साहित्य के साथ पिछले दौर में यही हुआ।

साहित्य के मंच पर व्याख्याकारों के जिस दल का उदय हुआ था, उनमें से एक ने मार्क्सवाद के क्रांतिकारी दर्शन को रचनात्मक लेखन में ज्यों-का-त्यों उँडेलने की वकालत की। उन्होंने प्रयास किया कि साहित्य साम्यवादी क्रांति लाने में सहायक बने। वह एक ऐसी पीढ़ी तैयार करे, जो देश में वैसी मजदूर-क्रांति ला सके जैसे 1917 के रूस में आई थी। व्याख्याकारों ने कार्लमार्क्स के आर्थिक, सामाजिक एवं ऐतिहासिक भौतिकवाद से संबंधित सिद्धांतों की लंबी-लंबी चर्चाएँ कीं। पर चर्चाएँ साहित्य की सीमाओं से आगे बढ़कर राजनीतिक सीमाओं में प्रवेश कर गईं। यहाँ तक कि प्रगतिशील साहित्य के प्रहरी राजनीति के चक्रव्यूह में फँसते चले गए।

मार्क्स और उसके दर्शन को समझना ग़लत नहीं था। मार्क्स द्वारा वर्ग-संघर्ष पर दिए गए विचारों से परिचित होना भी ग़लत नहीं था। उसके द्वारा सुझाए गए ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत का गहराई से ज्ञान प्राप्त करना भी ग़लत नहीं था। मार्क्स के समाजवाद या साम्यवाद का पक्षधर होने में भी कोई बुराई नहीं थी। शोषितों और शोषणकर्त्ताओं का जो विश्लेषण मार्क्स ने सामाजिक इतिहास की पृष्ठभूमि में किया था, उसे अपने ज्ञान का आधार बनाना भी ग़लत नहीं था। पर गहराई से समझने की जो बुनियादी बात थी, वह यह थी कि इस ज्ञान को साहित्य में प्रयोग करने का तरीका क्या होना चाहिए। इसे चिंतन का आधार बनाना चाहिए या आवेश में भरकर राजनीति करने का। खेद यह है कि साहित्यकारों ने पहला रास्ता ग्रहण नहीं किया, दूसरा किया और इस दूसरे रास्ते पर चलकर राजनीति करने में लग गए। यहाँ तक कि वे साहित्य की मौलिकता से दूर हो गए। लगभग यही दशा फ्रायडवादियों की भी रही। फ्रायड के दर्शन को पढ़ना ग़लत नहीं था। सैक्स और मनोविज्ञान-संबंधी उसके विचारों से परिचित होना भी ग़लत नहीं था। चेतन, अवचेतन तथा अर्द्धचेतन अवस्था पर उसके द्वारा किए गए शोध

की जानकारी अर्जित करना भी ग़लत नहीं था। फ्रायड द्वारा मनुष्य की सैक्स-संबंधी मौलिक प्रवृत्तियों का ज्ञान प्राप्त करने में भी कोई बुराई नहीं थी, पर साहित्यकार के रूप में हमें यह जानना चाहिए था कि उक्त दोनों दार्शनिकों के परस्पर विरोधी विचारों को किस तरह पचाया जाना चाहिए और इन्हें अपने द्वारा खोजे गए यथार्थ को जाँचने की कसौटी किस प्रकार बनाया जा सकता है। कार्ल मार्क्स दावा कर रहा था कि मनुष्य और समाज की सोच और उसका क्रियात्मक जीवन आर्थिक परिस्थितियों तथा उत्पादन के सामाजिक साधनों के तहत नियंत्रित होता है। फ्रायड कह रहा था कि मनुष्य के अधिकतर क्रियाकलापों के पीछे उसकी यौन-भावनाएँ काम करती रहती हैं। साहित्यकार के स्तर पर हमारा काम यही नहीं था कि इन पर पूर्ण रूप से निर्भर हो जाएँ, इन्हें अपनी अभिव्यक्ति का केंद्र बना लें। ज़रूरी यह था कि हम इन्हें अपने व्यक्तिगत अनुभवों के सच को परखने की कसौटी से अधिक बड़ा स्थान न दें और सावधान रहें कि साहित्य पर बाहर से लादे जा रहे विचार हावी तो नहीं होते जा रहे हैं। हमारे बुद्धिजीवियों ने यह सावधानी नहीं बरती। परिणामतः रचनाकार के रूप में वे वह वैचारिक स्वाधीनता खो बैठे, जो कला की रीढ़ है।

चर्चा हमने प्रगतिशील आंदोलन को लेकर शुरू की। हम बता रहे थे कि इस आंदोलन के साहित्यिक पक्ष पर साम्यवादी राजनीति ने किस तरह छापामारी की। साहित्यकार इस तथ्य को नहीं समझ पाए कि वे क्रांतिकारी योद्धाओं की अग्रिम पंक्ति के लड़ाकू अथवा सैनिकों को ललकारने वाला जत्था नहीं हैं। उनका काम जनमानस में जागरूकता लाना है। उन्हें एक ऐसा वातावरण तैयार करना है, जिसके माध्यम से जनमानस समय की माँग को ज्यादा बेहतर और गहराई के साथ समझ सके। वे यह नहीं समझ सके कि साहित्यकार का काम राजनेता या एक समाजसेवक से बिलकुल भिन्न होता है। वह प्रचारक नहीं है, प्रवक्ता भी नहीं है। वह साहित्यकार है और उसका पहला और आखिरी दायित्व यह है कि वह जो शब्द भी अपने पाठकों या श्रोताओं के सामने रखे, वे कलात्मक सौंदर्य तथा कला के आकर्षण से परिपूर्ण हों। ऐसी कोई भी अभिव्यक्ति साहित्य का रूप धारण नहीं कर सकती, जिसमें कला का सौंदर्य व्याप्त न हो। प्रगतिशील आंदोलन के विस्तार में अधिकतर साहित्यकार प्रचार-सामग्री लिखने और उसे प्रसारित करने में लग गए। ऐसे साहित्यकारों को लगता था कि ऐसा करके वे देश में क्रांति लाने का काम कर सकते हैं।

रेल का पहिया जाम करेंगे

या

यह भी है हिटलर का चेला

मार ले साथी, जाने न पाए

जैसी पंक्तियों ने उस समय धूम तो बहुत मचाई, किंतु न तो ऐसी पंक्तियाँ कोई क्रांतिकारी सेना ही तैयार कर सकीं और न ही साहित्य में कोई सकारात्मक वृद्धि ही कर सकीं। नासमझी में अपनाई गई डगर पर चलने से साहित्य को लाभ की जगह नुकसान ही हुआ। साहित्य के प्रेमियों ने न तो इसे गंभीरता से ही लिया और न वे इससे प्रभावित ही हुए। यह

तथ्य नहीं समझा गया कि लोग साहित्यिक रचनाओं से जो अपेक्षा करते हैं, वह प्रचार-सामग्री से बहुत अलग होती है। राजनीतिक दलों के घोषणा-पत्रों को साहित्य-रचना कहकर पाठकों या श्रोताओं के सामने नहीं परोसा जा सका। साहित्य मनुष्य को भीतर से उद्वेलित करता है, बाहर से उत्तेजित नहीं कर पाता। यदि करता भी है तो बहुत थोड़ी देर के लिए। उसका प्रभाव देर तक नहीं बना रहता। क्रांतिकारी विचारों को साहित्य के रूप में ढालकर अभिव्यक्त करना बिलकुल अगल बात है और क्रांति के नाम पर क्रांति की ज़ोर-ज़ोर से मुनादी पीटना बिलकुल दूरी बात। बहुत से साहित्यकार इस दूसरी डगर पर चले, पहली पर नहीं। परिणामतः प्रगतिशील साहित्य के नाम पर एक ऐसी रचना-सामग्री का अंबार लगता गया, जो लेखन की श्रेणी में तो आता था, साहित्य के क्षेत्र में नहीं आता था। आश्चर्य यह है कि यह रज़ान अब तक पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ है। उदाहरण के लिए कुछ ही वर्ष पहले छपी इस कविता पर दृष्टि डालिए—

आज आत्मा की पूरी शक्ति से  
 खुद को याद कर लो  
 आज ईश्वर के घर में संध लगानी है  
 बहुत मोटी दीवारें हैं, उसके घर की  
 देह में जितनी बिजली है  
 मन में जितनी आग है  
 एक साथ मिलाकर जुट जाना है हमें  
 अंतःपुर से ज़्यादा  
 मेहनत करनी होगी  
 तहख़ाने तक पहुँचने में  
 यहीं है दबी  
 ईश्वर के जुल्मों की किताब  
 इसी का भय दिखाकर  
 उसने जमा किया है अकूत ख़ज़ाना।

जाने किसके भाग्य से  
 वह बचता आया है  
 छोड़ना नहीं है कोई रास्ता  
 उसके बच निकलने का  
 करनी नहीं है चूक।

यह कविता जो 'आत्मा की पूरी शक्ति' शीर्षक से प्रकाशित हुई थी, प्रगतिशील लेखकों में से अधिकतर के दृष्टिकोण का सही अर्थों में प्रतिनिधित्व करती है। कार्लमार्क्स ने कहीं यह टिप्पणी की थी कि 'धर्म जनता के लिए अफ़ीम के समान है'। फ़ैशन के लिए



प्रगतिशील बने पत्रकार ईश्वर की कल्पना को जनजीवन से बाहर निकालने के अभियान में जुट गए। उन्होंने धर्मों की उत्पत्ति और उनके विकास के इतिहास पर ध्यान नहीं दिया। इस बात का अध्ययन नहीं किया कि राजशाही के अस्तित्व में आने और राजा के सर्वशक्तिमान बन जाने से धर्म की उत्पत्ति और ईश्वर की कल्पना का क्या ऐतिहासिक संबंध है। उन्होंने मार्क्स की इस टिप्पणी को मात्र एक नारे की तरह लिया और ईश्वर की कल्पना को खारिज करने पर तुल गए। ऊपर अंकित कविता, भगवान के घर में सेंध लगाने और उसे बच निकलने का कोई रास्ता न देने का जो वर्णन करती है, उसमें कहीं-से-कहीं तक भी कलात्मकता नहीं है, कला का सौंदर्य नहीं है। इसमें निम्न स्तर की ईश्वर-विरोधी भावनाएँ तो व्यक्त हुई हैं, पर बुद्धि के स्तर पर कोई ऐसी बात नहीं कही गई है, जो विवेकशील पाठकों को प्रभावित कर सकती है। इसमें कलम से नहीं, लाठी से काम लेने की प्रवृत्ति है।

मैं व्यक्तिगत स्तर पर किसी भी साहित्यकार को यह स्वतंत्रता देने को तैयार हूँ कि वह ईश्वर की कल्पना को बौद्धिक स्तर पर नकारना चाहे तो नकारे, लेकिन इस शर्त के साथ कि उसकी अभिव्यक्ति में साहित्य का उच्चस्तरीय रचाव हो, मात्र तलवारबाजी न हो। ऊपर की ईश्वर-विरोधी कविता की तुलना में 'फ़िराक़' गोरखपुरी की दो पंक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं। इन्हें पढ़कर भली प्रकार यह अनुमान लगाया जा सकता है कि रचनात्मकता और गैर-रचनात्मकता के बीच क्या अंतर होता है। साहित्य कैसे अस्तित्व में आता है और साहित्य के नाम पर काग़ज़ की तलवार कैसे घुमाई जाती है। 'फ़िराक़' ने भी ईश्वर के अस्तित्व पर लिखा, लेकिन उसके घर में सेंध लगाकर मार डालने के लिए शोर नहीं मचाया। कहा—

खुदा को एहले-जहाँ जब बना चुके तो 'फ़िराक़'

पुकार उठे कि खुदा ने हमें बनाया है।

फ़िराक़ ने धर्मों के पूरे इतिहास को दो पंक्तियों में समेट लिया है। उसने अति सुंदर संकेतों द्वारा यह बता दिया है कि ईश्वर को स्थापित करनेवाला भी ईश्वर नहीं है, मानव है। यह अलग बात है कि मानव अब इसका श्रेय स्वयं को न देकर उसे दे रहा है, जिसे अस्तित्व में लानेवाला वह खुद ही है। आस्थावान लोग चाहे 'फ़िराक़' के कथन से स्वयं को सहमत न कर पाएँ, किंतु शेर के प्रभावपूर्ण एवं उच्चस्तरीय होने से इंकार नहीं करेंगे। सोचिए कि ऐसा क्यों है? ईश्वर का विरोध दोनों में है। ऊपर लिखी कविता में भी और फ़िराक़ के शेर में भी। पर कविता का ईश्वर के घर में सेंध लगाना तथा भगवान को बच निकलने का रास्ता तक भी न देना सुनने-पढ़नेवालों को किसी भी तरह प्रभावित नहीं करता। उन्हें भी नहीं, जो नास्तिक हैं और भगवान में विश्वास नहीं करते। क्यों? इसलिए कि बात को जिस तरह कहा गया है वह साहित्य के स्तर में नहीं है और साहित्य का अंश नहीं बन पाई है। जबकि फ़िराक़ ऐसी ही ईश्वर-विरोधी दो पंक्तियाँ लिखकर आस्थावान लोगों को भी प्रशंसा करने के लिए बाध्य कर रहे हैं।

यह स्थिति कैसे उत्पन्न हुई? दो साहित्यकारों के ये अलग-अलग दृष्टिकोण कैसे बन गए? इन प्रश्नों का उत्तर एक ही है, कविता के लेखक ने बाहर के प्रभाव को अपने मस्तिष्क

में जगह दी। स्वतंत्रतापूर्वक विचार और मनन नहीं किया। व्यक्तिगत स्तर पर निष्कर्ष नहीं निकाला। महज एक टिप्पणी या वातावरण में उछाले गए एक नारे की प्रतिक्रिया को गैर साहित्यिक भाषा में व्यक्त कर दिया। साहित्यकार के वैचारिक स्तर पर किसी आंदोलन का हिस्सा बनने या किसी विचारधारा को ओढ़ लेने का जो दुष्परिणाम होता है, वह ऊपर की कविता से सरलतापूर्वक समझा जा सकता है। साथ ही फिराक की पंक्तियों से यह तथ्य भी समझा जा सकता है कि साहित्यकार वैचारिक स्तर पर स्वतंत्र और स्वावलंबी हो तो वह अपने दायित्व का निर्वाह बेहतर ढंग से कर सकता है। कला के क्षेत्र में काम करनेवालों पर यह शर्त तो कदाचित नहीं लगाई जा सकती कि वे किसी विचारधारा या किसी आंदोलन आदि से न जुड़ें, पर इस आग्रह के साथ कि अपनी समस्त प्रतिबद्धता के बावजूद वे एक रचनाकार के रूप में अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता को बचाए और बनाए रखें। रचनात्मक प्रतिभा को विचारधारा से सशक्त तो करें, पर उसे विचारधारा का बंधक न बनने दें।

प्रतिबद्धता किसी भी तरह की हो, यदि वह साहित्यकार के चिंतन को बंधक बना लेती है तो यह रचनाधर्मिता के लिए सबसे हानिकारक स्थिति है। किसी आंदोलन या वैचारिक खेमाबंदी से जुड़ जाने की बात तो भिन्न है, व्यक्तिगत क्रोध, आदेश अथवा प्रतिशोध की भावना भी यदि किसी साहित्यकार के चिंतन पर अपना वर्चस्व जमा लेती है, उस स्थिति में भी एक साहित्यकार से संतुलित, सुंदर और रचनात्मक सृजन की आशा नहीं की जा सकती। बंगला देश की सुविख्यात लेखिका तसलीमा नसरीन का एक कविता-संग्रह छपा था। उसमें तसलीमा की एक प्रतिशोधात्मक कविता सम्मिलित थी। अंग्रेजी में छपी इस कविता का हिंदी में अनुवाद कुछ इस तरह किया जा सकता है—

जी चाहता है  
 एक शाम किसी पार्क से  
 एक हट्टे-कट्टे, सुंदर, सुडौल नवयुवक को  
 दस-बीस टके देकर  
 खरीद लाऊँ  
 और उसे अपने शयनकक्ष में  
 रौदूँ, निचोड़ूँ  
 मनचाहे ढंग से खेलूँ उसके साथ  
 और अंत में  
 चूतड़ों पर लात मारकर कहूँ  
 जा ससाले!

क्या आप इसे कविता कहेंगे? ये क्रोध और प्रतिशोध की भावना से लिखी गई कुछ ऐसी पंक्तियाँ हैं, जिनमें सिर्फ शब्द हैं, साहित्य नहीं है। इसमें एक ऐसी नारी का गुस्सा है, जो पुरुषों का भी उसी तरह शोषण करना चाहती है, जैसा शोषण शताब्दियों से उसका होता रहा है। गुस्से में वह सब-कुछ वैसा ही करना चाहती है, जैसा पुरुष-प्रधान समाज में उसके

साथ होता आ रहा है। लेकिन सवाल यह है कि यदि ऐसा हो भी जाए तो क्या यौन-शोषण की उस समस्या का समाधान हो जाएगा, जिसके विरुद्ध तसलीमा नसरीन के मन का ज्वालामुखी फटा है। इससे तो यही होगा कि जिस प्रकार का शोषण आज नारी-जाति का वह कर रहा है, वैसा ही शोषण नारीजाति पुरुषों का करने लगेगी। क्या कोई संतुलित प्रतिभावाला साहित्यकार ऐसी भावनाओं को अभिव्यक्ति देना पसंद करेगा? नहीं। क्यों? इसलिए कि सोच के स्तर पर ही नहीं, अभिव्यक्ति के स्तर पर भी यह अशोभनीय है, अस्वीकार्य है और असंतुलित मानसिकता का द्योतक है।

तसलीमा नसरीन ऐसी कविता लिखने पर बाध्य क्यों हुई? मूल प्रश्न यही है और इसी प्रश्न का उत्तर ढूँढ़कर हम अपने विषय को बेहतर ढंग से समझ सकते हैं।

वस्तुतः, उक्त पंक्तियाँ लिखते समय कवयित्री पुरुष-प्रधान समाज में नारी के शोषण को लेकर तीव्र आक्रोश का शिकार थी, उसके मन में क्रोध था, प्रतिशोध की भावना थी। प्रतिशोध की इसी भावना ने उसकी लेखनी को उक्त पंक्तियाँ लिखने के लिए बाध्य किया। यह स्थिति बताती है कि यदि साहित्यकार बाहर से ग्रहण की गई प्रेरणाओं के अलावा स्वयं अपनी असंतुलित भावनाओं की पकड़ में आ जाता है तो उसके लिए स्वस्थ साहित्य की रचना करना संभव नहीं रहता।

ब्रह्मांड का सबसे बड़ा रचयिता क्या कभी रुष्ट होता है? प्रतिशोध लेने की विस्फोटक स्थिति में आता है? क्रोधित होकर संतुलन खोता दिखाई देता है? यदि नहीं तो यह मान लेना चाहिए कि रचनाकार के लिए बाहर और भीतर दोनों ही तरह की जकड़बंदियों से मुक्त रहना ज़रूरी है। यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो अच्छा साहित्य भी नहीं रच सकेगा।

कुछ समय पहले मैंने हिंदी-गज़ल के कुछ शेर कहीं छपे देखे। उनमें से कुछ ये हैं—

जिस्म तक बेच डाले गए  
पेट फिर भी न पाले गए  
जितने आवारा थे शहर में  
रहबरी देके टाले गए  
सिर हिलाना ग़ज़ब हो गया  
बस्तियों से निकाले गए  
लूट सड़कों पे ऐसी मची  
कमसिनों को उठा ले गए  
बैठे-बैठे अँधेरा गया  
रोते-रोते उजाले गए  
शान से जीने वालो जियो  
जान से जान वाले गए

क्या हम इसे ग़ज़ल कहेंगे? क्या उक्त पंक्तियों में ग़ज़ल की वे विशेषताएँ हैं, जिनसे एक अच्छी ग़ज़ल अपनी पहचान स्थापित करती है। ध्यान देंगे तो महसूस होगा कि गद्यात्मक

शब्दावली को छंदबद्ध कर गज़ल का रूप दे दिया गया है। सवाल यह है कि उक्त पंक्तियाँ गज़ल क्यों नहीं बन सकीं? इसका उत्तर ढूँढ़ेंगे तो यही मिलेगा कि गज़लकार वैचारिक स्तर पर सामाजिक असमानता अथवा समाज की अन्यायपूर्ण असमानता की उस विचारधारा का बंधक बन गया है, जो राजनीति के गलियारों से निकली है।

समाज में असमानता है, आदमी और आदमी के बीच भारी अमानवीय भेदभाव है, इस सच्चाई को झुठलाना किसी के लिए भी संभव नहीं। पर इस सामाजिक सच्चाई को साहित्य में ढालने का तरीका क्या हो? एक तरीका तो यह है कि समाज-सुधारक और राजनीतिज्ञ जिस प्रकार जनसभाओं के मंच से इस विषय को लेकर अपनी धारणाएँ व्यक्त करते हैं, वैसे ही या थोड़े भाषागत परिवर्तन के साथ लेखक भी इन्हें पढ़ने-सुननेवालों के सम्मुख प्रस्तुत कर दे या फिर वह एक विचारशील रचनाकार के रूप में इस संबंध में स्वतंत्रतापूर्वक सोचे और अभिव्यक्ति में उन उच्च मापदंडों को बनाए रखे, जो साहित्य-सृजन के लिए ज़रूरी हैं। ऊपर की पंक्तियों के लेखक ने पहला तरीका अपनाया, दूसरा नहीं। इसलिए वह गज़लकार के रूप में असफल हो गया।

मेरा निष्कर्ष और अनुभव यही है कि किसी विचारधारा, सिद्धांत, दर्शन अथवा आंदोलनात्मक गतिशीलता को पसंद करने या उसे अपनाने के बावजूद साहित्यकार के लिए यह आवश्यक है कि वह इनका मानसिक रूप से बंधक न बने। उनसे प्रेरणा ले, किंतु इन्हें अपने मस्तिष्क और अभिव्यक्ति पर हावी न होने दे। साहित्यकार जब-जब किसी-न-किसी प्रकार की वैचारिक खेमाबंदी के साथ बँध जाता है या स्वयं अपनी असंतुलित भावनाओं की पकड़ में आ जाता है तो वह लेखन के साथ न्याय नहीं कर पाता। सोच के स्तर पर रचयिता की स्वतंत्रता का अर्थ क्या है? इस रहस्य को समझने की आवश्यकता है।



डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल  
संपादक

## अनुक्रम

साहित्य में आंदोलनात्मक खेमाबंदी / डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	3
रीतिपरंपरा के मर्मज्ञ विद्वान् लाला भगवानदीन/ साहित्यवारिधि डॉ० रामानंद शर्मा	17
काका हाथरसी के काव्य में व्यंग्य/ साहित्यभूषण डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	26
लोकसंस्कृति में लोरी : स्वरूप और विकास/ डॉ० शकुंतला कालरा	40
सुंदर और उनका 'सुंदरशृंगार'/ योगेशकुमार	55
हिंदी-गज़ल और कृष्णबिहारी 'नूर'/ कृष्णकुमार वर्मा 'नाज़'	63
भारतीय सामंतवाद का उद्भव एवं विकास/ डॉ० आसिफ़ उमर	77
श्री उदयनाथ 'कवींद्र' के काव्य का सांस्कृतिक स्वरूप/ हेमेंद्रकुमार	83
तारसप्तक एवं प्रभाकर माचवे/ डॉ० गीता सिंह	94
साठोत्तरी हिंदी महिला कथाकारों के उपन्यासों में नारी-जीवन/ डॉ० घनश्याम भारती	99
बौद्धदर्शन में माया का स्वरूप/ डॉ० अशोक उपाध्याय	107
'अज्ञेय' का हिंदी-निबंध साहित्य को अवदान/डॉ० बाबूराम	114
शाल्मली : विघटित दांपत्य का खुला दस्तावेज़/ अशवनीकुमार	120
डा० अंबाप्रसाद 'सुमन' : के पत्र-साहित्य में चिंतन, दर्शन और कला/ श्रीमती निधि	125
सूचना तकनीक और हिंदी पत्रकारिता/डॉ० अशोककुमार मिश्र	130
उत्तर-आधुनिकता बदलते परिवेश में दरकते मूल्य/डॉ० वंदना गंगवार	137
डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल की गज़लों में अभिव्यक्त मानवीय संवेदना/ डॉ० सुनीता सक्सेना	141
मोहन राकेश का डायरी-साहित्य : एक अनुशीलन/ डॉ० ए० अज़ीज़ 'अंकुर'	144
संस्मरणकार अज्ञेय/डॉ० सुनीता	148
सर्वेश्वर के साहित्य में आर्थिक विषमताएँ/ विनोदकुमार	156
सर्वेश्वर की काव्यभाषा/ विनोदकुमार	161
सर्वेश्वर के काव्य में प्रकृति-चित्रण/ निर्मलादेवी	165
विविध सांस्कृतिक आयाम और सर्वेश्वर का गद्य साहित्य/ निर्मलादेवी	169
महानगरीय वर्ग चेतना/ सुदेशकुमारी	173
राजेंद्र अवस्थी के उपन्यासों में महानगरीय संस्कारों का यथार्थ चित्रण/ सुदेशकुमारी	178
विजयानंद त्रिपाठी के काव्य का अनुशीलन/ विजेंद्रसिंह	183

हिंदी एकांकी साहित्य परंपरा	
और विजयानंद त्रिपाठी का एकांकी साहित्य/ <b>विजेंद्र सिंह</b>	188
आठवें दशक के उपन्यासों में ऐतिहासिक यथार्थ और सांस्कृतिक आलोक/ <b>डॉ० गीतारानी</b>	192
‘आवाँ’ का यथार्थ/ <b>स्नेहा सिंह</b>	199
गोस्वामी तुलसीदास और मैथिलीशरण गुप्त के अप्रस्तुत विधान/ <b>आलोक त्रिपाठी</b>	207
डॉ० भद्रपालसिंह ‘संतोष’ के काव्य में वीररस की योजना/ <b>रोहिताश्वकुमार</b>	213
डॉ० भद्रपालसिंह ‘संतोष’ के काव्य में रूपक अलंकार की स्थिति/ <b>रामगोपाल सिंह</b>	217
हिंदी-व्यंग्य का स्वरूप/ <b>योगेंद्रराज सिंह</b>	221
सांप्रदायिकता बनाम धर्म-निरपेक्षता/ <b>डॉ० स्नेहलता शर्मा</b>	225
शिक्षा और शांति की संवाहक: खामोशियाँ बोलती हैं/ <b>डॉ० अनीता भारद्वाज</b>	233
बलवंत मनराल के काव्य संग्रह ‘पहाड़ आगे : भीतर पहाड़’ में पहाड़ी त्रसदी की मुखर अभिव्यक्ति/ <b>रीना अग्रवाल</b>	237
‘घासीराम कोतवाल’ में चित्रित भ्रष्टतंत्र : वर्तमान यथार्थता/ <b>अंजू राणा</b>	241
बाजारवाद का संदर्भ और चित्रा मुद्गल की कहानियाँ/ <b>स्नेहा सिंह</b>	245
मातृसत्तात्मक एवं पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष की भूमिका/ <b>संतोषकुमारी</b>	252
दलित-चेतना के ऐतिहासिक विकासक्रम की पृष्ठभूमि/ <b>अनिलकुमार</b>	257
हरिवंशराय बच्चन के काव्य में वैयक्तिकता/ <b>डॉ० किरण वालिया</b>	264
‘यह भी नहीं’ में चित्रित परिवार/ <b>अनुराधा गोस्वामी</b>	270
डॉ० रामकुमार वर्मा के नाट्य-साहित्य में सांस्कृतिक विचार/ <b>डॉ० सतीशकुमार चौहान</b>	281
क्षेत्रीय असमानता एवं भारतीय अर्थव्यवस्था/ <b>सीमा गोयल</b>	287
भारत में भ्रष्टाचार : कारण एवं निवारण/ <b>मनजीता</b>	291
नारी-शिक्षा : समस्याएँ तथा चुनौतियाँ/ <b>निधि जाखड़</b>	295
जयप्रकाश नारायण के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य/ <b>राजीकुमार</b>	300
माध्यमिक स्तर पर स्काउट गाइड कार्यक्रम की भूमिका/ <b>श्रीमती कुसुमलता</b>	306
माध्यमिक विद्यालय स्तर पर नैतिक शिक्षा की उपादेयता एवं भूमिका/ <b>श्रीमती कुसुमलता</b>	310
बालसाहित्य में अनुसंधान/ <b>डॉ० नागेश पांडेय ‘संजय’</b>	314
निजता और सार्वजनिकता के साथ लिखी आत्मकथा : पानी बीच मीन पियासी/ <b>डॉ० प्रमोदकुमार दुबे</b>	321
विश्वसाहित्य की अनमोल विरासत : मॉरिशस में भारत/ <b>डॉ० सरोजिनी कुलश्रेष्ठ</b>	327

## आजीवन सदस्य

### डॉ० रामानंद शर्मा

अध्यक्ष हिंदी विभाग, हिंदू (पी०जी०) कालेज  
9, जिगर कालोनी  
मुरादाबाद (उ०प्र०)

### डॉ० मधुलिका तिवारी

रीडर एवं अध्यक्ष, इतिहास विभाग,  
एल०आर० पी०जी० कॉलेज, साहिबाबाद  
गाज़ियाबाद (उ०प्र०)

### डॉ० शंकरलाल शर्मा 'क्षेम'

अध्यक्ष हिंदी विभाग,  
आ०एस० (पी०जी०) कालेज, धामपुर (बिजनौर)

### डॉ० शहाबुद्दीन नियाज़ मुहम्मद शेख

प्राचार्य, लोकसेवा कला व विज्ञान महा०औरंगाबाद  
अध्यक्ष, राष्ट्रीय हिंदी सेवी महासंघ  
78/484 सिविल हडको,  
अहमदनगर 414003 (महा०)  
मो० 09850119687

### डॉ० लियाक़त मियाँ भाई शेख

अखिलेश नगर, प्लॉट क्र० 11  
नए बस स्टेंड के पास  
गंगापुर, (औरंगाबाद) महा०

### डॉ० अशोक द्रौपद गायकवाड़

कृतज्ञता, अवधूत पार्क  
आरोह निसर्ग के पास  
कादंबरी नगर क्रमांक 1 के पास  
पाइप लाइन रोड, सावेडी  
अहमदनगर (महा०) 414003

### प्रा० दत्तात्रय माधवराव टिलेकर

द्वारा संतोष मेडिकल  
साई प्रेस्टिज, फ्लैट क्रमांक 13  
पाटील अली, ओतूर  
तह० जुन्नर,

ज़िला पुणे (महा०) 412409

### डॉ० मजीद मुनीर शेख

ग्राम व पो० साष्ट, पिंपल गाँव,  
(बाया अंकुश नगर) तह० अंबड  
ज़िला जालना (महा०) 431212

### डॉ० वंदना सेमल्टे

टी०एफ० 7, प्रेरणा अपार्टमेंट्स, गांधी नगर  
गाज़ियाबाद 201001

### श्री हरिराम 'पथिक'

स्नेह गंगा, विष्णुधाम कालोनी,  
गली नं० 3, न्यू माधोनगर  
सहारनपुर (उ०प्र०)

### प्राचार्या,

कन्या महाविद्यालय  
विद्यालय मार्ग  
जालंधर (पंजाब) 144004

### श्री अरुणकुमार भगत

माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता  
एवं संचार विश्वविद्यालय, नोएडा परिसर  
'माध्यम' सी-56, ए/5, सेक्टर-62  
नोएडा 201301 (उ०प्र०)

### डॉ० पोपट विठ्ठल कोटमे

फ्लैट नं० 5, सत्य संगम  
कोआपरेटिव हाउसिंग सोसायटी  
श्री जयनगर, इंदिरा नगर  
नासिक (महा०) 422006

### प्रो० शेख मुहम्मद शाकिर शेख वशीर

अध्यक्ष हिंदी विभाग  
पूना कालेज ऑफ आर्ट्स, कामर्स एंड साइंस  
कैम्प, पुणे 411201 (महा०)

### डॉ० अश्विनीकुमार 'विष्णु'

अध्यक्ष हिंदी विभाग

सीताबाई आर्ट्स कालेज, अकोला (महा०)

**डॉ० मनमोहन शुक्ल**

147, मायापुरी, आवास योजना  
झुँसी, इलाहाबाद 211019

**डॉ० मेहमूद रसूल पटेल**

दारुल अमन, काज़ी नगर  
जालना रोड, बीड़ (महा०) 431122

**डॉ० भरत त्र्यंबक शेणकर**

द्वारा होटल जय महाराष्ट्र  
ग्राम,पो० व तह० अकोले  
जिला अहमदनगर (महा०) 422601

**डॉ० शोभा साहेबराव राणे**

17 स्वर समृद्धि अपार्टमेंट  
नंदनवन लॉन के सामने  
आशाराम बापू आश्रम मार्ग  
सावरकर नगर, गंगापुर रोड  
नासिक (महा०) 422013

**प्रा० अनंत नाना जी केदार**

5 पार्वती अपार्टमेंट, अयोध्या कॉलोनी  
दाने नगर, गंगापुर रोड  
नासिक 422005 (महा०)

**डॉ० श्रीमती विजयालक्ष्मी नारायण रामटेके**

सुशीला सोसायटी, प्लाट क्र० 5  
अजय जिम के पीछे, तेलरांधे के सामने  
जरी पटका रिंगरोड, जरी पटका पोस्ट ऑफिस  
नागपुर 440014 (महा०)

**डॉ० मंजूर चाँदभाई सय्ययद**

'गुलसिता' 223 औदुंबर नगर, अमृतधाम  
पंचवटी, नासिक 422004 (महा०)

**प्रा० ( श्रीमती ) ऐनूर अजीजभाई इनामदार**

स्वामी समर्थनगर, राजूरी रोड  
कोल्हार 413710  
तहसील राहाता, जिला अहमदनगर (महा०)

**डॉ० अर्चना वालिया**

286, जौनपुर दक्षिण  
स्नेहकुंज कालोनी  
कोटद्वार (गढ़वाल) उत्तराखंड 246149

**डॉ० विपिनकुमार गिरि**

पुराना माधव नगर  
भारद्वाज गली  
सहारनपुर (उ०प्र०)

**‘शोध दिशा’**

के

शोध अंकों के

आजीवन सदस्य बनिए

और

बिना किसी अतिरिक्त व्यय के

शोध दिशा के सभी अंक

प्राप्त कीजिए।

अब तक प्रकाशित अंक भी

उपहारस्वरूप भेजे जाएँगे।

**आजीवन शुल्क**

व्यक्तिगत : 3000 रुपए

संस्थागत : 4000 रुपए



## रीतिपरंपरा के मर्मज्ञ विद्वान् लाला भगवानदीन

साहित्यवारिधि डॉ० रामानंद शर्मा, डी०लिट०  
एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग तथा उपप्राचार्य  
हिंदू कालेज, मुरादाबाद (उ०प्र०)

मध्यकालीन हिंदी-काव्य के संपादक और टीकाकार के रूप में जिन विद्वानों ने हिंदीकाव्य को नूतन दिशा दी, उनमें लाला भगवानदीन का नाम अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वे हिंदीकाव्य के मल्लिनाथ कहे जाते हैं। जिस प्रकार दुर्व्याख्या के विष से मूर्च्छित कालिदास की भारती (कविता) को पुनः जीवनदान करने के लिए मल्लिनाथ ने 'संजीवनी' टीका लिखी, उसी प्रकार रीतिकाल की अनर्गल और असंगत व्याख्याओं को देखकर लाला भगवानदीन ने बिहारी और केशव के ग्रंथों की टीकाएँ लिखीं और उन्हें जीवनदान दिया। लालाजी प्राचीन काव्य, विशेषतः रीतिकालीन काव्य, से गहरे जुड़े हुए थे, परंपरा की गहरी पकड़ रखते थे और अर्थ की सूक्ष्मातिसूक्ष्म जानकारी भी, फलतः जहाँ वे अनर्गल व्याख्या देखते, असंगत चर्चा पाते, परंपराविनिर्मुक्त बात सुनते तो उसके खंडन के लिए शस्त्र लेकर सन्नद्ध हो जाते। यह वाग्संघर्ष कभी-कभी शालीनता की सीमाओं का उल्लंघन कर कुतर्क के स्तर पर भी उतर आता था, लेकिन युयुत्सु लालाजी कभी पीछे पग नहीं रखते थे। पंडित गोविंदनारायण का सटाऊ सिद्धांत (विभक्तिचिह्नों को शब्दों से मिलाकर लिखना) हो अथवा पंडित कृष्णबिहारी मिश्र का बिहारी की अपेक्षा देव को श्रेष्ठता प्रदान करना, लालाजी प्रबल खंडन-मंडन को सदैव तत्पर रहे।

लालाजी के पूर्वज श्रीवास्तव (कायस्थ) थे और मूलतः रायबरेली के रहने वाले थे, लेकिन सन् 1857 ई० के स्वतंत्रता-संग्राम के समय फ़तहपुर शहर से लगभग 15 किलोमीटर दूर बहुवा कस्बे के निकट बरवट गाँव में बस गये थे। यहीं मुंशी कालिकाप्रसाद के पुत्र के रूप में श्रावण शुक्ल षष्ठी संवत् 1923 (17 जून, सन् 1867 ई० दिन शुक्रवार) को लालाजी का जन्म हुआ। कायस्थ होने के कारण उनकी शिक्षा का प्रारंभ उर्दू और फ़ारसी से हुआ। उनकी प्रारंभिक शिक्षा बुन्देलखंड में ही हुई। बाद में उन्हें प्रयाग की कायस्थ पाठशाला में शिक्षा प्राप्त करने भेज दिया गया। यहाँ रहकर उन्होंने एफ०ए० (इंटर) तक पढ़ाई की। उनके स्थानीय संरक्षक पुतू सुनार, जो उनके पिता के मित्र थे, बड़े सजग एवं साधिकार भाव से उन्हें शिक्षा दिलाते थे, ने उन्हें वैवाहिक बंधन में बाँध दिया और अपनी गृहस्थी चलाने का आदेश दिया। लालाजी कायस्थ पाठशाला में अध्यापक हो गये, लेकिन लगभग दो वर्ष बाद छत्तरपुर (बुंदेलखंड) के महाराजा हाईस्कूल में सैकेंड मास्टर होकर चले गए। यहाँ वे सन् 1894-1907 ई० तक रहे। यहाँ उनकी प्रतिभा को विकसित होने का अच्छा अवसर मिला। यहाँ लालाजी ने दो सभाएँ—

‘कविसमाज’ और ‘काव्यलता’—स्थापित कीं तथा ‘भारतीभवन’ पुस्तकालय भी। ये तीनों स्थान साहित्यसेवा के केंद्र थे, जहाँ काव्यपाठ होता था, काव्यचर्चा होती थी और गंभीर चिंतन-मनन भी होता था। पंडित गंगाधर व्यास अध्यक्षता करते थे और कविताओं में परिष्कार-परिमार्जन भी करते थे। लालाजी उर्दू में ‘रोशन’ उपनाम रखते थे। सन् 1907 में उनका मन उचट गया और वे काशी चले आए। वस्तुतः अब उन्हें छत्तरपुर छोटा लगने लगा और वे व्यापक एवं विस्तृत क्षेत्र की खोज में काशी आ गए। यहाँ वे सेंट्रल हिंदू कालेज में फ़ारसी के शिक्षक हो गए, नागरी प्रचारिणी सभा से जुड़कर काव्यग्रंथों का संपादन करने लगे और बाद में हिंदू विश्वविद्यालय में अध्यापक नियुक्त हो गए, जहाँ वे अंत तक रहे। काशी में उन्होंने हिंदी साहित्य सम्मेलन की परीक्षाओं को गति देने के लिए ‘हिंदी साहित्य विद्यालय’ की स्थापना की जहाँ वे प्राचीन काव्य और काव्यशास्त्र पढ़ाते थे। इसी विद्यालय में उन्होंने श्रावण शुक्ल तृतीया, संवत् 1987 (28 जुलाई, सन् 1930 ई०) को सार्यकाल के समय अन्तिम साँस ली।

लालाजी के तीन विवाह हुए थे। प्रथम विवाह ग्राम केसरवाही (जनपद हमीरपुर) के कालीचरण की पुत्री पार्वतीदेवी से हुआ था, जो छत्तरपुर निवास के समय कालकवलित हो गयीं। इस विवाह से लालाजी को दो पुत्रियाँ प्राप्त हुई थीं, जिनमें एक तो कुछ दिन बाद ही मर गयी और दूसरी का विवाह प्रयाग में हुआ। द्वितीय विवाह क़स्बा शादियाबाद (जनपद गाज़ीपुर) के परमेश्वरीदयाल की पुत्री गुजरातीदेवी (उपनाम बुंदेला बाला) से हुआ। इस विवाह से लालाजी को एक पुत्र प्राप्त हुआ, जो केवल सात मास तक जीवित रहा। गुजराती की मृत्यु के पश्चात् लाला जी ने उनकी छोटी बहिन अशरफ़ीदेवी से विवाह किया जिससे कोई सन्तान नहीं हुई और जिसे वे विधवा रूप में छोड़ गए थे। द्वितीय पत्नी बुन्देलबाला न केवल काव्यप्रतिभासंपन्न, बल्कि सशक्त कवयित्री भी थी, जिन्हें लालाजी ने स्वयं कई रीतिग्रंथ भी पढ़ाये थे, जिनमें बिहारी सतसई एक है। लालाजी उन्हें बहुत प्रेम करते थे, फलतः उनके निधन पर उन्हें मर्मान्तक दुख हुआ था, जिसे उन्होंने ‘बालाविलाप’ में अभिव्यक्ति दी है।

लालाजी का स्वभाव अत्यन्त आकर्षक, निश्छल एवं निर्भीक था। वे विनोदी स्वभाव के थे और शिष्यों के साथ भी मित्रवत् व्यवहार करते थे। वे हृदय में कोई ग्रंथि नहीं रखते थे। कटु बात कहकर भी निश्चिन्त हो जाते थे, कभी मानसिक तनाव नहीं रखते थे। निर्भीकता उनके व्यक्तित्व का अपरिहार्य अंग थी। मर्यादा की रक्षा और कर्तव्यबोध का जितना मधुर संगम उनमें था, उतना विरल ही मिलेगा। पंडित कृष्णबिहारी मिश्र और लाला भगवानदीन में देव और बिहारी की श्रेष्ठता को लेकर काफ़ी कहा-सुनी हो चुकी थी, लेकिन जब मिश्रजी लालाजी के घर पहुँचे तो लाला जी ने लोकरीति का निर्वाह करते हुए ‘पंडितजी! पालागन, आइये’ कहकर उनका चरणस्पर्श किया और प्रीतिमयी वार्ता की। जब वार्तालाप के मध्य पण्डित जी ने कहा ‘लालाजी! इतने वयोवृद्ध होने पर भी आप बिहारी जैसे शृंगारिक कवि से क्यों इतने चिपके हुए हैं’ तो लाला जी ने छूटते ही कह दिया—

अब आय बसे तिनकी नगरी, जिनकी उपमा है उरोजन की।

तब काहे न ‘दीन’ बुढ़ापहूँ में, उपजै मन-मौज मनोजन की।<sup>2</sup>

भारतीय लोकरीति की मर्यादा और अपने सिद्धांतों के प्रति प्रतिबद्धता का इससे सुंदर उदाहरण नहीं मिल सकेगा। प्रतिद्वन्द्वी को यथोचित सम्मान और उसके साथ प्रेमालाप— दोनों

की विशालहृदयता का उदाहरण है। लालाजी की स्पष्टवादिता, निर्भीकता और युयुत्सावृत्ति के अनेक उदाहरण उनकी शिष्यमंडली सुनाती रही है। यहाँ एक उदाहरण प्रस्तुत है। श्रीनारायणप्रसाद 'बेताब' ने 'पद्यपरीक्षा' नामक पुस्तक, खड़ीबोली के पाँच कवियों के तुकांत, पदप्रयोग आदि की खण्डनात्मक आलोचना करते हुए लिखी थी, जिसमें लालाजी के 'जगदेश' पर आपत्ति की और 'जगदीश' को शुद्ध बताते हुए उसे अशुद्ध घोषित किया। लालाजी क्लम लेकर भिड़ गये— 'जगदीश' संस्कृत रूप है और 'जगदेश' हिंदी रूप। समाज में लोगों के ऐसे नाम होते हैं। हिंदी स्वतंत्र भाषा है, वह संस्कृत नहीं है, उससे भिन्न है। वह संस्कृत के व्याकरणिक नियमों का पालन करने के लिए विवश नहीं है। अभी कुछ दिन हिंदी सीखिये, संस्कृत की तोतारतंत से हिंदी में काम नहीं चलेगा।<sup>3</sup> वस्तुतः लाला जी और उनकी शिष्यमंडली, साहित्यक्षेत्र में खाल ओढ़कर प्रवेश करने वाले तथा अनर्गल एवं असंगत बातें करने वालों के विरुद्ध शस्त्र लेकर सन्नद्ध हो जाती थी और उस अनुपयुक्त पात्र की पूरी ख़बर लेती थी। भाव यह है कि लालाजी कभी भी प्रतिपक्षी के समक्ष आत्मसमर्पण नहीं करते थे और शास्त्रार्थ में डटकर लोहा लेते थे।

लालाजी की प्रतिभा बहुमुखी थी। वे सहृदय कवि थे, मर्मज्ञ संपादक थे, परंपरा-प्रवीण तत्त्वज्ञ भाष्यकार थे और काव्यशास्त्र के अच्छे विद्वान् थे। भक्तिभवानी, रामचरणांकमाला, वीर पंचरत्न और नवीन वीन में उनका कवि रूप सामने आता है। बिहारीबोधिनी (बिहारी सतसई की टीका), केशवकौमुदी (रामचंद्रिका की टीका) और प्रियाप्रकाश (कविप्रिया की टीका) उनकी रीतिकाव्य पर भ्रमभंजनी सारपूर्ण टीकाएँ हैं। तुलसीदास के ग्रंथों (रामचरितमानस के अयोध्या, किष्किन्धा, अरण्य और सुंदरकांड तथा विनयपत्रिका, दोहावली एवं कवितावली) की सुंदर टीकाएँ कीं। उन्होंने बुंदेलखंड के कवि ठाकुर को स्थापित करने के लिए 'ठाकुर ठसक' का संकलन-संपादन किया, हंसराज बख्शी को प्रकाश में लाने के लिए 'सनेहसागर' और 'विरहविलास' का संपादन किया। बाबा दीनदयाल गिरि रचित 'अन्योक्तिकल्पद्रुम' का सम्पादन भी नितांत प्रशंसनीय है। 'सूक्तिसरोवर' सूक्तियों का सुंदर संकलन है। 'हिम्मतबहादुर विरुदावली' को पहली बार उन्होंने ही प्रकाशित कराया। छात्रों के हित के लिए 'सूरपंचरत्न' (सूर के पाँच उत्तम काव्यांशों का विस्तृत भूमिका सहित सटिप्पण संकलन) और 'केशवपंचरत्न' (केशवदास के पाँच उत्तम काव्यांशों का छात्रोपयोगी सटिप्पण संकलन) तैयार किये। छात्रों के उपयोग के लिए ही उन्होंने अलंकार और शब्दशक्ति पर तैयार किये गये अपने विस्तृत नोट्स को क्रमशः 'अलंकारमंजूषा' और 'व्यंग्यार्थकौमुदी' नाम से प्रकाशित कराया। पटना से छपने वाली स्वसंपादित 'लक्ष्मी' पत्रिका में प्रकाशित देव और बिहारी के तुलनात्मक लेखों को उन्होंने 'बिहारी और देव' नाम से पुस्तकाकार कराया। मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, रामदहिन मिश्र आदि कवियों की काव्यकृतियों की आलोचना भी की। 'मित्रादर्श' और 'महाराष्ट्र देश की वीरांगनाएँ' नामक दो बड़े काव्य वे लिख रहे थे जो उनके निधन के कारण अपूर्ण ही रह गए। वस्तुतः लालाजी ने विपुल साहित्य की सृष्टि की। वे सहृदय कवि, सुधी संपादक, परंपराविद् भाष्यकार और कर्तव्यनिष्ठ शिक्षक, सभी रूपों में सामने आते हैं।

कवि के रूप में लाला जी का योगदान निश्चय ही स्मरणीय है। उन्होंने ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों में काव्यरचना की। उनके ब्रजभाषा काव्य में शृंगाररस का प्राचुर्य दिखायी पड़ता है। उन्होंने रूपवर्णन में विशेष रुचि ली और कुचवर्णन के परिप्रेक्ष्य में दर्जनाधिक उपमान जुटा

दिये। वस्तुतः लाला जी की आत्मा रीतिकालीन काव्य में रची-बसी थी और रीतिकालीन चमत्कारिता उनके व्यक्तित्व पर हावी थी। रीतिकालीन काव्यशिल्प से सम्पन्न उनकी भक्तिभावना का उदाहरण इस छन्द में देखा जा सकता है-

सुनि-सुनि कौसिक तें साप को हवाल सब,  
बाढ़ी चित्त करुना की अजब उमंग है।  
पद-रज डारि, करैं पाप सब छारि, करि-  
नवल सुनारि, दियो धामहू उतंग है।  
'दीन' भनै ताहि लिखि जात पति-लोक ओर,  
उपमा अभूत को सुझानो नयो ढंग है।  
कौतुकनिधान राम रज की बनाय रञ्जू,  
पद तें उड़ाई ऋषि-पतिनी-पतंग है॥

न केवल अलंकारविधान, बल्कि सम्पूर्ण काव्यशिल्प ही रीतिकालीन काव्यशिल्प का स्मरण कराता है, पदयोजना एवं अलंकृत छन्दोविधान उत्तरवर्ती रीतिकवियों की विशेषता है, जिसे लाला जी ने स्वीकार किया है। बाद में उन्होंने ब्रजभाषा में कुछ नूतन विषय भी लिये, लेकिन रीतिकालीन काव्यशिल्प के प्रभाव से वे मुक्ति नहीं पा सके। उदाहरणार्थ, गाय के महत्त्व पर उनका एक कवित्त प्रस्तुत है-

थोरे घास-पानी में अघानी रहै राति-दिन,  
दूध-दही-माखन-मलाई देत खाने को।  
पूतन तें खेती करवाय देत अन्न-वस्त्र,  
जाके हाड़-चाम-आँत-गोबर ठिकाने को।  
'दीन' कवि मेरे जान, याही बात अनुमानि,  
मुनिन महान धर्म मान्यो गो चराने को।  
ऐसे उपकारी की कृतज्ञता बिसारि अब,  
भारतनिवासी मारे फिरैं दाने-दाने को॥

वस्तुतः लाला जी आधुनिक भावबोध और नव्य शिल्प को स्वीकार नहीं कर पाये और पाश्चात्य प्रभाव एवं राष्ट्रीय आन्दोलन से गहरे नहीं जुड़ सके। अपनी खड़ी बोली की कविताओं में उन्होंने वीररस को प्रधानता दी और पुरातन प्रकृति के वीरगाथात्मक प्रसंग लिये। 'वीर पंचरत्न' में संकलित वीर क्षत्राणी, वीर बालक, वीर माता, वीर पुत्री और वीर प्रताप में राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावना जोशपूर्ण और फड़कती हुई भाषा में व्यक्त की। नीरा अपने पति को ललकारते हुए कहती है-

क्षत्री रक्त नसों में तेरे, तनक नहीं खाता है जोश।  
सुनता नहीं यवन क्या करते, कहाँ गया है तेरा होश॥  
वीर कुमारी, वीर वधूटी, और वीर जननी की लाज।  
जन्मभूमि, कुल की मर्यादा, रखना है क्षत्री का काज॥  
रजपूतों की कन्या, नारी, यवन लोग लेते हैं छीन।

सतसई तथा केशवदास रचित 'रामचंद्रिका' और 'कविप्रिया' पर गंभीर एवं सारपूर्ण टीकाएँ

लिखीं। बिहारी की सतसई पर उन्होंने 'बिहारीबोधिनी' नामक टीका लिखी। इसमें बिहारी के कठिन शब्दों एवं भावों का पल्लवन ही नहीं किया, बल्कि अलंकार आदि की अच्छी विवेचना भी की गयी है। सबसे बड़ी बात यह है कि वे बिहारी द्वारा प्रयुक्त बुंदेली शब्दों की सही पहचान करा सके, उनका सम्यक् अर्थबोध करा सके। बिहारी के संदर्भ में उनका यह कथन दर्शनीय है—'हमारा अनुमान है कि बिहारी बहुत दिनों तक (अपने लड़कपन में) कहीं बुंदेलखंड में रहे हैं। कारण यह है कि उनकी कविता में ठेठ बुंदेलखंडी शब्दों का ऐसा ठीक प्रयोग पाया जाता है, जो अन्य प्रांत का निवासी कर ही नहीं सकता।'<sup>4</sup> 'रामचंद्रिका' पर उन्होंने 'केशव कौमुदी' नामक टीका लिखी जो संवत् 1980 में रामनारायणलाल बेनीमाधव इलाहाबाद से प्रकाशित हुई। इस टीका की लोकप्रियता का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि संवत् 2029 (सन् 1972 ई०) में इसका बारहवाँ संस्करण प्रकाशित हुआ और संवत् 2018, 22, 25 और 29 के संस्करण तीन-तीन हजार प्रतियों के थे। उस समय किसी हिंदी पुस्तक का तीन हजार का संस्करण छपना बहुत बड़ी बात थी और यह लेखक के लिए गौरव का विषय होता था। वस्तुतः उस समय 'रामचंद्रिका' पाठ्यक्रम में निर्धारित ग्रंथ था। श्लेष एवं परिसंख्या अलंकार और बुंदेलखंडी शब्दों के प्रयोग के कारण इसे पढ़ाने में शिक्षकों को विशेष कठिनाई आती थी। लाला जी बुंदेलखंड में लंबे समय तक रहे थे, फलतः वे बुंदेली शब्दों का सम्यक् स्वरूप और अर्थबोध कराने में सफल रहे, जिससे ग्रंथ सभी को सुगम हो गया। वस्तुतः लालाजी से पूर्व 'रामचंद्रिका' की दो टीकाएँ थीं—प्रथम, सरदार कवि की ब्रजभाषा में निबद्ध (अप्रकाशित) तथा द्वितीय, जानकीप्रसाद रचित और नवलकिशोर से प्रकाशित। इस प्रकाशित टीका का उन्होंने भरपूर उपयोग किया है। लाला जी ने अपनी भूमिका में लिखा है—'स्वर्गीय जानकीप्रसाद जी की टीका से मुझको बड़ी सहायता मिली है, अतः मैं उनकी स्वर्गीय आत्मा के सन्निकट अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। सरदार कवि की टीका की तलाश ही करता रहा, पर मिल न सकी। तीन हस्तलिखित और दो छपी हुई प्रतियों के सहारे इसका पाठ शुद्ध किया गया है।'<sup>5</sup> स्पष्ट है कि लालाजी ने न केवल पाँच मुद्रित-अमुद्रित प्रतियों के आधार पर पाठ निर्धारित किया है, बल्कि उपलब्ध टीका का भी भरपूर उपयोग किया है। सबसे बड़ी बात यह है कि 'रामचंद्रिका' पाठ्यक्रम का निर्धारित ग्रंथ था, लेकिन इसे पढ़ाने में शिक्षकों को कठिनाई आती थी और कठिनाई का एक प्रमुख कारण केशव द्वारा प्रयुक्त बुंदेली शब्दावली भी था। चूँकि लालाजी बाल्यकाल में बुंदेलखंड में सुदीर्घकाल तक रह चुके थे, इसलिए वे उन शब्दों का सम्यक् अर्थबोध कराने में समर्थ हुए, जिससे ग्रंथ सुगम हो गया। लालाजी की टीका का ऐतिहासिक महत्त्व बताते हुए इलाहाबाद विश्वविद्यालय के विद्यार्थी और शोधार्थी तथा मध्यकालीन काव्य के मर्मज्ञ डॉ० किशोरीलाल लिखते हैं—'वस्तुतः लाला जी हिंदी के मल्लिनाथ थे। उन्होंने उस समय केशव और बिहारी के दुरूह ग्रंथों का भाष्य प्रस्तुत किया, जब हिंदी में प्राचीन ग्रंथों का कोई कोश नहीं था और केवल संस्कृत के कोशों से पूर्णतया काम नहीं चल पाता था। 'रामचंद्रिका' और 'सतसई' उस समय भी एम०ए० के पाठ्यक्रम में निर्धारित थीं। प्रयाग के स्वर्गीय डॉ० धीरेंद्र वर्मा और डॉ० बाबूराम सक्सेना इस बात के साक्षी हैं कि जब लालाजी की 'केशवकौमुदी' प्रकाशित नहीं थी, उस समय दोनों महानुभाव किस कठिनाई से अर्धरात्रि तक पढ़ते थे और सुबह क्लास में छात्रों को ठीक-ठीक अर्थ बताने में आनाकानी करते

थे। लालाजी का बचपन बुंदेलखंड के उन अंचलों में बीता, जहाँ केशव, आलम, ठाकुर जैसे बुंदेलखंडी कवियों द्वारा प्रयुक्त शब्दावली जनकंड पर विराजमान है।+++वास्तव में लाला जी के श्रम एवं उनके वैदुष्य का मूल्यांकन वे ही कर सकेंगे, जिन्हें प्राचीन ग्रंथों के दुरूह और ध्वान्तपूर्ण मार्गों से गुजरना पड़ा है। ऐसे दुर्गम कांतार में लालाजी ने अपने भाष्य का जो आलोक बिखेरा है और पथ की भीषणता का जैसा परिहार किया है, इसे इस पथ के सच्चे पथिक ही बता सकते हैं।+++इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन काव्यों की अनेकशः भ्रांतियों का निराकरण करने वाली लालाजी की संजीवनी व्याख्या ने मृतप्राय रीतिकाव्य को पुनः नवजीवन दान दिया है।<sup>6</sup> लालाजी की तीसरी टीका है 'कविप्रिया' पर 'प्रियाप्रकाश'। उसका प्रकाशन संवत् 1922 में हुआ। 'प्रियाप्रकाश' को भी लालाजी ने बड़े परिश्रम से तैयार किया है। 'कविप्रिया' अत्यंत जटिल ग्रंथ है। इसमें सर्वत्र चमत्कार, श्लेष एवं परिसंख्या अलंकारों के प्रयोग आदि मिलते हैं और शब्दावली तो तत्सम एवं बुंदेली है ही। लालाजी ने श्रमपूर्वक इन सभी गुत्थियों को सुलझाने का सार्थक प्रयास किया है और टीका अत्यंत सुगम एवं स्पष्ट बन गयी है। ग्रंथ इतना स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रत्येक साहित्यप्रेमी इसे समझ सकता है। इस टीका का महत्त्व बताते हुए आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने यथार्थ ही लिखा है—'टीका की विशेषता है उसकी स्पष्टता, चमत्कारों को खोल देना। 'कविप्रिया' ऐसा ग्रंथ है जिसमें प्रत्येक स्थान पर चमत्कार है और 'प्रियाप्रकाश' ऐसी टीका है, जिसमें सर्वत्र स्पष्टता है।' लालाजी की तीनों टीकाओं का सम्यक् अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इन तीनों ही ग्रंथों पर मध्यकालीन टीकाएँ विद्यमान थीं जिन्हें लाला जी ने अपने गहन अध्ययन का विषय बनाया और आधुनिक शैली में सर्वांगपूर्ण एवं छात्रोपयोगी टीका लिखने का प्रयास किया। चूँकि लाला जी अध्यापक थे, फलतः वे छात्रों की आवश्यकता को समझते थे। शब्दार्थ एवं अलंकारनिर्धारण के मूल में यही दृष्टि रही है। लाला जी की टीकाओं की एक अन्य विशेषता यह भी है कि उन्होंने कठिन स्थलों को शक्तिपूर्वक खोलने का प्रयास किया है, जबकि अत्यंत सरल छंदों 'सुगम है' कहकर चलता कर दिया है। आधुनिक आलोचकों को यह बात कुछ असंगत लगती है, लेकिन परंपरा का ज्ञान रखनेवालों के लिए यह नई बात नहीं है। मल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी ने 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' की टीका लिखते कहा है—

यद्यन्निगूढमखिलं शक्त्या तत्तत् प्रकाशयते।

नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते।

(जो भी गुप्त या रहस्यमय है, उस सबको मैंने प्रयासपूर्वक प्रकाशित किया है। मैंने निराधार या भर्ती का कुछ नहीं लिखा है और न अनावश्यक कहा है।) संस्कृत टीकाकारों ने ही नहीं, मध्यकालीन टीकाकारों ने भी इस परंपरा का सम्यक् निर्वाह किया है। केशव रचित 'कविप्रिया' पर टीका लिखते समय हरिचरणदास सरल छंदों को छोड़कर कठिन छंदों का ही विस्तार से अर्थ करते हैं—

सुगम छाँड़ के कठिन को, अर्थ करौं विस्तार।

सबको अर्थ करै इहाँ, बाढ़ै ग्रंथ अपार।

कहने का आशय यह है कि टीकाकारों की परंपरा दुर्गम की व्याख्या की रही है, सुगम की अनपेक्षित व्याख्या की नहीं और इसी परंपरा का अनुकरण लालाजी ने किया है। यहाँ यह

कह देना भी अप्रासंगिक न होगा कि लालाजी ने पुरातन टीकाओं से पाठ्य को मात्र समझने में सहायता ली है, विश्लेषण के समस्त अवयव उनके निजी हैं जो एक टीकाकार का नैतिक दायित्व है।

टीकाओं के अतिरिक्त लाला जी ने कई कवियों के अच्छे संकलन भी प्रकाशित कराये। बख्शी हंसराज के काव्य की ओर हिंदीजगत् का ध्यान आकर्षित करने का श्रेय लाला जी को ही प्राप्त है। उन्होंने पदमाकर रचित 'हिम्मतबहादुर विरुदावली' और आलम रचित 'आलमकेलि' का प्रथम बार प्रकाशन कराया। संकलन की दृष्टि से उन्हें विशेष ख्याति प्राप्त हुई 'ठाकुरठसक' से। ठाकुर कवि की न्यूनाधिक चर्चा इतिहास-ग्रंथों में अवश्य हुई थी, लेकिन इसे प्रथम बार संकलित करने का श्रेय है बाबू रामकृष्ण वर्मा को, जिन्होंने संवत् 1961 में भारतजीवन प्रेस काशी से 'ठाकुरशतक' का प्रकाशन कराया। इसके पश्चात् लाला भगवानदीन ने संवत् 1983 में उनका संग्रह 'ठाकुरठसक' नाम से साहित्य सेवक कार्यालय काशी से प्रकाशित कराया, जिसमें न केवल 'ठाकुरशतक' की भ्रान्तियों को दूर किया गया, बल्कि ठेठ बुन्देली शब्दों की सटिप्पण सूची भी संलग्न कर दी गई। वस्तुतः बुंदेलखंडी ठाकुर को स्थापित करने का यह प्रथम सार्थक प्रयास था। इस कार्य को ही आगे बढ़ाते हुए सन् 1969 ई. में डॉ॰ सुरेन्द्र माथुर (दिल्ली) ने 'कवि ठाकुर और उनका काव्य' पुस्तक में ठाकुर कवित्त-संग्रह में 195 छन्द प्रस्तुत किए हैं, लेकिन उनका दावा है कि 'ठाकुरठसक' में कई छन्द अन्य ठाकुरों के भी आ गए हैं।<sup>8</sup> संवत् 2030 (सन् 1972 ई॰) में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'ठाकुर' नाम से रचनावली नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित करायी, लेकिन उनके ग्रंथ से स्पष्ट है कि उन्होंने डॉ॰ माथुर की पूर्वोक्त पुस्तक नहीं देखी, फलतः उनकी खोजों से लाभान्वित नहीं हो सके। कहना न होगा कि तीन ठाकुरों में से बुन्देलखण्डी ठाकुर को पृथक करते हुए उनके स्थापन का प्रथम गंभीर एवं सार्थक प्रयास लाला भगवानदीन ने ही किया है। आज आवश्यकता इस बात की है कि समस्त उपलब्ध सामग्री का नीरक्षीरविवेचन करते हुए ठाकुर की समग्र रचनावली प्रस्तुत की जाये।

'सूर पंचरत्न', 'केशव पंचरत्न', 'अलंकारमंजूषा', 'व्यंग्यार्थमंजूषा' आदि ग्रंथ लाला जी ने छात्रों के हित को ध्यान में रखकर लिखे हैं और छात्रों ने उनका लाभ भी उठाया। पण्डित कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' पुस्तक में देव को बिहारी से श्रेष्ठ कवि बताया है और प्रतिपादित किया है कि बिहारी ने देव के भावों का अपहरण किया है। वस्तुतः कृष्णबिहारी मिश्र मूलतः मिश्रबंधुओं के अनुयायी हैं, जो देव को बिहारी से श्रेष्ठ समझते थे। मिश्रबंधुओं ने अपने 'विनोद' में लाला भगवानदीन का परिचय देते हुए स्पष्ट लिखा है—'काव्योत्कर्ष की परख पर हमारा इनसे मतभेद था। आप बिहारी और केशवदास को कवि देव से श्रेष्ठतर समझते थे।'<sup>9</sup> मिश्रबंधुओं की विचारधारा का पल्लवन करते हुए पंडित कृष्णबिहारी मिश्र ने देव को श्रेष्ठता प्रदान की तो लालाजी ने स्वसंपादित 'लक्ष्मी' पत्रिका में इसके विरोध में कई लेख छपवाए और अंत में उन्हें 'देव और बिहारी' नाम से पुस्तकाकार करा दिया। लाला जी के विचारों का सार यह है—'मिश्रबंधुओं ने बिहारी को देव से मध्यम ठहराने की चेष्टा की है, पर यह उनकी धींगामुश्ती है। हम मिश्रबंधुओं की 'नवरत्न' नामक पुस्तक से ही प्रमाणित कर सकते हैं कि उन्होंने बिहारी के अनेक दोहों का अर्थ ही नहीं समझा है। अनर्गल ही लिख मारा

है कि बिहारी ने देव के भावों का अपहरण किया है। प्रत्युत सत्य बात यह है कि देव ने ही बिहारी के भाव लेकर अपनी कविता का अधिकांश भाग शृंगारित किया है।++हमें तो बिहारी के मुक्राबिले में देव जी ही मध्यम जान पड़ते हैं।' <sup>10</sup> इस वैचारिक मतभेद के बाद भी न केवल मिश्रबंधु लालाजी के ज्ञान और वैदुष्य के प्रशंसक रहे हैं 'हम उनके हिंदी-प्रेम तथा उत्साह की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हैं। आपने हिंदी-ग्रंथ-प्रकाशन तथा टीकाएँ रचने में बहुत श्रम किया है' बल्कि पंडित कृष्णबिहारी मिश्र भी उन्हें सम्मान देते रहे। लाला जी तो उनका हृदय से सम्मान करते ही थे।

लाला भगवानदीन का हिंदी-जगत् पर तब व्यापक प्रभाव था, जब आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का हिंदी-जगत् में पदार्पण भी नहीं हुआ था। शुक्लजी को गोस्वामी तुलसीदास के ग्रंथों की भूमिका लिखने का अवसर लालाजी ने ही दिया था। इस भूमिका से शुक्ल जी हिंदी-जगत् पर छा गये। लालाजी ने भी कुछ कवियों की भूमिकाएँ लिखीं, लेकिन शुक्ल जी की आलोचनाओं के समक्ष वे टिक नहीं सकीं। वस्तुतः लालाजी रीतिकाव्य के मर्मज्ञ थे और उनकी आलोचनाएँ भी पाठ्यकेंद्रित थीं, अर्थ की बारीकियाँ, छन्द-अलंकार-नायिकाभेद आदि की उसमें प्रधानता थी, गंभीरता तिरोहित हो जाती थी और तर्कों की अपेक्षा कुतर्कों का प्राबल्य हो उठता था। वस्तुतः वे पाठ्यकेंद्रित आलोचना से ऊपर उठकर उसे मानवीय दृष्टि और व्यापक सन्दर्भों से नहीं जोड़ सके जो आचार्य रामचंद्र की निजी विशेषता थी। परिणाम यह हुआ कि शुक्ल जी सफल रहे। लालाजी की शैली पराजित हो गई और शुक्ल जी की शैली प्रभावी बनी। शुक्ल जी की शैली के प्रभावी होने का दुष्परिणाम यह हुआ कि पाठक मूल पाठ्य से हटकर केवल आलोचना तक सीमित होने लगे। आलोचना का पाठ्य से संबंधविच्छेद होने लगा, उसमें अतलस्पर्शी वागाडम्बर की प्रधानता होने लगी, बेठौर-ठिकाने (अमर्यादित) की बातें उसमें स्थान पाने लगीं। लालाजी इसे पहले से समझते थे और उन्होंने इसे स्पष्ट कहा भी था— 'भारी भूमिका से यह हानि होती है कि पाठक केवल भूमिका ही पढ़कर पुस्तक रख देते हैं और केवल ग्रंथचुंबक ही रह जाते हैं। सपरिश्रम ग्रंथ पढ़ने का कष्ट नहीं उठाते। मैं ग्रंथचुंबक पाठक पैदा नहीं करना चाहता।'<sup>11</sup> वस्तुतः बदलते युग और भावबोध में लाला जी की मध्यकालीन संस्कृति अधिक नहीं टिक सकी तथा आज तो मध्यकालीन काव्य का अध्ययन और शोध ही विरल हो गया है। शोध उपन्यास केंद्रित बन गया है, क्योंकि वह अप्रवीणता और अकर्मण्यता का श्रेष्ठतम चरागाह है। 'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' पुरानी उक्ति हो गई।

सार रूप में यही कहा जा सकता है कि लाला भगवानदीन मध्यकालीन काव्य और काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ तथा सफल अध्यापक थे। अध्यापन की सफलता के लिए उन्होंने न केवल केशव और बिहारी के कठिन काव्यों पर टीकाएँ लिखीं, बल्कि छात्रोपयोगी पुस्तकें भी तैयार कीं। वे सफल संपादक भी थे और शास्त्रार्थ के मैदान में खंभ ठोकनेवाले अप्रतिभट योद्धा भी। अपनी मध्यकालीन संस्कृति के कारण वे आधुनिक प्रभावों और पाश्चात्य दृष्टि को स्वीकार नहीं कर सके। उनकी टीकाएँ उन्हें अमर किये हुए हैं और बुंदेली शब्दों के विश्लेषण के कारण उनका महत्त्व सदैव बना रहेगा।



## संदर्भ

1. भारती कालिदासस्य दुर्व्याख्या विषमूर्च्छिता।  
एष संजीविनी व्याख्या तामद्योज्जीवयिष्यति॥ –मल्लिनाथ
2. डॉ० किशोरीलाल, रीतिकवि और समीक्षक, पृ० 79
3. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हिंदी-साहित्य का अतीत (शृंगारकाल), पृ० 149
4. लाला भगवानदीन, बिहारीबोधिनी (वक्तव्य), पृ० क
5. लाला भगवानदीन, केशवकौमुदी (प्रथमभाग, वक्तव्य), पृ० 3
6. डॉ० किशोरीलाल, रीतिकाव्य शब्दकोश (प्रस्तावना), पृ० 7-8
7. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हिंदी-साहित्य का अतीत (शृंगारकाल), पृ० 154
8. डॉ० सुरेंद्र माथुर, कवि ठाकुर और उनका काव्य (प्राक्कथन), पृ० 15
9. मिश्रबन्धु : मिश्रबंधुविनोद (भाग-2), पृ० 347
10. लाला भगवानदीन, बिहारीबोधिनी (वक्तव्य), पृ० ख
11. लाला भगवानदीन, केशवकौमुदी (पूर्वार्ध), वक्तव्य), पृ० 3

## हमारा बाल-साहित्य

धरती पर चाँद (बालगीत)(पुरस्कृत)/शंभूनाथ तिवारी	150.00
हम बगिया के फूल (बालगीत)/डा० बलजीतसिंह	150.00
आओ गीत सुनाओ गीत (बालगीत)/डा० बलजीतसिंह	150.00
दिन बचपन के (बालगीत)/डा० बलजीतसिंह	200.00
छुट्टी के दिन बड़े सुहाने (बालगीत)/डा० बलजीतसिंह	200.00
जादूगर बादल (बालगीत)/विनोद भृंग	150.00
आटे-बाटे दही चटाके (शिशुगीत)/बालकृष्ण गर्ग	150.00
चुनमुन की कहानियाँ (पुरस्कृत)/गीतिका गोयल	150.00
किशोर मन की कहानियाँ/डॉ० सरला अग्रवाल	150.00
मानव-विकास की कहानी/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
पार्टी गेम्स/चाँदनी कक्कड़	125.00
बच्चों के हास्य नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
बच्चों के रोचक नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
बच्चों के शिक्षाप्रद नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
बच्चों के अनुपम नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
बच्चों के उत्तम नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
भारतीय गौरव के बाल नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00

प्रकाशक

हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर (उ०प्र०)

## काका हाथरसी के काव्य में व्यंग्य

साहित्यभूषण डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल

तेज़ी से भागते हुए इस भौतिकवादी युग में साँस लेनेवाले समाज के जीवन में किसी-न-किसी प्रकार के असंतुलन, बेडौलपन अथवा असंगत भाव का आ जाना स्वाभाविक है। समाज-चेतना से संपन्न और आदर्श का आकांक्षी साहित्यकार इन विसंगतियों को अनदेखा नहीं कर सकता। वह हमेशा ऐसे अवसर की तलाश में रहता है, जबकि वह इन परिस्थितियों अथवा उनके कारणों पर प्रहार कर सके, सड़ी-गली रूढ़ियों और मान्यताओं को समाप्त कर सके। सामान्य रूप से यह कार्य व्यंग्य के माध्यम से किया जाता है। व्यंग्य एक ऐसा नशत्र है, जो समाज के सड़े-गले अंगों की शल्य चिकित्सा करके उसे पुनः स्वस्थ बनाता है। उसकी तेज़ धार कुशल व्यंग्यकार का सहयोग प्राप्त कर समाज की जातिगत कुरीतियों, रूढ़िगत संस्कारों, मिथ्या विश्वासों, पारस्परिक कलह, थोथी प्रतिष्ठा और सांस्कृतिक-राजनीतिक विकृतियों को समाज रूपी शरीर से दूर करने का निरंतर प्रयत्न करती है।

डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार, 'सच्चा व्यंग्यकार समाज की कुरीतियों को सही रूप में देखता और अपने व्यंग्यबाण से उसे बेधता रहता है। उसका उद्देश्य समाज का परिशोधन होता है। वह व्यक्ति को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहता, बल्कि उन छिछली मान्यताओं का पर्दाफाश करता है, जिनमें औसत या उससे नीचे का मनुष्य उलझकर असत् आचरण से विरत होने के प्रलोभन का शिकार होता रहता है।'

वस्तुतः व्यंग्य के मूल में सामाजिक हित-कामना मुख्य है, इसलिए व्यंग्यकार की दृष्टि पूरी तरह मानवीय कल्याण से ओतप्रेत होती है। जीवन के कड़वे-सत्यों और यथार्थ को काव्य में अभिव्यक्त करने के लिए व्यंग्य से अधिक सफल कोई माध्यम नहीं है। अपनी प्रहार-क्षमता, शब्दों की मितव्ययिता, विचारों की तीक्ष्णता, यथार्थ की उद्घाटन-क्षमता, ईमानदारी, विद्रूपता के प्रति खड्गहस्तता के कारण व्यंग्यात्मक रचनाएँ साहित्य और समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान बनाती रही हैं।

व्यंग्य मात्र मनोरंजनी वृत्ति का विकास नहीं है। यह कार्य हास्य का है। इसमें प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से करुणा की धारा भी प्रवाहित रहती है और अधिक स्पष्ट रूप में कहा जाए तो कहा जा सकता है कि जिसने जितना अधिक कटु सहा है, सुना है, पचाया है, वह उतना ही अधिक प्रखर व्यंग्यकार हो सकता है। वास्तव में, व्यंग्य अंतर की गहराई से उभरकर आता है, जहाँ आघात कसमसाते हैं, दर्द टीसते हैं, भूख खलबली मचाती है, नग्नता बेशर्म हो जाती है और जहाँ नैतिकता हमारी व्यथा-कथा बन जाती है। इसलिए 'व्यंग्य इस सीमा तक कटु हो सकता है कि वह किंचित भी हास्यजनक न हो। यह बहुत तीखा वार करता है। इसमें कोई नैतिक बोध नहीं

होता। इसमें दया, विनम्रता एवं उदारता का लेश भी नहीं होता। यह व्यक्ति के शारीरिक गठन पर कभी-कभी पूरी निर्दयता से प्रहार करता है। यह व्यक्तियों के चरित्र पर आक्रमण करता है। यह युग की समूची परिस्थितियों की धज्जियाँ किसी को भी क्षमा किए बगैर उड़ाता है।'

ऐसी परिस्थिति में व्यंग्य के खतरे का अनुभव सरलता से किया जा सकता है। यह व्यंग्यकार को भी खतरे की घंटी सुनवा सकता है और स्वयं भी तनिक-सी देर में, अश्लीलता की सीमा में प्रवेश कर सकता है, अतः इसके प्रयोक्ता को सतर्क रहने की आवश्यकता होती है।

परंतु समाज-सापेक्ष और विशेष रूप से सुधारवादी लक्ष्य के कारण सदैव से व्यंग्य का प्रयोग होता रहा है। हिंदी-साहित्य में कबीर से प्रारंभ यह व्यंग्यधारा भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र द्वारा गतिशील की गई और आज तक प्रवाहित है। कबीर, भारतेंदु आदि व्यंग्यकार तत्कालीन समाज की विकृतियों, विडंबनाओं, विसंगतियों और राजनीतिक भ्रष्टाचार को गंभीरता से अनुभव करते रहे हैं और उन्होंने व्यंग्य के माध्यम से इनको समाप्त करने का अप्रतिम प्रयास किया है।

इस दृष्टि से काका की व्यंग्य-रचनाएँ अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती रही हैं। उन्होंने भी छिछली शिष्टता एवं मान्यता, कृत्रिमता, प्रदर्शनवृत्ति, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, आर्थिक, राजनीतिक क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार और अतिचार, रूढ़िवादिता अथवा श्रेष्ठ परंपराओं को खंडित करने की प्रवृत्ति आदि पर डटकर व्यंग्य-बाणों का प्रहार किया है। ये वे प्रवृत्तियाँ हैं, जिनसे समाज का अधिकांश भाग मुक्त नहीं हो पाता है।

यहाँ यह कह देना भी समीचीन होगा कि काका जी ने मात्र व्यंग्य के लिए व्यंग्य नहीं किया है। उनके व्यंग्य में खुरखुरेपन, विखंडनवृत्ति, तोड़-फोड़ की ही प्रधानता नहीं है, वे मात्र कटु वक्ता ही नहीं हैं, उनके व्यंग्य में निहित प्रयोजनीयता भी हास्य के आकर्षक और मायावी आवरण में से इस प्रकार झिलमिलाती है, जिस प्रकार बिहारी की सहज-सलज्ज, सरल नायिका के चंचल नयन घूँघट-पट से झाँकते हैं। उन्होंने अपने व्यंग्य को कबीर के भीगे कोड़े नहीं बनाया वरन् अपनी बात कुछ इस अंदाज में व्यक्त की कि व्यंग्य का प्रहार तीखा होते हुए भी उसका आलंबन व्यंग्य को कटुता से ग्रहण नहीं करता वरन् मन-ही-मन मुस्कराता रहता है। इस प्रकार शिष्टता की सीमा में रहते हुए समाज की वास्तविकता को उद्घाटित करनेवाला, हास्य-मिश्रित व्यंग्य लिखना बहुत मुश्किल काम है।

इस संबंध में काका जी बेढ़व बनारसी के इस दृष्टिकोण से पूर्णतः सहमत थे कि 'व्यंग्य इस प्रकार होना चाहिए, जिस प्रकार खुजली हाथ को काटती है, जिससे हाथ नहीं कटता, किंतु मनुष्य अनुभव करता है कि कोई चीज धीरे-धीरे उसके हाथ को काट रही है। वास्तव में इस कटन में भी एक प्रकार के सुख की अनुभूति होती है और व्यक्ति बार-बार हाथ खुजाता है। इस प्रकार के व्यंग्य से ही मनुष्य और समाज का सुधार संभव है।

हम जो कुछ भी भोगते हैं, वह समाज में और समाज के कारण ही भोगते हैं। समाज में निहित अनेकानेक असंगतियाँ हमारे दर्द और द्वंद्व का कारण बनती हैं। काका जी ने इनमें से लगभग सभी पर व्यंग्य-प्रहार किया है। ये चाहे सामाजिक कुरीतियाँ हों अथवा आधुनिक कृत्रिम सभ्यता की विसंगतियाँ, धार्मिक दुराग्रह हो अथवा आर्थिक विषमताएँ और शोषण की वृत्तियाँ, देश में व्याप्त राजनीतिक विडंबनाएँ एवं विद्रूपताएँ हों अथवा असंगत साहित्यिक परिस्थितियाँ। अब हम यह देखेंगे कि काका की रचनाओं में उक्त विसंगतियों पर किस प्रकार का और कितना

व्यंग्य किया गया है?

### सामाजिक कुरीतियों पर व्यंग्य

सामाजिक व्यंग्य के क्षेत्र में काका के काव्य में शाश्वत और सामयिक दोनों प्रकार की समस्याएँ प्रस्तुत हुई हैं। उनकी रचनाओं में समाज में व्याप्त कुरीतियों, कुनीतियों और रूढ़ियों पर करारी चोट की गई है। कहीं-कहीं हास्य के आवरण में भी व्यंग्य इतना तीक्ष्ण होता है कि वह अपने आलंबन को तिलमिलाकर रख देता है। आधुनिक समाज ऐसी विसंगतियों और विडंबनाओं से भर गया है कि उसका छोटे-से-छोटा घटक भी इन विसंगतियों और विडंबनाओं का प्रतिपालक अथवा उनका कारण बन गया है। इसी कारण सामाजिक क्षेत्र की प्रत्येक व्यंग्योक्ति सामान्यकृत-सी प्रतीत होती है। प्रत्येक व्यक्ति उसको अपने से संबंधित मानता है और चुप रहता है। काका की कलम का कमाल कार से लेकर बेकार तक, शिष्टाचार से भ्रष्टाचार तक, परिवार से पत्रकार तक, विद्वान से गँवार तक, फैशन से राशन तक, परिवार से नियोजन तक, रिश्वत से त्याग तक और कमाई से महँगाई तक देखने को मिलता है। तात्पर्य यह है कि काका ने प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश किया और धड़ल्ले से किया

सर्वप्रथम न्याय की कुर्सी पर आसीन न्यायाधीशों और दंडाधिकारियों के कार्यालयों में व्याप्त भ्रष्टाचार को देखें। आधुनिक न्यायालय विचित्र विद्रूपताओं से भर गए हैं। वे न्यायालय हैं अथवा भ्रष्टालय, इसमें भेद करना कठिन है। इन स्थलों पर न्याय प्राप्त होगा, यह सोचना दुराशा मात्र है, अथवा न्याय मिलेगा तो वह कितने समय बाद, इसका कोई निश्चय नहीं है। न्याय तो बाद में मिलेगा किंतु इस प्रक्रिया के बीच जो दुर्दशा अथवा धन की छीनाझपटी होती है, उस पर काका ने कितना स्पष्ट व्यंग्य किया है :

न्याय प्राप्त करने गए, न्यायालय के द्वार  
इसी जगह सबसे अधिक, पाया भ्रष्टाचार  
पाया भ्रष्टाचार, मिसल को मसल रहे हैं  
ईट-ईट से रिश्वत के स्वर निकल रहे हैं  
कहाँ काका, जब पेशकार जी घर को आए  
तनखा से भी तिगुने नोट दबाकर लाए

केवल पेशकार ही नहीं, यहाँ तो वकील, मुंशी, मुहर्रिर और चपरासी तक 'समभाव?' प्रेमी हैं। प्रत्येक अपने-अपने 'हक?' को प्राप्त करने के लिए लालायित है। हाँ, न्याय के द्वार पर दस्तक देनेवाला बेचारा व्यक्ति इनके दुष्चक्र में फँसकर लाचार हो जाता है। यदि वह किसी प्रकार न्याय प्राप्त करने में सफल हो भी गया तो उसकी दशा हारे हुए खिलाड़ी से कम नहीं होती। काका के शब्दों में व्यक्त यह स्थिति अपने व्यंग्य के कारण कितनी मार्मिक बन गई है—

प्लीडर, मुंशी, मुहर्रिर, सब निचोड़ लें अर्क  
सायल को घायल करे, फायल वाला क्लर्क  
फायल वाला क्लर्क, अगर कुछ बच जाएगा  
वह चपरासी के इनाम में पच जाएगा  
कहाँ काका, जो जीत गया सो हारा समझो  
हार गया, सो पत्थर से दे मारा समझो

चोरों, अन्यायियों अथवा अपराधियों को दंडित करनेवाले दंडाधिकारी अथवा पुलिस-कर्मचारी स्वयं अपराध में संलग्न हैं। अपराधी को न्याय के कटघरे में खड़ा करने का निवेदन करनेवाले को ही धन के अभाव में अपराधी घोषित कर दिया जाता है। अपने साधनों के बल पर बड़े-से-बड़ा अपराधी सरलतापूर्वक अपनी क्रियाओं में लगा रहता है। गरीब की 'चोरी की रपट' भी पैसों के अभाव में अलिखी रह जाती है। इस परिस्थिति पर काका का व्यंग्य द्रष्टव्य है—

घूरे खाँ के घर हुई, चोरी आधी रात  
कपड़े-बर्तन ले गए, छोड़े तवा-परात  
छोड़े तवा-परात, सुबह थाने को धाए  
क्या-क्या चीज गई है, सबके नाम लिखाए  
आँसू भरकर कहा, 'महरबानी यह कीजै  
तवा-परात बचे हैं, इनको भी लिख लीजै'

कोतवाल कहने लगा, करके आँखें लाल  
'उसको क्यों लिखवा रहा, नहीं गया जो माल'  
नहीं गया जो माल, मियाँ मिमियाकर बोला  
'मैंने अपना दिल हजूर के आगे खोला  
मुंशी जी का इंतजाम, किस तरह करूँगा?  
तवा-परात बेचकर 'रपट-लिखाई दूँगा'

घूरे खाँ की उक्त मासूम उक्ति में कितना बड़ा व्यंग्य छिपा है? 'मुंशी जी का इंतजाम किस तरह करूँगा?' वाक्य में अर्थ की परतें प्याज के छिलकों की तरह उतरती हुई दिखाई देती हैं। 'रपट-लिखाई' देने के लिए उसे अपना तवा-परात बेचना ही होगा। इस एक वाक्य में वक्रोक्ति, वाक्यवैदग्ध्य और उपहास के अंतर से प्रकट हुआ व्यंग्य कितना सटीक है!

'रिश्वत' हमारे देश के लिए अभिशाप बन गई है। इससे अभिशप्त समाज का अंग-अंग भ्रष्टाचार के कोढ़ से गल रहा है। सरकारी विभाग ही क्यों, हर कार्यालय, घर, यहाँ तक कि शिक्षा-संस्थान भी उसके इंद्रजाल में अपने को नंगा करते हुए सौभाग्यशाली समझ रहे हैं। अब तो ऐसा प्रतीत होने लगा है कि रिश्वत के बिना दो कदम आगे बढ़ना भी असंभव है। असंभव से असंभव कार्य भी रिश्वत द्वारा सुलभता से संपन्न हो जाता है। रिश्वत से रहित दफ्तर सूना-सा लगता है, अफसर को भी और निवेदक को भी। अगणित नामों से पुकारी जानेवाली रिश्वतदेवी की, वक्रोक्ति के माध्यम से की गई इस प्रशंसा में निहित व्यंग्य को देखिए :

रिश्वतरानी धन्य तू, तेरे अगणित नाम  
हक, पानी, उपहार औ' बख्शिाश, घूस, इनाम  
बख्शिाश, घूस, इनाम, भेंट, नजराना, पगड़ी  
तेरे कारण 'खारूमल' की इनकम तगड़ी  
कहँ काका कविराय, दौर-दौरा दिन दूना  
जहाँ नहीं तू देवि, महकमा है वह सूना

इसके महत्त्व और लाभ का प्रतिपादन इन शब्दों में किया गया है—

जिनको नहीं नसीब थी, टूटी-फूटी छान  
आज वहाँ भन्ना रही, कोठी आलीशान  
कोठी आलीशान, भिनकती मुँह पर मक्खी  
उनके घर में घूम रही चाँदी की चक्की  
कहाँ काका कवि, जो रिश्वत का हलवा खाते  
सूखे-चिपके गाल, कचौड़ी-से हो जाते

परंतु रिश्वत के पंक में खिले हुए ये कमल क्या कभी उससे सने हुए दिखाई देते हैं? ऊपर से तो ये पूरी तरह निर्मल और स्वच्छ प्रतीत होते हैं, बड़े सरल और मासूम-से। यदि कोई व्यक्ति इन पर कलंक-कालिमा लगाने का असफल प्रयास करता भी है तो रिश्वत महारानी की सहायता प्रतिपल तैयार रहती है। अपने पुजारी के लिए यह साध्य भी है और साधन भी। रिश्वत लेनेवाला यदि पकड़ा भी जाए तो उसका बाल-बाँका नहीं हो सकता। रिश्वत की इस दुधारी वृत्ति पर काका जी ने कितना करारा व्यंग्य किया है—

कूटनीति मंथन करी, प्राप्त हुआ यह ज्ञान,  
लोहे से लोहा कटे, यह सिद्धांत प्रमान।  
यह सिद्धांत प्रमान, ज़हर से ज़हर मारिए,  
चुभ जाए काँटा, काँटे से ही निकालिए।  
कहाँ काका कवि, काँप रहा क्यों रिश्वत लेकर,  
रिश्वत पकड़ी जाय, छूट जा रिश्वत देकर।

समय का चक्र कुछ इस तरह घूम रहा है कि बड़े-बड़े रिश्वती भी मौज की छान रहे हैं, लंबी तान रहे हैं, परंतु छोटे-छोटे भ्रष्टाचारी आसानी से क़ानून की ज़द में आ जाते हैं—

एक रुपया रिश्वत लेने पर  
बुद्धराम जेलखाने में  
फटे हुए भाग्य को सी रहा है,  
किंतु—  
दस हजार के नोट दाबकर  
एक लाख टैक्स छोड़ देनेवाला अफ़सर  
सोफ़ासैट पर सिगार पी रहा है।

रिश्वत के इस डंडे से समाजवाद लाने में भी मदद मिल रही है। प्रजातंत्र का युग है। जिनकी संख्या अधिक है, उनको वरीयता मिलनी भी चाहिए। इसी कारण थर्डक्लास बी. ए. का चुनाव हो जाता है, बेचारा फर्स्टक्लास एम.ए. टापता रह जाता है; और यह सब कुछ होता है जनसेवा के नाम पर—

फर्स्टक्लास एम.ए. रिजेक्ट कर, ले लें थर्डक्लास बी.ए. को  
साहब नहीं छुएँगे पैसा, दो हजार दे दो पी.ए. को  
जनसेवा का लगा मुखौटा, दाग दनादन गोलियाँ  
गणपति बप्पा मोरिया

यदि किसी कार्यालय में राष्ट्रीयता की भावनाओं से ओतप्रोत, भ्रष्टाचार से पलायन

करनेवाला ईमानदार अधिकारी पहुँच जाता है तो सहयोगी कर्मचारी उसके सम्मुख बाधाओं का पहाड़-सा खड़ा कर देते हैं अथवा उसे भी उन्हीं के रंग में रँगना पड़ता है—

ईमानी अफसर को नीचे वाले बेईमान बना दें  
लालच का पेट्रोल छिड़ककर, नैतिकता में आग लगा दें  
तू भी खा और हमें खिला, या बाँध बिस्तरा-बोरिया  
गणपति बप्पा मोरिया

रिश्वत लेनेवालों के तर्क भी वाग्विदग्धता से भरे हुए हैं। उनके विचार से रिश्वत तो अनादिकाल से चल रही है। इसके लिए वे ही दोषी नहीं हैं। रिश्वती तो ऋषिवत् हैं। इन पंक्तियों के अंतर से उभरते व्यंग्य को देखिए—

रिश्वतखोरी, पदलिप्सा औ' भ्रष्टाचार  
यह धंधा तो आदिकाल से चला आ रहा—  
आज चल रहा और चलेगा  
इन पर अंकुश नहीं लग सका  
नहीं लगा है, नहीं लगेगा  
रिश्वत खानेवाले तो 'ऋषिवत्' हैं भैया!  
इनके तेज और तप से ही  
चलती है शासन की नैया

रिश्वत तो लोग भगवान को भी देते हैं और भगवान् भी उनकी मनोकामना पूरी करते हैं। जब ईश्वर भी रिश्वत स्वीकार कर लेता है तो मानव पर प्रतिबंध कैसे लग सकता है—

हाँ-हाँ भेंट और उपहार  
इन्हें तो ईश्वर भी कर लेता है स्वीकार  
पाँच आने के पेड़ों का प्रसाद बोलकर  
काम करा लो पाँच रुपये का  
अनुष्ठान कर रेस जीत लो  
कथा बोलकर केस जीत लो  
खुलेआम यह धार्मिक रिश्वत  
आदिकाल से चली आ रही  
हो सकती है बंद?

फिर क्यों मानव पर प्रतिबंध?

तात्पर्य यह है कि रिश्वत वर्तमान समाज का एक ऐसा मधुर पाप बन गई है, जिससे में हर व्यक्ति को सुख की प्रतीति होती है परंतु यह अंदर से समाज रूपी वृक्ष की जड़ों को घुन के समान खोखला कर रही है। इसे अपनाने के लिए विभिन्न प्रकार के तर्क-कुतर्क दिए जाते हैं परंतु इसकी वास्तविकता से प्रत्येक व्यक्ति अवगत है। काका ने पक्ष और विपक्ष दोनों दृष्टियों से इस पर विचार किया है।

**आर्थिक विषमता और शोषण-वृत्ति पर व्यंग्य :**

आर्थिक शोषण, अभाव और विषमता से चरित्रहीनता को बल मिलता है, नैतिकता का

हास होने लगता है, रिश्वत, बेईमानी, दुराचार पनपने लगते हैं, इसलिए प्रत्येक सजग साहित्यकार इन आर्थिक विसंगतियों के कारण मर्मांतक पीड़ा का अनुभव करता है। इन विषमताओं पर उसका हृदय कसकता है, मस्तिष्क में बार-बार इन्हीं की अनुगूँज होती है। बिना परिश्रम किए कोठी खड़ी कर लेने की लालसा, समाजजनों के स्वास्थ्य की अवहेलना करते हुए खाद्य पदार्थों में अखाद्य पदार्थों की मिलावट, उपयोगी वस्तुओं को काले गोदामों में छिपाकर कृत्रिम महँगाई पैदा करके काले धन को बटोरने की स्पृहा, निरंतर बढ़ते परिवार के प्रति चिंताहीनता और दिन-दिन बढ़ती हुई बेकारी से समाज निरंतर कमजोर होता जाता है। व्यंग्यकार की सजग दृष्टि इन विडंबनाओं की ओर जाना स्वाभाविक है। काका जी ने सजग और समाज-चेता व्यंग्यकार के रूप में इनको देखा है, समझा है, तत्पश्चात् इनके कारणों पर तीव्र व्यंग्य-प्रहार किया है। इस प्रकार के व्यंग्य में तिरस्कार, उत्तेजना, प्रहारधर्मिता और उपहास सभी कुछ है।

खाद्य-पदार्थों में मिलावट इस युग की एक भयंकर समस्या है। इसके माध्यम से भ्रष्टाचारी व्यापारी समुदाय एक ही रात में करोड़पति बनने के स्वप्न देखता है। उसे इस बात की चिंता नहीं है कि समाज के स्वास्थ्य पर इसका क्या दुष्प्रभाव होगा? इस अनैतिक कार्य को रोकने का प्रयास जितना अधिक हुआ है, यह उतना ही अधिक प्रसार पाता गया है। किराना-व्यापारियों द्वारा जिसों में किस-किस वस्तु की मिलावट की जाती है, इसका कच्चा चिट्ठा काका जी ने बड़ी सरलता से खोला है—

पिसे हुए धनिये में  
लकड़ी का बुरादा  
हींग में गोंद  
गोंद में कतीरा  
शहद में शीरा  
और ज़ीरे में बुहारी का ज़ीरा  
प्रेम से मिलाते हैं  
तिलक लगाते हैं  
महीने में दो बार गंगा जी नहाते हैं।  
आपके द्वारा निर्मित  
चने के रँगे हुए छिलके  
पानी में मिल के  
चाय का रंग लाते हैं  
सुपाड़ियों में छुहारे की गुठली  
मिलाते हैं  
गरम मसाले के  
आकर्षक लेबिल छपाकर  
उसमें पैक कराते हैं  
दुकान का कूड़ा  
'जवान मरे, चाहे बूढ़ा।'



अपने पापों को छिपाने के लिए तिलक लगानेवाले और पापों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए गंगा में स्नान करनेवाले इन अनाचारियों पर किए गए इस व्यंग्य में उस समय और तेज़ी आ जाती है, जब इस कविता के नायक सेठ पिशताप्रसाद पंसारी अंत में गाते हैं—

किस्मत हमारे साथ है  
जलने वाले जला करें  
डडा डडडा डडडा डडडा  
डडडा डडडा डडा-डडा

ऐसा ही व्यंग्य 'मिलावट 1964-65' शीर्षक कविता में वक्रोक्ति के सहयोग से प्रकट हुआ है। अपने मुनीम को संबोधित करके कहे गए लाला जी के इस कथन से काका का व्यंग्य मुखर हो उठा है। एक बार तो लगता है कि मिलावट करनेवालों की वकालत की जा रही है किंतु दूसरे ही क्षण वक्रोक्ति के भीतर से निकलकर आते अर्थ से श्रोता चमत्कृत हो उठता है—

मनसुखलाल मुनीम से बोले कुशलकिशोर,  
मेल-मिलावट के लिए व्यर्थ मच रहा शोर।  
व्यर्थ मच रहा शोर, जानते सब विज्ञानी,  
हाईड्रोजन-आक्सीजन मिल बनता है पानी।  
कहाँ काका कविराय, शहद में गुड़ का शीरा,  
पहुँचाता है लाभ गोंद में मिला कतीरा।

इन लाला जी का तर्क है कि इस सृष्टि का निर्माण भी तो 'मिलावट' से हुआ है। यदि मिलावट न होती तो पाँचों तत्त्व अलग-अलग भ्रमण कर रहे होते। इसलिए मिलावट की निंदा करना व्यर्थ है—

वेद-शास्त्र सबने यही तथ्य किया स्वीकार,  
मिलकर माया-ब्रह्म यह सृष्टि हुई तैयार।  
सृष्टि हुई तैयार, विधाता स्रष्टाचारी,  
शब्द बिगड़कर यही हो गया भ्रष्टाचारी।  
कहाँ काका, कर रहे मिलावट की क्यों निंदा?  
चलने दो व्यापार, भजो राधे-गोविंदा।

भारत की आर्थिक विषमताओं का एक बहुत बड़ा कारण है निरंतर बढ़ती हुई जनसंख्या। इसके कारण देश का आर्थिक तंत्र टूटता जा रहा है, देश पर विदेशी ऋण का भार बढ़ता जा रहा है, परिणामतः और अधिक विषमताएँ उत्पन्न हो रही हैं, जिन्होंने अनेकानेक असंगतियों को जन्म दिया है। काका जी ने इस समस्या को भी गंभीरता से देखा है। उनका तत्संबंधी व्यंग्य द्रष्टव्य है—

यदि यही रहा क्रम बच्चों के उत्पादन का  
तो कुछ सवाल आगे आएँगे बड़े-बड़े  
सोने को किंचित जगह धरा पर मिले नहीं  
मजबूरन हम-तुम सब सोएँगे खड़े-खड़े

सरकार ने परिवार-नियोजन का संदेश प्रसारित करने के लिए करोड़ों रुपए खर्च कर

दिए। हर प्रकार की सुविधाएँ प्रदान कीं, इनाम दिए, लालच दिए परंतु समस्या का समाधान न निकला। परिवार-नियोजन की योजना की असफलता पर काका का पैना व्यंग्य कितना सार्थक है—

दवा बर्ध कंट्रोल की सभी हो गई फेल  
हैल्थ मिनिस्टर ने कहा— 'तेज़ चलाओ रेल'  
तेज़ चलाओ रेल, होंय द्रुतगामी जितनी  
निश्चय ही दुर्घटनाएँ भी होंगी उतनी  
काका बढ़ी हुई सब छँट जाएगी बादी  
आधी रह जाएगी भारत की आबादी

बढ़ती हुई जनसंख्या, सरकारी नीतियों की असफलता और व्यापारियों की अधिक लाभ कमाने की लालसा ने आर्थिक विषमता को बढ़ाने में भरपूर योग दिया है। इस विषमता के परिणामस्वरूप महँगाई अपनी चरमसीमा पर पहुँच गई है। एक समय था जबकि थोड़े-से पैसों में बोरा भरकर सामान मिलता था परंतु अब तो राशन भी पुडियों में मिलने लगा है। इस परिस्थिति पर काका का निम्नलिखित व्यंग्य महँगाई की विद्रूपता को व्यक्त कर रहा है—

पाकिट में पीड़ा भरी, कौन सुने फरियाद?  
यह महँगाई देखकर, वह दिन आते याद  
वह दिन आते याद, जेब में पैसे रखकर  
सौदा लाते थे बज़ार से थैला भरकर  
धक्का मारा युग ने, मुद्रा की क्रेडिट में  
थैले में रुपए हैं, सौदा है पाकिट में

नेताओं ने इस महँगाई को कितनी उपेक्षा के साथ देखा है, इसका उदाहरण काका की 'महँगाई' शीर्षक रचना है। नेताओं को महँगाई का दुःख प्रभावित नहीं करता, इसीलिए उनके द्वारा अत्यधिक अव्यावहारिक सुझाव दिए जाते हैं। उनके विचार में यदि राशन नहीं मिलता तो बिस्कुट-केक खाए जा सकते हैं, दूध के अभाव में आइसक्रीम खाई जा सकती है और राशन की लाइन में खड़े होने की अपेक्षा होटल में भोजन करना सरल है—

हाथ पेट पर फेरकर, बोला नेता एक  
गेहूँ-चावल छोड़कर, खाओ बिस्कुट-केक  
खाओ बिस्कुट-केक, अक्ल से समय काटिए  
दूध नहीं मिलता तो आइसक्रीम चाटिए  
काका क्यों फँस रहे व्यर्थ राशन दलदल में  
सब झंझट को छोड़, करो भोजन होटल में

राजनेताओं की अज्ञानता पर कितना बड़ा व्यंग्य है यह! देश की सामान्य जनता को, जो दो वक्त रूखी-सूखी रोटी खाकर अपना पेट भरने में भी असमर्थ है, होटलों में भोजन करने की सलाह कितनी बचकानी है!

**आधुनिक सभ्यताजन्य विसंगतियों पर व्यंग्य :**

जिस प्रकार आधुनिक जीवन से काफ़ी पीछे ले जानेवाली रूढ़िवादी जर्जरित परंपराएँ

अहितकर होती हैं, उसी प्रकार कृत्रिमता, दिखावे बाह्य चमक-दमक एवं तड़क-भड़क से युक्त अत्याधुनिकता में रँग रहना भी उचित नहीं है। आधुनिक सभ्यता से उत्पन्न होनेवाली ऐसी विसंगतियाँ समाज के समुचित परिचालन में बाधा उपस्थित करती हैं।

भारत में फैशन की बाढ़ आ रही है। परिणामतः सांस्कृतिक मर्यादाएँ ढह रही हैं। संपूर्ण समाज फैशन के पीछे दीवाना है। जिधर दृष्टि जाती है, रँग-पुते चेहरे और टॉपलैस वस्त्रों से सुशोभित नारियाँ दिखाई देती हैं। काका जी ने ऐसे कृत्रिम वातावरण में जीनेवाले व्यक्तियों पर सूक्ष्म दृष्टि डाली है और उनसे उत्पन्न परिस्थितियों पर तीव्र व्यंग्य-प्रहार किए हैं। वक्रोक्ति के माध्यम से प्रस्तुत इस व्यंग्य का प्रभाव देखिए—

न्यू फैशन की लूट है, लूट सके तो लूट,  
अंतकाल पछताएगा, प्राण जाएँगे छूट।  
प्राण जाएँगे छूट, धूल अक्कल की झाड़ो,  
तंग सिलाओ सूट, पुराने फेंको-फाड़ो।  
कहाँ काका फैशन-सरिता में बहना सीखो,  
पूर्ण नहीं तो अर्द्धनग्न ही रहना सीखो।

अब तो सभ्यता की ऐसी हवा चली है कि समाज आधुनिका नारियों से भर गया है। प्रत्येक नवयुवक ऐसी नववधू चाहता है, जो आधुनिक फैशन में पगी हो, संस्कृति को उधेड़ने में लगी हो। फैशनप्रिय नारी पर हास्य से आवेष्टित व्यंग्य करते हुए काका जी ने लिखा है—

बहू वही फार्वर्ड है, जो हो अपटूडेट  
सास-ससुर के सामने, पीती हो सिगरेट  
पीती हो सिगरेट, वदन आधा ही ढाँपे  
भौजी भागे दूर, ननदिया थर-थर काँपे  
काका करें विरोध, उड़े अक्कल की वक्कल  
चौके में घुस जाय, पहन बाटा की चप्पल

आधुनिका नारी फैशन करने में जितनी चतुर है, घर-गृहस्थी के कार्य में उतनी ही अज्ञानी। 'चूल्हे चौके का रोमांस' शीर्षक फुलझड़ो में काका ने आधुनिका पत्नी पर तीव्र व्यंग्य किया है, जो वाक्कला में अद्वितीय है परंतु रसोईघर में 'पाक-कला' की पुस्तक देखकर भोजन बनाने का प्रयत्न करते हुए सभी पदार्थ जला देती है। इस पर भी व्यंग्य उस समय और अधिक तीव्र हो जाता है, जब वह जले हुए आलुओं पर 'बरनॉल' लगाने के लिए अपने पति को पुकारती है—

आधुनिका पत्नी मिली, पति के पड़ी नकेल  
वाक्शास्त्र में पास थी, पाकशास्त्र में फेल  
पाकशास्त्र में फेल, रसोई कर दी चालू  
स्वेटर बुनने लगी, जल गए सारे आलू  
पुस्तक खोली, पति से बोली, जल्दी आओ  
जले आलुओं के ऊपर, 'बरनॉल' लगाओ

वेशभूषा में इस प्रकार का परिवर्तन आ गया है कि कभी-कभी यह समझना भी

कठिन हो जाता है कि हमारे सामने उपस्थित प्राणी स्त्री है अथवा पुरुष—‘कहाँ काका, जब देखोगे लल्लू के दादा, धोखे में पड़ जाओगे, नर है या मादा।’ ‘मिस मसूरी’ रचना में ‘आइरनी आफ सिचुएशन’ के माध्यम से एतदप्रकारेण वेशभूषा धारण करने वालों पर काका का व्यंग्य प्रस्तुत है—

माल रोड पर देखिए, मस्त नशीली चाल  
स्लीव-लैस बुशशर्ट पर बीटल जैसे बाल  
बीटल जैसे बाल, प्यार से पूछा हमने  
क्यों बेटा, यह ड्रेस कहाँ सिलवाया तुमने?  
हो करके नाराज़, लगाई उसने झिड़की  
हमने लड़का समझा था, वह निकली लड़की

अँगरेज़ चले गए परंतु अँगरेज़ी और अँगरेज़ियत छोड़ गए। हम आज तक इनके अभिशाप को सहन कर रहे हैं। लार्ड मेकाले द्वारा प्रसारित शिक्षा-पद्धति हमारे तन-मन पर छाई हुई है। लगता है कि मेकाले की आत्मा को यह देखकर परम संतोष का अनुभव हो रहा होगा। अब तो लोग अँगरेज़ी धुन में गाते हैं, रोते हैं, शोक मनाते हैं, इतना ही नहीं उनको हँसी भी अँगरेज़ी में आती है। झगड़ा हिंदी में आरंभ होगा और वाक्-बौछार अँगरेज़ी में शुरू हो जाएगी। ऐसे ही एक ‘काले अँगरेज़’ के माध्यम से प्रकट व्यंग्य कितना तीखा है—

बुद्धू हैं वे लोग  
जो समझते हैं मुझे हिंदी का भक्त  
मेरी रगों में दौड़ रहा है  
अँगरेज़ी रक्त  
मालूम नहीं?  
जिस प्रकार दानवीर कर्ण ने  
कवच और कुंडलों-सहित  
कुंती की कोख से लिया था जन्म  
उसी तरह-मैंने भी  
इंग्लिश सूट धारण किए हुए  
लिया था अवतार

हमारे नेताओं की यह विडंबना है कि वे चुनाव हिंदी-भक्त बनकर जीतते हैं किंतु सत्ता पाते ही उनका हृदय अँगरेज़ी का गुलाम हो जाता है। नेताओं की संतानें ‘कांवेंट’ में शिक्षा प्राप्त करती हैं। इस परिस्थिति पर काका का यह व्यंग्य बड़ा सार्थक है—

हिंदी-हिंदू-हिंद का, जिनकी रग में रक्त,  
सत्ता पाकर हो गए अँगरेज़ी के भक्त।  
अँगरेज़ी के भक्त, कहाँ तक करें बड़ाई,  
मुँह पर हिंदी-प्रेम, हृदय अँगरेज़ी छाई।  
शुभचिंतक श्रीमान राष्ट्रभाषा के सच्चे,  
‘कांवेंट’ में दाखिल करा दिए हैं बच्चे।

### वर्तमान शिक्षा-पद्धति और छात्रों की स्वभावगत विसंगतियों पर व्यंग्य :

वर्तमान शिक्षा 'व्हाइटकालर' को पसंद करनेवाले युवकों का निर्माण कर रही है। वे या तो 'मास्टर' बन सकते हैं अथवा क्लर्क। शारीरिक श्रम को वे अवहेलना और घृणा की दृष्टि से देखते हैं। कपड़े काले करनेवाले अथवा पसीने से तर कर देनेवाले कार्य हेय माने जाते हैं, शिल्प का कोई महत्त्व नहीं है। पढ़-लिखकर जीवन-क्षेत्र में पदार्पण करते समय जब बेकारी उनका पीछा नहीं छोड़ती, तब सोचते हैं कि 'पढ़ा-लिखाकर हमें कर गए भूल पिताजी।' इस प्रकार के कितने ही बेकारों को असहाय और दर-दर की ठोकें खाते हुए देखकर छात्र-समुदाय अनुशासनहीनता की भावना से भर गया है। अंधकारपूर्ण भविष्य का निर्माण करनेवाली शिक्षा से युवकों का कोई लगाव नहीं है। वर्तमान में आनंद मना लेने की इच्छा से ओतप्रोत छात्र वर्षों तक असफल होते रहते हैं।

इन सब विसंगतियों को देखकर काका जी ने अपने देश के छात्रों पर सीधे-सीधे व्यंग्य न करके वक्रोक्ति को साधन रूप में स्वीकार किया। प्रत्यक्षतः ऐसा लगता है कि काका छात्रों को प्रेरित कर रहे हैं, परंतु जब वक्र कथन से निकलने वाली ध्वनि छात्रों की स्वभावगत असंगतियों पर प्रहार करती है तो देखनेवाला किंकर्तव्यविमूढ़-सा दिखाई देता है—

अधिकारी मानें नहीं, अगर तुम्हारी माँग  
हाकी लेकर तोड़ दो, अनुशासन की टाँग  
अनुशासन की टाँग, वही बन सकता नेता  
जो सभ्यता, शिष्टता का चूरन कर देता  
फ़िल्म दिखाए मुफ्त, उसी को मित्र बनाओ  
कापी पर माला सिन्हा का चित्र बनाओ

छात्र-समुदाय अब विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने के लिए नहीं जाता। ऐसे युवकों की संख्या अधिक है, जो स्वयं को 'हीरो' दिखाने के उद्देश्य से कालेजों में प्रवेश लेते हैं। कई-कई वर्ष तक एक ही कक्षा में रहकर मानों अपनी 'ज्ञान-नींव' को 'सुदृढ़' करते हैं। ऐसे युवकों को हीरो बनने के लिए यह नुस्खा भी खूब है—

पूज्य पिता की नाक में डाले रहो नकेल  
'रेगूलर' होते रहो, तीन साल तक फेल  
तीन साल तक फेल, भाग्य चमकाता 'जीरो'  
हुत शीघ्र बन जाओगे कालिज के हीरो

काका-कृत विद्यार्थी की परिभाषा में निहित व्यंग्य कितना सार्थक है—

कहाँ काका कविराय, वही सच्चा विद्यार्थी  
जो निकालकर दिखला दे, विद्या की अर्थी

आज के कालेज स्टूडेंट 'श्वान निद्रा वक्रो ध्यान' में विश्वास नहीं रखते। आदर्श विद्यार्थी की प्राचीन रूपरेखा नितान्त धूमिल हो गई है। अब वे नवीन परंपरा का निर्माण कर रहे हैं। बात भी ठीक है कि जब वे परंपरा-निर्माता बन सकते हैं तो अनुसरणकर्ता क्यों बनें? बड़े-बूढ़े व्यर्थ ही उनके कार्य को अनुचित कहते हैं, उसके मार्ग में बाधा उपस्थित करते हैं। कौन कहता है कि वे अपने जीवन को नष्ट कर रहे हैं? कौन कहता है कि वे बिना सींग के पशु हो गए हैं?

किसमें हिम्मत है यह कहने की कि आदर, मान, सम्मान की भावना उनसे कोसों दूर हो गई है? ऐसे युवकों को, अपने वर्ग की प्रगति के लिए किया गया, काका का यह उद्बोधन विरोध-कथन के माध्यम से कितना बड़ा व्यंग्य है—

आग-से धधक उठो, नाग-से फफक उठो  
भाड़-से भभक उठो, हिंद के युवक उठो  
होंठ काटते चलो, जीभ चाटते चलो  
नैन मारते चलो, सैन मारते चलो  
आपकी न मानना, बाप की न मानना  
ताल ठोकते चलो, मार्ग रोकते चलो  
धर्म, दया छोड़ दो, शर्म-हया छोड़ दो  
सभ्य या असभ्य का, भेद-भाव तोड़ दो  
तर्क को कुतर्क से काटते चलो युवक  
छल-प्रपंच स्वार्थ-रस चाटते चलो युवक

विद्यालयों में ऐसा अद्भुत वातावरण है कि प्रत्येक छात्र अपनी मनमानी करने के लिए स्वतंत्र है। कौन है ऐसा माई का लाल, जो उनके किसी कार्य में बाधा पहुँचाए। यदि अध्यापक, प्राचार्य अथवा अन्य अधिकारी कहना न मानें तो उनका रौद्र रूप देखते ही बनता है—

प्रोफेसर या प्रिंसिपल बोलें जब प्रतिकूल  
हाकी लेकर तोड़ दो, मेज़ और इस्टूल  
मेज़ और इस्टूल, चलाओ ऐसी हाकी  
शीशा और किवाड़ बचे नहीं एकहु बाकी

यहीं पर नेता बनने की भयंकर राय भी देखिए—

कहँ काका कवि, राय भयंकर तुमको देता  
बन सकते हो इसी तरह बिगड़ेदिल नेता

ऐसे ही 'बिगड़ेदिल छात्र-नेता' कॉलेज यूनियन का चुनाव लड़ते हैं तो हलचल मच जाती है। बड़े-बड़े नेता और राजनीतिक दल खुलकर सामने आ जाते हैं। चुनाव-सभाएँ होती हैं, पोस्टर लगते हैं, कारें दौड़ती हैं, वायदे होते हैं। 'छात्राध्यक्ष का लक्ष्य' शीर्षक कविता में काका ने ऐसे छात्र-नेताओं को अपने व्यंग्य का आलंबन बनाया है। एक चुनाव घोषणा-पत्र का कुछ अंश यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

कितने शर्म की बात है दोस्तो,  
हमारे ऐसे प्रतिष्ठित छात्र  
प्रिंसिपल के रूम में जाते हैं तो—  
पूछना पड़ता है गिड़गिड़ाकर  
'मे आई कम इन सर?'  
लानत है इस परंपरा पर!  
मेरे अध्यक्ष बनने के बाद  
कोई भी छात्र

प्रिंसिपल के आफिस में जाएँगे  
तो प्रिंसिपल साब खड़े हो जाएँगे  
क्लास टीचर या प्रोफेसर  
कक्षा में प्रवेश करते ही  
प्रत्येक विद्यार्थी के पैर छुएगा  
तब पढ़ाएगा  
वरना डिसमिस कर दिया जाएगा।

इस प्रकार काका की सूक्ष्म दृष्टि से कोई विषय नहीं बच पाया है। उन्होंने समाज को बड़ी गहराई से तथा पैनी दृष्टि से देखा है। इसी कारण उन्होंने उन सभी पर व्यंग्य-बाण छोड़े हैं, जिनका संबंध सामाजिक जीवन से है।

□ 16 साहित्य विहार  
बिजनौर ( उ.प्र. )

## लोकसंस्कृति में लोरी : स्वरूप और विकास

डॉ० शकुंतला कालरा

ऐसोसियेट प्रोफेसर, हिंदी विभाग

मैत्रेयी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

लोरी लोकसाहित्य की प्रमुख विधा है। यह लोकगीतों का ही एक अंग है, जिसमें लोक की सौंदर्य-चेतना, काल-चिंतन तथा जन-जीवन अभिव्यक्त हुआ है। जब शिशु केवल नाद को समझता है सुर-माधुर्य को महसूसता है, शब्दों और उसके अर्थ को नहीं तब माँ उसे सुलाने का उपक्रम करते हुए जो दुलार-भरी छुअन के साथ स्नेहपूर्ण थपकी देती है और साथ ही उसके मुख से जो ममतापूर्ण गीत सुर, ताल और लय में निःस्तृत होता है, वही लोरी है। कभी-कभी वह केवल गुनगुनाती है। सार्थक-निरर्थक शब्दों की वह लय-युक्त ध्वनि भी लोरी है। लोरी में उच्चारण की समानता अथवा क्रमबद्धता अथवा अर्थ आदि का ध्यान सप्रयास नहीं रखा जाता। इनका उद्देश्य है बालक को सुखद संगीत का श्रवण कराया जा सके जिससे वह निश्चित होकर सो सके। इनका बच्चे पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। वह माँ की निकटता और उसके स्पर्श का अनुभव करता है। लोरी की रचना भी शायद माँ ने की होगी। लोरियाँ विशुद्ध रूप से निद्रा से पहले माँ द्वारा बच्चे को दी गई वह मादक घुट्टी है जिसका सेवन करते ही वह माँ की गोदी में या कंधे पर या पलने पर अथवा पंलग पर मीठी नींद में सो जाता है। उसका वत्सलभाव संगीत एवं माधुर्यसिक्त शब्दों के साथ मिलकर उनींदे बालक को पूरी तरह से निद्राभूत कर देता है। मानव जन्म से ही संगीतप्रेमी होता है, इस बात का प्रमाण है लोरियाँ। लयात्मक ध्वनि शिशु को निद्रा के एक दिव्यलोक में ले जाती है। मातृकंठ द्वारा उच्चरित लोरियों के स्वर शिशु को आनंद के महासागर में निमज्जित कर देते हैं। ये लोरियाँ बच्चे को शब्द ज्ञान कराती हैं। धीरे-धीरे इनसे बालकों में शब्दों से वाक्य बनाने की क्षमता का भी विकास होता है। इनके माध्यम से बच्चों में सामाजिकता, अनुशासन आत्माभिव्यक्ति आदि गुण भी स्वतः आ जाते हैं। लोरी बच्चे को भाषा की लय की पहचान कराती है। ध्वनियों का मेल सिखलाती है। बच्चों को कल्पनालोक में ले जाकर नए-नए सपने जगाती है। बालक के कोमल स्नायुओं पर सुखद प्रभाव डालती है। कुछ लोरियों में दादी-नानी बच्चों को व्यवहार-बुद्धि का ज्ञान भी देती हैं। अवधी-लोक साहित्य की एक लोरी देखिए जिसमें बच्चे को एक कानी-कौड़ी से अपने बुद्धि-चातुर्य से घोड़ा प्राप्त करने की बात कही गई है—

कंता मंता लेइथै, कानी कौड़ी पाइथै

गंगा में बहाइत है, गंगा माई बालू देंय, ऊ बालू भुजइनिया का देई

भुजइनिया हम्मै भूजा देय, ऊ भुजवा हम घसिकटवा क देई।



घसिकटवा हम्मै घासि देय, ऊ घसिया हम गैया क देई  
 गैया हम्मै दूध देय, ऊ दूधवा हम राजा क देई।  
 राजा हम्मै घोड़ा देय, घोड़ा चढ़े आईथै,  
 घोड़ा चढ़े जाइथै, पान फूल खाइथै।

जहाँ तक लोरियों के विषय की बात है इसका विषय कुछ भी हो सकता है। प्यार की सघनता में माँ बच्चों को कुछ भी कह देती है। माँ की कल्पना का विस्तार अनंत है उसी के अनुरूप विषय भी असीम हैं। शिशु को सुलाने में मानों नारी-चेतना-शक्ति केंद्रीभूत हो जाती है। इसका सृजन वात्सल्य के परिवेश में होता है। देश-विदेश कहीं की भी लोरी हो उसके विषय समान होते हैं। गाँव या शहर की हर माँ इसे अपने वात्सल्य से संपोषित करती है। लोरियों के अंतर्गत प्राकृतिक परिवेश व पशु-पक्षी-प्रेम भी व्यंजित होता है। पशु-पक्षी बच्चों के आकर्षण का प्रमुख केंद्र हैं। उनका नाम सुनते ही बालक चुप हो जाता है। पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन की सांस्कृतिक स्थिति, राजा-रानी की कहानियाँ भी बच्चों को एकाग्रचित्त करके सुला देती हैं। देवी-देवताओं की वंदना, सम-विषम परिस्थितियों का हर्ष-विषाद, पारंपरिक रीति-रिवाज आदि सभी का चित्रण लोरी का विषय हो सकता है। गाँव की लोरियों में खेत-खलिहान, जमींदारी-संस्कृति आदि का दृश्यांकन भी होता है। कुछ लोरियों में पारिवारिक संबंधों की रोचक व्यंग्योक्तियाँ भी होती हैं जैसे विवाह के गीतों में लड़की के मायके वाले, उनकी सहेलियाँ वर-पक्ष के प्रति अनेक व्यंग्य-मिश्रित उक्तियों का प्रयोग करती हैं, उसी प्रकार लोरी में विशेषकर गांवों की लोरियों में लोकगीतों में दादा-दादी के प्रति अथवा पैतृक घर में नाना-नानी, मामा-मामी के प्रति व्यंग्योक्तियाँ एवं हास-परिहास यानी उनका मज़ाक बनाने का भाव भी अभिव्यंजित हुआ है। विषय चाहे कोई भी हो लोरी का उद्देश्य होता है शिशु को गोद में थपकी देकर अथवा पालने में झुलाकर सुलाना। लोकजीवन की प्रत्येक क्रिया लोरी की लय में बँधकर बच्चे को निद्राभूत कर देती है। वात्सल्य में माँ की कल्पना बहुत लंबी उड़ान भरती है, कभी वह चाहती—

कब लाल बड़ा के होइहैं, कब बाबा कि बगिया जइ हैं  
 कब आम घवदि ले अहहैं, कब आजी के अगवाँ धरि हैं।  
 यह तो हर माँ ही चाहती है कि बहू उसके बेटे के अनुशासन में रहे—  
 मोर भैया मोर भैया चंपाकली, जाय ससुरारी निहारैं गली  
 मोर भइया देखावै फूल छड़ी, भागि दुलहनिया भीतर खड़ी

बच्चा माँ की आशा है, पिता की अभिलाषा है। वह समस्त परिवार की उमंगों का केन्द्र है। राजस्थान के 'हाड़ौती' अंचल की लोरी देखिए जिसमें जन-जीवन की मोहक छवि अंकित है—

सोजा रे सोजा म्हारा नन्या सा लाडकड़ा भाया  
 मायड़ की आस जगावै बाबल की हूँस भगावै।  
 सगल परिवार मं तू उमंगा की खरल भरावै।

बिहार के ग्रामीण समाज की एक लोरी देखिए जिसमें माँ के स्नेह-सिक्त भावों में उसके सपने भी बुने हुए हैं—

आइहो री निंदिया तू अइहो री निंदिया, सपना सलोन सजइहो री निंदिया  
बड़ा होके बाबू हम राज करिहो, हीरा मोती मूँगवा से दिन रात खेलिहो।

इन विषयों में सबसे अधिक लोरियाँ मानव और प्रकृति के रिश्तों पर आधारित हैं। लोकसाहित्य चाहे किसी भी भाषा का हो वहाँ लोरियों के माध्यम से शिशुओं को बहलाने का-सुलाने का प्रयास किया गया है। पशु-पक्षियों के प्रति शिशु का सर्वाधिक कौतुहल का भाव रहता है। इस कौतुहल का लाभ उठाकर उसे चुप कराने के लिए लोरी गाई जाती है जिनमें पशु-पक्षियों का उल्लेख रहता है। एक उदाहरण गुजराती भाषा की लोरी का देखिए, जिसमें माँ चिड़िया, तोता, मोर आदि सभी पक्षियों को जोड़ लेती है, क्योंकि ये उनके आंगन का सौन्दर्य हैं। वह चिड़िया की रंग-भरी चोंच को घड़ाने तथा पालने में सुग्गा को पढ़ाने की बात कहती है—‘चीतरेल चांचनी चकली घड़ाऊँ पारणे पोपट पढ़ावूँ।’

प्यार में माँ बच्चे के विचित्र नाम भी रख देती है। तरह-तरह के संबोधनों से उसे संबोधित करती है। वह उसे ‘राजदुलारे’, ‘अखियन के तारे’ ही नहीं कहती ‘भकुआ’ तक भी कह देती है। ‘भकुआ’ अर्थात् ‘मिट्टी का माधो’। अवधी लोकसाहित्य की इस लोरी में देखिए जहाँ लयगत सौंदर्य भी है और अर्थ की विशेषता भी—

भैया भैया भकुआ, गुर खाबा कि सतुआ

प्यार से बच्चे को छगन-मगन कह कर पुकारती है

सोजा रे भाया छंगन-मगन मायड़ के प्यारा छगन-मगन।

बालक को माँ चाहे किसी भी विशेषण से संबोधित करे पर ये लोरियाँ ममता की छाँव हैं। स्नेह का बहता झरना है। लोरी माँ के हर्षातिरेकपूर्ण वात्सल्यरस से छलकता वह मधुर गीत है जो शिशु को बहला कर सुला देता है। यह वात्सल्यपूर्ण लयात्मक अभिव्यक्ति ही लोरी का स्वरूप ग्रहण करती है, जिसमें उसका शिशु कभी राजदुलारा बन जाता है कभी राम तो कभी कृष्ण कन्हैया। डॉ० सरोजिनी कुलश्रेष्ठ का शिशु कुंचित अलकों वाला बाल कन्हैया है—मेरे बाल कन्हैया सो जा कुंचित अलकों वाले सो जा।

डॉ० उषा वर्मा के अनुसार—‘लोरी माँ के अछोर आनंद का गीत गुंजार है जो जन्मस्थ शिशु से लेकर शिशु के बालपन तक उसके हृदय में अमृत घोलकर उसे मीठी नींद का सोमरस पिलाता रहता है। लोरी के इस शाश्वत स्वरूप का न आदि है न अंत। यह शाश्वत अमृतमय है।’

अपने बच्चे को सुलाने के लिए माँ हर संभव-असंभव कार्य करती है। वह सत्य को झूठ और झूठ को सत्य कर सकती है। किसी के साथ भी शिशु का कोई संबंध स्थापित कर सकती है। वह चंदा को शिशु का मामा बना देती है और उसे धरती पर उसके साथ खेलने के लिए दूध-बताशा, दूध-मलाई खिलाने के लिए बुला सकती है। कभी तारे को उसकी मौसी बना देती है जो उसके लिए भाँति-भाँति के सुंदर खिलौने ले आती है—‘चंदा मामा आवनी, दूध भात खावनी।’ बालक जब किसी भी प्रकार से नहीं सोता तो माँ डराकर उसे सुलाने का प्रयत्न करती है कि सो जा नहीं तो हाबू आ जाएगा, पर शीघ्र ही उसे नए सपने भी दिखाती है कि कहीं वह ज़्यादा ही न डर जाए—

सो ज्याज्ये रे नान्या भाया हाबू आवै छै कबूतरां की जोड़ी थारी मावसी लावे छै

सो ज्याज्ये रे नान्या भाया हाबू आवै छै झुगल्या टोपी थारी जीजी बाई लावे छै।

कभी-कभी बड़ी देर तक जब सुलाने-दुलराने और हलरानेया डराने से भी नहीं सोता तब वह सशक्त हो उठती है और उसे इस बात का विश्वास हो जाता है कि उसे किसी की नज़र लगी है। वह नज़र उतारने वाले 'झड़वइया' को बुलाने के लिए कहती है। बिहार की ग्रामीण लोरी में देखिए एक माँ की चिंता—

रंग देश से झड़वाइया बोलाव झड़वइया के देवो हम पइसा रूपइया  
कोई जल्दी उतारे नज़रिया हमरा बाबू के लागल नज़रिया।

माँ नज़र से बचाने के लिए पहले ही उसे डिठौना लगा देती है। डॉ० शकुन्तला कालरा की लोरी 'सो जा कान्हा' में माँ उसे बुरी नज़र और जादू-टोने से बचाने के लिए यही उपाय करती है—'सुंदर मुख पर लगा डिठौना नज़र लगे ना जादू-टोना।'

श्रीमती शकुन्तला सिरोठिया का मातृहृदय भी जादू-टोने अथवा किसी की बुरी नज़र से सदा आशंकित रहता है। वह चांद से प्रार्थना करती है कि—

चंदा प्यारे आ जाओ। नींद रंगीली ले आओ।  
चांद लोक की परियाँ भेजो। भेजो मृग का छौना।  
मुन्ना मेरा सोने जाता। लगे न जादू-टोना।

माताएँ मातृ सुख एवं वात्सल्य की जिस अनुभूति में पुत्र को लोरी देकर सुलाने का उपक्रम करती हैं उसी मनःस्थिति में पुत्री को भी तरह-तरह के विशेषण देकर सुलाती हैं। वैदिक और लौकिक विचारधारा पुत्र और पुत्री को समभाव से देखती है। वहाँ भिन्नता नहीं है। पुत्रहीनता की स्थिति में यदि पिता को गति या मुक्ति नहीं मिलती तो दूसरी ओर वह यह भी स्वीकार करती है कि कन्यादान के बिना पति की जंघा की शुद्धि नहीं होती। यह सूत्र निश्चय ही दोनों के अंतर को मिटाने के लिए पर्याप्त प्रमाण है। इस दृष्टि के एकांगी होने के कई सामाजिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, आर्थिक कारण रहे हैं यथा पुरुष जीविकोपार्जन करेगा, वंश बढ़ाएगा, संपत्ति का संरक्षक होगा। इनमें से प्रमुख कारण संभवतः कन्यादान की जटिलता है जिसमें दहेज की समस्या और आर्थिक विपन्नता ही प्रमुख कारण प्रतीत होता है। वरना बेटी भी माँ के 'नयनों की ज्योति', 'महकी फुलवारी' है। राजस्थान की एक लोरी देखिए—

प्यारी-प्यारी राजदुलारी, महकी मेरी फुलवारी पलणा में झूले।  
नैणां री ज्योति, सबकी दुलारी, नन्हीं सी सुकुमारी पलणा में झूले।

मातृहृदय बेटी-बेटे में अंतर नहीं करता। माँ की ममता भी बेटे और बेटी को सम दृष्टि से देखती है, किंतु पहले की लोरियों में पुत्र को हुलराते हुए ही अधिक लोरियाँ लिखी गईं। लेकिन धीरे-धीरे समाज की मानसिकता बदली है और लोरियों का केन्द्र उनकी 'लाडली' भी बनी है। बेटी भी उसे उतनी ही प्यारी है, इसलिए वह उसे कहती है कि सोते हुए तुम सपनों के गाँव में जाना, जहाँ तुम्हें चंदा और तारे मिलेंगे। भोजपुरी लोरी की मिठास-भरी यह लोरी देखिए—

सूत सूत रानी बेटी अम्मा के झूलना सूत सूत जनक दुलारी बाबा के झूलना  
सूतले सूतले बेटी सपना के गाँव7 जइह परी चंदा तारा से तू मिलि अहह।  
यही मिठास डॉ० शकुन्तला की बाल वाणी में प्रकाशित लोरी 'टुमक-टुमक कर चले हवाएँ' में मिलती है जब वह अपनी 'गुड़िया' को पालने में झुलाती हैं—

झूले पलना मेरी गुड़िया हौले-हौले आना निंदिया  
 गोरे मुख पर काली अलकें थकी-थकी सी भारी पलकें  
 श्री ब्रजकिशोर नारायण ने भी 'बेटी' के लिए लोरियाँ लिखी हैं—  
 मेरी बिटिया सोजा सोजा  
 घोड़ा बाबू ढोल बजावें बछड़ा जी सारंगी  
 बंदर बाबू काम न करते खाते हैं नारंगी

अपनी रानी बिटिया के प्रति माता जैसा वात्सल्य और लाड़-दुलार रमेश तैलंग जी की लोरी में भी विद्यमान है। वह निंदिया को कभी चंदा की किरण कहते हैं तो कभी अंबर की दुल्हन—

ओ नीले अंबर की दुल्हन ज़रा धीरे से, धीरे से सँवर,  
 कहीं जाग नहीं जाए ये नन्हीं गुड़िया मेरी।  
 डॉ० राष्ट्रबंधु ने अपनी गोरी बिटिया के लिए भी लोरी गाई है—  
 निंदिया ने गाई है लोरी तू सो जा ओ बिटिया गोरी  
 पलकों पर उतर आई चंदा की परियाँ सपनों के नीड़ों में सोई हैं सखियाँ  
 चिड़िया-चिरौंटा भी करते चिरौरी तू सो जा ओ बिटिया गोरी।

निरंकारदेव सेवक जी का मानना है कि 'लोरिया लिखना वास्तव में पुरुषों का काम नहीं है .... पुरुष प्रयत्न करके भी भावों की वह कोमलता और कल्पनाओं की वह बारीकी नहीं ला सकते, जिनके आधार पर मधुर और सरस लोरियाँ लिखी जाती हैं।' पर हम देखते हैं कि सर्वत्र ऐसा नहीं है। कहीं-कहीं पुरुष हृदय भी माँ के हृदय के तद्रूप हो जाता है और तब उसके हृदय में वैसा ही ममता का सागर हिलोरे लेने लगता है। वैसा ही वात्सल्य उसके शब्दों में भी छलछला उठता है। निरंकारदेव सेवक जी भी इस बात से सहमत हैं लेकिन साथ ही उनका यह भी दृढ़ विश्वास है कि 'माँ का हृदय बच्चे के प्रति ममता का एक अथाह सागह होता है। अतएव जो कवि इस अथाह सागर में जितना कुशलतापूर्वक गोते लगा सकता है उतने ही भावरत्न वह बाहर निकालकर ला सकता है। माँ के हृदय-सागर में गोते लगाने के लिए यह आवश्यक होता है कि गोताखोर माँ को प्यार करे। माँ को प्यार करने का अर्थ होता है कि माँ और बच्चे दोनों एक-दूसरे को समान मनोवेग से प्यार करें।

पुरुष लोरी-लेखकों में डॉ० प्रकाश मनु का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने भी अनेक वात्सल्यपूर्ण लोरियाँ लिखी हैं। उनकी अधिकतर लोरियाँ पुत्री को संबोधित हैं। उनकी बिटिया रानी सोएगी इसलिए वह पक्षियों से कहते हैं कि तुम आओ अपने-अपने मधुर स्वरों में गाकर बिटिया रानी को सुलाओ।

खाकर बिस्कुट पीकर दुधु बिटिया रानी सोएगी  
 आ जा आ जा चिड़िया आ जा थोड़ी मीठी तान सुना जा  
 आज आजा तोते राजा अपना टे-टें राग सुना जा  
 कू-कू करती कोयल आ जा लेकर अपना मीठा बाजा  
 तू बिटिया को ज़रा सुला जा।

श्रीधर पाठक तो अपनी प्यारी बिटिया को सुलाने के लिए स्वयं ही गाते हैं। कुछ वैसा

ही लोरी गीत जैसे सांझ ढले हवा नहीं चिड़िया को सुनाती है जब वह पेड़ की गोद में सोने के लिए आती है—

सोजा मेरी गोद में ए प्यारी गुड़िया। सोजा, गाऊँ गीत में वैसा ही बढ़िया।

जैसा गाती हवा, जब बच्ची चिड़िया। जाए पेड़ की गोद में, सोने की बिटिया।

भगवती प्रसाद द्विवेदी की भावभीनी लोरी देखिए, जिसमें पितृहृदय का वात्सल्य छलक रहा है। उनकी बिटिया पूरे घर की रौनक है।

सो जा सो जा सो जा ओ बिटिया रानी थपकी देकर सुला रही तेरी नानी

तू तो राजकुमारी-राजदुलारी है तेरे बिन फीकी हर महल-अटारी है

तेरी मस्ती से ही दुनिया मस्तानी सो जा सो जा सो जा ओ बिटिया रानी।

अपनी एक लोरी में सूर्यकुमार पाण्डेय अपनी बिटिया को हज़ारों आशीष देते हैं।

पितृहृदय की खुशियों की सीमा उनकी प्यारी बेटी और उसका बचपन है—

‘नैनों में सपनों की परियाँ हर पल करें बसेरा

सो जा सो जा नन्ही मुनिया प्यारा बचपन तेरा

तेरी पलकों पर खुशियों के फूल हजारो डोलें

तेरे पलने में यादों की कोयल कू-कू बोले ....।’

#### लोरी के तत्त्व :

लोरी वस्तुतः स्वरप्रधान लोककाव्य है, जिसमें लोक-संस्कृति निहित रहती है। उनींदे बालक को सुलाने के लिए नादप्रधान ध्वनियों से युक्त माँ के हर्षातिरेक वात्सल्य-रस से सराबोर माधुर्यपूर्ण बोल लोकगीत हैं। यह लोकमानस के स्वाभाविक उल्लास की अभिव्यक्ति है। यह मातृहृदय का वह स्नेहिल उद्गार है, जिसे वह स्वयं गढ़ लेती है। लोकगीतों की श्रेणी में लोरी गीत, झूला गीत, पलना गीत और हालरिया गीत सभी आते हैं, जो लोरी के समानधर्मा हैं। लोरियों के भाव इनमें भी निहित हैं। लोरी एवं झूला गीत दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, क्योंकि माँ बच्चे को झुलाते हुए लोरी गाती है चाहे गोदी में हो चाहे कंधे पर चाहे पालने में। पालने में भी बच्चे को झुलाया जाता है वह झूलते हुए सो जाता है। डॉ० विद्याबिंदु सिंह के अनुसार—लोकजीवन में बालक की हर क्रिया किसी न किसी गीत की लय में बँधी होती है। उसके विभिन्न प्रकार हैं। उसी आधार पर उसे उन्होंने विभिन्न नाम दिए हैं।

#### आकार :

जहाँ तक लोरियों के आकार की बात है, ये आकार में लघु होती हैं किंतु अपनी भाव-भंगिमा और लयात्मकता के कारण लोकगीत की किसी भी विधा से अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं। कम से कम शब्दों में मातृहृदय के कोमलतम एवं प्रेम के सर्वोच्च निर्मल स्वरूप वात्सल्य की निश्छल अभिव्यक्ति होती है।

#### शब्द-ध्वनियों की पुनरावृत्ति :

लोरी में कुछ शब्दों की बार-बार आवृत्ति होती है। अनुप्रास का ध्वनि-सौन्दर्य शिशुमन को भाता है। यहाँ अर्थगत सौंदर्य की अपेक्षा लय की प्रधानता होती है। यह शाब्दिक चमत्कार और आवृत्ति शिशुओं को आह्लादित करती है। उनके मन-मस्तिष्क पर सुखद प्रभाव डालती है। यहाँ शब्दों का मनोवैज्ञानिक महत्त्व अधिक होता है। बच्चा पारिवारिक स्नेह का अनुभव

करता है उसमें सामाजिक सद्भाव एवं समूह-भावना का विकास होता है।

**गेयता :**

लोरी की अगली महत्वपूर्ण विशेषता है उसकी गेयता। बाल कविता की भी महत्वपूर्ण विशेषता गेयता है। शिशुगीत, बालगीत और लोरी तीनों में गेयता का गुण समान होता है। बच्चा उस कविता को सहज ही गुनगुनाता है जिसमें गीति तत्त्व होता है। संगीतात्मकता का गुण होता है। स्वर के आरोह-अवरोह से जो संगीत पैदा होता है वह बालक को निद्राभिभूत करता जाता है।

मानवीय संगीत का सबसे पहला परिचय उसे लोरी के माध्यम से ही होता है। लोरी में संगीत तत्त्व अनिवार्य है। माता के हृदय का वात्सल्य और उसकी रागात्मक भावनाएँ यदि गेय शैली में व्यक्त नहीं होती तो बाल कविता और उसमें कोई अंतर नहीं रहता। यानी लोरी के बाल कविता से अलग रखने वाला प्रमुख तत्त्व संगीत ही है।

यहाँ उल्लेखनीय प्रश्न यह है कि संगीत तत्त्व तो बाल गीतों में रहता है तो क्या बालगीत और लोरी एक है? इन दोनों में भेदक तत्त्व विषय का है। बाल गीत बच्चे की मनोभावनाओं को अभिव्यक्ति देता है और लोरी माँ की हृदयगत अनुभूतियों का दर्पण है। बच्चों को लेकर जो वे उसके भविष्य के सपने बुनती है वे सब वह लोरी के विषय बन जाते हैं। वह समय के पार पहुँच उसकी दुल्हन को लेकर भी सुखद कल्पनाओं में खो जाती है। इन भावों में कहीं भी कृत्रिमता विद्यमान नहीं होती। वह देश और समय के पार पहुँच जाती है। यानी लोरियों का विषय-फलक उतना ही विस्तृत होता है जितना माँ के हृदय का विस्तार। बच्चे इन लोरियों के शब्दों को माँ के अभिप्रेत को समझे या न समझे पर उसकी ममता को महसूसते हैं जो वह अपने नन्हे-मुन्ने को सुलाने या झुलाने के समय प्रकट करती है। कभी-कभी तो लोरियों में अनेक निरर्थक शब्द भी होते हैं। बस उनकी गुनगुनाहट ही बच्चे को निद्रालोक तक ले जाती है।

**नाद-तत्त्व :**

लोरी में नाद-तत्त्व की प्रधानता होती है। शब्दों की आवृत्ति नादात्मक होती है—

हाल हाल बबुआ कुरई में डेबुआ

माई अकसरुआ बाप दरबरुआ

उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त लोरी की एक और विशेषता है कि लोरियों का गायक एकल है और श्रोता भी एकल। यह समूह में नहीं गाई जाती और न ही समूह को सुनाई जाती है। माता, बहन, दादी अथवा नानी शिशु को दुलार भरी थपकी देते हुए सुलाने का प्रयास करती है। निंदिया रानी को बुलाती है जो कभी कुंजवन से कभी सोनपुर से तो कभी पूर्व देश से आती है और शिशु के लिए निंदिया लाती है। जैसे ही लोरी के माध्यम से माँ अर्थहीन अथवा अर्थपूर्ण गीत अपने मीठे सुर में बाँधकर गाती है तो वह उस संगीत की सम्मोहक शक्ति से बेसुध होने लगता है उसकी पलकें भारी होकर मुँदने लगती हैं। मादक सुरों की डोरी में बाँधा बालक शीघ्र ही सपनों के लोक में पहुँच जाता है।

लोरी की उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर मेरी दृष्टि में लोरी को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है—

लोरी उनींदे बालक के मन को भानेवाला वह शिशु गीत है या लय की गुनगुनाहट है जिसका ताल और सुर में बाँधा संगीत उसे अपने सम्मोहन में बाँधकर विश्राम देता है और

धीरे-धीरे बालक निद्रालोक में पहुँच जाता है। लोरी के बोल वात्सल्यमयी माता के अंतस् से स्वतः बह निकलते हैं।

लोरी-लेखन के संदर्भ में बच्चों के अंतर्बाह्य संसार को सजीव भावों से सजाने वाले कवि निरंकारदेव सेवक का मानना है कि 'बालसाहित्य की अन्य विधाओं के लेखन की तरह इस विधा के लेखन हेतु केवल बालमन की ही नहीं, अपितु माँ के मन की भी थाह लेने की आवश्यकता है।' डॉ० श्रीप्रसाद के अनुसार लोरी की मूल भावना है—'भावों की सरलता, शब्दों की आवृत्ति, शिशु भावनाओं की व्यंजना तथा माँ की ममता की सहज अनुभूति।' डॉ० सरोजिनी कुलश्रेष्ठ ने लोरियों की सामान्य विशेषताएँ बतलाई हैं—'आकार की लघुता, माधुर्यपूर्ण शब्द योजना, गेयता की अनिवार्यता, अर्थ की सार्थकता.....।'

अँग्रेजी में लोरी को 'ब्रेडल-साँग्स' कहा जाता है। झूले में झुलाते समय बच्चे को सुलाने का यत्न करती माँ इसे गाती है। एक अँग्रेज कवि ने कहा है कि 'जैम दममक वित some simple rhythm is instinctive in the tiniest babe' छोटे से छोटे बालक में भी कोई सरल मधुर ताल-सुर की आवश्यकता स्वाभाविक है, यही सुखद संगीत उसे सुलाता है।

लोरियों का मनोविज्ञान नामक लेख में डॉ० विजयलक्ष्मी चौहान के अनुसार—'लोरी या लोरियाँ शब्द गीत कल्पनाओं की भावनात्मकता का एक ऐसा सम्पुट है जो बाल विकास को गत्यात्मकता देता है। लोरियाँ शब्द, ताल, लय और मानसिक स्पन्दन से शिशु की संवेगात्मकता और ज्ञानात्मकता को उकेरती हैं।'

डॉ० भगवतीलाल शर्मा की दृष्टि में लोरियाँ लोकसंस्कृति की जड़ें हैं। अपने लेख 'राजस्थानी लोरियाँ : परिवार एवं समाज के संदर्भ में' लोरियों की बड़ी कवित्वमयी परिभाषा दी है। उनकी दृष्टि में लोरियाँ वात्सल्य की मनमोहिनी मूर्तियाँ हैं। वे लिखते हैं—'अबोधवस्था से ही नानी, दादी माँ, मामी, चाची, बुआ, बड़ी बहन और पास-पड़ोसियों के मुँह से स्नेह-सने, मीठे-मीठे बोल यहाँ के किस बालक के कान में नहीं पड़े। मठा-मठा कर गाई गई इन लोरियों में वात्सल्य छलकता सा लगता है और मीठे-मीठे सुरों की रमणीयता तो ऐसी न्यारी-प्यारी, कि इनके आगे कोयल के स्वर फीके-फच्व ठहरते हैं। बेचारी नींद की तो क्या गिनती उसे तो गीगा गीगी की आँखों में दबे पाँव आना ही पड़ता है। ...'

उपर्युक्त परिभाषाओं के विवेचन-विश्लेषण के उपरांत कहा जा सकता है कि लोरी मातृहृदय के उल्लसित क्षणों का वह गीत है, जो वह बच्चे को सुलाने के लिए गाती है। उसके मीठे सम्मोहन में बँधा बालक आँखें मूँद स्वप्न-लोक अथवा परीलोक में चला जाता है।

### लोरी का इतिहास :

भारत में लोरी का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। यह मूलतः श्रुति-परंपरा से एक-दूसरे तक पहुँची है। अतः यह एक लौकिक परंपरा है। लोरीगीत अनादिकाल से उनींदे शिशु को सुलाते आ रहे हैं। अतः लोरी को 'निद्रागीत' या 'शयनगीत' भी कहा जाता है। प्रांत, भाषा और समय के साथ उनका स्वरूप परिवर्तित होता रहा है, किंतु मूल स्वर सबका एक है। वात्सल्यमयी माँ का स्पर्श और सान्निध्य पाकर उनींदा बच्चा आह्लादित हो उठता है और उसका चित्त विश्राम पा जाता है। ऐसी स्थिति में उसके नेत्र स्वतः मुँदने लगते हैं।

भारत में लोरियों की परंपरा बहुत पुरानी है। उतनी ही पुरानी जितना पुराना हमारा

लोकसाहित्य। आरंभ से ही गाँवों में स्त्रियाँ मनगढ़ंत लोरी रचकर अपनी ममता बच्चे पर उड़ेलती रही हैं। इनमें उनके भावों की अभिव्यक्ति होती है। वे बच्चों के हृदय को उनकी भावनाओं को छूती हैं। स्पर्श सुख पाकर बच्चा सोने लगता है। हमारे यहाँ माँ की सारी दुनिया बच्चे तक आकर ठहरती है। वह दिन-रात उसकी खुशहाल जीवन की दुआएँ मांगती है। उसका सपना कोई सुख और मनोरंजन नहीं होता। उसकी समस्त भावनाओं का संसार बच्चे के आसपास तक सीमित हो कर रह जाता है। उसकी सारी आशाओं-आकांक्षाओं और कल्पनाओं का केंद्र उसका नन्हा-मुन्ना होता है। लोरियों के माध्यम से वे अपने सपनों को अभिव्यक्ति देती है। बच्चे की एक मुस्कान में उसे जिस सुख का अनुभव होता है वह अनिर्वचनीय है। बालक को थपकी देकर सुलाने में, पालने में झुलाने में उसका मन झूम-झूम जाता है। लोरी उसकी मधुर और स्नेहपूर्ण भावनाओं की संगीतबद्ध अभिव्यक्ति है।

अनादिकाल से सार्थक-निरर्थक किंतु लयपूर्ण गीतों ने शिशु को निद्रा के मधुर लोक में पहुँचाया है। संस्कृत साहित्य में मदालसा और विदुला अपने बच्चों को झूला देने के साथ-साथ सीख भी देती हैं। मदालसा का उपाख्यान, लोरियों की प्राचीनता का प्रमाण है। मदालसा लोरी के माध्यम से जब अपने चौथे पुत्र अलर्क को भी ज्ञान का उपदेश देने लगती है तो पति के समझाने पर वह उसे इहलोक और परलोक दोनों का धर्म समझाते हुए क्षत्रियोचित कर्तव्य का उपदेश देती है। पुराणकार ने मदालसा के रूप में लोरी के माध्यम से प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्ग का उपदेश दिया है। इसी प्रकार 'विष्णुपुराण' में भी नंद श्रीकृष्ण को सुलाने का उपक्रम करते हुए 'लोरी' के रूप में स्वस्ति-वाचन करते हैं। 'लोरी' को जो साहित्यिक महत्त्व पुराणकाल में मिला वैसे आज तक नहीं मिला। 'मार्कण्डेय पुराण' और 'विष्णुपुराण' में भी माताएँ बालकों को लोरियाँ सुनाकर उनके जीवन के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करती थीं। पुराणों में लोरी के लिए 'उल्लापन' शब्द आया है और लोरी गाने वाली माता को 'उल्लापवादिनी' कहा गया है। यहाँ लोरी का उद्देश्य बालक को 'बहलाना' है। साथ ही इनके माध्यम से आदर्श जीवन की कला का सूत्र देना भी है।

भक्तिकाल में भक्त तुलसीदास की वाणी में एक लोरी देखिए, जिसमें माता कौशल्या राम को पालने में झुलाती हुई कहती है कि राम के कर, पाद एवं मुख को देखकर भ्रमर को कमल का भुलावा हो जाता है—

पौढ़िये लालन पालने हौं झुलावौं।

कर, पद, मुख लख कमल लसत सजि लोचन भँवर भुलावौ।

संगीत-माधुर्य से सिक्त सूरदास के पालने गीत में भी यही आनंद कन्हैया ले रहे हैं देखिए कैसी-कैसी बाललीला कर रहे हैं—

यशोदा हरि पालने झुलावै,

हलरावे दुलराइ मल्हावे जोई सोई कछु गावै

कबहुँक नयन हरि मूँद लेत हैं कबहुँक अधर फरकावै।

निरंकारदेव सेवक के अनुसार हिंदी साहित्य के क्षेत्र में बालगीतों की तरह लोरियों के भी आदि कवि सूरदास ही माने जाते हैं। उन्होंने बालकृष्ण को सुलाने-जगाने के लिए ऐसे सुंदर गीत लिखे हैं—



मेरे लाल को आउ निदरिया काहे न आन सुलावै।

काहे न बेगि सी आवै तोको कान्ह बुलावै।

माँ के मन के भाव उसकी आशाएँ सूर के बालगीतों में जिस ढंग से अभिव्यक्त हुई है उसका माधुर्य अप्रतिम है।

आधुनिक खड़ीबोली में अनेक कवियों और कवयित्रियों ने लोरियों की रचना की है। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', मैथिलीशरणगुप्त ने अपने काव्यों में प्रसंगानुसार लोरियाँ भी रखी हैं। अयोध्यासिंह उपाध्याय की एक लोरी देखिए जिसमें वह निंदिया से कहते हैं कि तुम जल्दी से 'लाल' की आँखों में आ जाओ वह तुम्हारे लिए कबसे पलकें बिछाए है—

आ री नींद लाल को आजा। इसको करके प्यार सुला जा।

तुझे लाल हैं ललक बुलाते। अपनी आँखों पर बिठलाते।

तेरे लिए बिछाई पलकें। बढ़ती ही जाती हैं ललकें।

#### लोरीगीत की सामान्य विशेषताएँ :

माधुर्यपूर्ण शब्द, गेयता, अर्थ की सार्थकता आदि सभी इसमें विद्यमान हैं। लोरी के लिए आवश्यक है माता की मनोभूमि पर उतरना और उसमें हृदय की छलछलाती ममता-नदी में अवगाहन करके लिखना। निश्चय ही लोरी के शब्द इस बात का प्रमाण हैं कि उन क्षणों में कवि कवि नहीं एक वात्सल्यमयी माँ है। हरिऔध जी की लोरियों से प्रेरणा पाकर अन्य अनेक कवि भी इस क्षेत्र में आए। बच्चों के प्रिय कवि के रूप में चर्चित डॉ० श्रीप्रसाद ने भी कुछ लोरियाँ लिखी हैं। इंद्रप्रस्थ प्रकाशन से प्रकाशित 'मेरी प्रिय बाल कविताएँ' (2010) में संकलित उनकी एक लोरी देखिए—

मेरी गोद खिलौना रे। सोया मेरा छौना रे

मेरा डीठ डिठौना रे। सोया मेरा छौना रे।

बिहार के ब्रजकिशोर नारायण ने भी अनेक मधुर लोरियाँ लिखी हैं जो 'आ री निंदिया' शीर्षक से एक संग्रह में प्रकाशित हो चुकी हैं। उनकी लोरियों की सादगी और सरलता देखिए—

सोओगे तो पैसा दूँगी; सो ओ मेरे लाल।

बूढ़ा मेंढक गाल बजाता। टर टर टर टर

बाघराम हैं पानी पीते। सर सर सर सर।

लगभग तीस बाल कविताओं की पुस्तकों के रचयिता श्री निरंकारदेव सेवक जी की कविताओं में जो रंग, लहजा और अंदाज़ है उसे देखते हुए डॉ. प्रकाश मनु जी ने उन्हें हिंदी बाल कविता का भीष्म पितामह कहा है। बच्चों की भावनाओं के अनुरूप सरलता और स्वाभाविकता से सजी उनकी कुछ लोरियाँ 'मुन्ना के गीत' तथा 'चिड़िया गाती तेरा राग' नामक बालगीतों की पुस्तक में संकलित हैं। एक लोरी देखिए—

मेरा मुन्ना बड़ा सयाना। शाम हुए सो जाता है।

बिल्लो रानी यहाँ न आना अब तुम शोर मचाने को।

चूहे! वह बैठी है बिल्ली, तुझे पकड़ ले जाने को।

मेरा मुन्ना तुम दोनों के झगड़े से घबराता है।

इस लोरी में ऐसी माँ की कल्पना है, जो शाम के समय बच्चे को कंधे पर डालकर

थपकियाँ देकर सुलाने का प्रयास कर रही है। बिल्ली से संवाद है। बच्चा ध्यान से सुनते-सुनते सो जाता है।

कन्हैयालाल मत्त का 1941 में 'लोरियाँ और बालगीत' शीर्षक से एक संकलन प्रकाशित हुआ जिसमें ममता और वात्सल्य से ओतप्रोत अनेक लोरियाँ संकलित हैं। इनकी 'ग़रीब माँ की लोरी' अत्यंत संवेदनशील कोमल लोरी है जो बरबस आँखों को नम कर देती है—

सो जा भैया सो जा वीर चाहे हँसता-हँसता सो जा  
चाहे रोता-रोता सो जा सो जा भैया सो जा वीर  
जो तू भूखा है तो सो जा जाड़ा लगता है तो सो जा  
केसे तुझे बँधाऊँ धीर सो जा भैया सो जा वीर।

समकालीन कवियों में डॉ० प्रकाश मनु की लोरियों में कल्पनाओं की अद्भुत रंगीनी है। अपनी नन्ही बिटिया को सुलाने के लिए वह किस-किस से आग्रह करते हैं। पितृहृदय के उद्गार देखिए—

कोई लाए रे फूल चुन-चुन बिछाए मेरी नन्ही सी बिटिया सोएगी।  
कोई इन्द्रधनुष से सपने सजाए मेरी नन्ही सी बिटिया सोएगी  
कोई झरनों से हँसी माँगकर लाए मेरी नन्ही सी बिटिया सोएगी।

मनुजी की लोरियों की एक विशेषता यह है कि उन्होंने बेटियों के लिए लोरियाँ लिखी हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि माँ का पुत्र के प्रति और पिता का पुत्री के प्रति प्रेम और आकर्षण अपेक्षाकृत अधिक होता है। कुल मिलाकर देखें तो पुरुष रचनाकारों ने लोरियाँ कम लिखी हैं। ममता का जो स्रोत मातृहृदय में स्वतः फूटता है संभवतः पितृहृदय में वह वत्सल भावधारा उतने उद्यम रूप में नहीं बहती। फिर भी ऐसे अनेक नाम गिनाए जा सकते हैं, जिन्होंने इस विधा को समृद्ध किया। कन्हैयालाल मत्त, डॉ० राष्ट्रबंधु, श्रीनाथ सिंह, निरंकारदेव सेवक, हिंदी के प्रमुख गीतकार शंभुदयाल सक्सेना आदि के नाम तो उल्लेखनीय हैं ही, इनके अतिरिक्त विनोदचंद्र पांडेय 'विनोद', भगवतीप्रसाद द्विवेदी आदि की लोरियाँ भी विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। खोज करने पर जिन कविताओं की लोरियाँ मुझे प्राप्त हुई हैं, उनमें से कुछ के उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं—

शंभुदयाल सक्सेना का योगदान तो इस क्षेत्र में सर्वाधिक है। शिशु लोरी, पालना, चंद्रलोरी, रेशम झूला, मधुलोरी और आ री निंदिया आदि शीर्षकों से उनकी लोरियों के अनेक संग्रह हैं। शंभुदयाल सक्सेना की निम्न लोरी में मामी और नानी झुला रही हैं। बुआ भी पीछे नहीं है। रिशतों की मधुरिमा लिए इस लोरी की कोमलता देखिए—

सुलाए, मामी आ पुचकारे  
झोंका एक बुआ का झूलो, भइया कुँवर सलोने  
झूला दूसरा लो नानी का, फिर झूले कब होने।

ग्राम्य परिवेश के कवि राष्ट्रबंधु ने लोकगीतों की धुन पर बालगीत एवं लोरियों की रचना की है। उनकी निम्न लोरी में लोकसंस्कृति की मिठास देखिए—

कंतक थैयाँ घुनु मनइयाँ, चंदा भागा पइयाँ पइयाँ  
यह चंदा हलवाहा है, नीले-नीले खेत में

बिल्कुल सैत मैत में, रत्नों-भरे खेत में।  
 किधर भागता लइयाँ-पइयाँ, कंतक थैयाँ घुनुँ मनैयाँ।  
 इसमें कंतक थैयाँ, घुनुँ मनइयाँ, लइयाँ, पइयाँ तथा सैत, मैत आदि शब्द सीधे लोक भाषा से लिए गए हैं। इन दिनों उनकी कुछ नई लोरियाँ भी आई हैं। एक लोरी देखिए जिसमें वह अपने शिशु को ऐसे लोक का सपना दिखाते हैं जहाँ चाँदी की गलियों में दूध की नदियाँ बहती हैं—  
 सो जा रे सो जा निर्भय सो जा दूर एक देश है, उजला परिवेश है  
 दूध भरी नदियाँ, चाँदी की गलियाँ जाओगे सपनों में, मम्मी के साथ तुम  
 खेलोगे खाओगे अपने ही हाथ तुम सोजा रे सोजा निर्भय सो जा।  
 विनोदचंद्र पांडेय 'विनोद' की लोरी में मुन्ने को परियाँ नींद में आकर कहानी सुनाती हैं—

सो जा सो जा मुन्ना सो जा आई पास रात की रानी  
 तुम्हें सुनाने मधुर कहानी परियाँ उतर रहीं धरती पर  
 सपनों की दुनिया में खो जा सो जा सो जा मुन्ना सो जा।  
 भगवतीप्रसाद द्विवेदी की लोरी देखिए, जिसमें कवि निंदिया से आग्रह करता है कि वह उड़नखटोले में निंदिया को बिठाकर ले आए फिर बिटिया को परीलोक की सैर कराए—  
 निंदिया तू है कितनी न्यारी बिटिया की आँखों में आ री  
 उड़न खटोले में बैठाकर, परियों को भी लाना।  
 बिटिया को भी परीलोक की, मीठी सैर कराना।  
 हर कवि अपने नन्हें लाडले-लाडली को परीलोक की सैर कराना चाहता है। परियाँ कोमलता और प्रेम की प्रतीक हैं। बच्चा भी संवेदनशील है। परीलोक रंगीन सपनों का लोक है। हर बालक उस लोक की सैर करना चाहता है, इसलिए हर लोरी में कवि की यही आकांक्षा रहती है। भैरूलाल गर्ग निंदिया को बुलाते हैं, वह आए और सपनों में ले जाकर परीलोक की सैर कराए—

आ री आ री निंदिया अब तो जल्दी आ जा री  
 परीलोक की इसको भी। अब तो सैर करा जा री।  
 दूध बताशा दूँ तुझको जो भी चाहे खा जा री...।  
 बाल-कविता में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देनेवालों में सूर्यकुमार पांडेय उल्लेखनीय नाम है। विषय की नवीनता के साथ कहने के अन्दाज़ में भी नवीनता लिए सूर्य कुमार की कविताओं की ताज़गी आकृष्ट करती है। उनकी लोरियों में भी नए उपमान हैं। पांडेय जी ने भी लोरियाँ मातृहृदय की मनोभूमि पर उतरकर लिखी हैं। एक उदाहरण देखिए—  
 चिड़िया सोई शाखों में सपने आए आँखों में।  
 नन्हा-मुन्ना लगता है मुझको प्यारा लाखों में।  
 चंदा सोया बादल में भालू सोया जंगल में।  
 तू भी सोजा नन्हें-मुन्ने माँ के प्यारे आंचल में।  
 इधर अन्य अनेक बालकवियों ने भी इस विधा को अपनाया है। नागेश पांडेय संजय के बाल-कविताओं के अनेक संकलन आए हैं। वह अपनी लोरी में मुन्नी को चुप कराने के

लिए उसका ध्यान बँटाते हैं। किसी थुलथुले मोटे लाले की खुलखुल हँसते हुए जोर से खाँसी का सुंदर चित्रण करते हैं—

चुप्प हो मुन्नी चुप्प। मत रो मुन्नी पुच्च।

पुल पुल लाला थुल थुल लाला खुल खुल हँसते हो-हो।

इतना हँसते इतना हँसते खाँसी आती खो-खो।

नए कवियों में नरेंद्र मस्ताना ने बालगीतों के साथ-साथ कई सुंदर लोरियाँ भी लिखी हैं। पितृहृदय का वत्सलभाव इन मीठे बोलों में कैसे छलछला रहा है देखिए उनकी प्यारी लोरी में, जिसमें उनके भविष्य के सपने भी हैं, उनकी आशाएँ भी हैं—

पलकें हुई भारी, आँखों में खुमारी।

कर ले मुन्ने राजा, सोने की तैयारी।

धरती का चाँद तुझे पापा जी बताएँ।

गोद में उठाएँ फिरें, देखे मुस्काएँ।

आज वे घुमाएँ तुझे, कल है तेरी बारी।

हिंदी की अनेक कवयित्रियों ने भी लोरियाँ लिखी हैं। छायावादी कवयित्री महादेवी वर्मा की बचपन में लिखी एक लोरी देखिए—

आओ प्यारे तारे आओ तुम्हें झुलाऊँगी झूला में

तुम जुगनु से उड़कर आओ मेरे आंगन को चमकाओ।

मधुर कंठ कवयित्री विद्यावती कोकिल ने भी अनेक भावभीनी सुंदर लोरियाँ लिखी हैं। माँ की ममता और गेय तत्त्व से भरपूर उनकी एक लोरी देखिए—

निंदिया बहुत ललन को प्यारी

कभी हँसाने से न हँसा वह ऐसा असमझ भोरा

सोते-सोते हँसा, नींद में मेरा कौन निहोरा।

श्रीमती शकुंतला सिरोठिया की लोरियों में माँ की ममता के साथ लय और भाषा की मस्ती है। यह आज्ञादी से पहले की कवयित्री हैं। डॉ. निरंकारदेव सेवक के अनुसार लोरियाँ लिखकर हिंदी में जिन्होंने सबसे अधिक यश अर्जित किया वह श्रीमती शकुन्तला सिरोठिया हैं। उनकी लोरियों का क्षेत्र व्यापक भी है और माँ के मन की ममता और भावनाओं की कोमलता का उनमें अच्छा चित्रण हुआ है। भाषा का लालित्य और भाव का मणिकंचन योग देखिए—

चाँदनी की चादर उड़ाऊँ तुझे मोहना, सो जा मेरे लालना

सूरज भी सो गया, पंछी भी सो गए,

डालों की गोदी में फूल सभी सो गए

तू भी चुप सो जा, झुलाऊँ तुझे पालना, सो जा मेरे लालना।

निरंकारदेव सेवक जी शकुंतला सिरोठिया की इस लोरी को श्रेष्ठतम लोरी मानते हैं। लोरी ही नहीं वह उन्हें भी सर्वश्रेष्ठ लोरी-लेखिका मानते हैं—‘स्त्री कवयित्रियों में कोई भी दूसरी कवयित्री हमें ऐसी नहीं मिलती जिसने ऐसी मर्मस्पर्शी और मधुर लोरियाँ लिखी हों।’

श्रीमती लक्ष्मीदेवी चंद्रिका की लोरी बच्चे के सारे भय दूर कर उसे अपनी निकटता का अहसास करा अमोघ संरक्षण प्रदान करती है—

सो जा ललना, सो जा ललना, सोने चांदी का है पलना  
माँ की गोदी तेरा घर है, फिर क्यों तेरे मन में डर है।

‘चित्रों में लोरियाँ’ उनकी एक पुस्तक भी आई। मेरठ की महिला कवयित्री श्रीमती कमला चौधरी ने भी अपनी लोरियों में वात्सल्य रस की गागर छलकायी है। उन लोरियों की मिठास में बँधा बच्चा निद्रा की गोद में शीघ्र ही सो जाता है। श्रीमती सुमित्राकुमारी सिन्हा बालहृदय की कुशल पारखी हैं। उन्होंने बालगीतों के साथ कुछ लोरियाँ भी लिखी हैं जिनमें माँ का अन्तर्मन छलक कर आता है।

डॉ० शकुंतला कालरा ने भी कुछ लोरियाँ लिखी हैं, जो उनके काव्य-संकलनों के साथ ‘नंदन’ एवं बालवाणी आदि पत्रिकाओं में भी प्रकाशित हुई हैं। ‘जय-जय भारत प्यारा’ काव्य संकलन की एक मधुर लोरी देखिए जिसमें माँ की गोदी उसकी बाँहें ही उसका पलना है। चंदन का पलंग या सोने का रत्नजटित पलना उसके लिए सपने की वस्तुएँ हैं। माँ के पास ममता ही ममता है और ममता के राज्य का वह राजकुँवर है—

सो जा सो जा मेरे ललना ना रो ना रो लाडले ललना  
कहाँ से लाऊँ चंदन पलना रत्न-जटित सोने का पलना  
तेरा पलना गोदी मेरी थपकी मेरी रेशम डोरी  
यही है तेरा चंदन पलना सो जा सो जा मेरे ललना  
राजकुँवर तू मेरा ललना सो जा सो जा मेरे ललना।

डॉ० उषा यादव के लाडले को तो चंदन के पालने में भी नींद नहीं आती—  
लाडले को आए न नींद नटखट सोता नहीं।  
चंदन का मैं पलना मँगाऊँ रेशम की डोरी ढूँढ के लाऊँ  
तब भी तो आये न नींद नटखट सोता नहीं।

अपनी ‘लाडली’ को इसलिए वह प्रलोभन देती है कि तुम्हें निंदिया परियों के देश ले जाने के लिए आई है। वह खुशी-खुशी उनके साथ जाए और उनका देश और परिवेश देखे—

आ के सिरहाने तेरे, निंदिया रानी खड़ी है।  
हाथों में उसके एक जादू का छड़ी है  
सपनों के देश तुझे निंदिया घुमा लाएगी।  
परियाँ मिलेगी तुझे वहाँ नए वेश में

उषा जी की इस लोरी और सिरोठिया जी की लोरी में अद्भुत साम्य है—  
किरणों पर चढ़ हँसती-हँसती आई निंदिया।  
जा रे मुन्ना तुझे बुलाने आई निंदिया।  
लेकर तुझको उड़ जाएगी यह परियों के देश।  
खुश होगा तू देख लाडले उन परियों का वेश।

लोरियों के कुछ संकलन कवयित्रियों के भी आए हैं। डॉ० सरोजिनी कुलश्रेष्ठ के पराग प्रकाशन से लोरियों और प्रभातियों के दो संकलन प्रकाशित हुए। अब उनका एक और संकलन डॉ० शकुंतला कालरा के संपादन में प्रकाशनाधीन है। डॉ० शकुंतला कालरा की लोरियों का संकलन भी आत्माराम एंड संस से प्रकाशनाधीन है। इस प्रकार लोरी विधा को समृद्ध और

समुन्नत करने में अनेक बालसाहित्यकारों का योगदान महत्वपूर्ण है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि लोरीगीतों का सृजन वात्सल्य के उन क्षणों में हुआ, जब उनींदा बालक नींद के लिए मचलता है। माँ बच्चे के लिए नींद का आह्वान करती है और गुनगुनाते हुए लोरी गाती है। बच्चे पर लोरी के मधुर स्वरों का प्रभाव पड़ता है। वह आह्लादित होता है और धीरे-धीरे उसकी आँखों में नींद आने लगती है। इस तरह लोरी को ध्वनि-प्रधान काव्यरूप कहा जाएगा। इसमें स्वर की प्रधानता है, जो संगीत के आरोह-अवरोह से आता है। इसका ऐसा सम्मोहक प्रभाव पड़ता है कि बालक का स्नायुमंडल धीरे-धीरे शिथिल होता जाता है और वह निद्राभिभूत हो जाता है। लोरियाँ बच्चे को पारिवारिक मूल्यों एवं आत्मीय संबंधों से जोड़ती हैं। अवचेतन में वह उन रिश्तों को आत्मसात् कर लेता है। शोध बतलाता है कि जिन्हें बचपन में माता का प्यार, दादी-नानी का दुलार और उनकी ममतामयी गोद मिली है और जिन्हें लोरियों के माध्यम से रिश्तों की मिठास का अहसास कराया गया है, वे आगे जाकर अच्छे सामाजिक व्यक्तित्व के धनी बने। क्योंकि लोरियाँ सकारात्मक संवेगों को जन्म देती हैं, ऐसे शिशुओं का व्यक्तित्व भी सकारात्मक रूप में विकसित होता है। आज बच्चों में असुरक्षा और अवसाद की भावना के साथ जो नकारात्मक सोच बढ़ती जा रही है, उसका कारण बच्चों का अकेलापन है। अतः आज लोरियों की प्रासंगिकता और भी बढ़ गई है। लोरियाँ बालपन की ऐसी सुखद अनुभूतियाँ हैं, जिनसे एक सकारात्मक, ओजस्वी, आत्मविश्वासी व्यक्तित्व की संरचना होती है। नई पीढ़ी के माता-पिता के लिए आज लोरियों के महत्व को जानने की अधिक आवश्यकता है। आधुनिकता की अंधी दौड़ ने लोरियों की विरासत को संकट में डाल दिया है। आधुनिक जमाने की कोई भी माँ लोरी सुनाती नज़र नहीं आती। इतना ही नहीं आज घर-गाँव की महिलाएँ भी लोरियों की अपेक्षा स्कूलों में पढ़ाई जानेवाली कविताओं को गाती हैं। अगर यही स्थिति रही तो लोकगीतों का यह लोरी-भंडार विलुप्त हो जाएगा। आज हमारे पास सुविधाएँ हैं, पर हमारी कोमल कल्पनाएँ सो गई हैं। नौकरी-पेशा माँ जो बच्चे से बारह-बारह घंटे दूर रहेगी, उससे माँ के आँचल, माँ के दूध और लोरी की आशा कैसे की जा सकती है? दादा-दादी हैं भी तो संयुक्त परिवार खंडित हो रहे हैं। नई और पुरानी पीढ़ी में तालमेल, स्नेह-सौहार्द कहाँ बचा है? यही कारण है लोरियाँ किसी भी प्रदेश में बहुत कम मिलती हैं। लोकसाहित्य की क्षीण होती इस धारा पर यदि विचार करें तो स्पष्ट हो जाता है कि लोरीगीत यद्यपि अप्रासंगिक नहीं है, किंतु आज बच्चों की क्रीडास्थली संयुक्त परिवार का आँगन उनके लिए दुर्लभ होता जा रहा है। बालक दादी-नानी की गोद में ही नहीं आता तो उन्हें लोरी कौन सुनाए। आज तो बालक माँ की गोद में भी नहीं वह तो 'धाय' और 'आया' की खुरीदी हुई गोद में 'घर' या 'कैच' में पल रहा है। ऐसे में लोरी उसे कौन सुनाए? निश्चय ही लोरी का सृजन मातृहृदय माँगता है और इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि बाजारवाद की संस्कृति में उसकी बलि दी जा रही है। लोरियों के माध्यम से आज भी लोक का यह उल्लास कथारस-धारा लौट सकती है यदि हम ईश्वर के अनुपम वरदान शिशु की किलकारियों में प्राप्त होनेवाले आनंद को प्राथमिकता दें। उनकी उल्लास भरी मुक्त हँसी में खिलखिलाएँ।

□ एन डी-57, पीतमपुरा  
दिल्ली-110034

## सुंदर और उनका 'सुंदरशृंगार'

योगेशकुमार, शोध-छात्र

एम०ए० (हिंदी, अँग्रेजी), बी०एड०

साहित्यवारिधि डॉ० रामानंद शर्मा, शोध-निर्देशक

एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष तथा उपप्राचार्य

हिंदू कालेज, मुरादाबाद

रीतिकालीन काव्य में ऐसे अनेक कविरत्न हुए हैं, जो अपने समय में अत्यंत लोकप्रिय रहे हैं, फलतः उनका काव्य परवर्ती कविवृत्त-संग्रहों में संगृहीत, काव्य-संकलनों में संकलित तथा साहित्येतिहास-ग्रंथों में समीक्षित हुआ है, लेकिन गहन पर्यवेक्षणपूर्वक उनकी ग्रंथावली संपादित-प्रकाशित न हो पाने के कारण वे उपेक्षा का शिकार बन गए और साहित्येतिहास-ग्रंथों, विशेषतः मिश्रबंधुओं के 'मिश्रबंधुविनोद' और आचार्य रामचंद्र शुक्ल के 'इतिहास' में उल्लिखित यथार्थ ही नहीं, भ्रामक तथ्य भी निरंतर उद्धृत होते रहे। यदि मिश्रबंधुओं ने यह लिख दिया कि कालिदास त्रिवेदी का 'राधामाधवबुधमिलन' या ग्वालकवि का 'अलंकारभ्रमभंजन' खोज में मिल गया है तो साहित्येतिहास-ग्रंथ निरंतर इन्हीं तथ्यों को दुहराते रहे और खोजबीन के अभाव में यह बताने में असमर्थ रहे कि 'राधामाधवबुधमिलन' कालिदास त्रिवेदी रचित 'वधूविनोद' ग्रंथ तथा 'अलंकारभ्रमभंजन' ग्वालकवि रचित 'साहित्यानंद' ग्रंथ का खंड ग्रंथ है, जिसे परवर्ती अध्येताओं ने अपनी रुचि या प्रवृत्ति के अनुरूप स्वतंत्र रूप से लिख लिया। वस्तुतः ये दोनों मौलिक ग्रंथ नहीं हैं, खंडग्रंथ हैं। इसका कारण भी स्पष्ट है कि अब रीतिग्रंथों का पठन-पाठन भी युगबाह्य हो गया है, संपादन-प्रकाशन और शोधन की तो बात ही दूर है। आज शोध का केंद्र उपन्यास-साहित्य बन गया है और वह भी ऐसे उपन्यासकार, जिनके अनतिदीर्घ कलेवर वाले उपन्यासों में आधुनिक जीवन चित्रित है। अस्तु, रीतिग्रंथों के संपादन-प्रकाशन-शोधन का कार्य आज युगीन आवश्यकता है, जिसके अभाव में अनेक रीतिग्रंथ दीमकों का भोज्य बनने को विवश हैं। इस सत्संकल्प से ही अनेक मध्ययुगीन कवियों का उद्धार संभव है, अन्यथा वे उपेक्षा के शिकार बनकर सदैव के लिए विलीन हो जाएँगे। ऐसे ही एक उपेक्षित कवि हैं सुंदर कविराय, जिनका प्रमुख ग्रंथ 'सुंदरशृंगार' ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में तीन बार प्रकाशित हुआ—(1) गोपीनाथ पाठक के संपादन में सन् 1875 ई० में लाइट प्रेस बनारस से, (2) बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के संपादन में सन् 1890 ई० में भारतजीवन यंत्रालय काशी से, और (3) संपादन एवं प्रकाशन के अभाव में उन पर शोध और समीक्षा का मार्ग अवरुद्ध ही बना रहा। साहित्यवारिधि डॉ० रामानंद शर्मा ने सन् 2004 ई० में 'सुंदरशृंगार', 'बारहमासी' तथा विप्रकीर्ण छंदों को संकलित एवं संपादित कर विस्तृत भूमिका के साथ 'सुंदर कविराय ग्रंथावली' के रूप में प्रकाशित करा दिया है, जिससे इस कवि पर शोध और समीक्षा का मार्ग

प्रशस्त हो गया है।

सुंदर का जन्म ग्वालियर के ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनका जन्म कब हुआ और कब शरीरपात हुआ, यह अनिश्चित है, लेकिन साक्ष्यों से यह अनुमान किया जा सकता है कि उनका जन्म संवत् 1645 वि० के लगभग हुआ और वे विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक शाहजहाँ के साथ रहे। वे चित्तौड़विजय के पश्चात् शहजादा खुर्रम (बादशाह बनने से पूर्व शाहजहाँ का नाम) से जुड़ गए थे। यह संवत् 1675 वि० के लगभग शहजादा खुर्रम के साथ जुड़े और लगभग पच्चीस वर्ष (संवत् 1675-1700 वि०) तक उनके साथ रहे।

सुंदर का मूल नाम सुंदर ही था, सुंदरदास नहीं। भ्रमवश कुछ इतिहासग्रंथों एवं साहित्येतिहासों में उन्हें सुंदरदास कहा गया है। इनके समकालीन एक संत हुए हैं सुंदरदास, जो दादूदयाल के शिष्य थे। सुंदरदास का जन्म जयपुर राज्य की पुरातन राजधानी द्यौसा में चैत्र शुक्ल नवमी, संवत् 1653 को दूसरे गोत्रीय खंडेलवाल वैश्य परिवार में हुआ था और वे अल्पावस्था में ही दादूदयाल के शिष्य बन गए थे। काव्य में दोनों कवि-सुंदर एवं सुंदरदास-‘सुंदर’ छाप का ही प्रयोग करते थे, लेकिन सुंदरदास ने यत्रतत्र ‘सुंदरदास’ छाप का प्रयोग भी किया है।<sup>1</sup> सुंदर ने कहीं भी सुंदरदास छाप नहीं रखी है, हाँ, दो-चार छंदों में ‘कविराय’ या ‘महाकविराय’ छाप का प्रयोग अवश्य किया है, जो उनकी उपाधियाँ थीं। दोनों कवियों का पार्थक्य स्पष्ट करने के लिए सुंदरदास को प्रायः दादूपंथी या संतकवि सुंदरदास कहा जाता है तो सुंदर को शृंगारिक या कविराय सुंदर कहा जाता है। वस्तुतः सुंदरशृंगारिक कवि हैं और उनका प्रतिपाद्य है शृंगार वर्णन, नखशिख और नायिकाभेद, जबकि सुंदरदास विरक्त संत एवं निर्गुणधारा के कवि हैं, जो शृंगार विरोधी, भोगविरोधी एवं नारीविरोधी हैं। इस प्रकार दोनों के काव्य की भावभूमि ही अलग-अलग है। सुंदरदास ने शृंगार-वर्णन और नायिकाभेद के लिए केशवदास, नंददास और सुंदर की कटु भर्त्सना की है—

रसिकप्रिया रसमंजरी, और सिंगारहिँ जान।  
चतुराई करि बहुत बिधि बिषै बनाई आन।  
बिषै बनाई आन, लगत बिषयिन कूँ प्यारी।  
जागै मदन प्रचंड, सराहैं नखसिख नारी।  
जौं रोगी मिष्ठान्न खाइ, रोगहिँ बिस्तारै।  
‘सुंदर’ यह गति होइ जो, रसिकप्रिया कू धारै।

—सुंदरविलास, 9/5

सुंदर मात्र दरबारी कवि ही नहीं थे, बल्कि शाहजहाँ के अत्यंत अंतरंग और विश्वस्त थे और उनके कूटनीतिक कार्यों में सहयोग भी देते थे। ओड़छानरेश जुझारसिंह से मनोमालिन्य होने पर शाहजहाँ ने भांडेर से सुंदर कविराय को दूत बनाकर भिजवाया था कि तीस लाख रुपया और बेतवा तट का कोई क़िला लेकर सुलह कर लें। जुझारसिंह द्वारा अस्वीकृत करने पर सुंदर के निर्देश पर ही ओरछा पर आक्रमण किया गया था, जिसमें अंततः जुझारसिंह मारा गया था। संवत् 1689 वि० में घटित यह घटना इतिहास में ‘सुंदरमिशन’ के नाम से अंकित है।<sup>2</sup> इसीप्रकार मऊ-नूरपुर के राजा जगतसिंह के बागी हो जाने पर सुंदर कविराय को निरीक्षण-परीक्षण के



लिए भेजा गया था और सुंदर की इस रिपोर्ट पर कि अभी तो विद्रोह का कोई चिह्न नहीं है, लेकिन वह अपने दुर्गों को सुदृढ़ बना रहा है, जिससे भविष्य में विद्रोह की आशंका स्पष्ट होती है, शाही सेना ने मऊ-नूरपुर पर आक्रमण किया और भीषण नरसंहार के पश्चात् संवत् 1698 वि० में जगतसिंह ने समर्पण कर दिया।<sup>3</sup> इन दोनों घटनाओं से न केवल सुंदर कविराय का प्रभाव, बल्कि शाहजहाँ से उसकी अंतरंगता एवं विश्वस्तता स्वतः स्पष्ट हो जाती है।

सुंदर कविराय के तीन ग्रंथों की सूचना उपलब्ध होती है—सुंदर शृंगार (संवत् 1688 वि०), बारहमासी और सिंहासनबत्तीसी (संवत् 1690 वि०)। 'सुंदर शृंगार' इनका प्रमुख ग्रंथ है जो रीतिकालीन रसरीति परम्परा की रचना है। 'बारहमासी' कुल 24 सवैयों की रचना है जिसमें प्रत्येक मास के लिए दो-दो सवैये दिये गये हैं। प्रथम सवैया में संयोग वर्णन दिखाया गया है और द्वितीय सवैया में वियोग वर्णन। सुंदर ने 'बारहमासी' का प्रारम्भ कार्तिक से किया है और समापन क्वार पर। 'सिंहासनबत्तीसी' संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथ 'विक्रमचरित' (अपर नाम 'सिंहासनद्वात्रिंशिका') का दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया आदि में किया गया पद्यबद्ध भावानुवाद है। कलकत्ता में डॉ० गिलक्राइस्ट के कहने पर लल्लूजी लाल ने 'सिंहासनबत्तीसी' का खड़ीबोली में जो अनुवाद किया था, वह मूल संस्कृत पुस्तक के आधार पर नहीं, बल्कि सुंदर के भावानुवाद के आधार पर किया गया था। दुर्भाग्यवश आज यह पुस्तक अनुपलब्ध है और खोज में भी इसकी प्रति उपलब्ध नहीं हुई है। यदि लल्लूजी लाल अपनी भूमिका में इसका उल्लेख न करते, तो इसकी सूचना भी नहीं मिल पाती कि सुंदर ने 'सिंहासनबत्तीसी' की रचना की थी। सुंदर के कुछ स्फुट छंद भी हैं, जिनकी संख्या अल्प ही है। यहाँ यह कह देना भी आवश्यक होगा कि सुंदर ने छंदों में अपनी छाप अवश्य रखी है, लेकिन अधिकांशतः उसका सार्थक प्रयोग ही किया है, इसलिए उनके स्फुट छंदों का चयन और संकलन अत्यंत कठिन है। वस्तुतः सुंदर की महत्त्वपूर्ण कृति 'सुंदर शृंगार' ही है और वही उनकी अक्षय कीर्ति का आधारस्तंभ है।

सुंदर का कविता-काल संवत् 1680-1700 तक माना जा सकता है, लेकिन उनका प्रमुख ग्रंथ 'सुंदरशृंगार' संवत् 1688 में बन गया था। इस ग्रंथ के अन्तःसाक्ष्यों से यह भी स्पष्ट है कि उन्हें शाहजहाँ से 'कविराय' और 'महाकवि' की उपाधियाँ भी मिल चुकी थीं तथा सरोपा भी प्राप्त हो चुका था। संवत् 1690 में वे 'सिंहासनबत्तीसी' भी रच चुके थे। इसके पश्चात् सुंदर कुछ विशेष नहीं लिख सके, यह स्पष्ट है। मऊ-नूरपुर में संवत् 1698 में सुंदर की सक्रिय उपस्थिति यह स्पष्ट करती है कि वे विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक शाहजहाँ के साथ अवश्य रहे। परवर्ती जीवन में कुछ स्थायी साहित्य न दे पाने का कारण कदाचित् कूटनीतिक कार्यों में अधिक संलिप्तता हो। जो भी हो, परवर्ती जीवन में वे काव्यरचना से प्रायः विरत ही रहे।

इधर पंडित उदयशंकर दुबे (साहित्य विभाग, हिंदी-साहित्य-सम्मेलन इलाहाबाद) ने दतिया के हस्तलेखों से कुछ छंद एकत्रित किए हैं, जो मऊ-नूरपुर के राजा जगतसिंह की युद्धवीरता की प्रशंसा में लिखे गए और जिनमें सुंदर सुकवि या गंभीरराय की छाप उपलब्ध होती है। इन छंदों में प्रथम दृष्टि में ही कई शंकाएँ सामने आती हैं—प्रथम, सुंदर कविराय की आख्या पर ही मऊ-नूरपुर के बागी राजा जगतसिंह पर आक्रमण किया गया था। फिर सुंदर उस

बागी राजा की युद्धवीरता का वर्णन कैसे कर सकता है? सुंदर की मध्यस्थता के कारण ही ओरछानरेश जुझारसिंह का सर्वनाश हुआ था। शाहजहाँ पर शोध करने वाले डॉ॰ बनारसीप्रसाद सक्सेना लिखते हैं—‘जुझारसिंह उद्दंड विद्रोही अवश्य था और कड़े दंड का भागी भी था, इस पर दो मत नहीं हो सकते, किंतु उसके जो पुत्र जीवित ही बंदी बना लिए गए थे, उन्हें जबरन मुसलमान बनाने तथा उसकी स्त्रियों को दासी बनाकर शाही हरम अथवा अमीरों की हवेलियों में कलंकित जीवन व्यतीत करने के लिए विवश करने या मंदिरों को ध्वस्त और अपवित्र करने में कहाँ का न्याय था?’<sup>14</sup> जिस सुंदर का हृदय ओरछानरेश के सर्वनाश और मंदिरों के ध्वंस के बाद भी नहीं पिघला, उसका हृदय जगतसिंह की युद्धवीरता से द्रवित हो उठा, यह तर्कसंगत नहीं है और शाहजहाँ के साथ रहकर उसके प्रतिपक्षी की प्रशस्ति लिखना भी संभव नहीं है। द्वितीय, ‘सुंदरशृंगार’ में कहीं भी इस कवि ने सुंदर सुकवि या गंभीरराय की छाप नहीं रखी है, फिर परवर्ती काव्यरचना में यह कैसे आ गई? तृतीय, ये सभी छंद छंदशास्त्र की दृष्टि से दोषपूर्ण हैं, अपूर्ण हैं। मैंने श्रद्धेय दुबेजी से इस विषय में पत्राचार किया तो उनकी हस्तलिखित प्रति अनुपलब्ध मिली और दतिया का वह हस्तलेख भी देखने में नहीं आ सका। स्पष्ट है कि यह सामग्री अभी असंदिग्ध नहीं है, तथापि एक छंद न्यूनाधिक संशोधनों के साथ प्रस्तुत है—

खंभ बाँध खान मार्यो, खेत चढ़ मीर मार्यो,  
केते उमराउ मारे, हूँ न हिराने को।  
कावली कलवास लाख क्यों न आये, और—  
चारों-पाँचों सहजादा आयो बाँध बाने को।  
केते उमराउ और केतक सुपाह भेजे,  
जो आप क्यों न आयो पातसाह तुरकाने को।  
कबहुँ-कबहुँ सुध होत लसकर माँझ,  
जगता न जाने जीय और मरदाने को।

इस कवित्त में उल्लिखित जगता है मऊ-नूरपुर के नरेश जगतसिंह और तुरकाने का पातसाह है शाहजहाँ। भला शाहजहाँ का अंतरंग एवं विश्वस्त व्यक्ति और उसके दरबार का सम्मानित कवि ऐसी उक्ति कैसे लिख सकता है?

‘सुंदरशृंगार’ मूलतः शृंगार-वर्णन एवं नायिका-भेद की कृति है और भानुदत्त मिश्र रचित ‘रसमंजरी’ पर आधारित है। इसमें पहले नायिकाओं के विभिन्न भेदोपभेदों को प्रस्तुत किया गया है, सखी और दूती का अच्छा विवेचन किया गया है। तदुपरांत नायक, विशेषतः शृंगारिक नायक, के भेदों की संक्षिप्त किंतु स्पष्ट चर्चा की गयी है। नायक-सहचर नाम से पीठमर्द आदि की पारंपरिक विवेचना की गई है। इसके पश्चात् त्रिविध दर्शन-स्वप्न, चित्र और साक्षात्-के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। इनके पश्चात् शृंगार का लक्षण देते हुए उसके दो भेदों-संयोग एवं वियोग-का उल्लेख किया गया है। संयोग के अंतर्गत हावों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है और वियोग के अंतर्गत कामदशाओं का। यहाँ तक का ढाँचा भानुदत्त रचित ‘रसमंजरी’ का अनुकरण करता है, लेकिन सुंदर ने भानुदत्त का अंधानुकरण नहीं किया है। भानुदत्त के कई भेदों को विस्मृत कर दिया है, कई भेदों की परिभाषाएँ संशोधित कर दी हैं। भानुदत्त के अनुकरण पर वे सात्विक भावों का विवेचन करते हैं और संचारी भावों का परित्याग कर देते

हैं, लेकिन हाव एवं कामदशाओं में वे भानुदत्त (वस्तुतः भरत, क्योंकि भानुदत्त का विवेचन भरत पर आधारित है) तक सीमित नहीं रहे हैं। भानुदत्त, भरत का अनुकरण करते हुए दस हावों का ही विवेचन करते हैं, जबकि सुंदर ने यह संख्या सोलह दी है। हाँ, हाव-विवेचन में हावों के अंतर्गत 'हाव' की स्वतंत्र सत्ता स्वीकारना हास्यास्पद अवश्य है। वस्तुतः भानुदत्त से बाह्य ढाँचा ही लिया गया है, विवेचन में अंधानुकरण नहीं किया गया है। स्वकीया के लिए 'स्वीया' और उत्कंठिता के लिए 'उत्का' शब्द भानुदत्त के विवेचन का स्मरण अवश्य कराते हैं, लेकिन सुंदर को नायिका 'नारी' ही दिखती है—'सो पुनि सुंदर कवि कहै, तीन भाँति की नारि'। वस्तुतः सुंदर ने मान्य नायक-नायिकाओं की सर्वमान्य परिभाषाएँ दी हैं, वे न गहन विवेचन में उतरे हैं और न उन्हेने मौलिकता लाने या वैविध्य दिखाने का प्रयास ही किया है। उनकी परिभाषाएँ साफ-सुथरी हैं और उदाहरण सरस है। सुंदर ने न कठिन विषयों को उठाया है और न शृंगारिक विषयों को विस्मृत ही होने दिया है। मध्या आदि के सुरतारंभ, सुरतांत, विपरीत रति आदि के दृश्यों को भी सुंदर ने यथास्थान रखा है। वस्तुतः वे सफल आचार्य की अपेक्षा सरस कवि ही अधिक हैं। उनका आचार्यत्व कवित्व का साधन-मात्र है, स्वयं साध्य नहीं। सुंदर ने 'रसमंजरी' के ढाँचे के बाद भी इस विषय को आगे बढ़ाया है, जो उनका मौलिक प्रयास कहा जा सकता है। सुंदर की विशेषता यह है कि उन्होंने 'चेष्टारीति' शीर्षक से अट्टारह शृंगारिक छंद दिए हैं। बहुत संभव है, ये छंद समय-समय पर पूर्ववर्ती काल में लिखे गए हों और बाद में उन्हें इस ग्रंथ में रख दिया हो। तदुपरांत 'नखशिखकथन' नाम से दस छंद रखे हैं, जिनमें नायिका के केश, वरुनी, उरोज, रोमावली, नीवि और वाणी का वर्णन किया गया है। 'प्रियतम मिलन' शीर्षक से एक सवैया देकर 'उद्दीपनकथन' शीर्षक से तीन सवैयों में चंद्रिका वर्णन प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः सुंदर के विवेचन में मौलिकता, नवीनता या विविधता भले ही न हो, लेकिन रीतिकालीन रसरिति परंपरा में नायिकाभेद को 'हरिशृंगार' या भक्तिभाव से मुक्ति दिलाकर शुद्ध शृंगारिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय सुंदर कविराय को ही है। नायिकाभेद की त्रिपथगामिनी गंगा यहीं मानवीय भूमि का संस्पर्श करती है और यह मानवीय दृष्टि समस्त परवर्ती रीतिकवियों को मान्य हुई है। जहाँ तक 'रसमंजरी' को उपजीव्य बनाने की बात है, सुंदर ने अंत में यह स्पष्ट घोषण भी कर दी है—

सुर-बानी यातें करी, नर-बानी में ल्याइ।  
जातें मग रस-रीति को, सब पै समुझयो जाइ॥

—सुंदरशृंगार, छंद 373

सुंदर सरल और सरस ब्रजभाषा के नैसर्गिक कवि हैं और उनकी प्रसिद्धि का आधार उनका आचार्यत्व नहीं, बल्कि कवित्व है। उनकी जन्मस्थली (ग्वालियर) और कर्मस्थली (आगरा) दोनों ही ब्रजमंडल में रही हैं, फलतः उनकी बोलचाल की भाषा (मातृभाषा) ब्रज ही रही है। सुंदर की यह विशेषता है कि उसने साहित्यिक नहीं, शुद्ध बोलचाल की भाषा को काव्यभाषा बनाया है। यही कारण है कि उनके काव्य में ब्रजभाषा की नैसर्गिक सुषमा और सहज मिठास सर्वत्र उपलब्ध होती है। उनकी काव्यभाषा में तत्सम शब्दावली की प्रधानता नहीं है, बल्कि तद्भव और देशज शब्दावली की प्रचुरता है और कुछ शब्द तो ऐसे भी हैं, जो स्थानीय या ग्राम्य भाषा में ही प्रचलित हैं, यथा मूँड (सिर), लहुरी (छोटी) लड़ही (प्रिय),

दौंगड़ा (हल्की वर्षा) आदि। ब्रजभाषा में ल और ड का र हो जाता है और 'सुंदरशृंगार' में शब्दावली इसी रूप में उपलब्ध होती है—कजरा, कपरा, परवा, बीजुरी आदि। सुंदर निकसना, हेरना, टेरना जैसी क्रियाओं का प्रयोग करते हैं और बोलचाल की भाषा में प्रचलित मुहावरों का भी। उनकी काव्यभाषा ब्रज की वाक्पद्धति एवं मुहावरे ही नहीं, गालियों से भी संपन्न है, जिससे उसमें ब्रज की नैसर्गिकता एवं सरसता आ गई है। अलंकारों के प्रयोग में सुंदर की रुचि कम ही रही है। शब्दालंकारों में उन्होंने सहज एवं अनायास यमक में रुचि ली है और अर्थालंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा और सन्देह के प्रयोग में सादृश्यविधान में सुंदर ने लोकजीवन का विशेष आधार लिया है, जिससे काव्य में जीवन्तता आ गयी है। इसके लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त है—

आँखें भर आईं, मुख पीरी परि छाई, चौंकि  
चिरिया की नाई, भाजि भोन-कोन में गई।

भयविह्वल नायिका का इससे अधिक रम्य चित्र और क्या हो सकता है? 'चौंकि चिरिया की नाई' में नायिका की कातरता को साकार कर दिया है। सुंदर कविराय ने कुल मिलाकर सात छंदों का प्रयोग किया है, लेकिन प्रमुखता तीन छंदों की ही रही है। ये हैं—दोहा, कवित्त और सवैया। उन्होंने लक्षण देने में दोहा, और कहीं-कहीं दोवै छंद का तथा उदाहरणों में कवित्त और सवैया छंद का प्रयोग किया है। वस्तुतः उनके प्रिय छंद सवैया और कवित्त ही रहे हैं और दोनों के प्रयोग में वे सफल भी रहे हैं। सवैया रीतिकाल का मधुरतम छंद है और शृंगारिक वर्णनों में उसका सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। सुंदर के सवैये अत्यंत लोकप्रिय रहे हैं। उनके कवित्त भी निर्दोष, सफल एवं सरस हैं, लेकिन सवैयों की माधुरी अप्रतिम है। कुल मिलाकर उनका भावपक्ष जितना नैसर्गिक एवं रंजक है, कलापक्ष भी उतना ही अकृत्रिम एवं व्यंजक है। सुंदर का काव्य सहज शोभा का उपमान है, कृत्रिम आडंबर का पर्याय नहीं। भाव और शिल्प के मणिकांचन योग के कारण ही उन्हें काव्यजगत् में प्रसिद्धि मिली है।

'सुंदरशृंगार' उनका प्रमुख ग्रंथ है और उनकी प्रसिद्धि का मेरुदंड भी। उसकी लोकप्रियता, महत्ता एवं प्रामाणिकता को निम्न बातों से समझा जा सकता है—

1. शाहजहाँ ने 'सुंदरशृंगार' की सामान्य ही नहीं, सचित्र प्रतियाँ भी तैयार करायी थीं। ग्रंथ अत्यन्त लोकप्रिय हुआ और मुग़ल साम्राज्य के विस्तार के साथ-साथ ग्रंथ का क्षेत्र भी विस्तृत होता गया। इसकी प्रतियाँ जम्मूकश्मीर से लेकर गुजरात-महाराष्ट्र तक सर्वत्र मिलती हैं। ग्वालियर और आगरा के समीपवर्ती क्षेत्र में सचित्र प्रतियाँ भी मिलती हैं।

2. सन् 1660 (संवत् 1717) में गोलकुंडा के अकबरशाह ने तेलगू भाषा में 'शृंगार मंजरी' की रचना की, जिसमें केशवदास रचित 'रसिकप्रिया' और सुंदरकृत 'सुंदरशृंगार' को आधारग्रंथ माना गया है।<sup>5</sup> आगरा में रचित ग्रंथ की मात्र उनतीस वर्ष पश्चात् गोलकुंडा तक प्रसिद्धि, ग्रंथ की महत्ता और प्रामाणिकता को रेखांकित करती है।

3. कच्छपति लखपति राव ने कवि बनने के इच्छुक युवाओं के लिए भुज (गुजरात) में ब्रजभाषा काव्यशाला स्थापित की थी, जो दो सौ वर्षों (सन् 1749-1948 ई०) तक चलती रही। यहाँ परीक्षा उत्तीर्ण करने वाले छात्रों को उचित पुरस्कार, अंगवस्त्र और कवि की उपाधि देकर सम्मानित किया जाता था। इस काव्यशाला के पाठ्यग्रंथों में 'सुंदरशृंगार' भी था।<sup>6</sup> आगरा

(उत्तरप्रदेश) में रचित ग्रंथ का गुजरात के एक महाविद्यालय के पाठ्यक्रम में निर्धारित होना, ग्रंथ की लोकप्रियता और प्रामाणिकता का ही परिचायक है।

4. कच्छपति लखपतिराव को 'सुंदरशृंगार' इतना पसंद आया था कि उन्होंने इसे सरल और सुबोध बनाने के लिए इस पर 'रसदीपिका' नामक टीका भी लिखी। टीका का समापन करते हुए लखपति राव कहते हैं—

सुंदर कृत सिंगार कौ, बहुधा अरथ बिचार।  
ए कुमार लखपति कहत, अपुनि मति अनुसार।  
यह सुंदर सिंगार की, रसदीपिका सुरंग।  
रची देसपति राउ सुत, लखपति लहि रस अंग।<sup>7</sup>

5. कच्छनरेश लखपति राव 'सुंदरशृंगार' पर इतने अनुरक्त हुए कि उन्होंने उसके अनुकरण पर 447 छंदों वाला 'रसतरंग' भी रचा जो 'लखपति शृंगार' के नाम से अधिक प्रसिद्ध हुआ। इस ग्रंथ के अंत में लखपति राव स्वयं घोषणा करते हैं—

वृंदारक भाषा करी, यों नर-भाषा ल्याय।  
यातें रस को पंथ जग, समुझै सकल सुभाय।  
कीन्हों लखपति कच्छपति, भलै सुनो कवि भूप।  
सुंदर-कृति अनुरूप यह, 'रसतरंग' रस रूप।  
महाराज लखपति कियो, सुभ लखपति सिंगार।  
रच्यौ देखि रसमंजरी, सकल रसनि को सार।<sup>8</sup>

यों तो लखपति राव ने स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है—'सुंदर-कृति अनुरूप यह' अर्थात् यह 'सुंदरशृंगार' के अनुकरण पर रचा गया है, लेकिन दो दोहों की तुलना से यह अधिक स्पष्ट किया जा सकता है—

सुर-बानी यातें करी, नर-बानी में ल्याय।  
जातें मग रस-रीति को, सब पें समुझ्यो जाय।  
—सुंदर  
वृंदारक भाषा करी, यों नर-भाषा ल्याय।  
यातें रस को पंथ जग, समुझै सकल सुभाय।  
—लखपति राव

'वृंदारक' का अर्थ है देवता और 'वृंदारक-भाषा' हुई देववाणी अर्थात् संस्कृत। इसे ही सुंदर ने सुर-बानी कहा है, जो अधिक प्रचलित शब्दावली है, जबकि लखपति राव ने भवानुवाद नहीं, भावापहरण को छिपाने के प्रयास में अप्रचलित शब्दावली ग्रहण की है। स्पष्टतः वे 'सुंदरशृंगार' से सर्वभावेन प्रभावित हैं।

6. शाहजहाँ के आश्रित चित्रकारों ने 'सुंदरशृंगार' की सचित्र प्रतियाँ तैयार की थीं, जिसका प्रभाव उनके अधीनस्थ राजपूत राजाओं पर भी पड़ा और राजस्थानी शैली में सुंदर के छंदों पर चित्र तैयार किए गए। यह प्रभाव पंजाब और हिमाचल की पर्वतीय रियासतों तक भी पहुँचा। 'सुंदरशृंगार' के वर्ण्य को लेकर गुलेर (हिमाचल) के चित्रकारों ने सन् 1775-80 ई० में मण्डी दरबार हेतु एक बृहत् चित्र शृंखला तैयार की थी, जो इस समय विदेश में है और

जिसके कुछ चित्र अभी शीघ्र ही प्रकाश में आए हैं।<sup>9</sup>

7. सुंदर को परवर्ती कविवृत्त-संग्रहों एवं काव्य-संकलनों में पर्याप्त सम्मान मिला है। जहाँ भी रीतिकालीन शृंगारिक छंदों का संकलन-सम्पादन किया गया है, वहाँ सुंदर को अवश्य स्मरण किया गया है। पंडित नकछेदी तिवारी 'अजान', पंडित मन्नालाल शर्मा 'द्विज', हफीजुल्लाह खाँ, परमानंद सुहाने, सरदार कवि, हनुमान कवि, गोकुलप्रसाद 'ब्रज', जगन्नाथप्रसाद 'भानु', प्रभुदयाल मीतल आदि ने अपने संकलनों में सुंदर के कवित्त-सवैये अवश्य रखे हैं जो कवि के महत्त्व की ही स्वीकृति है। रसिकगोविंद ने अपने सर्वांगविवेचक ग्रंथ 'गोविदानंदघन' (रचनाकाल संवत् 1858) में काव्यांगों के उदाहरणस्वरूप सुंदर कविराय के बाईस छंद उद्धृत किये हैं तथा 'गौनो गयो दिन द्वैक भये' एवं 'लोग बरात गए सिंगरे'—इन दो छंदों को दो-दो बार उद्धृत किया है<sup>10</sup> जो सुंदर काव्य की प्रामाणिकता एवं रसवत्ता का ही प्रमाण है।

अन्त में यही कहा जा सकता है कि सुंदर अपने समय के प्रतिष्ठित कवि थे और मुग़ल साम्राज्य के विस्तार एवं प्रभाव के साथ उनके काव्य की लोकप्रियता भी बढ़ी। चित्रकारों ने उनके छंदों पर चित्र बनाकर उनके महत्त्व को और बढ़ाया। ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में 'सुंदरशृंगार' तीन बार प्रकाशित भी हुआ, लेकिन व्यवस्थित संपादन और समीक्षण के अभाव में सुंदर कविराय का स्थापन सम्भव नहीं हो सका। अथ ग्रंथावली प्रकाशित हो जाने से इस अभाव की पूर्ति भी हो गयी है, फलतः शोध और समीक्षा का मार्ग भी प्रशस्त हो गया है। अब सुंदर कविराय पर शोध निरन्तर होते रहेंगे और नूतन सामग्री निरन्तर प्रकाश में आती रहेगी।

### संदर्भ

1. सुंदरदास : सुंदरविलास, 1/1, 2, 10
2. डॉ० काशीप्रसाद त्रिपाठी : बुंदेलखंड का बृहत इतिहास, पृ० 48-49
3. डॉ० बनारसीदास सक्सेना : मुग़लसम्राट शाहजहाँ, पृ० 90-95
4. डॉ० बनारसीप्रसाद सक्सेना : मुग़लसम्राट शाहजहाँ, पृ० 84-85
5. (क) डॉ० भगीरथ मिश्र : शृंगारमंजरी (भूमिका), पृ० 19, पाठ्य पृ० 6.  
(ख) Allison Busch : Classical Hindi in the Mughal World, P. 27
6. डॉ० निर्मला आसनाणी : कच्छ की ब्रजभाषा पाठशाला, पृ० 99, 101
7. डॉ० निर्मला आसनाणी : कच्छ की ब्रजभाषा पाठशाला, पृ० 125
8. डॉ० दयाशंकर शुक्ल : साहित्यविमर्श, पृष्ठ 131
9. विजय शर्मा : काँगड़ा की चित्रांकन परंपरा, पृ० 87
10. डॉ० रामानंद शर्मा : सुंदर कविराय ग्रंथावली (भूमिका), पृ० 41

## हिंदी-ग़ज़ल और कृष्णबिहारी 'नूर'

कृष्णकुमार वर्मा 'नाज़', शोध-छात्र  
एम०ए० (समाजशास्त्र, उर्दू व हिंदी), बी०एड्  
साहित्यवारिधि डॉ० रामानंद शर्मा, पर्यवेक्षक  
उपाचार्य एवं अध्यक्ष, हिंदू कालेज, मुरादाबाद

पारंपरिक ग़ज़ल की यात्रा लगभग चार सौ वर्ष पुरानी है। ग़ज़ल फ़ारसी से हिंदी और उर्दू में आयी है तथा इसने समय-समय पर अनेक परिवर्तनों को स्वीकार किया है। पारंपरिक ग़ज़ल का प्रारंभिककाल दक्षिण केंद्र के शायरों से लेकर वली और ख़ान आरजू तक फैला हुआ है। इस काल में शाह मीरानजी, शाह बरहानुद्दीन जानम, मुहम्मद कुली कुतुबशाह, सुलतान मुहम्मद कुतुबशाह, इब्ने निशाती, वजही, सुलतान अबुल हसन, फ़ाइज़, बहरी आदि से लेकर वली, सिराज, ख़ाने आरजू, फ़ुर्ग़ाँ, शाह हातिम, मज़हर तथा अब्दुल हई ताबाँ, यक़ीन, मजमून आदि शायर आते हैं।

मध्यकाल में सौदा, दर्द, सोज़, मीर, हसन, नज़ीर, आतिश, ज़फ़र, ज़ौक, ग़ालिब, मोमिन, अमीर मीनाई, दाग़ आदि आते हैं। इनके अलावा ज़ुरअत, मुसहफ़ी, इंशा, शाह नसीर, नासिख़, तिश्ना, सबा, वज़ीर, सेफ़ता, असीर, निज़ाम रामपुरी, नवाब वाजिदअली शाह, अख़्तर, दयाशंकर नसीम आदि शायर भी इसी युग की देन हैं।

आधुनिककाल में हाली, जोश मल्लियानी, तिलोकचंद्र 'महरूम', चौधरी जगतलाल 'रवाँ', अकबर इलाहाबादी, शाद अज़ीमाबादी, साकिब लखनवी, डॉ० इक़बाल, हसरत मोहानी, फ़ानी बदायूनी, चकबस्त, असग़र गोंडवी, ज़िगर मुरादाबादी, फ़िराक़ गोरखपुरी, मजाज़ लखनवी, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ आदि शायर आते हैं। इनके अतिरिक्त आज़ाद, नज़्म तबातबाई, रियाज़ ख़ैराबादी, सफ़ी लखनवी, नसीम देहलवी, यगाना चंगेज़ी, फ़सी बदायूनी, मुनव्वर लखनवी, अमन लखनवी, आनंदनारायन मुल्ला, हरीचंद्र अख़्तर, जोश मलीहाबादी, हफ़ीज़ जालंधरी, सागर निज़ामी, ताबाँ आदि शायर भी इसी युग में पैदा हुए। इनमें कुछ शायर ऐसे भी हैं जो भारत की स्वतंत्रता के पश्चात् भी जीवित रहे हैं और ग़ज़लें कहते रहे हैं।

अत्याधुनिक काल में ग़ज़लकारों ने जहाँ परंपरागत ग़ज़लें कहीं, वहीं ग़ज़ल की भाव-भूमि में नए प्रतीक और बिंब भी शामिल हुए। चूँकि फ़िराक़ गोरखपुरी ने अत्याधुनिक काल की ग़ज़लों को भी प्रभावित किया और आलोचना के क्षेत्र में उन्होंने उल्लेखनीय कार्य किया, इसलिए हम चाहते हैं कि उन्हें अत्याधुनिक काल में भी सम्मिलित किया जाए। परंपरागत ग़ज़लकारों में कृष्णबिहारी 'नूर', दिवाकर राही, गौहर उस्मानी, क़ैसर-उल-जाफ़री, वसीम बरेलवी, मख़दूम मुहीनुद्दीन, अबूहसन गुन्नौरी, अफ़सर मेरठी, निहाल स्योहारवी, जगन्नाथ

आजाद, जज्बी, प्रो० आले अहमद सुरूर, अब्दुल हमीर अदम, अंदलीब शादानी, मखमूर सईदी, आबिद, बेखुद लखनवी, रविश सिद्दीकी, अमीक हनफ़ी, डॉ० सागर आजमी, शमीम जयपुरी, फ़ना कानपुरी, क्रमर जलालाबादी, शकील बदायूनी, अनवर मिर्ज़ापुरी, मलिकजादा मंजूर अहमद आदि शायर हैं। जबकि इस काल में प्रगतिशील शायरों में बेकल उत्साही, ज़फ़र गोरखपुरी, डॉ० बशीर बद्र, सरदार जाफ़री, साहिर लुधियानवी, मजरूह सुलतानपुरी, मुनीर नियाज़ी, जौनिसार अख़्तर, कैफ़ी आजमी, कृष्णमोहन, ख़लीलुर्हमान आजमी, निदा फ़ाज़ली, शहरयार, ज़फ़र इक़बाल, मज़हर इमाम, मुजफ़्फ़र हनफ़ी, जावेद अख़्तर, डॉ० निर्मल दर्शन, सलीम अहमद, शीन.काफ़. निज़ाम, मंजूर हाशमी, अनीस अंसारी, शुजा ख़ाबर, आशुप्ता चंगेज़ी आदि सैकड़ों शायर हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अत्याधुनिककाल के पारंपरिक शायरों ने प्रगतिशील तेवर की ग़ज़लें भी कहीं, जबकि जदीद और तरक्कीपसंद शायर ग़ज़ल की परंपराओं से भी कहीं-न-कहीं जुड़े रहे।

उर्दू-ग़ज़ल सिर्फ़ परंपराओं पर आधारित रही। उसमें स्त्रियों का नख-शिख वर्णन, शराब, पैमाना, जाम, साक़ी, गुलाब, फूल, काँटे, भौरा आदि का बहुलता से चित्रण मिलता है। यह तवायफ़ों के घुँघरुओं में क़ैद रही और ढोलक का इस पर क़ब्ज़ा रहा। बादशाहों-नवाबों ने इसको अपने दरबारों में पाला-पोसा भी और नज़रबंद भी रखा। यह सिर्फ़ 'बड़े लोगों' की मनोरंजन की वस्तु बनकर रह गयी।

### हिंदी-ग़ज़ल की विकास-यात्रा

यदि हिंदी-ग़ज़ल के इतिहास को ध्यानपूर्वक देखा जाए तो फ़ारसी के प्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो (सन् 1252-1325) से हिंदी-ग़ज़ल का प्रारंभ हुआ, जिन्होंने फ़ारसी के साथ-साथ खड़ीबोली में ग़ज़लें लिखकर अभिनव प्रयोग किया। इनकी कई ग़ज़लों में यह विशेषता थी कि शेरों की एक पंक्ति फ़ारसी में होती थी, तो दूसरी खड़ीबोली में, जबकि, कुछ ग़ज़लें हिंदी (तत्कालीन हिंदवी) में भी पाई जाती हैं।

भले ही खुसरो मूल रूप में फ़ारसी के कवि रहे हों, लेकिन साहित्यिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि बहुत से ऐसे साहित्यकार हुए हैं, जिन्होंने एक-दो तो क्या, कई-कई भाषाओं में साहित्य-सृजन किया है, जिनका एक साथ कई भाषाओं पर समान अधिकार रहा है। उस समय भले ही शासन की भाषा फ़ारसी रही हो, लेकिन हमें इस तथ्य को भी स्वीकारना चाहिए कि किसी भी दौर में शासन की भाषा जनसाधारण की भाषा नहीं रही। आम आदमी हमेशा अपनी क्षेत्रीय उपभाषाओं अथवा बोलियों में लिखता-पढ़ता और कार्य करता रहा। अमीर खुसरो विद्वान भी थे और प्रयोगधर्मी भी। भले ही उन्होंने हिंदी में कम ग़ज़लें कही हों, लेकिन कही तो। इसलिए हमें यह भी मानने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि अमीर खुसरो हिंदीभाषा की ग़ज़ल के पहले कवि हैं।

हिंदी-ग़ज़ल के उद्भव के विषय में ज़हीर कुरैशी कहते हैं— 'चूँकि मैं सबसे पहला हिंदी-ग़ज़लकार हज़रत अमीर खुसरो को मानता हूँ, अतः मुझे यह कहने में भी संकोच नहीं कि हिंदी में ग़ज़लों का उद्भव उर्दू-ग़ज़लों के कारण नहीं हुआ है। यूँ भी अमीर खुसरो ने ग़ज़लें या तो फ़ारसी में कहीं या तत्कालीन हिंदी में। उर्दू तो बहुत बाद में, लश्करी जुबान के रूप में अस्तित्व में आई।' हिंदी-ग़ज़ल के दूसरे महत्वपूर्ण बिंदु हैं कबीर, जिनकी ग़ज़ल-



‘हमन हैं यार मस्ताना हमन को होशियारी क्या’ विश्वविख्यात है। हिंदी-ग़ज़ल की विकास-यात्रा का तीसरा बिंदु है भारतेंदुयुग, जो सन् 1850-1885 तक रहा। यद्यपि भारतेंदुजी के पिता गिरधरदास ने भी हिंदी में कुछ ग़ज़लें कहीं। भारतेंदुजी ने ग़ज़लें भी कहीं और नाटक भी लिखे। ग़ज़लें उन्होंने ‘हरिश्चंद्र’ तथा ‘रसा’ उपनाम से लिखीं।

यह तो निश्चित है कि इस कालखंड में भगवानदीन, प्रतापनारायण मिश्र, चौधरी प्रेमघन, गोपालदास ‘गुल’, श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय, जयशंकर प्रसाद, निराला आदि हिंदी-कवियों ने ग़ज़लें भी लिखीं। इसलिए इस युग में हिंदी-ग़ज़ल के क्षेत्र में बहुत से प्रयोग हुए, जिनसे हिंदी-ग़ज़ल विकास के मार्ग पर अग्रसर हुई। इन कवियों की भाषा अवश्य हिंदी रही, लेकिन कथ्य अधिकांश परंपरागत रहा। इस बीच बलवीरसिंह रंग, त्रिलोचन और शमशेरबहादुर सिंह, जानकीबल्लभ शास्त्री, विश्वंभरनाथ उपाध्याय, हंसराज रहबर, रामावतार त्यागी आदि ने भी ग़ज़लें लिखीं, लेकिन ये भी परंपराओं की भेंट चढ़ गईं। सभी का वर्ण्य-विषय प्रेम और सौंदर्य रहा। शिल्प की दृष्टि से भी ये ग़ज़लें कमजोर रहीं। उर्दू मुहावरों का प्रयोग किया गया।

हिंदी-ग़ज़ल की विकास-यात्रा के चौथे और अर्न्तम बिंदु हैं दुष्यंतकुमार (1933-1975)। तत्समय 1940 के आसपास प्रयोगवाद और नयी कविता का आंदोलन शुरू हुआ, लेकिन उस कविता में कविता के आवश्यक तत्त्व लय, छंद, गेयता नहीं थे। यह कविता सिर्फ बुद्धिजीवी वर्ग तक ही सीमित रही। बिंबों का ऐसा प्रयोग कवियों द्वारा किया गया कि समझने का प्रयास करने पर भी अर्थ समझ में न आए। ऐसी कविता से तत्कालीन पाठक और श्रोतावर्ग कट गया। तब आवश्यकता महसूस हुई ऐसी कविता की, जिसमें काव्य के सभी आवश्यक तत्त्व उपलब्ध हों, और ऐसी कविता के रूप में ‘ग़ज़ल’ पर रचनाकारों की दृष्टि पड़ी। ‘सूर्य का स्वागत’ के माध्यम से नई कविता के क्षेत्र में प्रतिष्ठापित हो चुके दुष्यंतकुमार ने ग़ज़ल विधा को अपनाया। यद्यपि उनकी ग़ज़लों में उर्दू-फ़ारसी के शब्द बड़ी संख्या में मिल जाते हैं, तथापि अपनी चुटीली शैली और कथ्य के कारण दुष्यंत को काफ़ी प्रोत्साहन मिला। दुष्यंत के बाद हिंदी में ग़ज़ल-लेखन के लिए रचनाकारों में होड़-सी लग गई। सप्रयास ग़ज़लें लिखी गयीं, आज भी लिखी जा रही हैं। दुष्यंत हिंदी-ग़ज़ल की विकास-यात्रा के महत्त्वपूर्ण पड़ाव हैं, जहाँ से ग़ज़ल की भावभूमि ज़मीनी सच्चाइयों से जुड़ते हुए जनसाधारण की पीड़ाओं को सहलाती है और उनका उपचार बताती है।

चूँकि वर्तमान हिंदी-ग़ज़ल की यात्रा मात्र तीन-चार दशक पुरानी है और धीरे-धीरे अपना स्वरूप निर्धारण कर रही है। हाँ, हिंदी-ग़ज़ल के लिए यह शुभ लक्षण अवश्य है कि वह अब सफलता के शिखर छूने के लिए उत्सुक भी है और संघर्षरत भी। ऐसा नहीं कि इससे पूर्व हिंदी में ग़ज़लें नहीं लिखी गयीं। अनेक हिंदी-कवियों ने ग़ज़लें लिखी हैं, लेकिन उन्होंने ‘हिंदी-ग़ज़ल’ नाम नहीं दिया, न ही अभियान के तौर पर ग़ज़ल-लेखन किया। दुष्यंतकुमार के बाद से ग़ज़ल को बड़ी तेज़ी के साथ हिंदी कवियों ने अपनाया और उसकी उँगली थामकर भारत के विशाल सांस्कृतिक आँगन में उसे घुमाया-फिराया।

हिंदी-ग़ज़ल ने आम जनमानस के दुख-दर्द में सहभागिता की, उसका रंग-रूप निखरा, उसमें नए-नए बिंब और प्रतीक आए, नई उपमाएँ सम्मिलित हुईं। भाषायी और कथ्यात्मक स्तर पर उसने नए तेवर के साथ विकास के कई पड़ावों को पार किया। चूँकि प्रत्येक भाषा की अपनी

अलग संरचना है, अलग व्याकरण है, अलग संस्कृति है, अलग प्रकृति है। ग़ज़ल ने भी जब हिंदी के क्षेत्र में क़दम रखा तो वह सांस्कृतिक स्तर पर विकास के अनेक सोपान चढ़ी।

डा० शिवओम 'अंबर' के अनुसार—'हिंदी-ग़ज़ल ने यदि एक ओर विद्रूपग्रस्त व्यवस्था के प्रति प्रहारधर्मी मानसिकता के साथ कठोर प्रहार किए हैं, अन्यायी सल्तनत के खिलाफ़ बगावत के बयान लिखे हैं, तो दूसरी ओर संस्कृति के मंगल-कलश में आस्था के पल्लवों को सजाया है, जीवन की रागात्मकता को गुणगुनाहट दी है तथा दर्शन और चिंतन के सोपानों पर चढ़कर अध्यात्म के अंतरालोक के दर्शन किए हैं। उसकी अभिव्यक्ति एकांगी नहीं है, वह जीवन की समग्रता का कलात्मक अंकन है और सांस्कृतिक चेतना से उसकी सहज संबद्धता ने उसे एक विशिष्ट रूपश्री तथा उदात्तता और गरिमा प्रदान की है।'<sup>12</sup>

हिंदी बहुत उदार भाषा है। इसने अपने शब्दकोश में अँग्रेज़ी, अरबी, फ़ारसी तथा कई क्षेत्रीय उपभाषाओं के शब्द आत्मसात किए हैं। ऐसे में इन शब्दों का हिंदी-ग़ज़ल में भी आना स्वाभाविक है और ग़ज़ल ने भी इन शब्दों को अपनाया है। गीतकार गोपालदास 'नीरज' के अनुसार—'हिंदी-ग़ज़ल में उर्दू-ग़ज़ल जैसी रूमानीयत नहीं है। इसके विपरीत, हिंदी-ग़ज़ल में आज के राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिवेश का भरपूर चित्रण है।' वह आगे कहते हैं—'हिंदी-ग़ज़ल और उर्दू-ग़ज़ल में सिर्फ़ मानसिकता का अंतर है। साथ ही हिंदी-ग़ज़ल के पास जो भारतीय चिंतन-परंपरा है, जिसमें उपनिषद, गीता, वेदांत, बुद्ध, महावीर, चैतन्य आदि समाविष्ट हैं— वह उर्दू-ग़ज़ल के पास नहीं है।'<sup>13</sup>

यह निश्चित है कि हिंदी-ग़ज़ल के पास विस्तृत चिंतन-परंपरा है। हिंदी-ग़ज़ल के पास अपनी संस्कृति है, अपने संस्कार हैं, अपनी उपमाएँ और अपना बिंबविधान है। यह प्रत्येक दृष्टि से संपन्न है।

### हिंदी के प्रमुख ग़ज़लकार

**बलवीरसिंह 'रंग'** : बलवीरसिंह 'रंग' ने हिंदी-ग़ज़ल को बहुत कुछ दिया। यद्यपि उनके शेरों में शृंगार-भाव की अधिकता है, लेकिन इसके साथ ही सामाजिक सरोकारों को भी उन्होंने नज़रअंदाज़ नहीं किया है। उन्होंने जहाँ समाज को रास्ता दिखाया, वहीं राजनीतिक भ्रष्टाचार को भी उजागर किया।

**बहोरनसिंह वर्मा 'प्रवासी'** : बहोरनसिंह वर्मा 'प्रवासी' का जन्म 20 दिसंबर 1921 को मुरादाबाद जनपद की संभल तहसील के सिरसी क़स्बे में हुआ। शिक्षा विभाग में अध्यापक की नौकरी के दौरान उन्होंने मुरादाबाद में ही अपना स्थायी निवास बना लिया। वह प्रधानाध्यापक पद से सेवानिवृत्त हुए। उनका स्वर्गवास 01 नवंबर 2005 को हुआ। वैचारिकता के धरातल पर उनके शेर मज़बूती के साथ पाँव जमाए हुए हैं। चूँकि बड़े मंचों से दूर रहे, इसलिए लेखन में कभी समझौता भी नहीं किया।

**गोपालदास 'नीरज'** : गोपालदास 'नीरज' को साहित्यिक दुनिया में शिष्ट और विशिष्ट गीतकार के रूप में जाना जाता है। नीरज जी की पहचान विशेष तौर से गीतकार के रूप में है। ये प्रेमगीतों के संवेदनशील रचयिता हैं। नीरज जी की कृतियों में 'संघर्ष', 'अंतर्ध्वनि', 'विभावरी', 'प्राणगीत', 'दर्द दिया है', 'बादर बरस गयो', 'मुक्तकी', 'नीरज की पाती', 'गीत भी अगीत भी', 'नीरज की गीतिकाएँ', 'कारवाँ गुज़र गया', 'फिर दीप जलेगा', 'तुम्हारे लिए'

प्रकाशित हुई हैं। इन्होंने गीतों के साथ ही हिंदी-ग़ज़ल साहित्य को भी समृद्ध किया है।

**निशतर ख़ानकाही :** निशतर ख़ानकाही का जन्म जनपद बिजनौर के जहानाबाद गाँव में सन् 1930 में हुआ। इनका पूरा नाम अनवर हुसैन है। सात मार्च सन् 2006 को इनका स्वर्गवास हो गया। इनके लेखन का आरंभ उर्दू में हुआ। उर्दू में इनके पाँच काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए—‘मेरे लहू की आग’, ‘दस्तरस’, ‘सराय में शाम’, ‘मंज़र-पस-मंज़र’, ‘ग़ज़ल मैंने छोड़ी’। चूँकि निशतर साहब के लेखन की शुरुआत उर्दू में हुई और वह उर्दू से हिंदी के क्षेत्र में आए, इसलिए उनकी ग़ज़लों में ग़ज़ल के वे सभी आवश्यक तत्त्व मिलते हैं, जो विद्वानों द्वारा पूर्व-निर्धारित हैं। पत्रकारिता से जुड़े रहने के कारण उनकी दृष्टि समाज में होनेवाली छोटी-बड़ी घटनाओं-दुर्घटनाओं पर भी रही। यही कारण है कि इनकी ग़ज़लों में समाज की झाँकी दृष्टिगोचर होती है। इनकी शायरी का आधार आधुनिक जीवन का यथार्थ है।

**दुष्यंतकुमार :** इनका जन्म जनपद बिजनौर (उ०प्र०) के राजपुर नवादा गाँव में एक सितंबर 1933 को त्यागी ब्राह्मण परिवार में हुआ। इनके पिता श्री भगवतसहाय प्रतिष्ठित जमींदार थे। काव्य के क्षेत्र में उन्होंने अपना उपनाम ‘परदेसी’ रखा, परंतु आम तौर पर उन्हें दुष्यंतकुमार के नाम से ही जाना जाता है। ‘सूर्य का स्वागत’, ‘आवाज़ों के घेरे’ और ‘जलते हुए वन का वसंत’ इनके तीन काव्य-संग्रह हैं। दुष्यंत की अंतिम रचना ‘साये में धूप’ ग़ज़ल-संग्रह सन् 1975 ई० में प्रकाशित हुआ, जिसने उन्हें साहित्यिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित किया। ‘साये में धूप’ की ग़ज़लें हिंदी-ग़ज़ल साहित्य की बड़ी उपलब्धि हैं। यद्यपि दुष्यंत ने भी ग़ज़ल में उर्दू-फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग किया है, लेकिन मुख्य रूप से उन्होंने हिंदी-शब्दावली को अधिक महत्त्व दिया। उनकी ग़ज़लों की भाषा को हिंदुस्तानी भाषा कहा जाना चाहिए। चूँकि वर्तमान हिंदी-ग़ज़ल उर्दू के आँगन में ही चहलकदमी करती हुई हिंदीभाषा-भाषियों तक पहुँची है, इसलिए उर्दू-फ़ारसी के प्रचलित शब्दों का हिंदी-ग़ज़ल में प्रयोग होना स्वाभाविक है।

इनके साथ ही बालस्वरूप राही, चंद्रसेन विराट, डा० शेरजंग गर्ग, डा० कुँअर बेचैन, डा० गिरिराजशरण अग्रवाल, डा० उर्मिलेश शंखधार, डा० शिवओम अंबर आदि बहुत-से रचनाकार हिंदी-ग़ज़ल के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं।

### **कृष्णबिहारी ‘नूर’ और उनका योगदान :**

बीसवीं सदी में अपनी शायरी का सफ़र शुरू करनेवाले भारतीय शायरी के अनमोल मोती कृष्णबिहारी ‘नूर’ का जन्म 8 नवंबर, 1926 को लखनऊ के ग़ौसनगर में बाबू कुंजबिहारी लाल श्रीवास्तव के यहाँ हुआ। श्री नूर ने इक्कीसवीं सदी को भी अपनी रचनाधर्मिता से प्रभावित किया और दो सदियों में अर्जित ज्ञान के महत्त्वपूर्ण पहलुओं को आत्मसात करने के बाद उन्होंने जो ग़ज़लें हमें दी हैं, उनकी ख़ास बात यह है कि वे इस ज़माने की मानवता को जिस तरह की वैज्ञानिक आध्यात्मिकता की अपेक्षा है, उसी की पूर्ति में अनवरत रूप से व्यस्त हैं। नूरसाहब को मालूम है कि दुनिया की हर वस्तु नश्वर है, इस विभत्सता में सौंदर्य की खोज का सिलसिला स्थापित करना ही उनका वह कारनामा है, जो उन्हें उनके समकालीनों से अलग रखता है। यह दुनिया भले ही नश्वर हो, परंतु यह भी अमिट सत्य है कि हर शय में सौंदर्य का सागर लहराता है। संसार का पल-पल मिटते जाना तो याद रखा जाता है, मगर यह बात

नज़रअंदाज़ होती रहती है कि हर पल कुछ-न-कुछ नया भी बनता जा रहा है। 'नया बनना' ही वह आध्यात्मिक पक्ष है, जिसके बहुत सुंदर नए-नए अंदाज़ नूरसाहब की ग़ज़लों में उपलब्ध हैं। यद्यपि उनके प्रथम दो ग़ज़ल-संग्रह 'दुख-सुख' और 'तपस्या' पर्सियन लिपि में हैं, लेकिन भाषा के स्तर पर वह हिंदी ही है। तीसरा ग़ज़ल-संग्रह 'समंदर मेरी तलाश में है' देवनागरी लिपि में है। उनके ग़ज़ल-संग्रहों के शीर्षक ही इस बात का प्रमाण हैं कि उर्दू की अपेक्षा उनकी हिंदीभाषा और भारतीय सांस्कृतिक परिवेश में गहन रुचि रही है। 30 मई, 2003 को प्रातः 10 बजे ग़ाज़ियाबाद के यशोदा हास्पिटल में आँत के आपरेशन के दौरान नूरसाहब का निधन हो गया।

नूरसाहब ऐसे सौभाग्यशाली कवि हैं, जिन्हें उर्दू वाले अपनी तरफ़ खींचते हैं और हिंदी वाले अपनी ओर। कारण यह है कि नूरसाहब ने अपने लेखन की शुरुआत उर्दू में की। चूँकि वह उस ज़माने में पैदा हुए, जब अँग्रेज़ी और उर्दू का ही बोलबाला था। बीसवीं सदी के प्रारंभिक काल में जो लोग पैदा हुए, उनकी मुख्य रूप से दो ही भाषाएँ थीं— उर्दू और अँग्रेज़ी। अधिकतर हिंदू-परिवारों में भी उर्दू ही बोली जाती थी। फिर कायस्थ परिवारों में तो विशेषकर उर्दू का वातावरण था। यही सब कारण रहे कि नूरसाहब के काव्य-लेखन की शुरुआत ग़ज़ल से ही हुई और वह भी उर्दू में। लेकिन नूरसाहब का रुझान अध्यात्म और भारतीय दर्शन में था, इसलिए भारतीय दर्शन की अभिव्यक्ति के लिए उनका झुकाव धीरे-धीरे हिंदी की ओर होता गया। उनकी रचनाओं में हिंदी और संस्कृत के शब्दों का बाहुल्य होता गया। यहाँ यह भी उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है कि हिंदी-ग़ज़ल की मानक स्तर पर सेवा वही ग़ज़लकार कर सकता है, जो परंपरागत ग़ज़ल की बनावट और बुनावट से भली प्रकार परिचित हो, क्योंकि ग़ज़ल बड़ी कोमल विधा है, ज़रा-सी असावधानी भी उसके भावात्मक और शिल्पात्मक सौंदर्य को बिगाड़ देती है। नूरसाहब चूँकि उर्दू से भी भली प्रकार परिचित थे और परंपरागत ग़ज़ल के मिज़ाज से भी, इसलिए उनकी हिंदी-ग़ज़लों प्रत्येक स्तर पर उत्कृष्टता की परिचायक हैं। यही कारण रहा कि नूरसाहब को उर्दू और हिंदी दोनों ही भाषाभाषियों ने अपनी-अपनी ओर खींचा। उनके चार ग़ज़ल-संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जो निम्नानुसार हैं—

1. **दुख-सुख** : यह नूरसाहब की पहली पुस्तक है, जो वर्ष 1977 में प्रकाशित हुई है। यह पुस्तक 136 पृष्ठीय है तथा पर्सियन लिपि में है। इस पुस्तक में 44 रचनाएँ हैं। इनमें 6 नज़्मों और 39 ग़ज़लों समेत 16 क़तआत और 19 फुटकर शेर हैं।

2. **तपस्या** : यह उनकी दूसरी पुस्तक है, जो वर्ष 1983 में प्रकाशित हुई है। यह 144 पृष्ठीय है तथा पर्सियन लिपि में है। इस पुस्तक में कुल 32 रचनाएँ हैं। इनमें 5 नज़्मों और 27 ग़ज़लों समेत 31 फुटकर शेर हैं। 'दुख-सुख' की कुछ प्रमुख रचनाएँ भी इसमें शामिल हैं।

3. **समंदर मेरी तलाश में है** : यह नूरसाहब की तीसरी पुस्तक है, जो वर्ष 1997 में प्रकाशित हुई है। यह 176 पृष्ठीय है तथा देवनागरी लिपि में है। इसमें कुल 61 रचनाएँ हैं, जिनमें 49 ग़ज़लें, 12 नज़्में, 15 क़तआत और 39 फुटकर शेर संकलित हैं। 'दुख-सुख' और 'तपस्या' में प्रकाशित कुछ रचनाएँ भी इसमें सम्मिलित हैं।

4. **आज के प्रसिद्ध शायर कृष्णाबिहारी 'नूर'** : यह पुस्तक वर्ष 2002 में प्रकाशित हुई है। इसका संपादन प्रख्यात कवि, समालोचक एवं पत्रकार श्री कन्हैयालाल नंदन द्वारा किया गया है। 160 पृष्ठीय इस पुस्तक में नूरसाहब की चुनी हुई 62 ग़ज़लें, 14 नज़्में, 10 क़तआत,

29 फुटकर शेर, 6 दोहे और जीवन-परिचय है। इस पुस्तक में श्री नंदन द्वारा नूरसाहब के व्यक्तित्व और कृतित्व पर तो प्रकाश डाला ही गया है, उनसे संबंधित संस्मरणों का भी समावेश है। साथ ही अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाकारों की नूरसाहब से संबंधित टिप्पणियों का भी उल्लेख है।

नूरसाहब बहुत विनम्र और सरल स्वभाव के सादगीपसंद व्यक्ति थे। अस्ल में यही सादगी और विनम्रता उनकी शायरी का केंद्र है। नूरसाहब ने निरंतर सफलता की ऊँचाइयों को छुआ, लेकिन अपनी ज़मीन को, अपने आधार को कभी पाँवों से नहीं खिसकने दिया। जहाँ उन्होंने अपने से बड़ों को सम्मान दिया, वहीं छोटों को बेपनाह मुहब्बतें दीं, प्यार लुटाया। यह उनके व्यक्तित्व का बड़प्पन था। शायद इन्हीं सब बातों ने उन्हें साधारण इंसान से संत की श्रेणी में ला खड़ा किया। नूरसाहब के व्यक्तित्व के संबंध में प्रसिद्ध इतिहासकार डा० योगेश प्रवीन कहते हैं कि 20वीं सदी के अज़ीम शायर कृष्णबिहारी 'नूर' साहब बड़े शायर ही नहीं, आला दरजे की इंसानियत का मर्तबा रखनेवाले इंसान थे। एक पड़ोसी और रिश्तेदार होने के नाते मैं उनको काफ़ी करीब से जानता था। उनके अनुसार—'नूरसाहब ने यूँ तो ज़िंदगी से कभी कोई शिकायत नहीं की, लेकिन जब कभी अपने दिल का हालो-मलाल कहना चाहा तो वो भी अपनी ग़ज़लों की मार्फ़त बड़ी दबी जुबान में कहा। उन्होंने कभी आदाबे-मुहब्बत का दामन अपने हाथों से छूटने नहीं दिया। वो इस मरकज़ पर पहुँच चुके हैं कि दूरियों का दुख-सुख उनका अपना दुख-सुख हो जाता था। उनका मानना था कि कविता कविता होती है। छंद हो, ग़ज़ल हो, पोएम हो, उसकी आत्मा एक होती है, उसे वो अलग-अलग नहीं मानते थे। पानी, पानी ही रहता है, उसे चाहे जिस नाम से पुकारा जाए। जिस भी तरह के बर्तन का पैकर पहना दिया जाए। उनके पास अच्छी निगाह थी, रेशमी अहसास थे और सुनहरी क़लम थी, जिससे उन्होंने जो कुछ भी लिखा वो अमर हो गया। उन्होंने फूल की पंखुड़ियों पर भी लिखा है, चाँदनी की सतह पर भी लिखा है और सबसे बड़ी बात है कि हमारे-आपके दिल के वरक़ पर भी लिखा है।'<sup>14</sup>

नूरसाहब के शेरों में भारतीयता का वह दर्शन और चिंतन हिचकोले मारता है, जो अन्य रचनाकारों में नहीं पाया जाता। यही कारण है कि नूरसाहब उनमें सबसे अलग खड़े दिखाई देते हैं। इस संबंध में कन्हैयालाल नंदन लिखते हैं—'अस्ल में नूरसाहब शायरी के उस मुक़ाम पर पहुँचे हुए शायर हैं, जहाँ साहित्य के सारे वाद-छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, आदर्शवाद, यथार्थवाद, सब एक जगह इकट्ठे अपनी छटाएँ बिखरते हैं। लेकिन सारे वादों से परे उनका आदर्शवाद सोच के किनारों को हर वक्त थपकियाँ देता रहता है। उनका आदर्शवाद कोरा आदर्शवाद नहीं, यथार्थ से सीधा जुड़कर चलता है। इस यथार्थवाद को सँवारने में वे मानवीय मूल्यों के सिवा कोई और सहारा नहीं ढूँढ़ते। मानवीय मूल्यों की गिरावट से वे अंदर तक लहलुहान हो जाते हैं। हो ही नहीं जाते, दिखाई भी देते हैं।'<sup>15</sup>

उत्तरप्रदेश के तत्कालीन विधानसभाध्यक्ष श्री केशरीनाथ त्रिपाठी के अनुसार नूरसाहब न केवल आवाम के वरन् शायरों के शायर रहे हैं। जहाँ साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ उनकी शायरी की रोशनी से जगमगाती हैं, वहीं देश-विदेश के अंतर्राष्ट्रीय मुशायरे उनकी उत्कृष्ट शायरी और पठन की असाधारण क्षमता से गरिमावंत होते रहे हैं।<sup>16</sup>

श्री शंभुनाथ आई०ए०एस० नूरसाहब को हिंदी और उर्दू का मध्यस्थ बिंदु बताते हैं। उनका मानना है कि आत्मा और परमात्मा ठीक वैसे ही तत्त्व हैं जैसे कि बूँद और समुद्र।

कृष्णबिहारी 'नूर' की शायरी में कुछ-कुछ यह दार्शनिक भाव बार-बार परिलक्षित होता है। यह भाव कबीर की साखियों और दोहों में मिलता है। मेरी दृष्टि में नूरसाहब ने सनातन सच्चाई को जिस खूबसूरती के साथ प्रस्तुत किया है, उसने उन्हें हिंदी-कवियों एवं उर्दू-शायरों के बीच दोहरी लोकप्रियता दिलाई है।<sup>7</sup>

दैनिक राष्ट्रीय सहारा, लखनऊ में 'सूफ़ियाना रंगिमा से भरपूर कृष्णबिहारी नूर की रसपूर्ण शायरी' शीर्षक से प्रकाशित अपने लेख में डा० मधुर नज़्मी लिखते हैं—'दरअस्ल, मिर्जा ग़ालिब की तरह से ही नूरसाहब की अदबी गंभीरता के प्रति कारगर लेखन सामने आने में देर लग रही है। यदि कारणों को रेखांकित करना पड़े तो दोनों शायरों पर हुई इस कोताही या टंडेपन की छानबीन होने पर बहुत से बिंदु एक जैसे ही निकलेंगे। मेरा ऐसा खयाल है कि शायर की गुणवत्ता को स्थापित होने में अगर समय लग रहा है तो यह मान लेना चाहिए कि उसकी गिनती देर-सबेर बहुत बड़े शायरों में होने जा रही है, क्योंकि उसकी तख़लीक़ में वे तमाम तत्त्व शामिल हैं, जो बड़ी शायरी के लिए अनिवार्य होते हैं। देखा भी यही जा रहा है कि जो लोग खुद उतने ऊँचे मेयार के नहीं हैं, मगर बाज़ार उनके हाथ में है, वे बडप्पन के हक़दारों को कस्टम इंस्पेक्टरों की तरह बहुत देर तक सामान की छानबीन के बहाने से लाउंज में रोके रखने के आदी हैं। शायर आलोचकों के दम पर बड़ा नहीं बनता, इस बात पर भी बड़ा नहीं बनता कि हर हुमाँ-शुमाँ उन पर लिख रहा है, फ़तवे दे रहा है और उन्हें रिसालों की टोक़रियों में उठाए फिर रहा है। नूरसाहब को ऐसी किसी अदबी सरपरस्तगी की ज़रूरत नहीं है। अगर उन्हें ज़रूरत है तो बहुत ही धीर-गंभीर रसास्वादक की और यही तबक़ा उनको कालजयी शायर तस्लीम कराने में ज़ोरदार भूमिका निभा रहा है। इस बात को मोटे अक्षरों में लिखा जानेवाला है कि नूरसाहब के प्रशंसक और समीक्षक 'आम आदमी' हैं।'<sup>8</sup>

प्रख्यात मुशायरा संचालक एवं शायर मंसूर उस्मानी कहते हैं—'लोग दुनिया को इतिहास की दृष्टि से देखने के आदी हो चुके हैं, वे अपने जैसे इंसानों की तहरीर को खुदा की तहरीर समझ लेते हैं, जबकि दुनिया इतिहास की आँख से देखने की नहीं, जात और कायनात के एक संतुलित चिंतक-विचारक-शायर की आँख से देखने की चीज़ है। इतिहास हर कोई लिख सकता है, हालात और वाक़यात के बिखरे हुए सिरों को वक़्त और युग की डोर से बाँध लेना ही इतिहास कहलाता है, मगर वक़्त के धड़कते हुए दिल से अपने युग की आवाज़ अलग कर लेना, आत्मा की विवेचना के गीत को साँसों के संगीत में पिरो देना हर किसी के बस की बात नहीं। जो लोग इन शूलों को फूल और फूलों को शूल बना लेने और उनसे निभा लेने का हुनर जानते हैं, इतिहास उनके क़दमों की धूल बन जाता है और यह हुनर जाननेवाले कृष्णबिहारी से कृष्णबिहारी 'नूर' बन जाते हैं।' वह आगे लिखते हैं—'नूरसाहब—फ़िराक़ गोरखपुरी भी बन सकते थे और नरेशकुमार 'शाद' भी, लेकिन उसके बाद कृष्णबिहारी को नूर की तलाश रहती और नूर कृष्णबिहारी की खोज में रह जाता।'<sup>9</sup>

नूरसाहब के कृतित्व के संबंध में शायर डा० मसूदुल हसन उस्मानी का मानना है—'बाल से ज़्यादा बारीक और शीशे से ज़्यादा नाजुक अगर कोई चीज़ हो सकती है, तो वो ग़ज़ल है। जनाब कृष्णबिहारी 'नूर' ने ग़ज़ल का पैमाना सम्मान के साथ उठाया, आँखों से लगाया और मुहब्बत और विश्वास के साथ अपने सीने में उड़ेल लिया। नतीजे में ग़ज़ल उनकी शिख़्सीयत

से वाबस्ता हो गयी और 'नूर' और ग़ज़ल को अलग नहीं किया जा सकता। ग़ज़ल उनके होंठों पर मुस्कराती है, उनकी आँखों में चमकती है, उनके चेहरे पर खेलती है। उनकी वज़ादारी ग़ज़ल के लबो-लहजे की पासदारी करती है। 'नूर' ने ग़ज़ल को मुनव्वर किया, ग़ज़ल ने 'नूर' की शख़्सियत को चमका दिया।<sup>10</sup>

नूरसाहब के बारे में शायर इरफ़ान सिद्दीकी अपनी राय इस प्रकार बयान करते हैं—  
'नूर ने पूजा, सिंदूर, चंदन, आवागमन, चुनाव, ओट, खटपट, स्वभाव, साधू, तपस्या, बंधन, फंरा, वर्षगाँठ, जनम-जनम, मंज़रों को सुहागती हुई रात, दुख-सुख, अंत, दिशा, आरंभ, अस्तित्व ऐसे शब्दों और तरकीबों को ग़ज़ल की क्लासिकी शब्दावली से जोड़कर अपने को अपनी पहचान और अपने शेर को मानवीय विस्तार दिया।'<sup>11</sup>

टी०एस० हितकारी अतीत के पन्ने कुछ इस तरह पलटते हैं—'ग़ालिबन 1972 ई. की बात है कि जनाब कृष्णचंद्र हैरत गोंडवी, जो मेरे बुजुर्ग और बहुत नज़दीक के अजीज़ थे, मेरे ग़रीबख़ाने पर तशरीफ़ लाए। जब दौराने-गुफ्तगू जनाब कृष्णबिहारी 'नूर' का जिक्र आया तो फ़रमाया कि भाई नूर ने तो मैदाने-शायरी में एक जस्त (उछाल) मारी है। बेमिसाल शेर कहने लगे हैं। मैंने कहा जी हाँ शेर कहने का बहुत सलीका है, फ़रमाया कि जनाब महज़ सलीके से ही अच्छा शेर नहीं होता, 'नूर' तो शायरी की रूह से शनासा (परिचित) हो गये हैं।'<sup>12</sup>

डा० अमरनाथ जौहरी 'समंदर मेरी तलाश में है' में प्रकाशित 'आमुख' में कहते हैं—  
'कवि भी एक नागरिक होता है और अच्छा नागरिक होता है। 'नूर' ने भी देश की समस्याओं पर चिंतन किया है, किंतु वह किसी 'वाद' में विश्वास नहीं करते। उर्दू के अनेक आधुनिक शायर मार्क्स के साम्यवाद से प्रभावित हुए हैं। फ़िराक, फ़ैज़, साहिर, कैफ़ी आजमी आदि में कमोबेश यह प्रभाव मिलता है। 'नूर' कोरे आदर्शवादी भी नहीं हैं, वे यथार्थ से जुड़े हुए हैं। उनकी कुछ नज़में देश के वास्तविक यथार्थ का आईना प्रस्तुत करती हैं, किंतु उन्होंने हर नज़्म में मानवीय मूल्यों को सशक्त वाणी दी है— 'हे हंसवाहिनी मुझे वरदान चाहिए', 'कह दो मंदिर में चले आयेँ पुजारी सारे', 'तीन आवाज़ें', 'आफ़ताब', 'मिसअले-राहे-सुखन', 'मुखड़ा क्या देखे दरपन में', 'हमारा धर्म', 'ज़िंदगी शहर की', 'गाँव में क्या है' इन नज़्मों में हमारे दिलों की, हमारे महापुरुषों की, भारतमाता की, हमारी मिली-जुली संस्कृति की, हमारी धरती की आवाज़ मुखरित हुई है। यह आवाज़ हिंदुस्तान की आवाज़ है, जिसमें उर्दू-हिंदी का अद्भुत मिलन भी है। यह समस्त धर्मों और विश्वासों की मानवता के नाम पर एक होने की आवाज़ है।'<sup>13</sup>

नूरसाहब का अध्यात्म व्यक्ति को उस परमसत्ता से मिलाने से भले ही चूक जाए, लेकिन वह व्यक्ति के अंदर बैठी असलियत से ज़रूर मिलवा देने में सफल है। यही क्या कम है कि व्यक्ति को अपने अंदर स्थापित आईने में देख लेने की सलाहियत मिल जाती है। आज के ज़माने में मुश्किल यही है कि हर कोई अपने अंदर झाँकने से डरता है, कतराता है। नूरसाहब के शेरों में क्रदम-क्रदम पर भारतीय संस्कृति और भारतीय परिवेश की खुशबुएँ चलहक्रदमी करती मिलती हैं। उनके चंद शेरों पर नज़र डालते हैं। रोशनी का चित्र बना पाना कोई आसान काम है? लेकिन ईश्वरीय सत्ता के लिए कुछ भी असंभव नहीं। नूरसाहब कहते हैं—

रोशनी सचित्र हो गई  
'नूर' का चरित्र हो गई

जिसमें तेरा जिक्र आ गया  
 वो गज़ल पवित्र हो गई  
 जिंदगी गुज़ार लाए 'नूर'  
 इक कथा सचित्र हो गई।<sup>14</sup>

कबीर ने अपनी देह की चादर ऐसे जतन से ओढ़ी कि उसे ज्यों का त्यों छोड़ना उनके यश की धरोहर बना। नूरसाहब ने ऐसे ही ख़याल को एक नये नज़रिये से देखा और पहचाना है। उन्हें इस चादर को ज्यों का त्यों न रख पाने की चिंता है।

अपनी-अपनी खुदारी की बोसीदा-सी चादर ताने  
 चलते रहेंगे यूँ ही हम तुम, कब तक आख़िर, आख़िर कब तक  
 'नूर' ये दीवानापन छोड़ो, आओ उठो अब घर से निकलो  
 खोये-खोये गुमसुम-गुमसुम कब तक आख़िर, आख़िर कब तक।<sup>15</sup>

आवागमन के चक्कर में अगर पड़ना ही पड़े तो नूरसाहब की यही तमन्ना है कि—  
 हो वापसी अगर तो उन्हीं रास्तों से हो  
 जिन रास्तों से प्यार तेरा ले गया मुझे।<sup>16</sup>

एक प्रश्न व्यक्ति को कुरेदता रहता है कि 'तू कौन है'। नूरसाहब भी ऐसा ही सोच रहे हैं—

अब तो बस उस मुक़ाम की है जुस्तजू मुझे  
 मेरे वजूद की जो तहें खोलने लगे।<sup>17</sup>

नूरसाहब के यहाँ भारतीय और इस्लामी जीवन-दर्शन पद्धतियों पर आधारित विचारों को बड़ी ख़ूबसूरती से ग़ज़लों में पिरोया गया है।

अपना पता न अपनी ख़बर छोड़ जाऊँगा  
 बे-सिम्तियों की गर्द-सफ़र छोड़ जाऊँगा  
 तुझसे अगर बिछुड़ भी गया मैं तो याद रख  
 चेहरे पे तेरे अपनी नज़र छोड़ जाऊँगा  
 उस पार जा सकेंगी तो यादें ही जाएँगी  
 जो कुछ इधर मिला है, इधर छोड़ जाऊँगा।<sup>18</sup>

टाइम और स्पेस की ऐसी शायराना बंदिश दार्शनिक नूरसाहब के यहाँ ही संभव है। चारों दिशाओं और आठों पहर का बहुत सटीक विवरण इस ग़ज़ल में मौजूद है। और ग़ज़ल का केंद्रीय ख़याल है व्यक्ति का इस संसार से विदा हो जाना।

नूर साहब की प्रत्येक ग़ज़ल फ़िक्रमंदी चाहती है। उनके शेर दर्शन की नीवों पर बने ख़ूबसूरत महल हैं। जिंदगी के दुख-दर्द की अमावस्या में नूरसाहब के विचार दीवाली के दीपकों जैसे झिलमिलाते हैं। जहाँ बुद्धि के देवता का गणेशत्व और कलात्मक चिंतन की महालक्ष्मी श्रद्धा के साथ विराजमान रहती है और व्यक्ति की चेतना उनका नमन करने में जीवन की सार्थकता महसूस करती है।

प्रकृति की शक्तियों का प्रयोग करना आदमी की मजबूरी है। सूरज, चाँद, हवा, पानी और आग के बिना आदमी कुछ नहीं कर सकता। और, सबके ऊपर है एक अनंत आकाश, जिसमें



सारे ग्रह-उपग्रह स्थित हैं। सारा नियंत्रण वहीं से होता है। नूरसाहब ने इसी तरफ़ इशारा किया है—  
हवा महल के लिए हैं न झोपड़ी के लिए  
सबा हमारे लिए है न आप ही के लिए  
बहार आती नहीं एक आदमी के लिए  
घटा ठहर के बरसती नहीं किसी के लिए।<sup>19</sup>

ज़िंदगी के इस फ़लसफ़े में शायरी किस ख़ामोशी से अपनी जगह बना लेती है, यह शायद नूरसाहब को ज़्यादा अच्छी तरह मालूम है—

बहार देवी है अपनी तो देवता बादल  
हमारी आँख के आँसू ही हमको गंगाजल।<sup>20</sup>

संसार को खुशनुमा बनाने के लिए जितना श्रम प्रकृति ने किया है, उतना ही श्रम आदमी ने किया है और उसके द्वारा किए गए निर्माण भी बेहद नयनाभिराम हैं। नूरसाहब के यहाँ प्रकृति और मानव सृजन एक ही सिक्के के दो पहलू बनकर सामने आते हैं।

नूरसाहब के यहाँ दुनिया की नापायेदारी के दुखों के साथ-साथ बहुत कुछ ऐसा है, जो दिलकश है, आकर्षक है और इस जीवन को जीने योग्य बनाने में अपना भरपूर योगदान देने की सामर्थ्य से लबरेज़ है। वे इस दुनिया को नकारते नहीं हैं, इसकी कटु आलोचना नहीं करते, उन्होंने कभी इसकी उपेक्षा नहीं की है। उनकी सम्यक् दृष्टि से 'नज़ारों' की दिलकशी अगर उभरकर सामने आई है तो इशारा इस तरफ़ भी है कि इसमें ज़्यादा तत्त्व नहीं है। यह चेतावनी दुनिया को ज़्यादा प्यार से देखने और इसे सजाने-सँवारने के लिए, प्रेरणा देने के लिए काफ़ी है।

मेरी आवाज़ तुझे छू ले बस इतनी मोहलत  
तेरे कूचे से गुज़र जाऊँगा साधू की तरह।<sup>21</sup>

साधू की तरह गुज़र जाना कोई मामूली आदमी का किरदार नहीं है। यह तमन्ना सिर्फ़ नूरसाहब के व्यक्तित्व और सृजन में साफ़-साफ़ देखी जा सकती है।

शायरी तेरी इबादत के सिवा कुछ भी नहीं  
कर रहा हूँ मैं तपस्या किसी साधू की तरह  
कोई ईश्वर कहे उसको कि खुदा कोई कहे  
वो मुसलमाँ की तरह है न वो हिंदू की तरह।<sup>22</sup>

दर्शन नूरसाहब के यहाँ इतनी सादगी से उतरता है कि इस सफलता पर हैरत होती है। जीवन-दर्शन एक बहुत जटिल और पेचीदा वास्तविकता है, जिसे हवा की तरह महसूस तो किया जा सकता है, पर देखना और छू पाना संभव नहीं। वे इस दार्शनिक जटिलता को साकार रूप देने की कोशिश में लगे रहते हैं।

कुछ नहीं मिल पाएगा सजदा बग़ैर  
वो कहाँ होता है खुश पूजा बग़ैर  
किस क़दर आसान है, मुश्किल भी है  
ज़िंदगी जीना किसी इच्छा बग़ैर  
उसको ढूँढा है पता जिसका न था  
इक ख़ज़ाना मिल गया नक्शा बग़ैर

जब तुम्हारे ध्यान में होता हूँ गुम  
रहता हूँ दुनिया में और दुनिया बग़ैर  
एक ऐसी रोशनी की है तलाश  
जिस्म हो जाए जहाँ साया बग़ैर  
जैसे अंतिम पृष्ठ नाविल में न हो  
राम का अस्तित्व क्या सीता बग़ैर<sup>23</sup>

कविता में इस तरह का चिंतन उस सफलता की निशानी है, जो रचनाकार विश्वस्तरीय सोच का क्रायल होता है, उसका काम मशाल से नहीं, चाँद और सूरज की रोशनी से चलता है।

वेदांत और उपनिषदों में बार-बार दुहराई गई बात को अपनी भाषा में व्यक्त करना लफ़्ज़ का ऐसा जादू है, जिसे सिद्धहस्त जादूगर ही प्रस्तुत कर सकता है। इस तरह की शायराना जुस्तजू में नूरसाहब ने भारतीय दर्शन द्वारा उपलब्ध कराए गए ज्ञान का भरपूर इस्तेमाल किया है जिसमें हिंदू और इस्लामी फ़लसफ़ा दूध और शक्कर की तरह एक रस है। ये विचारधाराएँ खून-ख़राबे के लिए आजकल ज़्यादा प्रयोग में लाई जा रही हैं, लेकिन नूरसाहब के यहाँ ये विचारधाराएँ ऐसी किश्तियाँ हैं, जिन पर बैठकर हम चिंतन के उस लोक में पहुँच जाते हैं, जिन्हें दुनियावी सवारी पहुँचाने में नाकाम है—

आवागमन की क़ैद से क्या छूटता कभी  
वो तेरा प्यार था जो छुड़ा ले गया मुझे  
धरती का ये सफ़र मेरा जिस दिन हुआ तमाम  
झोंका हवा का आया उड़ा ले गया मुझे<sup>24</sup>

आवागमन की क़ैद से छूटने का उपाय ही भारतीय दर्शन में चिंतन का केंद्रबिंदु है। यह ग़म मीरा का है, गोस्वामी तुलसीदास का है, हर एक संत, फ़क़ीर-औलिया का है। यह ग़म बंधन में डालनेवाला नहीं, मुक्ति दिलाने वाला है।

बस उसकी माँग में सिंदूर भर के लौट आए  
हमारा अगले जनम का चुनाव ऐसा था  
फिर उसके बाद झुके तो झुके खुदा की तरफ़  
तुम्हारी सिम्त हमारा झुकाव ऐसा था<sup>25</sup>

मानो हमने ज़िदगी सँवारी और मुक्ति भी प्राप्त कर ली। आज्ञादी की कितनी सार्थक व्याख्या नूरसाहब ने दी है। वे यह स्वीकार करने में संकोच नहीं करते कि उसने यह दुनिया ही ऐसी बनाई है। इसका 'प्रलोभन' रोकना नामुमकिन है, कम से कम सामान्य व्यक्ति के लिए।

फ़रेब दे ही गया 'नूर' उस नज़र का खुलूस  
फ़रेब खा ही गया मैं स्वभाव ऐसा था<sup>26</sup>

इसमें 'स्वभाव' शब्द बहुत ही गंभीर है। इसकी व्याख्या बहुत स्थान माँगती है। नूरसाहब ने प्यार, मुहब्बत, इश्क़ और हुस्न के मंज़र पिरोए हैं, जिनसे उनकी शायरी का चमन रंगारंग है। आग है, पानी है, मिट्टी है, हवा है मुझमें और फिर मानना पड़ता है खुदा है मुझमें

आईना ये तो बताता है मैं क्या हूँ लेकिन  
 आईना इसपे है ख़ामोश कि क्या है मुझमें  
 टोक देता है क़दम जब भी ग़लत उठता है  
 ऐसा लगता है कोई मुझसे बड़ा है मुझमें<sup>27</sup>

यह ज्ञान-विज्ञान से भरी हुई बहुत कठिन और बेहद पेचीदा बातें नूरसाहब ने कितनी आसान भाषा में कह दी हैं कि इशारे में बात समझी जा सकती है। 'नूर' में शायद कहीं 'कबीर' भी मौजूद है, जिसको कठिन से कठिन बात बहुत सरल भाषा में कह देने का फ़न आता था। और, सच्ची बात तो यही है कि दुनिया की बातों का ज़िक्र, जिसने यह दुनिया बनाई है, उसी की माफ़त यदि किया जाए तो उसमें असाधारण लुत्फ़ मिलता है और शेरियत की बुलंदी विचारों की इन्हीं ऊँची चोटियों पर पहुँचकर नज़र आती है।

### निष्कर्ष

वर्तमान हिंदी-ग़ज़ल ने अपनी तीन-चार दशक की संक्षिप्त यात्रा के अंतर्गत ही विकास के कई सोपान प्राप्त किए हैं और वह अपने स्वरूप-निर्धारण की प्रक्रिया में है। मौलिकता के स्तर पर हिंदी-ग़ज़ल उर्दू ग़ज़ल से भिन्न स्थिति में है। उर्दू-ग़ज़ल के वर्ण्य-विषय में जहाँ प्रेम और सौंदर्य को प्रमुखता दी गयी है, वहीं हिंदी-ग़ज़ल का वर्ण्य-विषय सामाजिक चेतना है। प्रेमपरक विषयवस्तु को भी स्थान दिया गया है, लेकिन उतना नहीं, जितना जनवाद को। हिंदी-ग़ज़ल मानवीय संवेदनाओं से सीधी जुड़ती है। यह जनसाधारण की भाषा में लिखी जा रही है, इसलिए हर व्यक्ति तक पूर्ण रूप से इसकी पहुँच हो जाती है। वर्तमान हिंदी-ग़ज़ल ने चूँकि उर्दू-फ़ारसी का सफ़र तय करते हुए हिंदी साहित्य में प्रवेश किया है, इसलिए जनसाधारण की बोलचाल में प्रयुक्त होने वाले उर्दू-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग इसमें मिलता है, यानी हिंदी-ग़ज़ल की भाषा हिंदुस्तानी है, जिसमें सभी भाषाओं और क्षेत्रीय बोलियों के आम बोलचाल के शब्दों को स्थान दिया गया है।

जहाँ तक नूरसाहब की विचारधारा का प्रश्न है, तो वह हिंदी-ग़ज़ल की चिंतनधारा से संतुष्ट थे। हिंदी और उर्दू ग़ज़ल में अंतर के सवाल पर उन्होंने दैनिक राष्ट्रीय सहारा को दिये गए साक्षात्कार में कहा था कि उर्दू और हिंदी-ग़ज़ल में मूल फ़र्क़ परंपरा का है। उर्दू में ग़ज़ल कहनेवाला मीर, ग़ालिब, मोमिन, सौदा आदि को पढ़कर आता है, इसलिए वह उस राह से विचलित नहीं हो पाता, जो उन बुजुर्ग़ शायरों ने अपने पदचिह्नों से बनाई है। हिंदी ने ग़ज़ल का फ़ार्म उर्दू से लिया है, पर हिंदी का ग़ज़लकार उन पदचिह्नों से वाक़िफ़ नहीं है। उसके पास कोई लंबी व समृद्ध परंपरा नहीं है। यही वजह है कि वह जो कुछ सोचता-लिखता है, उसमें बेहद ताज़गी है, एक नयापन है। उसमें मन को छू लेनेवाला प्रभाव है। हिंदी-ग़ज़ल को पढ़ते-सुनते हुए लगता है जैसे हम बंद कमरे से निकलकर खुली हवा में साँस लेने लगे हैं। हिंदी-ग़ज़ल में कमी होने के बावजूद वह उसके भविष्य से मायूस नहीं थे। हिंदी में ग़ज़ल ने अभी घुटनों-घुटनों चलना शुरू किया है। अभी तो उसे लंबा सफ़र तय करना है। उसका वर्तमान एक अच्छे भविष्य का संकेत है।

नूरसाहब को यशस्वी बनाने में उनके उत्कृष्ट विचारों का योगदान तो रहा ही, लेकिन उनकी भाषा ने भी उनकी प्रतिष्ठा में चार चाँद लगाए। नूरसाहब अपने शेरों में हिंदुस्तानी भाषा

का प्रयोग करते थे, जिसमें संस्कृत, हिंदी, उर्दू, अँग्रेजी और क्षेत्रीय उपभाषाओं के ऐसे बहुत से शब्द चहलकदमी करते हुए पाए जाते हैं, जो आम आदमी की जुबान पर तैरते रहते हैं। तपस्या, साधू, दुख-सुख, जन्म-जन्म, पूजा, सिंदूर, चंदन, चुनाव, आवागमन, ध्यान, धन, आयतन, नमन, हवन, आवश्यक, खटपट, स्वभाव, बंधन, आरंभ, मार्गदर्शक, संध्या, रूप, स्वयं, नयन, अवतार, साधना, अस्तित्व, दिशा आदि— ऐसे शब्द, जो ग़ज़ल की परिधि से सदैव बाहर रहे, नूरसाहब ने उन्हें सम्मान सहित अपने शेरों में स्थान दिया।

### संदर्भ

1. जहीर कुरैशी, हिंदी-ग़ज़ल : ग़ज़लकारों की नज़र में (संपा. सरदार मुजावर), पृ० 41
2. शिवओम अंबर, साहित्य भारती (नागरी ग़ज़ल विशेषांक), पृ० 44
3. गोपालदास नीरज, हिंदी-ग़ज़ल ग़ज़लकारों की नज़र में, सं० सरदार मुजावर, पृ० 26
4. योगेश प्रवीन, उपनिधि (सं० शारदानंदन), पृ० 5-6
5. कन्हैयालाल नंदन, आज के प्रसिद्ध शायर कृष्णबिहारी 'नूर', पृ० 12
6. केशरीनाथ त्रिपाठी, पूर्वोक्त, पृ० 8
7. शंभुनाथ, पूर्वोक्त, पृ० 8
8. मधुर नज़्मी, दैनिक राष्ट्रीय सहारा लखनऊ, 26 जुलाई 2000.
9. मंसूर उस्मानी, वर्तमान सच्चाई (सं० राजेंद्र सिंघल), पृ० 39-40
10. डॉ० मसूदुल हसन उस्मानी, उपनिधि (सं० शारदानंदन), पृ० 14
11. इरफ़ान सिद्दीकी, कृष्णबिहारी 'नूर' स्मृति समारोह 8 नवंबर 2003 की पत्रिका, पृ० 7
12. टी०एस० हितकारी, तपस्या, पृ० 129
13. डॉ० अमरनाथ जौहरी, समंदर मेरी तलाश में है (आमुख), पृ० 155
14. कृष्णबिहारी 'नूर', रसरंग पत्रिका (गणतंत्र दिवस विशेषांक-2001), पृ० 92
15. कृष्णबिहारी 'नूर', समंदर मेरी तलाश में है, पृ० 17-18
16. वही, पृ० 21
17. वही, पृ० 24
18. वही, पृ० 25-26
19. वही, पृ० 101
20. वही, पृ० 103
21. कृष्णबिहारी 'नूर', आज के प्रसिद्ध शायर कृष्णबिहारी 'नूर' (सं० कन्हैयालाल नंदन), पृ० 62
22. वही, पृ० 62-63
23. वही, पृ० 72-73
24. कृष्णबिहारी 'नूर', तपस्या, पृ० 34
25. वही, पृ० 31-32
26. वही, 32
27. कृष्णबिहारी 'नूर', आज के प्रसिद्ध शायर कृष्णबिहारी 'नूर' (सं० कन्हैयालाल नंदन), पृ० 85-86

□ सी-130, हिमगिरि कॉलोनी  
काठ रोड, मुरादाबाद (उ०प्र०)  
मो० 099273 76877

## भारतीय सामंतवाद का उद्भव एवं विकास

डा० आसिफ़ उमर

हिंदी विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया,  
नई दिल्ली

जब हम भारतीय सामंतवाद पर विचार करते हैं तो कई तथ्य सामने आते हैं। विभिन्न विद्वानों ने इसको अलग-अलग ढंग से परिभाषित किया है। सामंतवाद आरंभ से लेकर आज तक अपने कई चरणों से होकर गुज़रा है। 'सामंतवाद की ठीक-ठीक परिभाषा कर पाना बहुत कठिन है। जिस प्रकार जितने समाजवादी हैं, समाजवाद की उतनी ही परिभाषाएँ मिलती हैं, उसी प्रकार सामंतवाद पर शोध करनेवाले जितने विद्वान हैं, उतनी ही तरह की इसकी व्याख्याएँ की गई हैं। इस शब्द का प्रयोग ऐतिहासिक विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के संदर्भ में किया जाता है, और ये अवस्थाएँ देशकाल की दृष्टि से एक-दूसरे से काफ़ी दूर पड़ती हैं।' अर्थात् सामंतवाद अपने अलग-अलग चरणों से जाना जाता है। जहाँ यूरोप में सामंतवाद अपने आर्थिक और सामाजिक संदर्भ के लिए जाना जाता है, वहीं भारत में इसका दूसरा रूप है हालाँकि सामंतवाद का आरंभ तो विश्वस्तर पर बहुत पहले हो चुका था, किंतु हमें भारतीय सामंतवाद पर अध्ययन करना समीचीन प्रतीत होता है। विभिन्न विद्वानों के अनुसार प्राचीन भारत में सामंतवाद के उदय-संबंधी विचारधारा पर प्रकाश डालनेवाले पहले लेखक रामशरण शर्मा हैं, जिन्होंने गुप्तोत्तरकालीन सामाजिक, आर्थिक संरचना को स्पष्ट करने के संदर्भ में सामंतवाद शब्द का प्रयोग किया है। अधिकतर तथ्यों के अनुसार कृषिजन्य अर्थव्यवस्था में ही मुख्यतः सामंतवाद का उदय होता है। कृषिजन्य अर्थव्यवस्था के अंतर्गत सामंतवाद धीरे धीरे समाज के प्रत्येक बिंदु को प्रभावित करने लगा। समाज में मुख्यतः दो वर्ग थे पहला उच्चवर्ग और दूसरा निम्नवर्ग। उच्च वर्ग सामंती कहलाता था, जो अपनी शक्ति के बल पर निम्नवर्ग को सामंती व्यवस्था के अधीन किए रहता था। समाज में निम्नवर्ग के लोग गुप्तवंश से लेकर आजतक इसकी चपेट में हैं।

अधिकतर विद्वानों के अनुसार ऐतिहासिक दृष्टि से भारत में सामंतवाद गुप्तकाल से ही जाना जाता है। महाभारत के 'अनुशासनपर्व' में इसकी महिमा का गुणगान पूरे एक अध्याय भूमि-दान-प्रशंसा में किया गया है।<sup>11</sup> सामंतवादी गतिविधियों का उल्लेख प्राचीन समय से ही भूमि और इसके आवंटन के संबंध में हुआ है। उपर्युक्त विषय के संबंध में प्राचीन समय से ही विभिन्न मत हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से विद्वानों के अनुसार पहला प्रमाण दूसरी शताब्दी में बौद्ध भिक्षुओं को दान किए गए गाँवों के सिलसिले में मिलता है।

समाज में दो ही वर्ग थे। एक उच्चवर्ग दूसरा निम्नवर्ग। सामंती-प्रथा का विकास धीरे-धीरे हो रहा था। सामंती गतिविधियाँ समाज में बहुत तेज़ी से आगे बढ़ रही थीं, जिससे सामाजिक बिखराव जैसी स्थिति हमारे समाज में उत्पन्न होने लगी। 'गुप्तकाल में मध्य भारत के बड़े-बड़े सामंत राजाओं द्वारा ब्राह्मण को दानस्वरूप बसे-बसाए गाँव देने जैसे कम से कम आधे दर्जन उदाहरण मिलते हैं।' अर्थात् दान देने की प्रथा गुप्तकाल से चली आ रही है। उच्चवर्ग के लोग निम्नवर्ग के लोगों को अपने अधीन किए हुए थे। उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है कि धार्मिक क्षेत्र में सामंत अपनी इसी प्रथा से पैठ बनाए हुए थे। सामंतवाद के कई रूप हैं। ये अपनी कई अवस्थाओं में समाज का एक ऐसा भाग था, जो निरंतर विकासशील समाज को पीछे ले जा रहा था। सामंतवाद का दूसरा मुख्य रूप जिसे हम जमींदारी-प्रथा के नाम से जानते हैं, इस पर भी विचार करना समीचीन प्रतीत होता है। 'सामान्य रूप से यह शब्द उन लोगों के लिए प्रयुक्त होता था, जो निम्नलिखित शर्तों में से कोई शर्त पूरी करते थे—

1. जिनके पास वंश-परंपरा से प्राप्त ज़मीन होती थी,
2. जो राजा या बादशाह द्वारा जमींदार नियुक्त होते थे, जिनका जमीन पर पुश्तैनी हक़ नहीं होता था,
3. जमींदार जो विस्तृत मूल्यांकन के बाद 'मालवाजिब' (भू-राजस्व) अदा करते थे,
4. ताल्लुकदार,
5. आसामी मुखिया, अर्थात् सरदार या राजा।

भारतीय इतिहासकार 'जमींदारी' (जमींदार के अधिकार) शब्द की कोई निश्चित परिभाषा नहीं देते। अलग-अलग क्षेत्रों में 'जमींदार' के लिए जो पर्याय चलते थे, उनमें से कुछ हैं, खाती मुकदमी, बिसवी, मोमी आदि। इसे अरबी शब्द 'मिल्कियत' (मालिकाना) के समानार्थी के रूप में प्रयुक्त किया जाता था। इरफ़ान हबीब के अनुसार 'जमींदारी' से तात्पर्य उस अधिकार से था जो ग्रामीण वर्ग में तो निहित था पर यह वर्ग कृषकवर्ग से अलग और ऊपर होता था।' उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है कि जमींदारी-प्रथा क्या थी और इसको किस प्रकार से परिभाषित किया गया।

सामंतों की भी अपनी धारणाएँ और नियम होते थे। भूमि-आवंटन-संबंधी उसकी अपनी एक योजना थी। प्रो० रामशरण कहते हैं कि 'पुरोहितों को भूमिदान देने की प्रथा का प्रारंभ प्रायः मौर्यकाल और मौर्यकाल में ही देखा जा सकता है।' अर्थात् प्राचीन समय से ही सामंतों का अपना वर्चस्व था। विभिन्न विद्वानों के मतानुसार यह कहा जा सकता है कि यूरोपीय सामंतवाद की ही देन भारतीय सामंतवाद है। कुछ स्तरों पर इसके स्वरूप में परिवर्तन दिखाई पड़ता है। भारतीय सामंतवाद का भी एक लंबा ऐतिहासिक महत्त्व है। मूल रूप से भारतीय सामंतवाद का आरंभ गुप्तकाल से माना जाता है।

विभिन्न श्रोतों के माध्यम से ज्ञात होता है कि सामंतवादी गतिविधियाँ बहुत पहले से समाज में विद्यमान थीं। इसका इतिहास बहुत पुराना है। सामंतवादी व्यवस्था में एक ओर भू-स्वामियों का एक वर्ग होता है, तो दूसरी ओर दासवत् कृषकों का वर्ग। आगे यह कहा जा सकता है कि इस व्यवस्था के अंतर्गत भू-स्वामी वर्ग सामाजिक, धार्मिक या राजनीतिक तरीकों से कृषि अधिशेष का दोहन करते थे। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि यह अर्थव्यवस्था का इतर

या भिन्न रूप था। तत्कालीन व्यवस्था में भू-स्वामी (जमींदार) अपने इसी नियम से आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करते थे, जो कि समाज के लिए हानिकारक था।

कुछ विद्वान आदिष्ट संपत्ति एवं विभाजित प्रभुसत्ता मानते हैं। सामंती व्यवस्था के अधीन शासक कृषकों को भूमि देता था, कुछ स्थानों पर कृषकों की भूमि के पश्चात् भी उससे कर या लगान वसूल किए जाते थे। मूल रूप से इसी को हम सामंतवाद कहते हैं। किसानों को अपने जमींदार के आदेशानुसार लगान देना पड़ता था, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति पर प्रभाव पड़ता था। उपर्युक्त व्यवस्था के अंतर्गत शासकवर्ग कभी यह विचार नहीं करता था कि किसानवर्ग (निम्नवर्ग) की हानि होगी या लाभ होगा, वह अपने राज्य के हित के लिए वह नियमानुसार लगान वसूल करता था।

प्रायः यही देखने को मिलता है कि निम्नवर्ग ही इस व्यवस्था के अधीन था। दरअसल यह स्थिति वर्गयुक्त समाज से उत्पन्न होती है। समाज कई वर्गों में बँट चुका था। इसी संबंध में रामविलास शर्मा कहते हैं कि 'वर्गयुक्त समाज का जन्म वर्गहीन समाज से जुड़ा हुआ है।' अर्थात् तत्कालीन परिवेश में लोग वर्गहीन थे, जिससे यह स्थिति उत्पन्न हुई। 'वहीं दूसरी तरफ़ मार्क्स और एंजेल्स ने कम्युनिस्ट घोषणापत्र में कहा था, 'अब तक के समाज का इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास है। जिस समय उन्होंने यह बात कही थी उस समय पुराने वर्गहीन समाजों के बारे में बहुत कम सामग्री सुलभ थी। जब यह सामग्री सुलभ होने लगी, तब उन्होंने बहुत ध्यान दिया। 1859 में मार्क्स ने अर्थशास्त्र की आलोचना के योगदान में कहा था कि इस तरह के वर्गहीन समाज एशिया से लेकर आयरलैंड तक फैले हुए थे।' उपर्युक्त कथन के आधार पर कहा जा सकता है कि वर्गहीन समाज से ही सामंती गतिविधियाँ अपने प्रभावी रूप में विकसित हुईं।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो भारतीय सामंतवाद मध्यकाल में अपने चरम पर था। सामंतों के अपने कई रूप थे। जहाँ ये अपने आरंभिक समय में भूमि के एकाधिकार वाले रूप में था, वहीं 'भारतीय सामंतवाद की एक दूसरी विशिष्टता थी, भूमि का सामूहिक स्वामित्व, यह सामूहिक स्वामित्व प्राचीनकाल से ही चला आ रहा था और यह सामंतवाद के साथ भी जारी रहा, यद्यपि औपचारिक रूप में ही, किंतु समान स्वामित्व के साथ-साथ निजी स्वामित्व भी जारी था, क्योंकि समय-समय पर समान स्वामित्ववाली ज़मीन भी अलग-अलग सामूहिक परिवारों को खेती के लिए दे दी जाती थी।' ये सामंतवाद का आरंभिक रूप था। इस उपर्युक्त मत से स्पष्ट होता है कि सामंतों ने किस प्रकार निम्नवर्गीय समाज को अपने अधीन करने का प्रयास किया। उनकी रणनीति धीरे-धीरे पूरे समाज को अपने अधीन करने की थी। हालाँकि तत्कालीन परिवेश में लोग अपना जीवन सही रूप में व्यतीत करना चाहते थे, किंतु आर्थिक स्थिति दयनीय होने की वजह से लोगों में वह जागरूकता नहीं आ पाई थी। 'कभी-कभी नए निवासी आते और ग्राम समुदाय की इजाजत से बंजर ज़मीनों या वनों में डेरा जमा लेते और अपने परिश्रम से उन्हें कृषि के योग्य बना लेते। इससे भी नए आर्थिक तथा सामाजिक परिवर्तन हुए। भूमि पहले अलग-अलग व्यक्तियों को यद्यपि उनके जीवनकाल तक के लिए ही दी जाती थी, किंतु कालांतर में यह स्थिति बदल गई। विरासत के रूप में भूमि प्राप्त करना एक आम बात बन गयी, परिवार के मुखिया की मृत्यु होने पर उसकी संपत्ति उसके उत्तराधिकारियों में

बाँटने की प्रथा एक सामान्य बात बन गई थी।' सामंतों की भूमि से जुड़ी पहली धारणा यह थी कि केवल जीवनकाल तक के लिए ही भूमि दी जाएगी, किंतु बाद में यह धारणा बदली और तत्पश्चात विरासत में भी भूमि दी जाने लगी। ये सारे परिवर्तन आकस्मिक ही नहीं, बल्कि समाज के बदलते हुए रूप को देखते हुए किए गए।

सामंतवाद के ऐतिहासिक पक्ष के आधार पर कहा जा सकता है कि यह आरम्भ से और अब तक अपने कई चरणों को पार कर चुका है। उनके स्थान पर, वहीं की परिस्थिति के अनुसार सामंतवाद के कई रूप दिखाई पड़ते हैं। गुप्तकाल, 7वीं, 8वीं शताब्दी फिर मध्यकाल प्रत्येक स्तर पर इसकी कई अवस्थाएँ थीं। कुछ स्थानों पर यह आर्थिक तो कहीं अपने राज्य की उन्नति के लिए जाना जाता था। वास्तव में गुप्तकाल से ही सामंती व्यवस्था प्रकाश में आई। गुप्तोत्तर काल में सामंती प्रक्रिया अपने विकास पर थी। तत्कालीन समाज में सामंती आदेश और उसके पालन के कई उदाहरण मिलते हैं। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि सामंती तत्त्व समाज पर किस प्रकार हावी थे और समाज इसको किस रूप में स्वीकार कर रहा था।

'गुप्त साम्राज्य के केंद्रीय हिस्सों में अर्थात् आधुनिक बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश में किसी भी सामंत सरदार सम्राट की अनुमति के बिना भूमिदान अथवा ग्राम-दान करने का कोई उदाहरण नहीं मिलता।' इससे स्पष्ट होता है कि सामंत अधिकारों का निर्वाह किस प्रकार करता था। उस व्यवस्था में जितने भी वर्ग थे, उनमें अनुशासन की भावना बहुत थी। सामंती समाज में कठिन परिस्थितियों के बीच किसानवर्ग अपना जीवन-यापन कर रहे थे। विभिन्न विद्वानों के अनुसार सामंती समाज के मूल चरित्र में तत्कालीन ग्रामों को ही आधार बनाया जा सकता है। अर्थात् उन ग्रामों में कितने समुदाय और समूह थे। कहने का तात्पर्य यह है कि सामंती समाज को समझने के लिए तत्कालीन ग्राम-परिवेश ही इसको परिभाषित करते हैं।

'सामंती ग्रामसमुदाय में मुख्यतः चार सामाजिक समूह थे। पहला समूह था शोषण करनेवाला उच्चवर्ग का, जिसमें सरकारी अधिकारी, पुरोहित और ग्राम-शासक शामिल थे। इनके पास सबसे अच्छी ज़मीन होती थी। दूसरा समूह स्वतंत्र किसान समुदायों या संयुक्त परिवारों का था। इनके पास भी जमीन होती थी। इनके नीचे, ज़मीन के असली जोतने-बोने वालों का समूह था। सबसे नीचे बड़इयों और लुहारों जैसे कारीगरों तथा अन्य श्रमिकों का समूह था। अंतिम दोनों सामाजिक समूह सर्वाधिक शोषित थे।' उपर्युक्त मत सामंती समाज की रूपरेखा को परिभाषित करते हैं। सामंती समाज के चार समूह थे। चारों समूह एक दूसरे जुड़े हुए थे।

उपर्युक्त मतों के आधार पर कहा जा सकता है कि समाज अनेक भागों में विभक्त था, किंतु सामंती विचार-पद्धति एक थी। विभिन्न श्रोताओं के अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि सामंतीयुग में सबसे शोषित किसानवर्ग था। तत्कालीन व्यवस्था के अधीन किसान प्रत्येक क्षण जटिल समस्याओं से ही जूझता रहता था। इसका सबसे बड़ा कारण अश्रित होना ही था। इसी संदर्भ में डॉ॰ रामविलास शर्मा कहते हैं कि 'सामंतवाद के अनेक रूप होते हैं। इन सबका सामान्य तत्त्व है, अवकाश-भोगी भूस्वामियों द्वारा किसानों की अतिरिक्त उपज का अपहरण। उच्चवर्ग का आदमी हल की मुठिया नहीं पकड़ता। 'नोबल मैन', 'जेंटिल मैन' वह है, जो श्रम नहीं करता। ब्राह्मण खेती न करेगा, क्षत्रिय खेती न करेगा, तो खाने-पहनने को



कहाँ से आएगा, विद्या अध्ययन के लिए समय कैसे मिलेगा, विलास-वैभव का समान कैसे सुलभ होगा? उच्चवर्गों के लिए खाने-पीने के साधन या विलास-वैभव के साधन किसान जुटाते हैं और ये साधन उनकी अतिरिक्त उपज प्राप्त करके सुलभ होते हैं।' उपर्युक्त मत के आधार पर कहा जा सकता है कि उच्चवर्ग की सोच क्या थी अर्थात् सामंती समाज कैसा था, विचार-पद्धति कैसी थी। केवल सामंती तत्त्व समाज पर शासन करना चाहते थे। इसके पीछे समाज क्यों न परेशान हो।

धीरे-धीरे सामंती तत्त्व विद्यमान होते गए और मध्यकाल आते-आते ये अपनी चरम सीमा पर पहुँच गए। समाज इनसे बुरी तरह ग्रसित था। निम्नवर्ग का जिस तरह शोषण हो रहा था, उससे निरंतर समाज खोखला होता जा रहा था। चूँकि समाज में हर तरह के लोग जीवन-यापन कर रहे थे। इसमें एक ऐसा वर्ग भी था, जो साहित्य के माध्यम से कुरीतियों को दूर करना चाहता था। कबीरदास का इसमें मुख्य स्थान है। संतों में कबीर ही ऐसे कवि हैं, जिन्होंने अपने काव्य के माध्यम से सामंती व्यवस्था पर गहरा प्रहार किया। कबीर ने वर्गभेद, जाति-प्रथा आदि इन सबका विरोध किया है। इनका कहना था कि समाज वहीं से विभाजित होता है, जहाँ से जाति-पाति की बात आती है। जो लोग समाज को बाँटते हैं वही सामंत कहलाते हैं। कबीरदास ने अनेक स्थानों पर कहा है कि सामंती तत्त्व समाज पर इस तरह हावी हैं कि केवल समाज विभाजित होता रहेगा। एक तरफ़ समाज में एक ऐसा वर्ग है, जो ऐशो-आराम में है, वहीं दूसरी तरफ़ एक ऐसा वर्ग भी है, जिसके पास खाने-पीने को भी नहीं है।

विभिन्न विद्वानों ने कबीर को अलग-अलग ढंग से परिभाषित किया है। वास्तव में कबीर मानवतावादी थे। समाज के एक स्तंभ थे, जो प्रत्येक स्तर पर समाज को एक नयी दृष्टि से देखते थे। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि कबीर ने स्वयं समाज में निम्नवर्ग की पीड़ा को देखा है। उन्होंने उच्च और निम्नवर्ग के भेद का प्रत्येक स्तर पर विरोध किया है। यहाँ कबीर के व्यवसाय के ऊपर चर्चा करना भी समीचीन प्रतीत होता है। 'कबीर का व्यवसाय धर्मोपदेष्टा या पुजारी का व्यवसाय नहीं था। जीविका के लिए तो वह जुलाहे का धंधा करते थे, जिसे सामाजिक धरातल पर ऊँचा धंधा उस युग में नहीं समझा जाता था। स्वयं कपड़ा बुनने और दूसरों से कपड़ा बुनवाने में बड़ा अंतर है। आज के मिल-मालिक कपड़े की विशाल मिलें खड़ी कर दूसरों से कपड़ा बुनवाते हैं। बुननेवाले मजदूर की संज्ञा प्राप्त करते हैं। पराधीन होकर दूसरों के लिए कपड़े बुनने में स्वतंत्र और स्वाभिमान का ह्रास अवश्यभावी है। कबीर ने स्वतंत्र रहते हुए, स्वाभिमान की रक्षा करते हुए, जुलाहे का व्यवसाय अपनाया था, अतः अपने व्यवसाय की शब्दावली, प्रतीक एवं अप्रस्तुत योजना का अपने काव्य में उपयोग किया था।' अर्थात् मानव-मानव में भेद सिर्फ़ जाति के आधार पर ही नहीं बल्कि व्यवसाय के आधार पर भी किया जाता है। कबीर इन सभी व्यवसायों का घोर विरोध करते हैं और बड़े गर्व से कहते हैं कि—

जाति जुलाहा मति की घोर, हरषि-हरषि गुण रमै कबीर

मेरे राम की अभै पद नगरी, कहै कबीर जुलाहा।

कबीरदास कहते हैं कि मानवता की स्थापना के लिए इन सभी बातों का होना आवश्यक है।

### संदर्भ

1. भारतीय सामंतवाद, रामशरण शर्मा, पृ० 11
2. भारतीय सामंतवाद, रामशरण शर्मा, पृ० 13
3. मध्यकालीन भारत, सं. हरिश्चंद्र वर्मा, पृ० 84
4. भारतीय सामंतवाद, रामशरण शर्मा, पृ० 14
5. भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद, रामविलास शर्मा, पृ० 27-28
6. भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद, रामविलास शर्मा, पृ० 27-28
7. भारतीय चिंतन परंपरा, के० दामोदरन, पृ० 209
8. भारतीय चिंतन परंपरा के० दामोदरन, पृ० 209
9. भारतीय सामंतवाद, रामशरण शर्मा, पृ० 15
10. भारतीय चिंतन परंपरा, के० दामोदरन, पृ० 214
11. भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद, रामविलास शर्मा, पृ० 34
12. कबीर, संपादक-विजयेन्द्र स्नातक, पृ० 245
13. कबीर ग्रंथावली, पारसनाथ तिवारी, पृ० 105

## श्री उदयनाथ 'कवींद्र' के काव्य का सांस्कृतिक स्वरूप हेमेंद्रकुमार

श्री उदयनाथ 'कवींद्र' त्रिवेदी अल्ल वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे, इनके पिता का नाम कालिदास त्रिवेदी तथा पुत्र का नाम दूलह था, जो कि रीतिकाल के प्रसिद्ध अलंकारशास्त्री माने जाते हैं। इनका जन्मस्थान गंगा-यमुना के (दोआब) अंतर्वेद में स्थित कानपुर जनपद का वनपुरा नामक ग्राम को माना जाता है आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार 'इनका कविताकाल संवत् 1804 या उसके कुछ आगे तक माना जा सकता है, ये अमेठी के राजा हिम्मतसिंह और गुरुदत्तसिंह 'भूपति' के यहाँ बहुत दिन रहे। इनका 'रसचंद्रोदय' शृंगार का एक अच्छा ग्रंथ है इनकी भाषा मधुर और प्रसादपूर्ण है वर्ण्य विषय के अनुकूल कल्पना भी ये अच्छी करते थे।' इनके पुत्र दूलह का कविता काल संवत् 1800 से लेकर 1825 के आस-पास स्वीकार किया गया है। इनका बनाया एक ही ग्रंथ 'कविकुलकंठाभरण' मिला है, जिसमें निर्माणकाल नहीं दिया है, पर इनके फुटकल कवित्त और भी सुने जाते हैं। इसमें यद्यपि लक्षण और उदाहरण दोनों के सम्यक् कथन के लिए पूरा अवकाश मिला है। भाषाभूषण आदि दोहों में रचे हुए इस प्रकार के ग्रंथों की इसमें यही विशेषता है। इसके द्वारा सहज में अलंकारों का चलता बोध हो सकता है। इनके 'कविकुलकंठाभरण' में कुल 85 पद्य हैं। फुटकल जो कवित्त मिलते हैं, वे अधिक-से-अधिक 15 या 20 होंगे। अतः इनकी रचनाएँ बहुत थोड़ी है, पर थोड़ी होने पर भी उसने इन्हें बड़े अच्छे और प्रतिभा-संपन्न कवियों की श्रेणी में प्रतिष्ठित कर दिया है। देवदास, मतिराम आदि के बाद दूलह का नाम लिया जाता है। इनकी सर्वप्रियता का कारण इनकी रचना की मधुर कल्पना, मार्मिकता और प्रौढ़ता है। इनके वचन अलंकारों के प्रमाण में भी सुनाए जाते हैं और सहृदय श्रोताओं के मनोरंजन के लिए भी। सृष्टि का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है, उसके द्वारा आत्मरक्षा और प्रजनन की प्रक्रियाओं में अपनी न्यूनतम शक्ति को व्यय करते हुए अपनी अंतर्निहित शक्ति को अधिकतम अनुपात में सुरक्षित एवं संचित किया जाता है। 'इस संचित सौंदर्यानुभूति को ही नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा कहा जाता है, जो उदात्त गुणों की जननी है। चेतना विकास और सौंदर्यानुभूति अन्योन्याश्रित हैं। इसके फलस्वरूप मानव के व्यवहार में मार्दव, शालीनता, संवेदनशीलता परदुःखकातरता आदि जिन गुणों का प्रस्फुटन स्वयंमेव हो जाता है, उनके ही समन्वित स्वरूप को शील या संस्कृति कहते हैं। संस्कृति मनुष्य की विभिन्न साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति है।" संस्कृति का शाब्दिक अर्थ संशोधन करना, उत्तम बनाना, सुंदर अथवा पूर्ण बनाना, परिष्कार अथवा सुधारना है। जिन चेष्टाओं के द्वारा मानव-जीवन के

विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति करता हुआ सुख और शांति की सिद्धि करता है, वे सभी संस्कृति के स्वरूप के अंतर्गत आती हैं। इसका मूलतत्त्व तपोबल सतोगुण और बुद्धि के विद्वान सांस्कृतिक तत्त्व विघनों का विनाश करते हैं। श्री उदयनाथ 'कवींद्र' ने लिखा है—

‘तपोबल-तत्त्व कै सतोगुण को सत्त्व  
कै ममत्व महादेव-पारवती परकिति को।  
बुद्धि को विधान कै प्रधान गौर वानन को,  
वान कैधों विघन विनासिनी-विमति को।  
वंदन वलित सुंडा दंड सो विमति कैधो  
कामना-प्रयाग को उग्र अति को।  
वंदत 'कविंद' इंदु कला से विमल महा  
सिद्धिन को सदन रदन गनपति को।’<sup>3</sup>

किसी भी जाति अथवा समूह के जीवन आदर्शों तथा अवसरों में निहित प्रवृत्तिगत सौंदर्य-मूलक तत्त्वों का सर्वश्रेष्ठ साधना के क्षेत्र में अर्जित स्वरूप संस्कृति है यह किसी देश या जाति की आत्मा है, इसमें उन सब संस्कारों का बोध होता है, जिनके माध्यम से वह अपने सामूहिक या सामाजिक जीवन के आदर्शों एवं संस्कारों का निर्माण करती है। संस्कृति में नैतिक भाव केंद्रीय तत्त्व है। इसके बिना किसी व्यक्ति या जाति को सुसंस्कृत नहीं कहा जा सकता है। संस्कृति-संबंधी यह सभी पाश्चात्य भावनाएँ एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी एक आधार पर स्थित हैं। संस्कृति विशिष्ट मानव-समूह के उन उदात्त गुणों की सूचना देती है, जो मानव-जाति में सर्वत्र पाए जाने पर भी उस समूह की विशिष्टता प्रकट करते हैं और जिनको जीवन में सबसे अधिक महत्त्व दिया जा सकता है। संस्कृति मनुष्य के सामूहिक सुधार पर अधिक जोर देती है। समाज-सेवा उसका मुख्य उद्देश्य है। संस्कृति-संबंधी पाश्चात्य भावनाएँ एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी एक ही आधार पर स्थित हैं। वह आधार मानव-व्यक्तित्व के मन, प्राण और शरीर की शक्तियों को विकसित करता है। उनकी विभिन्नताओं में से अपूर्व मौलिक समन्वय पैदा करता है और उनके प्रयोग से समाज को संगठित करता तथा अधिकृत करता है। जब मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग विचार एवं कर्म के क्षेत्र में गंभीरता पूर्वक करता है, तो वही मानव के लिए अनुकरणीय सृजनात्मक दृष्टि एवं संस्कृति बन जाती है। चिंतन एवं मनन द्वारा जीवन को सुखमय, सरस एवं कल्याणकारी तथा सुंदर बनाने का प्रयोग संस्कृति की निजी विशेषता है। किसी भी जाति अथवा राष्ट्र के शिष्ट पुरुषों में विचार, वाणी एवं क्रिया का जो रूप अनुभव किया जाता है, उसी का नाम संस्कृति है। संस्कृति का संस्कार से घनिष्ठ संबंध है। संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगपूर्ण प्रकार है। हमारे जीवन जीने का ढंग हमारी संस्कृति है। संस्कृति जीवन का एक तरीका है। जिस समाज में हम जन्म लेकर जीवन-यापन कर रहे हैं, उसकी संस्कृति हमारी है। भारतीय संस्कृति आचरण-प्रधान है। यहाँ पुरुषार्थ है। मन, प्राण, शरीर के साथ आत्मभाव की प्राप्ति का प्रयत्न करना ही इसका उद्देश्य है। श्री उदयनाथ 'कवींद्र' ने कुलवधू के लक्षणों में इसका संकेत निम्न प्रकार दिया है—

‘छिति छमता की परिमिति मृदुता की किंधों,  
ताकी है अनीति सौतिजन ताकि देह की।

सत्य की ही सत्ता है कि सील-तरु की लता है  
 कैधों सुविनीति-परनति निज देह की।  
 भनत कविंद सुर-नर-नाग नारिन की  
 सिखा है की रच्छा रूप रच्छन अच्छेय की  
 पतिव्रत पारावार वारी कमला है कैधों,  
 साधुता की साला है कला है कुल गेह की।<sup>4</sup>

आध्यात्मिकता ही भारतीय मन की मुख्य कुंजी है। आध्यात्मिकता की विभिन्नता और विविधता-शून्य एकरसता नहीं है। यह अत्यंत समृद्ध तथा मूर्त जीवन का एक स्तर है। आध्यात्मिक जीवन की समता का अर्थ विभिन्नता और मौलिकतारहित समानता नहीं है। इसमें एक क्रमिक विकास दिखाई देता है और भावी विकास की अनंत संभावना तो सदा ही स्थापित रहती है। इस दृष्टि से यदि हम भारतीय जीवन के ऐतिहासिक विकास पर विचार करें तो कई ऐसे तत्व दिखाई देंगे, जो हमें आज की अपनी जातीय स्थिति को अधिगत करने में विशेष सहायक हो सकते हैं। यहाँ हमारा प्रयोजन ऐतिहासिक बनने वाली बड़ी घटनाओं से नहीं है। सांस्कृतिक निरूपण के माध्यम से हम उस जातीय चेतना को देखना चाहते हैं, जो सब प्रकार के सुखद-दुखद अनुभवों से विकसित होती आई है। वैदिककाल की राष्ट्रीयचेतना का चिंतन करते हुए हम अपने-आपको स्वाभाविक तथा एक-दूसरे जगत में अनुभव करने वाला मानने लगते हैं। वैदिक युग का नेता ऋषि था और उसे अत्यन्त सरल स्वाभाविक शरीर और चेतना में स्वस्थ तथा अर्न्तदृष्टियुक्त आनन्दमय प्राणी माना जाता है वह प्रकृति के सौंदर्य का अनुभव करने वाला उसका भक्त है फिर भी वह स्थूल प्रत्यक्षवादी नहीं है। वह तो गंभीर अध्यात्मवादी है वह अर्न्तदृष्टि से वस्तुओं में निहित चेतना के तत्त्व को जानता है। संस्कृति का संबंध जीवन-शैली तथा समाज से है। समाज को हम मनुष्यों का ऐसा समूह समझ सकते हैं, जो कुछ संस्थागत या सामान्य सामाजिक नियमों के आधार पर एक-दूसरे से संबंधित रहते हैं। श्री उदयनाथ 'कवींद्र' ने अपने ग्रंथ की रचना सामाजिक जनों के लिए ही की है—

बानी दीन्हों बुद्धिवर, भयो ग्रंथ विस्तार।  
 'रतिविनोद' रस-ग्रंथ को सुनि रीझै संसार।  
 रसिक-चकोरन को सदा, सूझि परै रस-पंथ  
 ताते रच्यो 'कविंद' यह रसचंद्रोदय गंथा।<sup>5</sup>

सामाजिक नियम व्यक्ति के कार्यों को निर्देशित, नियंत्रित अथवा व्यवस्थित करके निश्चित क्रमबद्धता प्रदान करते हैं। मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन भी परिवारजनित संस्कारों से परिपूर्ण होता है। धर्म तथा कला एवं शास्त्रज्ञान भी सांस्कृतिक जीवन के अंग हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए हम मनुष्य के सांस्कृतिक जीवन को पारिवारिक जीवन, सामाजिक जीवन धार्मिक जीवन तथा कला एवं शास्त्रज्ञान के रूप में विभाजित कर सकते हैं।

परिवार सांस्कृतिक जीवन की भौतिक मौलिक इकाई है। यह संस्कृति के अस्तित्व एवं सामाजीकरण इत्यादि के साथ-साथ मनुष्य की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति का स्रोत है। यह सांस्कृतिक जीवन को नियमित करता है। परिवार द्वारा ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सांस्कृतिक तत्व हस्तांतरित करते हैं। पिता के पुत्र और पुत्र से उसके पुत्र सीखते हैं। इसी

प्रकार संस्कृति की निरंतरता और अस्तित्व संभव होता है। ससुराल से आने वाली ज्ञात योजना नायिका के संदर्भ में कवि ने ससुराल में सिर ढकने और बड़ों का सम्मान करने से संस्कार का परिचय इस प्रकार दिया है—

गौने के सुदिन गुन गौरि तेरे सासुरे तें,  
सुभ धरी सोधिकै संदेशों लिखि आयो है।  
हाल ऐसे हाल सौ निहाल करू नाहै जाई  
चाहै सुनि-सुनि कै चतुर चैन पायो है।  
काल्हि ही उधारे सीस फिरत सखीन मध्य,  
भनत 'कविंद' आज औरै रंग छायो है।  
आचर को करिबो अचानक ही मेरी आली  
मैं नहीं सिखायो तोहि मै न ही सिखायो है।<sup>6</sup>

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसकी सहज प्रवृत्तियाँ उसे अपने साथियों के साथ रहने के लिए प्रेरित करती हैं। संगठन आत्मरक्षा एवं विकास की भावना ही समाज-निर्माण की मूल प्रेरणा हैं। मनुष्य के उन गुणों का विकास भी समाज से ही होता है, जिनमें संस्कृति विकसित होती है। सामाजिक भावना का उदय होने पर मानव का ध्यान आचार-विचार और व्यवहार आदर्श-संबंधी सिद्धांतों की ओर जाता है कालांतर में वे ही प्रत्येक देश या समाज के सामाजिक संगठन के मूल या विशिष्ट आधार बन जाते हैं। विभिन्न प्रकार के लोकाचार भी सामाजिक जीवन की परिधि में आते हैं—

विचलित वल्लिका की माधवी की मल्लिका की  
एला की लवंग की ललित न्यारी क्यारी है।  
चंपक की चंदन की मौलसिरी वृंदन की  
बलित लतानि सौ ललित साखा सारी है।  
भनत 'कविंद' मति खेद करो मृगनैनी  
तेरे हेतु लाई हम खबरि अगारी हैं।  
गहगही गुलवारी, सुंदर सुगुलवारी  
तेरे सासुरे में सुनी कैयो फुलवारी है।<sup>7</sup>

धर्म संस्कृति का एक अंग है। किसी भी जाति के धार्मिक विश्वास उस जाति के सांस्कृतिक जीवन को प्रभावित करते हैं। जिसे व्यक्ति एवं समाज के द्वारा धारण किया जा सके वही धर्म है। इसमें किसी-न-किसी परम शक्ति की अति मानवीय अथवा अलौकिक शक्ति का विकास निहित रहता है, जिसका आधार सामाजिक परंपरा से प्राप्त भक्ति एवं पवित्रता की अलौकिक धारणा है—

'गिरिजा सो ईस, ऐसी भाँति प्रानप्यारी जू सों  
प्रानप्यारो प्रीति निरवाहिवो करतु हैं।  
भूसन-वसन झारि धारिवो करत बेनी  
गुँदिबे को वार निरुझारि वो करतु है।  
भनत 'कविंद' सरसि जनैनी सुंदरी को

उरतें न ओलिक उतारिवो करतु है।  
रंभा-रतिहू को रूप बारिबो करतु, मुख  
सुषमा समूह पै निहारिवो करतु है।<sup>8</sup>

कला एवं शास्त्रज्ञान में जीवन के आवेग और विश्वास के साथ-साथ सृजनात्मक गुण भी विद्यमान रहते हैं। कला को हम कौशल के अर्थ में ले या सौंदर्य के प्रतिपादक रूप के अर्थ में ले अथवा व्यंजना समझ कर लें या अनुकरण के रूप में ले, किसी भी अर्थ में लेने पर उसके रूप एवं उसके प्रयोजन पर विचार करना होगा, किंतु यहाँ सर्वमान्य बात होगी कि कला का निर्माण कला की प्रक्रिया कला के रूप, कला का सौंदर्य बोध एवं कला का आनंद संस्कृति का अभिव्यक्त रूप हैं—

कान्ह अति कारे तिन लाई है करयाई तन  
पीतांबर पीठि पर जरदी को बर है  
पीठ मर्द-विठ चेट विदूषक चारयो सखा  
चारिहू के काज करिबे को जाको वर है।  
भनत 'कविद' हास वास खास ख्यालिन सों  
वालनि मिलावै मुख हाँसी फूल झरहै।  
गुंजरत पुंजरन सुमन-सुमन ब्रज  
बल्ली-वल्लभीन में फिरत मधुकर है।<sup>9</sup>

जब तक सांस्कृतिक जीवन के उपर्युक्त विविध पक्ष एक रूप में संबंध या समरस रहते हैं। तब तक समाज पूर्ण स्वस्थ एवं सुसंस्कृत रहता है। वैदिक संस्कृति की दृष्टि से इनका संतुलित रहना ही है। इसके विपरीत ब्राह्मण ग्रंथों के रचनाकाल में जब धार्मिक पक्ष आडंबर को समेटकर अपना महत्त्व प्रदर्शित करने की होड़ करने लगा, तब विषमता उत्पन्न होती चली गई और सामाजिक जीवन का संतुलन डगमगा गया। बौद्धधर्म ने पुनः सांस्कृतिक समता लाने का प्रयास किया। सामाजिक समता और अहिंसा के सिद्धांतों के कारण उसे सम्मान मिला, किंतु वह अपने ही जाल में फँस गया। वेदों की अस्वीकृति एवं विरोध ने उसकी सफलता में बाधा उत्पन्न की। आवश्यकतानुसार सांस्कृतिक जीवन में स्वयं भी परिवर्तन होते रहते हैं, उसका विकास होता रहता है, और प्रेरणादायी सांस्कृतिक जीवनमूल्य भी उसमें निरंतर विद्यमान रहते हैं। भारतीय संस्कृति के प्रमुख जीवनमूल्य हैं— ईश्वर या ब्रह्म की सर्वव्यापकता, सदाचार का महत्त्व, माया-मोह का त्याग, आनंद अथवा रस ईश्वर अथवा ब्रह्म भारतीय संस्कृति का आधार है। ईश्वर स्वतः सनातन अविनासी पर ब्रह्म के रूप में लोकरक्षा के लिए सदैव तत्पर है। यही आध्यात्मिक दृष्टिकोण है। इसका मूल आधार सनातन अपौरुषेय वेद हैं। इन वेदों में जिन तत्त्वों की व्याख्या की गई है, उनमें परब्रह्म ही आदि से अंत तक संपूर्ण लोक में प्रतिष्ठित है। नानातत्त्वमय समस्त दृश्य-जगत के प्रत्यक्ष बहुत्ववाद से अलक्ष्य अगोचर प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष से परे निर्गुण-निराकार एक तत्त्ववाद अद्वैत सिद्धांत की प्रतिष्ठा ही भारतीय दर्शन की मौलिक विशेषता है साकार-निराकार का पूर्ण समन्वय भी भारतीय दर्शनों के कुछ सिद्धांतों में पाया जाता है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति में व्यावहारिक उत्तमता और परमार्थिक श्रेष्ठता दोनों पूर्णता की सीमा पर प्रतिष्ठित है। जगत के व्यवहार में प्रतिपल सहभागिता करते हुए भी भारतीय द्वैत मनुष्य

से ऊपर उठकर अद्वैतस्वरूप निष्ठा तथा जीवन-मुक्ति की अवस्था प्राप्त करने में समर्थ होता है। मनुष्य को मानव-विकास के उच्चतम शिखर पर पहुँचाकर जीवनमुक्ति की अवस्था में प्रतिष्ठित करा देना ही भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है। भारतीय संस्कृति में सदाचार को एक महत्त्वपूर्ण जीवन-आदर्श के रूप में निरूपित किया गया है। इसमें सत् और असत् मार्ग की विस्तृत व्याख्या है। सत् मार्ग के प्रमुख तत्व हैं— तन-मन इन्द्रियों को भीतर-बाहर से पवित्र रखते हुए अपने बस में करके युक्ति पूर्ण सत् कार्यों में लगाना जीवों पर दया करना और यथाशक्ति सत् पात्र को दान देना, अच्छे कर्मों में मन लगाना, दूसरों को सुखी बनाने का प्रयास करना धर्म की रक्षा करना मानव समाज में विरोध संघर्ष घृणा आदि में निराकरण का प्रयास करना आदि। असत् मार्ग के तत्व हैं तन-मन तथा इन्द्रियों को मलिन करना और अपने बस से बाहर होने देना, असंतोष को बढ़ाना, झूठ-चोरी-लूट आदि निन्दनीय कार्य करना हिंसा आदि करना। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार विचार या कार्य के फलस्वरूप दूसरे प्राणियों में सुख-शांति की वृद्धि हो, वह सदाचरण है। और जिस विचार या कार्य के फलस्वरूप दूसरे प्राणियों में दुःख एवं संघर्ष बढ़े और वह दुराचरण है। मनुष्य के अंदर जो भौतिक, जैविक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक शक्तियाँ क्रियाशील हैं, मनुष्य उन्हीं का संहत रूप है। इन शक्तियों पर सामंजस्य प्राप्त करना ही मानव-पुरुषार्थ की पराकाष्ठा है। मानव-चेतना जीवन के इन सभी स्तरों में विचरण करती है और वास्तव में वह इन सभी स्तरों की निवासिनी भी है। भारतीय संस्कृति ने इन स्तरों के महत्त्व पर विशेष ध्यान रखा है और प्रायः उच्चतर और सूक्ष्मतर स्तर को निम्नस्थ स्तर से अधिक महत्त्व दिया गया है। जीवन के इन उच्चतर क्षेत्रों में वास करने की यह निरंतर और अनवरत चेष्टा ही वह कारण है, जो हमारी संस्कृति को जूझने और विजयी होने की शक्ति प्रदान करता है। इसीलिए कहा गया है कि संस्कृति का संबंध संस्कारों से है।

मायामोह का त्याग एवं निस्वार्थ भावना मानव-जीवन की परम कसौटी है। त्याग-निष्ठा इसका आदर्श है। इसमें त्याग-भाव से ही भोग की कल्पना की गई है। राम, कृष्ण गौतम आदि के आदर्श माया-मोह के परित्याग से प्रारंभ होते हैं। मन, वचन तथा कर्म का संयम ही तप है और यह जगत का सर्वश्रेष्ठ कर्म है। कहा गया है कि तप के बल से ही ईश्वर सृष्टि की रचना करते हैं। इन्द्रियों पर संयम संसार के सुख-भोग में भी त्याग का भाव तथा मन, वाणी एवं शरीर के तप की साधना हमारी परम मान्यता रही है। मनुष्य निस्वार्थ भावना से ही लोक में सुख प्राप्त करता है। इससे आत्मशुद्धि और आत्मनियंत्रण भी होता है। माया-मोह का त्याग भोग की नितांत उपेक्षा का आदर्श नहीं है। जीवन के समस्त कार्य निःस्वार्थ भावना से किए जाने चाहिए, जिससे किसी को हानि न हो। हर किसी को शनैः-शनैः त्याग करना सिखलाकर व्यक्ति और समाज को उन्नत अवस्था प्राप्त कराने का प्रयत्न हमारे धर्म ने किया है। अन्यत्र कहीं ऐसा प्रयत्न नहीं देखने को मिलता है।

मोक्ष से तात्पर्य यह है कि मानव की शाश्वत एवं अलौकिक उन्नति यही अध्यात्म है। मानव-जीवन का उद्देश्य इसको प्राप्त करना तथा इसके द्वारा आनंद और ज्ञान की प्राप्ति है। प्राचीन समय से यह विवाद है कि इसे कैसे प्राप्त किया जाए। प्राचीन समय में विद्वानों ने यह अनुभव किया कि इस जीवन के सुख-साधन व्यर्थ नहीं हैं। उनमें अत्यंत समय तक सुख



देने की सामर्थ्य भी नहीं है। उन्होंने देखा कि अर्थ कमाने तथा काम-वासना की पूर्ति करने पर भी मनुष्य दुःखी रहता है। फिर भी ये दोनों जीवन के लिए आवश्यक बने हुए हैं। यदि ध्यान से देखें तो एक विशेष समय पर इनका अपना महत्त्व है और इसी कारण मनुष्य अपने से इनको अलग नहीं कर पाता, फिर भी इन्हीं में लिप्त रहना उचित नहीं है। इसी कारण सांसारिक सुख-भोगों के साथ परमार्थिक उन्नति भी आवश्यक है। यह उन्नति तभी संभव है, जब आत्मा और परमात्मा का मिलन हो जाए अर्थात् मनुष्य की आत्मा को जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्ति मिल जाए। जन्म और मृत्यु से छुटकारा पाने की स्थिति को ही मोक्ष की स्थिति कहते हैं। भारतीय दर्शन के अनुसार तथा धर्मानुसार कार्य करने से ही मोक्ष मिल सकता है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए तीन मार्गों का उल्लेख किया गया है— प्रथम कर्म का मार्ग, द्वितीय ज्ञान का तथा तृतीय भक्ति का। कर्म मार्ग वह मार्ग है, जिसमें यह बताया गया है कि मनुष्य निष्ठापूर्वक कार्य करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है। ज्ञानमार्ग उस मार्ग को कहते हैं, जिसमें बुद्धिमान मनुष्य अपनी बुद्धि के द्वारा परमब्रह्म के स्वरूप को पहचान लेता है। इस मार्ग में बुद्धि और ज्ञान ही प्रमुख होते हैं। कर्ममार्ग में कर्म ही पूजा है। फल की आशा न करते हुए धर्मानुसार कार्य करने से ही मोक्ष की प्राप्ति संभव हो सकती है।

जो रुचिकर है, सुखप्रदायक है, जिसके कारण मन में प्रसन्नता की उद्भूति होती है, वह सब आनंद का स्वरूप है। काव्यशास्त्रियों ने इसी को रस कहा है। डॉ० भगीरथ मिश्र के अनुसार, 'रस की धारणा बड़ी प्राचीन है और रस की महिमा बड़ी व्यापक है। रस की आवश्यकता एवं महत्ता के संबंध में यदि हम जागरूक न हो, पर जीवन की गति यह प्रकट करती है कि रस जीवन का सार है और जीवन रस के लिए है। जितने भी क्रियाकलाप हैं, उनकी प्रेरणा और लक्षण, उनका आरंभ और अंत रस में ही है। चाहे उसके मध्य में हम बदल भले ही जाएँ अपने ही लक्ष्य की पूर्ति के साधन जुटाने में ही हम अपना समस्त जीवन नष्ट कर देते हैं, परंतु लक्ष्य का आनंद प्राप्त नहीं कर पाते। आनंददायक प्रयत्नावस्था ही रस की अवस्था है। यदि हम उसको सहज भाव से ग्रहण कर सकें। रस जीवन के लिए अत्यंत आवश्यक है जीवन को जीवन-योग्य बनाने के लिए इसी विशेष आवश्यकता है। यह काव्य एवं संस्कृति आत्मा है, जिस प्रकार व्यंजनों से युक्त अन्न का भोग करते हुए स्वस्थ पुरुष आनंद की प्राप्ति करते हैं, उसी प्रकार अनुभाव संचारी भाव से सम्यक् स्थायी भावों का आस्वादन करते हुए सहृदय भी रस का आनंद लेता है। प्रथम आस्वाद की प्रक्रिया स्थूल है और दूसरे की सूक्ष्म। जिस प्रकार अनेक द्रव्यों के मिलने से व्यंजन सुस्वादु होता है। उसमें इस बात की आवश्यकता होती है कि एक विशेष अनुपात में वस्तुएँ डाली जाएँ, तभी उसमें स्वाद आएगा, उसी प्रकार स्थायी भाव का पूर्ण तथा आस्वाद के लिए विशेष प्रकार के विभावों और अनुभावों का संयोग होना चाहिए। साथ ही एक और आवश्यक बात है। व्यंजन चाहे जितना सुस्वाद बना हो, पर यदि अस्वादक स्वस्थ शरीर-मन का नहीं है, तो उसे उसका आनंद नहीं मिल सकता। नाटक या काव्य चाहें कितना ही अच्छा हो, उसके दर्शन और पठन-पाठन से आनंद तभी प्राप्त हो सकता है, जबकि दर्शक या पाठक संवेदनशील मनवाला हो। श्री उदयनाथ 'कवींद्र' के काव्य का उद्देश्य ही रसिक जनों को रसपंथ का अवलोकन कराना है। उन्होंने लिखा है—

'राह मुक्ति की यह नहीं, यह औरै रस नाह।

करि सराह चर्चा चतुर, चाह करै नर नाह।<sup>10</sup>

उन्होंने रस के समस्त स्वरूप को प्रदर्शित करने के लिए नायिका-वर्णन के द्वारा अत्यंत सुंदर काव्य का सृजन किया है। रसचंद्रोदय में नायिका-वर्णन<sup>11</sup> कुलवधू वर्णन<sup>12</sup> स्वीया भेद<sup>13</sup> मुग्धा लक्षण<sup>14</sup> मुग्धा की वयःसंधि<sup>15</sup> अज्ञातयौवना लक्षण<sup>16</sup> ज्ञातयौवना लक्षण<sup>17</sup> नवौढ़ा लक्षण<sup>18</sup> विश्रब्ध नवौढ़ा लक्षण<sup>19</sup> मध्यलक्षण<sup>20</sup> प्रौढ़ालक्षण<sup>21</sup> प्रौढ़ा विपरीतरति वर्णन<sup>22</sup> मध्या धीरा<sup>23</sup> मध्याधीर धीरा<sup>24</sup> प्रौढ़ा धीरा<sup>25</sup> प्रौढ़ा अधीरा<sup>26</sup> प्रौढ़ा धीर धीरा<sup>27</sup> ज्येष्ठ कनिष्ठा वर्णन<sup>28</sup> अधीरा ज्येष्ठा कनिष्ठा<sup>29</sup> परकीया भेदन कथन<sup>30</sup> सुरत गोपना लक्षण<sup>31</sup> क्रियाविदग्धा<sup>32</sup> वाग्विदग्धा<sup>33</sup> लक्षित लक्षण<sup>34</sup> कुलटा लक्षण<sup>35</sup> अनुशयना लक्षण<sup>36</sup> मुदिता लक्षण<sup>37</sup> मान लक्षण<sup>38</sup> लक्षुमान मध्यमान<sup>40</sup> गुरुमान<sup>41</sup> अन्यसंभोग दुखिता लक्षण<sup>42</sup> अष्टनायिका वर्णन<sup>43</sup> प्रेषित पतिका लक्षण<sup>44</sup> मुग्धा प्रेषितपतिका<sup>45</sup> मध्या प्रेषितपतिका लक्षण<sup>44</sup> मुग्धा प्रेषितपतिका<sup>45</sup> मध्या प्रेषितपतिका<sup>46</sup> प्रौढ़ा प्रेषितपतिका<sup>47</sup> परकीया प्रेषितपतिका<sup>48</sup> सामान्य प्रेषित पतिका<sup>49</sup> खंडिता लक्षण<sup>50</sup> मुग्धा खंडिता<sup>51</sup> मध्या खंडिता<sup>52</sup> प्रौढ़ा खंडिता<sup>53</sup> परकीया खंडिता<sup>54</sup> सामान्य खंडिता<sup>55</sup> कलहान्तरिता<sup>56</sup> मुग्धा कलहान्तरिता<sup>57</sup> प्रौढ़ा कलहान्तरिता<sup>58</sup> सामान्य कलहान्तरिता<sup>59</sup> प्रौढ़ा विप्रलब्धा<sup>60</sup> परकीया विप्रलब्धा<sup>61</sup> सामान्य विप्रलब्धा<sup>62</sup> उत्कंठित लक्षण<sup>63</sup> मुग्धाउत्का<sup>64</sup> मध्या उत्का<sup>65</sup> मध्यवासक सज्जा<sup>70</sup> प्रौढ़ा वासकसज्जा<sup>71</sup> परकीया वासकसज्जा<sup>69</sup> मध्या वासकसज्जा<sup>70</sup> प्रौढ़ा स्वाधीनपतिका मुग्धा स्वाधीनपतिका<sup>75</sup> मध्या स्वाधीनपतिका<sup>76</sup> प्रौढ़ा स्वाधीनपतिका<sup>77</sup> परकीय स्वाधीनपतिका<sup>78</sup> सामान्य स्वाधीनपतिका<sup>79</sup> अभिसारिका लक्षण<sup>80</sup> मुग्धा अभिसारिका<sup>81</sup> मध्या अभिसारिका<sup>82</sup> प्रौढ़ा अभिसारिका<sup>83</sup> परकीया अभिसारिका<sup>84</sup> सामान्या अभिसारिका<sup>85</sup> कृष्णा अभिसारिका<sup>86</sup> ज्योत्सना अभिसारिका<sup>87</sup> दितसाभिसारिका<sup>88</sup> दूती लक्षण<sup>89</sup> नायक लक्षण<sup>90</sup> पति लक्षण<sup>91</sup> पति चतुर्था<sup>92</sup> अनुकूल लक्षण<sup>93</sup> दक्षिण लक्षण<sup>94</sup> मध्य वैशिक लक्षण<sup>100</sup> अधम वैशिक<sup>106</sup> अनभिज्ञ<sup>107</sup> सात्त्विक भाव<sup>108</sup> इत्यादि के वर्णन मिलते हैं। इसी प्रकार के लक्षण इत्यादि कवि ने 'विनोदचंद्रिका' में भी बताए गए हैं। इसमें दिया मुग्धा नायिका का एक उदाहरण देखिए—

एकै कहै बिजुरी जोन्हाई कवि एकै कहै,  
एकै कहै अनल की ज्वाल, समै साम की  
एकै कोक-कला एकै कमला कहत एकै  
अवला कहत, उरबसी यह नाम की।  
भनत कंविद' पेखि अंकुर उरोजनि के,  
प्यारी हौ निहारी, ऐसी छवि अभिराम की,  
जोबन जोशीले सिकलीगर सँवारि करि  
काम की तयार तरवारि मानो काम की।<sup>109</sup>

कवि की भक्ति-भावना की दृष्टि से मंगलाचरण<sup>110</sup> कृष्ण के दर्शन निरूपण<sup>111</sup> स्वप्न दर्शन चित्रदर्शन साक्षात्दर्शन और विनोदचंद्रिका में निहित सरस्वतीवंदना अवलोकनीय है—

बीना-पुस्तक-धारिनी हंसचारिनी नाम।  
वानी-वाक सरस्वती, देहु बुद्धि अभिराम।<sup>112</sup>

विप्रकीर्ण छंदों में देवीस्तुति<sup>113</sup> भी भक्ति भावना की दृष्टि से अवलोकनीय और पर्याप्त

महत्त्वपूर्ण है। इसका एक उदाहरण देखिए—

‘तू ही खगाधार, निराधार की आधार तू ही,  
तू ही धराधर को सुधार है, अमति है।  
सुभट समूहन में आमजन आपने को  
तू ही रण-रूह की फतूह प्रगटति है।  
भनत कविंद तेरी मूरति है त्रिलोकमयी,  
ठौर-ठौर मूरति है पूरति पटति है।  
जहाँ देववृंदन को परति निपाटी भीर  
तहाँ अंब तेरिय निपाटी निपटति है।<sup>114</sup>

सदाचार का महत्त्व कुलवधूवर्णन<sup>115</sup> पति लक्षण<sup>116</sup> इत्यादि में प्रदर्शित किया गया है।  
पतिव्रता का एक उदाहरण इस संदर्भ में पठनीय है—

पतिव्रत पद्धति की मानो अद्य देवी, कैधों  
ए तो कुल-मंदिर की नेवी निरधारी है।  
भनत ‘कविंद’ धनलोभी कैसी धन भई,  
भीतरै वसति, निकसति न निहारी है।  
लाज सरसति, मृदुताई बरसति अति  
छमा-सीलसति सीलसति जामें भारी है  
रूप की उज्यारी, प्रानहू ते प्रानप्यारी ग्रंथ  
धन्य ताके भाग जाके भौन ऐसी नारी है।<sup>117</sup>

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्री उदयनाथ कवींद्र के काव्य में भारतीय  
सांस्कृतिक जीवन का रीतिकालीन स्वरूप अपने संपूर्ण वैशिष्ट्य के साथ उदघाटित हुआ है।  
उनका रीतिकालीन कला एवं शास्त्रज्ञान, नायिकाभेद-वर्णन पर्याप्त मात्रा में प्रदर्शित हुआ है। वे  
रीतिबद्ध कवि थे, इसलिए उन्होंने रीतिबद्ध काव्य की संस्कृति का पूर्णतया पालन किया।  
‘रस-चंद्रोदय’ और ‘विनोदचंद्रिका’ इसके प्रमाण हैं।

#### संदर्भ

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० 187, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी  
सं० 2040 वि०
2. डॉ० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी, साहित्य परिचय, शिक्षा और भारतीय संस्कृति विशेषांक, पृ०  
41, प्रधान संपादक डॉ० रामशकल पांडेय, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, जनवरी-फरवरी  
1971, संयुक्तांक
3. उदयनाथ कवींद्र ग्रंथावली, संपादक डॉ० रामानंद शर्मा, विनोद चंद्रिका, पृ० 107, लोकहित  
प्रकाशन दिल्ली
4. वही, रसचंद्रोदय, पृ० 37
5. वही, पृ० 36
6. वही, पृ० 37
7. वही, पृ० 53

8. वही, पृ० 80, 81
9. वही, पृ० 90
10. वही, पृ० 36
11. वही, पृ० 36
12. वही, पृ० 37
13. वही, पृ० 38
14. वही, पृ० 38
15. वही, पृ० 38
16. वही, पृ० 38
17. वही, पृ० 39
18. वही, पृ० 39
19. वही, पृ० 40
20. वही, पृ० 40
21. वही, पृ० 41
22. वही, पृ० 42
23. वही, पृ० 43
24. वही, पृ० 44
25. वही, पृ० 44
26. वही, पृ० 44
27. वही, पृ० 45
28. वही, पृ० 45
29. वही, पृ० 45
30. वही, पृ० 46
31. वही, पृ० 47
32. वही, पृ० 48
33. वही, पृ० 49
34. वही, पृ० 49
35. वही, पृ० 49
36. वही, पृ० 50
37. वही, पृ० 51
38. वही, पृ० 52
39. वही, पृ० 52
40. वही, पृ० 52
41. वही, पृ० 53
42. वही, पृ० 53
43. वही, पृ० 55
44. वही, पृ० 55
45. वही, पृ० 55
46. वही, पृ० 55
47. वही, पृ० 56
48. वही, पृ० 56
49. वही, पृ० 56
50. वही, पृ० 57
51. वही, पृ० 57
52. वही, पृ० 57
53. वही, पृ० 58
54. वही, पृ० 58
55. वही, पृ० 58
56. वही, पृ० 59
57. वही, पृ० 59
58. वही, पृ० 59
59. वही, पृ० 60
60. वही, पृ० 61
61. वही, पृ० 62
62. वही, पृ० 62
63. वही, पृ० 62
64. वही, पृ० 62
65. वही, पृ० 63
66. वही, पृ० 63
67. वही, पृ० 63
68. वही, पृ० 64
69. वही, पृ० 64
70. वही, पृ० 65
71. वही, पृ० 65
72. वही, पृ० 66
73. वही, पृ० 66
74. वही, पृ० 66
75. वही, पृ० 66
76. वही, पृ० 67
77. वही, पृ० 67
78. वही, पृ० 68
79. वही, पृ० 68

80. वही, पृ० 68
81. वही, पृ० 69
82. वही, पृ० 69
83. वही, पृ० 69
84. वही, पृ० 70
85. वही, पृ० 70
86. वही, पृ० 71
87. वही, पृ० 71
88. वही, पृ० 72
89. वही, पृ० 79
90. वही, पृ० 80
91. वही, पृ० 80
92. वही, पृ० 81
93. वही, पृ० 81
94. वही, पृ० 81
95. वही, पृ० 82
96. वही, पृ० 82
97. वही, पृ० 83
98. वही, पृ० 83
99. वही, पृ० 84
100. वही, पृ० 84

101. वही, पृ० 85
102. वही, पृ० 85
103. वही, पृ० 86
104. वही, पृ० 87
105. वही, पृ० 87
106. वही, पृ० 88
107. वही, पृ० 88
108. वही, पृ० 91
109. उदयनाथ 'कवींद्र' ग्रंथावली संपादक  
डॉ० रामानंद शर्मा, विनोदचंद्रिका, पृ०  
109
110. वही, रसचंद्रोदय पृ० 36, विनोदचंद्रिका  
पृ० 107
111. वही, रसचंद्रोदय, पृ० 105
112. वही, विनोद चंद्रिका, पृ० 107
113. वही, पृ० 117
114. वही, विप्रकीर्ण छंद, पृ० 117
115. वही, रसचंद्रोदय, पृ० 37, विनोदचंद्रिका,  
पृ० 107, 108
116. वही, रसचंद्रोदय, पृ० 80
117. वही, विनोदचंद्रिका, पृ० 108

□ अंशकालिक प्रवक्ता

डॉ० रामबहादुर सिंह मेमोरियल  
डिग्री कॉलेज, मिलक ( रामपुर )

## तारसप्तक एवं प्रभाकर माचवे

डा० गीता सिंह

हिंदी साहित्य में प्रभाकर माचवे का नाम किसी विशेष परिचय की आवश्यकता नहीं रखता। माचवे जी अपने बहुआयामी व्यक्तित्व और वैविध्यपूर्ण कृतित्व के कारण हिंदी साहित्य में एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उन्होंने केवल साहित्य के किसी एक क्षेत्र में ही योगदान नहीं दिया है अपितु हिंदी की प्रायः प्रत्येक विधा में लिखा है कविता, उपन्यास, कहानी, नाटक, व्यंग्य, आलोचना जीवनी, शब्द चित्र, संस्मरण, रिपोर्टार्ज आदि। इसके अतिरिक्त उनके द्वारा लिखित विपुल साहित्य अनेक पत्र पत्रिकाओं में बिखरा पड़ा है। हिंदी कविता के क्षेत्र में उनका योगदान अपारंपरिक रहा है। वास्तव में माचवे जी बहुमुखी प्रतिभा के स्वामी हैं, अनेक भाषाओं के ज्ञाता एवं प्रयोगधर्मी साहित्यकार हैं।

मूल रूप से प्रभाकर माचवे भाषा के थे, किंतु राष्ट्रभाषा हिंदी को ही उन्होंने स्वभाषा के रूप में अपनाया और उसमें साहित्य-रचना की। इस प्रकार उन्होंने भारतीय साहित्य में विभाजक रेखा खींचनेवालों के समक्ष एक उदाहरण प्रस्तुत किया। इसलिए उनके साहित्य में उनके विराट भावों एवं विचारों की खुशबू आती है, उन्होंने स्वयं लिखा भी है—

एक अहिंदीभाषी जब हिंदी में रचना करता है तो अपने साथ एक भाव-विश्व एक खास रंगत एक तरह का अलग अंदाज़ और खुशबू भी लाता है—अनजाने।’

सन् 1934 में प्रभाकर माचवे विधिवत् लेखन क्षेत्र में आए। तब वह बी०ए० के छात्र थे और तबसे अपने जीवन के अंतिम समय तक वे रचनारत रहे। उनकी प्रथम कविता 1934 में माखनलाल चतुर्वेदी ने, पहली कहानी सन् 1935 में ‘हंस’ में प्रेमचंद ने और पहला लेख प्रथम स्थान पर 1936 में ‘सुधा’ में निराला ने छपा था। इंप्रेसनिस्ट कविता का आरंभ उन्होंने ही किया। सन् 1938 में अज्ञेय जी ने ही ‘विशाल भारत’ में दो इंप्रेसनिस्ट कविताएँ छपी थीं। इनकी तीन भाषाओं में लिखी सौ से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हैं और करीब दस हजार पृष्ठों का विविध प्रकार का लेखन पत्र-पत्रिकाओं में बिखरा पड़ा है। वे भारतीय वाङ्मय के चलते-फिरते भंडार थे। हिंदी और हिंदीतर भाषाओं के मध्य सेतु का जैसा और जितना काम माचवे जी ने किया, उतना कोई अन्य, एक व्यक्ति के रूप में न कर सका। माचवे जी हिंदी में ‘तारसप्तक’ के कवि रूप में प्रतिष्ठित हुए थे। तारसप्तक के कवियों में संभवतः वह अकेले थे, जो निरंतर नवीनता और प्रयोग के प्रति इतना आग्रह रखते थे। तारसप्तक—सात कवियों का संकलन है। सन् 1943 में अज्ञेय द्वारा प्रकाशित तारसप्तक नई काव्यधारा को निर्देशित करने वाला सफल सामूहिक प्रयत्न है। अज्ञेय द्वारा संपादित एवं प्रकाशित इस ग्रंथ के कलाकार जहाँ कवि हैं, वहाँ स्वयं आलोचक भी हैं। इसके अंतर्गत निम्नलिखित कवियों को स्थान दिया गया

है—गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचंद्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, रामविलास शर्मा तथा अज्ञेय। तारसप्तक द्वारा प्रसूत परंपरा अपनी विशिष्टता के कारण सहृदयों को आकृष्ट करती रही। तारसप्तक के कविता क्षेत्र का नई दिशाओं में प्रचार बढ़ाने के जो अभिनव प्रयत्न किए थे, उसके आनेवाली पीढ़ी पर स्पष्टतया गहरा असर पड़ा और बहुत से कवि अपनी-अपनी रुचि सामर्थ्य तथा मानसिक स्थिति के अनुसार इस प्रयत्नभूमि पर आकर इकट्ठे होने लगे। तारसप्तक की निर्माण-योजना के संदर्भ में माचवे जी का वक्तव्य कुछ इस प्रकार है—‘मुझे उस समय की बातें सिलसिलेवार याद नहीं आतीं। मैं समझता हूँ, मैंने यह कल्पना सबसे पहले शुजालपुर में नेमिचंद्र और मुक्तिबोध से चर्चित की। मराठी के रवि किरण मंडल के सप्तर्षि जिस पर अंकित होते हैं, ऐसी कई कविता-पुस्तकें छपी थीं। मैंने इसलिए पहला नाम ‘सप्तर्षि’ रखना चाहा था। नेमिचंद्र संगीतप्रेमी थे। उन्होंने सप्तक सुझाया। ‘तार’ मैंने जोड़ा, ‘तारसप्तक’ के मुखपृष्ठ के विषय में डॉ॰ प्रभाकर माचवे कहते हैं—‘उन्होंने (अज्ञेय जी ने) कलकत्ते में मुखपृष्ठ बनवाया, टूटी सात-सात सीढ़ियों वाला-बावड़ी में उतरता अमूर्त। उसी पर टूटे पल या बाद में ‘रौंदे इंद्रधनुष का आभास जैसा।’

तारसप्तक की निर्माण-योजना में प्रमुख रूप से सहयोगी भावना बलवती थी..यह सिद्धांत रूप से मान लिया गया था कि योजना का मूल आधार सहयोग होगा, अर्थात् उसमें भाग लेनेवाला प्रत्येक कवि पुस्तक का साझी होगा। चंदा करके इतना ध्यान उगाहा जाएगा कि कागज़ का मूल्य चुकाया जा सके, छपाई के लिए किसी प्रेस का सहयोग माँगा जाएगा, जो बिक्री की प्रतीक्षा करें या चुकाई में छपी हुई प्रतियाँ ले लें। इसी संदर्भ में ‘तारसप्तक’ के कवि प्रभाकर माचवे से प्रश्न पूछा गया कि ‘तारसप्तक’ को सहयोगी प्रकाशन कहा गया है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि सातों कवियों ने प्रकाशन का व्यय सही ढंग पर वहन किया, तो वे कहते हैं—‘मैं औरों को नहीं जानता, मेरे पास तो उस समय छपाई का खर्च देने के लिए पैसे थे नहीं। मैंने कप्तान वात्स्यायन जी को साफ़ लिख दिया था—वे ही छपाई का खर्च दें। मैं उनका ऋणी हूँ, क्योंकि आज तक वह ऋण मैंने चुकाया नहीं। जहाँ तक मेरी जानकारी है, शायद मुक्तिबोध ने भी मुद्रण व्यय नहीं दिया था। उन सातों में हम दो ही सबसे ग़रीब थे, उस समय और बाकी सब अच्छी तनख़्वाहों पर थे। इसलिए हम दो ही साम्यवाद जायके के बारे में शकित थे—अन्य लोग ‘बुर्जुबा’ कम्युनिस्ट थे। अपने-अपने वाद में आश्वस्त।’

अज्ञेय संगृहीत कवियों को ‘राहों के अन्वेषी’ स्वीकार करते हैं, किसी मंज़िल पर पहुँचे हुए नहीं हैं— राही नहीं राहों के अन्वेषी।’ काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बाँधता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि ‘प्रस्तुत संग्रह की सब रचनाएँ प्रयोगशीलता के नमूने हैं या कि इन कवियों की रचनाएँ रूढ़ि से अछूती हैं दावा केवल इतना है कि ये सातों अन्वेषी हैं।’ तारसप्तक का प्रकाशन सन् 1943 में हुआ तथा इसका दूसरा संस्करण 1963 में प्रकाशित हुआ। इनका मूल सिद्धांत यह था कि संग्रहीत कवि सभी ऐसे होंगे जो कविता को प्रयोग का विषय मानते हों—जो यह दावा नहीं करते कि काव्य का सत्य उन्होंने पा लिया है। इन कवियों में माचवे जी का अपना एक अलग स्थान है उनका साहित्य अपनी विशिष्ट विशेषताओं से पाठक को प्रभावित ककिया बिना नहीं रहता साथ ही छायावादी एवं प्रगतिवादी दोनों धाराओं की अतिरंजनाओं से मुक्त है। यदि वे छायावाद की अतिशय कल्पनाशीलता को एक मानसिक रोग

मानते हैं जो स्मृतियों की प्रच्छन्न और अज्ञात पूर्णावृत्ति तथा तज्जन्य अहेतुक त्रास की तरह दिखाई देता है तब प्रगतिवाद में एक अनावश्यक प्रदर्शप्रियता दमित इच्छाओं से निर्मित होने वाला औदात्य की सीमा तक पहुँचनेवाला पर पीड़न, प्रेम और प्रचारके विद्रूप कुनैन पर कला का शंकराकरण पहिनाने की या राजनैतिक पक्ष-विपक्ष का माईक कविता को बनाने की प्रवृत्ति आदि शेष रह गए हैं। माचवे जी का मानना है कि ये सभी दोष धीरे-धीरे मिट जाएँगे। उनका मानना है कि 'कविता में ताजी प्रज्ञा के साथ नित्य-नूतन, नव-नवीन प्रयोगशीलता की महत्ता है। इसीलिए हम उनके काव्य में समाजवादी यथार्थ की भावना नव प्रयोगशीलता में पाते हैं। वे एक साधारण अखबार बेचने वाले का असाधारण चित्र प्रस्तुत करते हैं—

‘वह एक मैला-सा कुर्ता पहने बेच रहा अखबार  
अरजुन, स्वराज, जन्मभूमि, आज अधिकार—  
दो पैसे या कि चार-चार।

वह क्या समझता है राजनीति? खाक-धूल।  
उसे क्या पता है यह फैला कहाँ तक है  
मैला जीवन-दुकूलै।’

क्रांति की भावना उनके हृदय में पूरे वेग के साथ विद्यमान थी, यहाँ तक कि उन्होंने 'द्राज्दास्तव्युते सोवित्स्की सोयूज' (सोवियत यूनियन ज़िदाबाद) कविता भी लिखी। इसके साथ ही रिमझिम-रिमझिम होनेवाली वर्षा भी उन्हें ऐसी लगती है मानो जनता परशुराम का अवतार लेकर फरसा हाथ में ले सरोष क्रांति का आह्वान कर रही है—

निःक्षत्रिय करने को मानों आज उठ खड़ी  
सरोष जनता लेकर फरसा,  
ऐसी वर्षा।

आधुनिक कविता भी आज अपने इस गुण से पीछे हट गई है अथवा उसमें दोष आ गए हैं। व्यक्तिवादी मनोभूमि पर आधारित इस कविता में आत्म-रति, मृत्यु-प्रेम और संकेतों से स्वप्नपूर्ति के कारण घोर अनिश्चय, ये तीन दोष (मनोविज्ञान की शब्दावली में आटो-अरोटिज्म, नेक्रोफ़िफिया और एबूलिया) इतने स्पष्ट हैं कि उन्हें प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं। माचवे जी 'स्वांतःसुखाय' को स्वरति कहने में भी नहीं हिचकते तथा दूसरी ओर वात्स्की के 'कला हथौड़ा है' वाले नारे से भी सहमत नहीं होना चाहते, उनका मानना कि व्यक्तिगत अनुभव के क्षण ऐसे होते हैं, जो अत्यधिक सामाजिक, आशय से गर्भित रहते हैं—'उनमें मानव और प्रकृति, प्रकृति और संस्कृति के सतत् संघर्ष के गति-चित्र का ऐसा अंशाकन होता है कि उसकी पूर्णावृत्ति असंभव है। कवितागत मौलिकता का अर्थ वही अंशाकन है।'

माचवे जी के काव्य में उत्कृष्ट व्यंग्य का सुरुचिपूर्ण प्रयोग मिलता है, वे आज की कविता को प्रयोगशील अभिव्यंजना के प्रति उदारवादी बनाना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में—'कविता रोमांस और यथार्थ, एक कोण की दो भुजाएँ हैं, रोमांस स्वस्थ मन का भावनात्क रूप है। यथार्थ उसी की बुद्धिगत परिकल्पना। कॉलरिज का एक बहुत ही अर्थपूर्ण कथन है कि 'गहरी भावनाएँ गहरे विचार की कोख से जनमती है' आज हिंदी कविता में रोमांस के छिछले और गंदले हो जाने



के कारण यथार्थ पर अधिक जोर दिया जा रहा है। यह अंशतः आवश्यक और इष्ट भी है, पर यही स्थिति क्या सदा के लिए रहेगी? युग की वाणी जैसे ग़रीबों पर निरे निष्क्रिय आँसू बहाकर या बुर्जुआ को दस-पाँच गाली देकर समाप्त नहीं हो जाती, वैसे ही युग-युग की वाणी भी मर्मियों की भाषा का विवेक शून्य अनुकरण कर, अप्रस्तुत-अलंकार-योजना से ही नहीं होती। असल में काल के कालदंड से वाणी का यह वर्गीकरण ही ग़लत है। उनके काव्य में स्वाभाविक सौंदर्यानुभूमि के परंपरित चित्र भी कितने प्रभावशाली बन पड़े हैं, यही उनकी विशेषता है—

खिला बाग़ है, मिला चोंच, भीगे पर सिमटाय दो चिड़ियाँ  
बिजली के तारों पर टप-टप टूट रही बूँदों की कड़ियाँ।

शब्दों की अभिधामूलक लक्षणा की अपेक्षा व्यंजनाशक्ति में उनका विश्वास रहा, परिणामतः अपने साथी कवियों की तरह वे उस रोमांटिक 'फैंटेसी' के शिकार होने से बंचित रहे, 'शायद' उससे अधिक हिंदी की ग़ैर ईमानदारी ने उन्हें एक चौथाई शती के बाद 'द्विभाषी' मानने के लिए बाध्य कर दिया। इस मजबूरी ने माचवे में पहले से अधिक ग़ैर रूमनियत दी। छायावादी अंदाज़ से सर्वाधिक कटी हुई मनःस्थित माचवेजी की थी, इसलिए आज की कविता में गंध के निकट हो जाने की जो स्वाभाविकता और नकारात्मक दृष्टि उभरी है, उनमें माचवे शायद 'तारसप्तक' के कवियों से अधिक ग़रीब हैं। छायावाद एवं प्रगतिवाद के विषय में वे प्रगति को छाया समझते हैं और छाया को ही प्रगति। उन्हीं के शब्दों में 'वह युग था—सन् 43 आधे महायुद्ध के बीच फ़ासिज़्म-विरोधी संघर्ष चल रहा था। दोनों वादों के प्रति असंतुष्टि की स्थिति में मेरी छटपटाहट नई राह की तलाश करती रही। मैं समझता हूँ, इसका प्रभाव मेरी कविता पर अवश्य पड़ा।'

माचवेजी विलक्षण कवि हैं। उनकी कविता में समसामयिक समाज के प्रभावशाली चित्र मिलते हैं। कुछ कविताओं में वे सामाजिक वैषम्य को दूर करने के लिए भी चिंतित दिखलाई देते हैं। उनकी सबसे बड़ी शक्ति है कि वे बहिर्मुखी वृत्तिवाले कवि हैं। सामाजिक चेतना की दृष्टि से उनका काव्य-संसार अत्यंत संपन्न है। उनके काव्य में गहरे संघर्ष भाव के साथ व्यक्तिक स्तर का व्यंग्य भी है, समकालीन परिस्थितियों के भयावह चित्रण के साथ-साथ हल्की-फुल्की विडंबनापूर्ण स्थितियाँ भी हैं, निम्नमध्यवर्गीय बेबसी का कितना सटीक एवं प्रभावशाली चित्रण उन्होंने अपनी इस कविता में किया है—

नोन तेल लकड़ी की फ़िक्र में लगे धुन-से,  
मकड़ी के जाले से, कोल्हू के बैल-से  
मकाँ नहीं रहने को, फिर भी ये धन से  
गंदे औंधियारों और बदबू-भरे भरे दड़बों में,  
जनते हैं बच्चे।

देशोद्धारक की भावना का ढोंग रचनेवाले नेताओं पर बहुत ही तीक्ष्ण व्यंग्य उन्होंने किया है, वे एक रूप से सामान्य जनता के रक्त को चूसकर विलास की ज़िंदगी व्यतीत करने वाले शोषक हैं। ग़रीब जनता के श्रम का फल खुद लेकर वे आराम की नींद महलों में सोते हैं और अपनी मेहनत के बदले ग़रीब लोगों को दो वक़्त की रोटी भी भरपेट नहीं मिल पाती। तारासप्तक की ही एक कविता (देशोद्धारक में) में वे लिखते हैं—

मृदुल नींद नीड़ की गोद में और परों की सेज नरम  
बाहर झुलसी हवा बह रही रह-रह कर लू तेज़ गरम,  
बाहर अर्धनग्न पीड़ा, भीतर क्रीड़ा-लबरेज हरम  
करुणा के आँगन में, नेता दे थोड़ी-सी भेज शरमा।'

आधुनिक युग की युवापीढ़ी नए जीवनमूल्यों के साथ नई सभ्यता एवं संस्कृति को भी जन्म दे रही है। यही पीढ़ी अपने ही मकड़जाल में जकड़ी उचित-अनुचित, नैतिक-अनैतिक में स्पष्ट उचित-अनुचित, नैतिक अनैतिक में स्पष्ट अंतर करने में अक्षम है। इसी पर हास्यपरक व्यंग्य करते हुए कवि कहता है—

दीवारों पर टाँगे भैया, गांधी, शिवाजी और सुरैया  
एक साथ ही एक पाँत में, तस्वीरों को करो नमस्ते।

माचवेजी को कविता में जीवन-यथार्थ का सामान्य बोध प्रकट हुआ है। कवि के यथार्थबोध में भविष्य का आभास है और उससे समकालीन परिवेश का वास्तविक चित्र भी प्रस्तुत होता है। वे गुणी कलाकार थे। वे ऐसी नदी हैं, जो किसी की परवाह किए बिना बहती जाती है, साथ ही राह में कुछ देती और छोड़ती जाती है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी उनके विषय में कहा है—'डॉ० प्रभाकर माचवे प्रतिभाशाली कवि और प्रभावशाली साहित्यकार हैं। उन्होंने भारतीय भाषाओं के साहित्य का अध्ययन और मनन किया है। वे स्वयं हिंदी और मराठी में साहित्य रचना करते रहे हैं। उनकी प्रतिभा साहित्य की प्रत्येक विधा में चमकी है, ऐसे मनीषी साहित्यकार का सम्मान करना सबप्रकार से उचित है।'

जैनेंद्रकुमार, मामा परेरकर तथा पंडित नेहरू माचवेजी के आत्मीय एवं समकालीन मित्रों में माने जाते हैं। अज्ञेयजी भी उनके घनिष्ठ मित्रों में से थे, परंतु माचवेजी कभी भी अपने मित्रों से निकटमत संबंध होते हुए भी फायदा लेना नहीं चाहते थे। यह बात उन्होंने धर्मयुग के लिए पद्मा सचदेव से कही थी कि उन्होंने कभी नेहरू या गांधी के रहते हुए भी स्वयं अपने आपको तीस मार खाँ नहीं समझा। कई पुरस्कार भी मिले, पर उसके लिए कभी प्रयत्न नहीं किया। बस एक इंसान बनने का यत्न किया और उसमें मेहनत ज़्यादा लगती है।

माचवेजी के विषय में जितना कहा जाए, उतना कम है। वे जितने ऊँचे थे, उतना ही ऊँचा उनका मत था। उन्होंने अपने युग को निकट से देखा है, भोगा है और उसे अभिव्यक्ति भी प्रदान की। यही उनका और उनके साहित्य का संपूर्ण मूल्यांकन है।

#### संदर्भ

1. डॉ० रमाशंकर तिवारी, प्रयोगवादी काव्यधारा, चौखंबा प्रकाशन, वाराणसी 1964
2. तारसप्तक प्रथम, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली 1943
3. डॉ० श्याम पँवार : अकविता और कला संदर्भ, कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर, 1968
4. डॉ० रामविलास शर्मा, साप्ताहिक हिंदुस्तान (पत्रिका), पृ० 49
5. डॉ० सूर्यप्रकाश विद्यालंकार, सप्तकत्रय : आधुनिकता एवं परंपरा, शलभ प्रकाशन मेरठ, 1980

□ साकेत कालोनी, गली नं० 5

मुजफ्फरनगर (उ०प्र०)

## साठोत्तरी हिंदी महिलाकथाकारों के उपन्यासों में नारी-जीवन

डॉ० घनश्याम भारती  
डॉ० बाबूलाल अहिरवार

हिंदी कथासाहित्य जगत में नारी की लेखन-क्षमता तथा संवेदना तीव्र गति से प्रकट हुई है। उपन्यास के क्षेत्र में महिला-लेखन अपनी एक अलग पहचान बनाने में सफल सिद्ध हुआ है, तो इसलिए कि उसने स्वतंत्रोत्तर भारत की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक स्थितियों का चित्रण मूलतः नारी के संदर्भ में किया है। सन् 1960 के पश्चात् महिला कथाकारों का एकाएक उभरकर आना इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय कथा-लेखिकाएँ पुरुष से पीछे नहीं हैं। साठोत्तरी हिंदी महिला-कथाकारों ने विद्रोह के स्वरो को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। इन महिला-कथाकारों ने अपने साहसपूर्ण, मौलिक चिंतन के साथ जीवन की विषमताओं को अपनी पैनी दृष्टि से विश्लेषित किया और विशेषकर भारतीय नारी-जीवन के लगभग सभी पहलुओं को बारीकी के साथ चित्रित किया। ममता कालिया, चित्रा मुदगल, सुधा अरोड़ा, कृष्णा सोबती, मैत्रेयी पुष्पा, मन्मू भंडारी, राजी सेठ, मेहरुन्निसा परवेज़, मृदुला गर्ग, सूर्यबाला तथा प्रभा खेतान आदि महिला-कथाकारों ने अपने उपन्यासों में नारी जीवन को स्थान देकर स्त्री और पुरुष-लेखन के भेद को न सिर्फ मिटा दिया, बल्कि पुरुष-लेखकों को चुनौती भी दी है।

साठोत्तरी हिंदी कथा-लेखिकाओं का अपने युग की विविध समस्याओं जैसे-संयुक्त परिवार, दांपत्य जीवन, प्रेम-विवाह, अंतर्जातीय विवाह, बेमेल विवाह, तलाक, पारिवारिक विघटन, मध्यवर्गीय खोखलापन, अति आधुनिकता, आर्थिक स्वतंत्रता, बेरोजगारी, रिश्वत, आर्थिक चकाचौंध आदि समस्याओं से सीधा संबंध रहा है, अतः इन समस्याओं की अभिव्यक्ति इन महिला-कथाकारों ने अपनी कृतियों में यथार्थ रूप में की है।

‘अमृता प्रीतम’ एक सक्रिय महिला कथाकार रही हैं। इनके उपन्यासों में ग्रामीण परिवेश की नारी-समस्याओं को उठाया गया है। ग्रामीण परिवेश की प्रेमिकाओं के श्रेष्ठ रूप इनके उपन्यासों में अवतरित हुए हैं। प्रेम की सच्चाई इनके उपन्यासों में है। इनके ‘एक सवाल’ (1974) उपन्यास की ‘नूरु’ ग्रामीण परिवेश की संस्कारवान प्रेमिका है। प्रेमी जगदीप की माँ गुजर जाने पर नूरु का भोला प्रेम ही दीप के जीवन को सहारा दिए रहता है। गाँव में जगदीप की अनुपस्थिति में ‘नूरु’ की शादी कहीं और हो जाती है, लेकिन नूरु का प्रेम कम नहीं होता, वह रोज़ दोनों के मिलकर लगाए बरगद के पेड़ को प्यार से सींचती है। भारत-विभाजन के समय नूरु को भारत छोड़ना पड़ता है। दंगों में, जगदीप की निशानी बरगद के पेड़ के गिर जाने

से वह विलख उठती है।<sup>1</sup> एक अन्य युवती 'रामिंदर' मन ही मन जगदीप को चाहती है, किंतु स्पष्ट नहीं होने देती। नूरों के प्रति दीप के घनिष्ठ प्रेम को जानकर वह जलती है। दीप द्वारा बनाई गई 'नूरों' की तस्वीर को खरीदकर फाड़ देती है तथा खूब रोती है।

'उषा प्रियंवदा' ने अपने उपन्यास साहित्य में भारतीय और पाश्चात्य परिवेश के नारी-जीवन को उजागर किया है। सामाजिक संबंधों-नर-नारी, पति-पत्नी, भाई-बहिन, पिता-पुत्र, माँ-बेटी, पिता-पुत्री, माँ-बेटा आदि के विघटन को उषा जी ने अपने उपन्यासों में दर्शाया है। उनके 'पचपन खंभे लाल दीवारें' (1964) उपन्यास में अंतर्मुखी, कुंठित, स्वतंत्रता और कर्तव्य के बीच छटपटाती नारी 'सुषमा' की करुण गाथा का चित्रण है। उनके दूसरे महत्वपूर्ण उपन्यास 'रुकोगी नहीं राधिका' (1970) में 'राधिका' के सुसंस्कारित जीवन तथा पारिवारिक विसंगतियों को चित्रित किया गया है। 'सुषमा और 'राधिका' दोनों स्त्रियाँ अपने अस्तित्व की प्राप्ति के लिए संघर्ष करती प्रतीत होती हैं। डॉ॰ पारुकांत देसाई के अनुसार— 'आधुनिक कथा-लेखिकाओं में उषा जी की गणना अग्रिम पंक्ति में होती है। उनके साहित्य में आधुनिक जीवन की ऊब, छटपटाहट, संत्रास, अस्तित्व-बोध एवं अकेलेपन की भावना को प्रमुख स्वर मिला है।'<sup>2</sup> पचपन खंभे लाल दीवारें, की नायिका सुषमा गरीब परिवार की एक नौकरीपेशा युवती है। आयु बढ़ती जा रही है, परिवार की जिम्मेदारियाँ हैं। मर्यादा और समाज के डर से वह अपने प्रेमी 'नील' को भी त्याग देती है तथा अंत तक ड्रॉ में फँसी आँसू बहाती हुई कहती है—'ये कॉलेज, ये खंभे मेरी डेस्टिनी हैं, मुझे यहीं छोड़ दो।'<sup>3</sup> वह आत्म-पीड़ा भोगती हुई अपना जीवन व्यतीत करती है। डॉ॰ किरणबाला अरोड़ा के शब्दों में—'खीझ में कभी वह अपने भाग्य को दोष देती है तो कभी अपने पिता को, जिसने ठीक समय पर उसका विवाह नहीं किया। आत्मपीड़न की प्रवृत्ति उसे किसी भी खुशी को सहजता से स्वीकार करने नहीं देती।'<sup>4</sup>

'रुकोगी नहीं राधिका' की नायिका 'राधिका' को अपने पिता से बहुत लगाव है। मातृहीना राधिका के पिता दूसरा विवाह करते हैं। दूसरी माता 'विद्या' की मृत्यु के उपरांत पिता के समक्ष राधिका 'मनीष' को स्वीकार कर उपस्थित होती है। डॉ॰ घनश्याम मधुप के अनुसार 'पचपन खंभे लाल दीवारें' की सुषमा जहाँ परिवार के उत्तरदायित्वों के बीच पिसती हुई 'नील' को एक तरह से त्याग देती है, वहीं राधिका की एक यात्रा, जिसे खोज भी कहा जा सकता है, प्रारंभ होती है। यह यात्रा विदेशी पत्रकार डेनियल पीटरसन और अक्षय से होती हुई मनीष पर आकर रुकती है।<sup>5</sup> इस प्रकार उषा प्रियंवदा के उपन्यासों में समकालीन जीवन की त्रासदी, मानवीय मूल्यों का विच्छेद, आक्रोश तथा छटपटाहट की अभिव्यक्ति दिखाई देती है।

कृष्णा सोबती साठोत्तरी महिला-लेखिकाओं में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। उन्होंने नारी-जीवन से संबद्ध चार बहुचर्चित उपन्यासों की रचना की है। उनके डार से बिछुड़ी (1960), तिन पहाड़ (1968), मित्रो मरजानी (1967), सूरजमुखी अँधेरे के (1972) उपन्यासों में नारी-जीवन की विभिन्न समस्याओं तथा सूक्ष्म मानसिक ग्रंथियों का चित्रण किया गया है। 'तिन पहाड़' की जया अत्यंत अंतर्मुखी, आत्मपीड़ा से ग्रसित, भावुक मनोवैज्ञानिक स्त्री है। उसके जीवन में कई समस्याएँ घेर कर लेती हैं। जया यौवनकाल में ही श्री दा पर मोहित हो जाती है। श्री दा का प्रवेश उसकी मृत्यु का कारण बनता है। 'अब कहाँ लौटना होगा श्री

दा।<sup>6</sup> कहकर जया मृत्यु को प्राप्त होती है।

कृष्णा सोबती कृत 'सूरजमुखी अंधेरे के' उपन्यास नारी-जीवन की भयावह पीड़ा का दस्तावेज़ है। नायिका 'रत्तिका' एक आधुनिक नारी होते हुए भी आत्मपीड़ा एवं कुंठाग्रसित है। यौवनावस्था में वह बलात्कार की शिकार होती है। जवानी में अनेक पुरुषों से संबंध स्थापित करने के पश्चात् भी किसी में अपना सच्चा समर्पण न कर सकी। लेखिका कहती है—'उसकी लड़ाई किसी से नहीं, रति की खुद से है।' 'रत्तिका' कुंठा के कारण मनोरोगी बन जाती है तथा पाठकों की सहानुभूति प्राप्त करती है। 'मित्रो मरजानी' उपन्यास की नायिका 'मित्रो' भी इसी काम-कुंठा की शिकार है। शृंगार-प्रसाधन और सोलह शृंगार में विश्वास करने वाली 'मित्रो' वासना-प्रेम और त्याग की त्रिकोणात्मक मूर्ति है।

चित्रा मुदगल साठोत्तरी महिला कथाकारों में पारिवारिक समस्याओं के चित्रण में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इन्होंने नारी-जीवन की समस्याओं को अपने उपन्यासों में उतारा है। स्त्री के शोषण और स्त्री के मन में धधकते हुए विद्रोह को इनके चर्चित उपन्यास 'आवाँ' में चित्रित किया गया है। विद्रोह की धधकती ज्वाला के रूप में 'नमिता' आवाँ की नायिका के रूप में अवतरित हुई है। वह अपने एक प्रेमी को दुत्कारकर दूसरा चुन लेती है। उपन्यास की अन्य पात्र विमलाबेन और शाहबेन के चरित्र अपनी कमजोरियों के बावजूद पाठक को आकर्षित करते हैं। इस तरह 'आवाँ' स्त्री-विमर्श का आख्यान है, जिसका देशकाल तो उनके पहले उपन्यास 'एक जमीन अपनी' की तरह मुंबई ही है। स्त्री-विमर्श से भी अधिक इसमें दलित-विमर्श के कई कथानक अनायास आ गए हैं। इस रूप में इस उपन्यास को स्त्री-विमर्श के साथ दलित-विमर्श की महागाथा कह सकते हैं।<sup>8</sup>

निरूपमा सेवती ने अपने उपन्यासों में नारी के द्वंद्व तथा बदलती हुई नैतिक मान्यताओं का चित्रण किया है। इनके उपन्यास 'पतझड़ की आवाजें' (1976), 'बँटता हुआ आदमी' (1977), 'मेरा नरक अपना है' (1977) आदि में नारी के संघर्ष की गाथाओं का निरूपण है। 'बँटता हुआ आदमी' फ़िल्मी जगत् की उलझनों, जटिलताओं और संघर्षों पर आधारित उपन्यास है। मंजू, अनिता, सुनंदा तीनों स्त्रियाँ इन उलझनों की शिकार हैं। मंजू का फ़िल्मी पति दूसरी औरत के संपर्क में आता है। अनिता का प्रेमी 'किशोर' ग़रीबी के कारण ऋण के बोझ से दब जाता है। फलस्वरूप वह अनिता से देह-व्यापार कराना चाहता है। सुनंदा का पिता अपने स्वार्थ के कारण उसे अनैतिक कार्य करने पर मजबूर कर देती हैं। सुनंदा की पारिवारिक समस्याएँ उसे फ़िल्मी संसार में आने को मजबूर कर देती हैं। पतझड़ की आवाजें उपन्यास में नारी के अकेलेपन की समस्या पर प्रकाश डाला गया है। आधुनिक नौकरीपेशा नारियों के व्यक्तिगत जीवन का चित्रण इस उपन्यास में किया गया है। अनुभा, सुनीला तथा उषा तीनों स्त्रियाँ अपने एकाकी जीवन में त्रस्त हैं, यह अकेलापन उन्हें अस्थिर बना देता है। सुनीला कहती है—इतना तो है ही कि ऐसा कोई नहीं मिला, जिसे मैं एक महीने से ज़्यादा बर्दाश्त कर सकूँ। सो आई एम स्टिल सिंगल।<sup>9</sup> इसी प्रकार 'मेरा नरक अपना है' की शीला, आशा तथा अनिला भी स्वच्छंद जीवन जीने के पक्ष में हैं। भले ही वह स्वच्छंद जीवन नरक के समान क्यों न हो।

मन्नू भंडारी ने नारी-जीवन से संबंधित आज के राजनीतिक, सामाजिक वातावरण की

दुविधापूर्ण स्थितियों का चित्रण अपने उपन्यासों में किया है। 'आपका बंटी', 'एक इंच मुस्कान' 'महाभोज' तथा स्वामी' इनकी महत्वपूर्ण औपन्यासिक कृतियाँ हैं। 'आपका बंटी' आधुनिक सुशिक्षित पति-पत्नी के अहं के टकराव तथा तनावों से उत्पन्न स्थितियों के बीच संबंध-विच्छेद की भूमिका का प्रामाणिक दस्तावेज़ है। इस उपन्यास में लेखिका ने बंटी को तलाकशुदा माँ-बाप की उपेक्षित संतान बताया है। उसकी मम्मी 'शकुन' कॉलेज की प्रिंसिपल है। पिता अजय बत्रा डिवीज़न मैनेजर है। दोनों का पारिवारिक जीवन तनावपूर्ण है। शकुन के मन की कसक इसका प्रमाण है—'सच पूछा जाय तो अजय के साथ न रह पाने का दंश नहीं है यह, वरन् अजय को हरा पाने की चुभन है यह, जो उसे उठते-बैठते सालती रहती है।'<sup>10</sup>

'एक इंच मुस्कान' उपन्यास में मुख्य रूप से तीन पात्र हैं—अमर, रंजना और अमला। समस्त कथानक में इन तीनों पात्रों की परिस्थितियों, मनःस्थितियों तथा क्रियाकलापों का चित्रण हुआ है। स्वामी उपन्यास शरत्चंद्र की कहानी का परिपक्व रूप है तथा 'महाभोज' समकालीन भ्रष्ट राजनीतिक चरित्र के अंतर्बाह्य स्वरूप को प्रकट करने वाला उपन्यास है।

ममता कालिया हिंदी की प्रयोगशील उपन्यासकार के रूप में चर्चित हैं, जिनके अभी तक प्रकाशित कुल छह उपन्यास हैं—बेघर (1971) नरक दर नरक (1975), प्रेम-कहानी (1980), लड़कियाँ (1987), एक पत्नी के नोट्स (1997) तथा दौड़ (2000)। ये औपन्यासिक कृतियाँ ममता कालिया को हिंदी साहित्य के क्षेत्र में साठोत्तरी उपन्यास लेखिका के रूप में बहुचर्चित बनाती हैं। इन उपन्यासों में निम्न-मध्यवर्ग की नारियों की समस्याओं तथा पुरुषों की अहं-भावना पर कुठाराघात किया गया है।

'बेघर' ममता कालिया का पहला उपन्यास है। इस उपन्यास में स्त्री-पुरुष के शारीरिक संबंध को केंद्र में रखकर मध्यवर्गीय संकीर्णता, तनाव तथा अधकचरी मानसिकता का वर्णन किया गया है। इस उपन्यास में नायक 'परमजीत' द्वारा संजीवनी को प्रताड़ित किया जाता है तथा वह दूसरी स्त्री रमा से शादी कर लेता है। रूढ़िग्रस्त रमा के व्यवहार से त्रस्त परमजीत को एक दिन दिल का दौरा पड़ता है तथा मृत्यु को प्राप्त होता है। 'नरक दर नरक' उपन्यास में कथानायक जोगेंदर तथा उषा के माध्यम से प्रेम-विवाह की समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। यह उपन्यास आर्थिक समस्या से होते हुए सामाजिक समस्याओं का चित्रण करता है। प्रेम कहानी की कथा दिल्ली के बी० ए० अस्पताल से संबंधित है, जिसका नायक गिनेस है। इस उपन्यास में नायिका जया की पारिवारिक समस्याओं का भी चित्रण है। 'लड़कियाँ' एक लघु उपन्यास है, जिसकी कथा-नायिका लिली तथा नायक हामिद है। यह उपन्यास एक अविवाहित नारी की विभिन्न समस्याओं तथा मनोदशाओं के यथार्थ चित्र अंकित करता है। एक पत्नी के नोट्स उपन्यास में पति संदीप तथा उसकी पत्नी कविता के जीवन का रेखांकन है। कविता की संवेदनशीलता और सहनशीलता का फ़ायदा उठाकर संदीप उसे प्रताड़ित करता रहता है। परिणामतः वह अपने पति से अलग हो जाती है। दौड़ उपन्यास में इक्कीसवीं सदी के आर्थिक उदारीकरण और बाज़ारवाद के दुष्परिणामों का यथार्थ आकलन है। इस प्रकार ममता जी ने अपने उपन्यासों में नारी-जीवन की प्रमुख समस्याओं के साथ-साथ उनकी क्रिया-प्रतिक्रियाओं को यथार्थ रूप में अंकित किया है।

मृदुला गर्ग हिंदी की महत्वपूर्ण कथाकार मानी जाती है। वंशज, उसके हिस्से की धूप,

चित्तकोबरा, अनित्य, में और मैं आदि इनके मनोवैज्ञानिक उपन्यास हैं। 'वंशज' की सविता मध्यवर्गीय परिवार की बहू है। उसकी दृष्टि जज साहब की वसीयत पर है। अपनी कूटनीति से पति सुधीर को बहन रेवा के विरुद्ध भड़काकर भाई-बहन के बीच विरोध का कारण बनती है। वह कंजूस, स्वार्थी, कुशल गृहिणी तथा मजिस्ट्रेट शुक्ला साहब की पुत्रवधू है। वह धन के लालच में पति सुधीर की उपेक्षा तथा ससुर की सेवा करती है। परंतु इच्छापूर्ति न होने से वह निराश हो जाती है। 'उनके हिस्से की धूप' उपन्यास की मनीषा उद्योगपति जितेन की पत्नी है। पति की व्यावसायिक व्यस्तता के कारण वह मधुकर नागपाल के प्रति आकर्षित होती है तथा पति से संबंध-विच्छेद कर मधुकर से विवाह-बंधन में बँध जाती है। किंतु मधुकर का साधारण जीवन उसे रास नहीं आता है। अंततः वह मानसिक द्वंद्वों से गुजरती हुई लेखनकार्य करने लगती है। इस प्रकार मृदुला गर्ग के उपन्यासों में जीवन की बारीकियों को यथार्थ रूप में अंकित किया गया है।

मालती जोशी ने भी अपने कथा-साहित्य में नारी-जीवन के आंतरिक तथा बाह्य स्वरूपों को उठाया है। उन्होंने मध्यवर्गीय नारी की हर समस्या को अपने उपन्यासों में चित्रित करने का प्रयास किया है। उनके उपन्यास निष्कासन (1978), गोपीनाथ (1979), ऋणानुबंध (1979) पटाक्षेप (1982) सहचारिणी (1985), राग-विराग (1987), पाषाण युग (1997), समर्पण का सुख (1997) विश्वासगाथा (1998) आदि नारी-विमर्श को अभिव्यक्त करने में सफल रहे हैं।

'निष्कासन' की बिन्नी तथा बेटी विधु विधवा-विवाह तथा अनमेल विवाह की समस्या से ग्रसित हैं। माँ और बेटी दोनों ही अकेलेपन से पीड़ित हैं। बेटी विधु के साथ गंगाधर द्वारा अत्याचार किया जाता है। लेखिका उसके प्रति सहानुभूति व्यक्त करते हुए कहती है—'बेचारी अब कभी जान नहीं पाएगी कि पुरुष का पहला स्पर्श कितना मंगल, कितना पवित्र, कितना रोमांचक होता है। इस दुर्दिन की स्मृति हमेशा एक काली छाया की तरह उसके अनुभवों के आसपास मँडराती रहेगी।'<sup>11</sup> 'गोपीनाथ' की अनु अपने ही पति द्वारा दस साल पहले अपनी ही दीदी को दिए चुंबन के रहस्य को लेकर कुंठाग्रस्त है। 'ऋणानुबंध' की निर्मला द्वारा पति के ग़लत आचरण के कारण दिल बहलाने के लिए लाई गई नंदा का गर्भ निर्मला को कुंठित बना देता है। 'राग-विराग' में प्रेम-विवाह की समस्या को उठाया गया है। 'पाषाण युग' उपन्यास की नीरू के द्वारा एक बिखरी हुई नारी के अंतर्मन की पीड़ा को उभारा गया है। इस प्रकार मालती जी के उपन्यासों में नारी-जीवन की मानसिक पीड़ाओं, उनके संबंधों, रिश्तों की टूटन तथा अपार विरह-वेदना का गहराई के साथ चित्रण किया गया है।

मेहरुन्सिसा परवेज़ के उपन्यासों में नारी-जीवन कई रूपों में चित्रित हुआ है। आँखों की दहलीज़ (1969), उसका घर (1972) कोरजा (1977) उनके बहुचर्चित उपन्यास रहे हैं। आँखों की दहलीज़ की नायिका तालिया बाँझ-पीड़ा से विक्षिप्त-सी रहती है। उसकी माँ, बेटी का ग़म दूर करने के लिए जावेद नामक युवक से अवैध-संबंध की छूट देती है। परिणामस्वरूप आत्मग्लानिवश तालिया आत्महत्या का प्रयास करती है। 'उसका घर' उपन्यास की ऐलमा को अपने स्वार्थी भाई के बॉस के सामने विवश होकर बार-बार समर्पण करना पड़ता है। ऐलमा की बुआ उस पर तरस खाकर कहती है 'तू कब तक सहेगी ऐनी, मैं जानती हूँ तू

कभी विरोध नहीं करेगी। तेरा इतना सुंदर शरीर यह कष्ट उठाने के लिए नहीं है।<sup>12</sup> कोरजा उपन्यास की सबसे सशक्त नारी नानी माँ है। वह सहृदय, सहनशील, कर्मठ, संवेदनशील तथा सहज स्वभाव की बुढ़िया है। मजबूरी में वह अपने गिरवी रखे मकान के बदले अपनी विधवा बेटी 'नसीमा' को मुनीम की हवस का शिकार होते देखती है, लेकिन कुछ नहीं कर पाती। 'नसीमा' कहती है—'माँ रोज़ पूजा में ढेरों उलाहने भगवान को देती है और मैं एकांत में खड़ी उन उलाहनों को वापिस माँग लेती हूँ। दुःख सहते-सहते ऐसी आदत पड़ गई है कि अगर अब एक दिन भी वह हमसे जुदा हुआ तो घबराहट होने लगती है।'<sup>13</sup> इस तरह मेहरुन्सिया परवेज़ ने मुस्लिम नारियों के दुःख-दर्द का बयान उनकी छटपटाहट का मार्मिक चित्रण किया है।

मैत्रेयी पुष्पा बीसवीं सदी के अंतिम दशक की कथाकार हैं। उन्होंने अपने समकालीन ग्रामीण नारी-जीवन के विभिन्न पहलुओं को अपने उपन्यासों में उठाया है। ग्रामीण परिवेश में पनपे नारी-शोषण के विविध आयामों को उनके उपन्यासों में दिखाया गया है। स्त्री-विमर्श से संबद्ध उनके इदन्नमम, चाक, झूला नट आदि उपन्यास हिंदी कथा-साहित्य में अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। इदन्नमम में बुंदेलखंड के एक ग्राम की विधवा स्त्री 'बऊ' की दुःखद स्थितियों का चित्रण किया गया है। इसमें बऊ की विधवा बहू की दयनीय स्थिति को भी निरूपित किया गया है। चाक में भी एक ग्रामीण स्त्री का विद्रोही स्वर चित्रित है। अतरपुर गाँव की औरतें पुरुषों के अहं, शील और सतीत्व की रक्षा के नाम पर बलि चढ़ा दी जाती हैं। इस उपन्यास की पात्र रुक्मिणी अपने जीवन से त्रस्त होकर फाँसी के फंदे पर झूल जाती है। रमदेई कुएँ में कूद जाती है तथा 'नारायणी' नदी में समाधि ले लेती है। इस प्रकार मैत्रेयी पुष्पा ने अपने उपन्यासों में अधिकांशतः ग्रामीण नारी-जीवन की समस्याओं को यथार्थ रूप में अभिव्यक्त किया है।

राजी सेठ ने नारी-जीवन की विसंगतियों को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में दिखाने का सार्थक प्रयास किया है। उनके नारी-पात्र निराशा, भय और संत्रास से ओतप्रोत हैं। राजी सेठ ने पारिवारिक संबंधों के माध्यम से नारी-जीवन के अंतर्द्वंद्वों को यथार्थ रूप में रखा है। तत्सम उनका एक बहुचर्चित सामाजिक उपन्यास है, जिसमें विधवा समस्या तथा पुनर्विवाह की समस्या को उठाया गया है। नायिका 'वसुधा' एक सुशिक्षित विधवा नारी है। वसुधा के भाई उसका पुनर्विवाह करने के लिए तैयार हैं। पर वसुधा निखिल की स्मृतियों को सँजोए रहती है तथा बेचैनी अनुभव करती है। अंत में वह कहती है 'दुश्मन तो एक ही है, मेरा मैं खुद'<sup>14</sup> इस प्रकार वसुधा का अंतर्द्वंद्व संपूर्ण उपन्यास का सार तत्त्व है।

शशिप्रभा शास्त्री ने नारी-जीवन की समस्याओं को गहराई के साथ निरूपित किया है। उन्होंने नारी की काम-वासना को नर-नारी के संबंधों के द्वारा नए रूप में दिखाया है। नारी की विवशता, घुटन, कुंठा, हताशा आदि समस्याएँ उनकी कृतियों में अत्यधिक प्रभाव के साथ अभिव्यक्त हुई हैं। उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं-नावें (1974), रूढ़ियाँ (1976), परछाइयों के पीछे (1979) अमलतास आदि। शशिप्रभा शास्त्री ने नारी-जीवन के मनोविज्ञान तथा उनकी समस्याओं का गहन अध्ययन कर अपने उपन्यासों में अवतरित किया है। 'नावें' उपन्यास की नायिका 'मालती' अपने वैवाहिक जीवन की त्रासदी से कुंठित है। विवाहित सोम से प्रेम कर वह गर्भ धारण करती है। गर्भावस्था में उसकी माँ उसे घर से निकाल देती है। सोम से भी वह



अलग रहने लगती है, तथा बच्ची को जन्म देती है। वह बच्ची बड़ी होकर अपनी माँ को पत्र लिखती है—‘तुम्हारे उस घिसे-पिटे दर्शन से मुझे चिढ़ हो गई थी कि बच्चे माँ-बाप के पति-पत्नी जैसे संबंधों को देखेंगे तो क्या सोचेंगे?’<sup>15</sup> इस तरह शशिप्रभा शास्त्री ने पति-पत्नी के मध्य व्याप्त तनाव से उत्पन्न जीवन की नीरसता, कुंठा तथा पारिवारिक परिवेश को यथार्थ रूप में चित्रित किया है।

शिवानी ने लगभग तेरह उपन्यासों की रचना की है। जिनमें नारी-जीवन की गुत्थियों को सुलझाने का उन्होंने साहसपूर्ण कार्य किया है उनका कृष्णकली (1969) उपन्यास नारी के होने और न होने की त्रासदी है। उनके अन्य उपन्यासों चौदह फेरे (1962), भैरवी (1969), मायापुरी (1971), विषकन्या (1971), रतिविलाप (1972) कैजा (1973), गैडा (1977) माणिक (1977) किशुनतली (1979) कृष्णवेणी (1981) तथा अपराधिनी में नारी जीवन का अनेक स्तरों पर रेखांकन किया गया है। भैरवी उपन्यास में विधवा राजेश्वरी की पुत्री भैरवी के जीवन की कहानी चित्रित है। ‘विषकन्या’ की कामिनी अपने ही जीजा की हवस का शिकार है। कैजा की नंदो विधवा होने के कारण कुंठाग्रस्त है। इस प्रकार शिवानी ने नारी-समाज की युगीन समस्याओं को अपनी कथा का केंद्र बनाया है।

उपर्युक्त चर्चित महिला कथाकारों के अतिरिक्त साठोत्तर काल में अन्य महिला कथाकार भी समकालीन महिलाओं की समस्याओं से रूबरू होकर उपन्यासों के प्रणयन में संलग्न थीं। उनमें प्रमुख हैं—मीरा महादेवन (अपना घर, सो क्या जाने पीर पराई), प्रतिभा वर्मा (गलियाँ और गलियारे), अन्नपूर्णा (परत दर परत) मालती परलकर (मुक्ता, इन्नी), रजनी पनिकर (पानी की दीवार, जाड़े की धूप मोम के मोती), दीप्ति खंडेलवाल (प्रतिध्वनियाँ, प्रिया, कोहरे, वह तीसरा) शांति जोशी (एक और बात, प्यार कितना प्यार) वंदना चतुर्वेदी (विभावरी) क्रांति त्रिवेदी (फूलों का सपना), कांता भारती (रेत की मछली), ज्योत्सना मिलन (अपने साथ), सुनीता जैन (अनुगूँज, मरणातीत), सूर्यबाला (मेरे संधिपत्र), मीनाक्षी पुरी (बैठक की बिल्ली, जाने-पहचाने अजनबी), कृष्णा अग्निहोत्री (बात एक औरत की, टपरे वाले, कुमारिकाएँ, टेसू की टहनियाँ), मंजुल भगत (अनारी बेगाने घर में, टूटा हुआ इंद्रधनुष, लेडीज क्लब, खातुल), मृणाल पांडेय (विरुद्ध), उषा चौधरी (वे कभी नहीं लौटे), शुभा वर्मा (कोई एक औरत की जिंदगी, बीते हुए, मोहतरमा, अनाम रिशतों के नाम), प्रभा खेतान (पीली आँधी, छिन्नमस्ता आदि।

समग्रतः साठोत्तरी हिंदी महिला-कथाकारों की औपन्यासिक कृतियों में विचार-पक्ष की एक अच्छी झलक दिखाई देती है। उनकी मर्मस्पर्शी कथाओं ने नारी को समाज में सम्मान और संरक्षण के साथ ही समता और स्वतंत्रता का जीवन जीने का अधिकार दिया है। चारदीवारी में कैद जीवन से मुक्त होकर स्वतंत्र सामाजिक जीवन जीने हेतु इन कथा-लेखिकाओं ने नारियों को प्रोत्साहित किया। वास्तव में इन महिला कथाकारों ने सामाजिक बुराइयों को अपने उपन्यासों के माध्यम से दिखाने का महत्वपूर्ण कार्य किया है।

#### संदर्भ

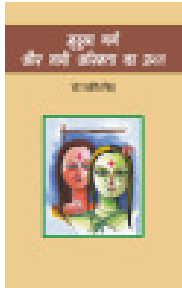
1. अमृता प्रीतम, एक सवाल, पृ० 100
2. डॉ० पारुकांत देसाई, हिंदी उपन्यास साहित्य की विकास-परंपरा में साठोत्तरी उपन्यास, पृ० 243

3. उषा प्रियंवदा, पचपन खंभे लाल दीवारें, पृ० 119
4. डॉ० किरणबाला अरोड़ा, साठोत्तरी हिंदी-उपन्यासों में नारी, पृ० 235
5. डॉ० घनश्याम मधुप, हिंदी के लघु उपन्यास, पृ० 180
6. कृष्णा सोबती, तीन पहाड़, पृ० 126
7. कृष्णा सोबती, सूरजमुखी अँधेरे के, पृ० 89
8. आजकल, पृ० 9
9. निरुपमा सेवती, पतझड़ की आवाजें, पृ० 20
10. मन्नू भंडारी, आपका बंटी, पृ० 39
11. मालती जोशी, निष्कासन, पृ० 59
12. मेहरुन्सिसा परवेज़, उसका घर, पृ० 74
13. मेहरुन्सिसा परवेज़, कोरजा, पृ० 221
14. राजी सेठ, तत्सम, पृ० 79
15. शशिप्रभा शास्त्री, नावें, पृ० 134

□ द्वारा डॉ० बी०एल० अहिरवार  
यज्ञशाला वार्ड नं० 4 पथरिया  
ज़िला दमोह-470666 ( म०प्र० )

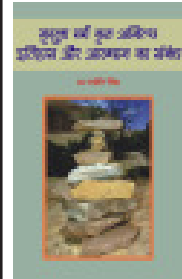
### मृदुला गर्ग के साहित्य पर दो महत्त्वपूर्ण समीक्षा ग्रंथ

#### मृदुला गर्ग और नारी-अस्मिता का प्रश्न



डॉ० ज्योति सिंह  
300.00  
प्रकाशक  
हिंदी साहित्य निकेतन  
बिजनौर (उ०प्र०)

#### मृदुला गर्ग कृत अनित्य : इतिहास और आख्यान का संबंध



डॉ० ज्योति सिंह  
150.00  
प्रकाशक  
हिंदी साहित्य निकेतन  
बिजनौर (उ०प्र०)

## बौद्धदर्शन में माया का स्वरूप

डॉ० अशोक उपाध्याय

आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार, 'बौद्धदर्शन की मूल भित्ति उपनिषद् ही हैं। तृष्णा के नाश से रागद्वेषदि बंधनों से मुक्त होना, कर्म-सिद्धांत की व्यापकता आदि सामान्य सिद्धांत दोनों में उपलब्ध होते हैं।' यद्यपि यह श्रीमद्भगवद्गीता के समान उपनिषदों का सार नहीं है, फिर भी इतना अवश्य है कि इसके मूल स्रोत उपनिषदों में ही विद्यमान हैं। स्वयं महात्मा बुद्ध ने प्रवर्तन किया है, वह एक नित्यधर्म और प्राचीन आर्यमार्ग है। उन्होंने पुराने आदर्शों को नए ढंग से स्थापित करके उसे युगानुरूप बनाने का महान कार्य संपन्न किया है। रीज़डेविड्स का अभिमत है कि 'गौतम के अध्यात्मशास्त्र एवं अन्यान्य सिद्धांतों में ऐसा कुछ नहीं है कि जो किसी न किसी कट्टर सनातनधर्म के ग्रंथों में न मिल सके और उसके अधिकांश नैतिक सिद्धांत प्राचीन अथवा अर्वाचीन हिंदू पुस्तकों से समानता रखते हैं। गौतम में जिस प्रकार की मौलिकता थी, ठीक उसी प्रकार की पहले से विद्यमान थी, उसे उसने उसी प्रकार से स्वीकार किया, उसे बढ़ाया अधिक श्रेष्ठ बनाया एवं उसे क्रमबद्ध किया, जिसके विषय में जैसे कि उसने औचित्य एवं न्याय के सिद्धांतों को तार्किक परिणामों तक पहुँचाने का प्रयत्न किया पहले भी कतिपय प्रमुख हिंदू-विचारकों ने उन्हें स्वीकार किया था। उनके एवं अन्य शिक्षकों के मध्य भेद मुख्य रूप से यह था कि बुद्ध में अगाध तत्परता एवं लोककल्याण का भाव सार्वजनिक सेवा के रूप में विद्यमान था।<sup>2</sup> डॉ० राधाकृष्णन्, रानाडे एवं चंद्रधर शर्मा आदि विद्वानों ने भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि बौद्धधर्म एवं सिद्धांतों के विकास का मूल आधार उपनिषद हैं। जीवन दुःखमय है। बौद्धधर्म एवं दर्शन की इस मूलभूत स्थापना को महात्मा बुद्ध ने प्राचीन रूढ़ि और परंपरा के रूप में औपनिषदिक विचारधारा से ही प्राप्त किया है। इस संसार में ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे नित्य अथवा स्थायी कहा जा सके। जब हम अस्थायी परिवर्तनशील एवं नाशवान वस्तुओं की इच्छा करते हैं, तब उनकी क्षणभंगुरता के कारण निराशा एवं दुःख का उत्पन्न हो जाना अवश्यभावी हो जाता है। इस क्षणभंगुर संसार में एकमात्र आत्मा ही एक ऐसी वस्तु है, जिसे नित्य की संज्ञा दी जा सकती है, लेकिन उसकी कोई सत्ता नहीं है। अतएव प्रत्येक संपूर्ण जगत् एवं इसकी प्रत्येक वस्तुएँ अनात्म तत्त्व के अतिरिक्त और कुछ प्राप्तव्य और दृष्टव्य नहीं है। शरीर, मनोवेग, प्रत्यक्ष ज्ञान, संस्कार एवं चेतना ये सभी सारतत्त्व यथार्थता से शून्य आभास-मात्र हैं। इन सबका अस्तित्व अज्ञान पर आधारित है। यही वह कारण है, जिससे मिथ्या इच्छा का जन्म होता है। मिथ्या इच्छा का सारहीन अमूर्त रूप ही अज्ञान है और अज्ञान को मूर्त रूप से ग्रहण करने से ही मिथ्या इच्छा उत्पन्न होती है। वास्तविक जीवन में दोनों एक हैं। सत्य के प्रति अज्ञान समस्त जीवन की प्राग्भूत अवस्था है। क्योंकि एक स्पष्ट तीक्ष्ण एवं

आलोचनात्मक दृष्टि हमें यह अनुभव कराने के लिए पर्याप्त है। इस संसार में पत्नी अथवा संतान, ख्याति अथवा प्रतिष्ठा, प्रेम अथवा लक्ष्मी कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो प्राप्त करने योग्य है, क्योंकि ये सब यदि इनमें लिप्त हुआ जाए तो उद्देश्य तक नहीं पहुँचा सकते।<sup>13</sup> यह अज्ञान एवं मिथ्या इच्छा ही माया है, जिस प्रतीत्य समुत्पाद के संदर्भ में अविद्या कहा गया है। प्रतीत्य समुत्पाद में दुखपूर्ण जीवन के संस्कारों का जन्म होता है, संस्कारों से चेतना और चेतना से नाम तथा रूप की छह इंद्रियों और छह विषयों का प्रादुर्भाव मन में होता है। स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव तथा भव से जाति का जन्म होता है। जाति से जरा-मरण, दुख, शोक, विषाद और निराशा की निष्पत्ति होती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अविद्या ही भवचक्र का आदिकारण है। इस अविद्या का आदिकारण क्या है? इसका उत्तर हमें तथागत ने नहीं दिया है। बुद्ध मौन रहे, परंतु अन्य समस्याओं के समान यहाँ भी उनके मौन का अर्थ अज्ञान है। बुद्ध के बाद के दार्शनिक अश्वघोष इत्यादि ने अविद्या का कारण बताते हुए उसे तथात् से उत्पन्न कहा है। एक विश्वमय सदसत्ता को मानने पर ही अविद्या का कारण बतलाया जा सकता है। अविद्या उसी विश्वमय सत्ता की एक शक्ति है।<sup>14</sup> इसके संपर्क से ही एकमात्र सत्य सत्ता सृष्टि के विविध दृश्य प्रपंच का स्वरूप धारण कर लेती है। सृष्टि का अस्तित्व एवं आधार इसी के अंतरंग रूप में समहित है। जैसे ही यह विनष्ट हो जाता है, इस विनष्टता का तात्पर्य बुद्धि का विनाश नहीं, अपितु बुद्धि की वृत्तियों की विनष्टता है। यह वृत्तियों के विनाश के उपरांत उसी प्रकार शांत हो जाती है, जिस प्रकार तरंगों का विचलन करनेवाली वायु के विनाश के बाद समुद्र शांत हो जाता है।<sup>15</sup>

बौद्धदर्शनाचार्य नागार्जुन ने वस्तुओं की सत्यता का परीक्षण करने के लिए 'चतुष्कोटिन्याय' की व्यवस्था की है। उसके अनुसार जो इस चतुष्कोटि की परिधि में नहीं आता, वही शून्य है। संसार के सभी पदार्थ शून्य हैं, क्योंकि बुद्धि के द्वारा यह निश्चित करना संभव नहीं है कि वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप सत्य है, असत्य है, सत्य तथा असत्य दोनों है अथवा न तो सत्य ही है और न असत्य ही है। इन चारों कोटियों से परे निर्विकल्पक, निष्प्रपंच आकाश के समान निर्लेप और असंग्य सत्य ही शून्यपद वाक्य है। इसका वर्णन अतिरुद्ध अनुच्छेद एवं अशाश्वत इत्यादि विशेषणों के माध्यम से किया गया है। यही वह पारमार्थिक सत्य है, जो कि बुद्धि के द्वारा अगम्य है। बुद्धिसंवृति सत्य का दूसरा नाम है। यह विकल्पात्मक है। विकल्प के माध्यम से अवस्तु अथवा अस्तित्वहीन वस्तुओं को ग्रहण किया जाता है, अतएव यह विकल्प रूप भी अविद्यात्मक है। इस प्रकार अविद्या और संवृति समानार्थक सिद्ध हो जाते हैं। अविद्या के कार्य हैं स्वभावदर्शन का आवरण तथा असंपदार्थ स्वरूप का आरोपण। इन दोनों के कारण ही ज्ञान का चरम स्वरूप उद्भासित होने में असमर्थ रहता है। संवृति दो प्रकार की होती है—तथ्यसंवृति और मिथ्यासंवृति। तथ्यसंवृति को लोकसंवृति भी कहते हैं। प्रतीत्य समुत्पन्न घट पट इत्यादि वस्तुओं का स्वरूप जिस समय इंद्रियों के माध्यम से अनुभव किया जाता है, उस समय लौकिक दृष्टि से उसे सत्य स्वीकार किया जाता है। यही तथ्य संवृति है, जिसे सत्य मानकर सांसारिक जीवन के सभी व्यवहार गतिशील होते हैं, जो वस्तु किसी कारण से उत्पन्न होने के बावजूद सभी लोगों के द्वारा सत्य नहीं मानी जाती है, वह मिथ्यासंवृति है। माया, मरीचिका प्रतिबिंब इत्यादि प्रतीत्यजात होने पर भी जब दृष्ट इंद्रियों के द्वारा अनुभूत होते हैं, तब लौकिक

दृष्टि से उन्हें मिथ्या की उपाधि से ही विभूषित किया जाता है। संवृति सत्य रूप लौकिक दृष्टि से सत्य है, परंतु पारमार्थिक दृष्टि से असत्य है। प्रतीत्य समुत्पन्नता अर्थात् दूसरे पर निर्भर होने के कारण इसे तुच्छ माना जाता है। फिर भी इसकी आवश्यकता के संदर्भ में नागार्जुन का कहना है कि व्यवहार की सहायता लिए बिना पारमार्थिक ज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं है और पारमार्थिक ज्ञान को प्राप्त किए बिना निर्वाण की उपलब्धि नहीं होती। अनिवर्चनीय एवं अवांगमनस्सोचर पारमार्थिक तथ्य का ज्ञान सांसारिक वस्तुओं के द्वारा ही होता है। प्रो० एस०एन० दासगुप्ता ने लिखा है कि 'प्रतीत्य समुत्पाद और शून्यवाद का वास्तविक अर्थ है कि घटनाएँ जो प्रतीत होती हैं, सत्य नहीं हैं। जब वे सत्य नहीं हैं तो न उत्पन्न होती हैं, न नष्ट होती हैं, न जाती हैं, न आती हैं। वे माया की प्रतीतियाँ हैं। शून्य का मतलब शुद्ध अभाव से नहीं, क्योंकि वह किसी वस्तु या स्थिति से जुड़ा हुआ होता है। उसका तो अर्थ है वस्तुओं का कोई स्वभाव नहीं।'<sup>6</sup> नागार्जुन की दृष्टि में प्रतीत्य समुत्पाद सृष्टि ही उपयुक्त है। स्वभाव, परभाव, भाव अथवा अभाव इत्यादि का आश्रय लेकर शून्य सत्य को अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न बेकार है। दृश्यमान सांसारिक वस्तुओं की अपनी कोई यथार्थ सत्ता नहीं है।

बौद्धदर्शन में आत्मा की नित्यता स्वीकार नहीं की गई है। जिसे हम आत्मा कहते हैं, वह केवल भौतिक शरीर एवं मानसिक क्रियाओं का संघात है। वह सतत प्रवाह, परिवर्तनशील तथा अनवरत गतिशीलता ही है। आत्मा में एकता समझना एक भ्रम है। जैसे नदी के जल के कण भिन्न-भिन्न हैं, परंतु उनकी तीव्रता निरंतरता तथा सहअस्तित्व के कारण हम उन्हें अज्ञान से एक नदी के रूप में समझ बैठते हैं अथवा जैसे ज्वाला में अग्नि के भिन्न-भिन्न कण ज्योति के प्रवाह के रूप में दिखाई पड़ते हैं, उसी तरह क्षणिक विचारों के समूह को अज्ञान से हम नित्य आत्मा समझ लेते हैं। वास्तव में आत्मा इन क्षणिक विचारों, भावनाओं एवं प्रत्ययों का समूह ही है। इनकी परिवर्तनशीलता में हमें भ्रमवश एक निरंतरता दिखाई देती है।<sup>7</sup> पंचस्कंधों के समूह का नाम ही आत्मा है। इसी संदर्भ में यह प्रश्न सामने आता है कि जब कोई स्थायी तत्त्वरूप आत्मा है ही नहीं, तब स्मृति कैसे उत्पन्न होती है? इसके उत्तर में बौद्ध दार्शनिकों का कथन है कि मानसिक दशाओं के कारण कार्य-संबंध ही स्मृति का कारण है। वर्तमान मानसिक अवस्था का कारण पूर्ववर्ती अवस्था है, इसलिए वर्तमान मानसिक अवस्था पर पूर्ववर्ती मानसिक अवस्था का शक्ति रूप में प्रभाव पड़ता है। शक्ति रूप में पूर्व अनुभव वर्तमान अनुभव में है। यही स्मृति का कारण है। मानसिक अवस्थाएँ क्षणिक हैं, परंतु अविद्या के कारण हम उन्हें स्थायी मान लेते हैं। आत्मा जीवात्मा के अर्थ में नहीं है तथा पाँच स्कंधों के फलस्वरूप अविद्या के कारण एक आत्मा जैसी वस्तु की मात्र प्रतीति ही होती है। यह विचार अद्वैत वेदांत से काफ़ी हद तक मिलता है, जिसमें माया के कारण अनेक जीवों की प्रतीति होती है, जो वास्तव में अनित्य है।

अविद्या मायात्मक है। इसका निर्माण विकल्पों से हुआ है। इसे न ग्राह्य कहा जा सकता है और न अग्राह्य। जो भी वस्तुएँ सृष्टि, बाह्यार्थ अथवा अंतरार्थ के रूप में दृष्टिगत होती हैं, उन सबका अस्तित्व अविद्या के कारण ही है। अविद्या का एक लक्षण तो यह है कि जागतिक निष्पत्तियों के मूल में एक प्रकार का अप्रत्यक्ष स्वभाव दिखाई पड़ता है। यह कहना कि समस्त पदार्थ अपने स्वभाव के अनुसार परिवर्तित, विकसित और विनष्ट होते देखे जाते हैं, उपयुक्त नहीं है। दूसरे यह कि पदार्थों की वास्तविक सत्ता नहीं होती, परंतु वे अपने अस्तित्व में वर्तमान

दृष्टिगाचर होते हैं। इस विषय में स्वाभाविकता का निर्मूल आरोप है और समस्त पदार्थों को हेतु प्रत्यय आदि से उत्पन्न समझना चाहिए। हेतु प्रत्यय आदि की स्वतः सत्ता नहीं है, अतः इस विषय को शून्य में ही विकल्पित मानना उचित है।<sup>8</sup> यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जो कुछ नेत्रेंद्रिय द्वारा प्रत्यक्ष है, उसकी निराकृति कैसे संभव है। जैसे स्वप्न में दिखाई देनेवाले पदार्थ वस्तुतः विद्यमान नहीं होते हैं, परंतु उनकी मायिक उपलब्धि संभव है वैसे ही जागतिक पदार्थों की उपलब्धि का समाधान किया जाना संभव है। आकाश की नीलिमा, स्वप्न का गंधर्व नगर, वंध्यापुत्र इत्यादि नाम लेने के लिए हैं। वास्तविक जगत में इनकी प्रतीति असंभव है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बौद्धदर्शन में भी अविद्या अथवा मायातत्त्व पर काफी विस्तार से विचार हुआ है। इसके व्याख्याताओं पर उपनिषदों का प्रभाव तो है ही, परंतु इसके साथ-साथ उनकी स्वतंत्र दृष्टि भी पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त हुई है, जिसके कारण वे भविष्य के दार्शनिकों के लिए एक नया चिंतनम्रोत प्रदान करने में समर्थ हुए हैं। नागार्जुन का कथन है कि तत्त्वों की उत्पत्ति इच्छा से नहीं, काल से नहीं, प्रकृति से नहीं, स्वभाव से नहीं। न ईश्वर से वे जन्मे हैं। वे अकारण भी नहीं हैं। वे अविद्या और तृष्णा से जन्मे हैं, यह जान लो।<sup>9</sup> यहाँ पर आचार्य गौड़पाद का नाम स्मरण करना आवश्यक प्रतीत होता है। आचार्य शंकर ने मांडूक्योपनिषद् की गौड़पादीय कारिका पर अपना भाष्य समाप्त करते हुए लिखा है कि जो निरंतर जन्म-जन्मांतर रूप ग्राहों के कारण अत्यंत भयानक है, ऐसे संसार-सागर में जीवों को डूबे हुए देखकर जिन्होंने करुणावश अपनी विशुद्ध बुद्धि रूप मंथन दंड के अघात से क्षुभित हुए वेद नामक महासमुद्र के भीतर स्थित इस देवदुर्लभ अमृत को प्राणियों के कल्याण के लिए निकाला है, उन पूजनीयों के भी पूजनीय परम गुरु श्री गौड़पादाचार्य को मैं उनके चरणों में गिरकर प्रणाम करता हूँ।<sup>10</sup> भारतीय दर्शन को गौड़पाद की प्रमुख देन उपजातिवाद का सिद्धांत है। इस सिद्धांत में उन्होंने मायावाद की स्थापना के लिए तीन प्रमुख तर्क दिए हैं। उनका पहला तर्क यह है कि स्वयंप्रकाश आत्मा अपनी माया से स्वयं ही कल्पना करता है और वही सब प्रकार के विभेदों का ज्ञाता है। आत्मा में कर्तृत्वादि व्यवस्था का साधन इसी माया के द्वारा होता है। दूसरा तर्क देते हुए आचार्य ने स्पष्ट किया है कि इस अजन्मा अद्वैत में माया ही के कारण भेद है और किसी प्रकार नहीं। यदि इसमें वास्तविक भेद होता तो यह अमृत स्वरूप मरणशीलता को प्राप्त होना संभव था। जो परमार्थ सत् अद्वैत रूप है, वह तिमिर दोष से परिलक्षित अनेक चंद्र और सर्प धारादि भेदों से विभिन्न दृष्टिगोचर होनेवाली राज्जु के समान माया के कारण ही विभेदपूर्ण प्रतीत होता है, परमार्थतः नहीं, क्योंकि आत्मा निरवयवस्वरूपा है और वस्तु सावयव होती है। यही अवयवों के भेद से ठीक उसी प्रकार भेद को प्राप्त करती है, जिस प्रकार घट आदि भेदों से मृत्तिका। इस प्रकार निरवयव और अजन्मा आत्मा माया के अतिरिक्त और किसी भेद को प्राप्त नहीं हो सकता। यदि उसमें तत्त्वतः भेद हो तो अमृत, अज, अद्वय और स्वभाव से सत् स्वरूप होकर भी आत्मा मर्त्यता को वैसे ही प्राप्त हो जाएगा, जैसे कि अग्नि संपूर्ण प्रमाणों के विरुद्ध होने के कारण किसी को इष्ट नहीं हो सकता। अज और अद्वितीय आत्मतत्त्व माया से ही भेद को प्राप्त होता है। तीसरे तर्क के अनुसार 'विषय और इंद्रियों के सहित यह संपूर्ण द्वैत चित्त का ही स्फुरण है, किंतु चित्त निर्विषय है, इसी से उसे नित्य असंग कहा गया है। चित्त परमार्थतः आत्मा ही है, इसलिए वह निर्विषय है। इस निर्विषयता के कारण ही उसे सर्वदा असंग कहा जाता है।'<sup>11</sup>

डॉ० राधाकृष्णन ने लिखा है कि गौड़पाद ने माया शब्द का प्रयोग ठीक एक ही अर्थ में नहीं किया है। उन्होंने इसका प्रयोग एक तो इस जगत तथा आत्मा के मध्यगत संबंध की अव्याख्यायता के अर्थों में किया है, दूसरे ईश्वर के स्वभाव अथवा शक्ति के अर्थों में तथा तीसरे जगत की स्वप्न सदृश्य प्रतीति के अर्थों में किया है। 'शंकर ने माया के पहले दो अर्थों को ही अधिकतर प्रधानता दी है और तीसरे प्रकार के अर्थों के प्रति वह उदासीन है। वह तीसरे प्रकार के अर्थों की गौड़पाद की स्थिति को माध्यमिकों के संवृति सत्य असत्य के सदृश्य बना देती है, किंतु व्यावहारिक सत्य अथवा क्रियात्मक सत्य के सदृश्य नहीं, क्योंकि गौड़पाद की दृष्टि में आनुभविक जगत के पदार्थ केवल भ्रांतिमात्र हैं, जैसाकि आकाश (गगनोपम) ज्ञान को भी वह आकाश के समान कल्पनात्मक और ज्ञेय पदार्थों से अभिन्न मानता है।'<sup>12</sup> सभी धर्म काल्पनिक हैं, अतः उनके मायामय होने में कोई संदेह नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि यह कोई इंद्रजाल हो, इसमें सभी पदार्थ जादू से निष्पन्न हुए हों और ज्यों ही यह इंद्रजाल हटा कि सभी पदार्थ अपने-आप विलुप्त हो गए। सत्य तो यह है कि जिसकी स्थिति काल्पनिक एवं आपेक्षिक अर्थात् कल्पितसंवृति पर आधारित है, उसकी कोई पारमार्थिक अथवा यथार्थ स्थिति संभव नहीं है क्योंकि इसका अस्तित्व किसी अन्य के ऊपर आश्रित है, उसका अपना कोई वास्तविक अस्तित्व कैसे हो सकता है? मन की प्रवंचना के कारण ही वस्तुओं का अस्तित्व होता है और नहीं भी होता है, किसी प्रकार का अस्तित्व होता ही नहीं है ऐसी बातें सामान्य मनुष्यों द्वारा सोची-समझी जा सकती हैं। जिन्हें यथार्थ अथवा पारमार्थिक तत्त्व का ज्ञान हो गया है, वे समझ जाते हैं कि यह सब माया है। इसे ही बौद्ध माध्यमिक दर्शन में शून्य कहा गया है।

कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि गौड़पादाचार्य के मायावाद एवं बौद्धदर्शन के शून्यवाद तथा विज्ञानवाद में घनिष्ठ संबंध है। उन्होंने अपनी कारिका में बौद्धसिद्धांतों का समर्थन भी किया है। इस संदर्भ में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि मायावाद का प्रमुख उद्देश्य बौद्धदर्शन का समर्थन नहीं, अपितु औपनिषदिक विचारधारा का स्पष्टीकरण है। प्रो०एस०एन० दासगुप्ता के अनुसार 'श्री गौड़पाद ने विज्ञानवादी और शून्यवादी दर्शन के विचारों का मंथन करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मूलतः यह उपनिषदों के सत्त्वज्ञान से ही उत्पन्न है। गौड़पाद हिंदू थे बौद्ध यह प्रश्न अनावश्यक है। यह निश्चित है कि बौद्धदर्शन के वे सिद्धांत, जिन्हें वे स्वमत के रूप में समझते थे, के प्रति गौड़पाद का सर्वाधिक आदर था। उपनिषदों में वर्णित महान परम आत्मा के ही स्वरूप को बौद्धदर्शन में अवर्णनीय, अनिर्वचनीय अरूप विज्ञान के रूप में देखा गया है, जो महाशून्य के समान सर्वत्र विद्यमान है।'<sup>13</sup>

विज्ञानवाद एवं शून्यवाद से प्रभावित होने के कारण आचार्य शंकर को उनके दार्शनिकों के द्वारा प्रच्छन्न बौद्ध की संज्ञा प्रदान की गई थी। भास्कराचार्य ने अपने भास्कर भाष्य में मायावाद को महायानिक शून्यवाद की गाथा बताया है।<sup>14</sup> वैष्णवाचार्य रामानुज ने 'वेदवादच्छद्म प्रच्छन्न बौद्ध'<sup>15</sup> कहकर शंकराचार्य का उपहास किया है। आचार्य वेदांत देशिक ने भी शतदूषणी में 'सौगतानामिव प्रच्छन्न सौगतानामपि कथायामनधिकार इति।'<sup>16</sup> के द्वारा उपर्युक्त मत का समर्थन किया है। योगवशिष्ट में भी शून्यवादी के शून्य और ब्रह्मवादी के ब्रह्म तथा विज्ञानवादी के विज्ञान में समरूपमता<sup>17</sup> दिखाई गई है। इसी तथ्य को पद्मपुराण में मायावाद मच्छास्त्र प्रच्छन्न बौद्धमेवच<sup>18</sup> के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। विज्ञान भिक्षु के अनुसार एक भी ब्रह्मसूत्र ऐसा

नहीं है, जिसमें कहा गया हो कि हमारा बंधन केवल अज्ञान के कारण है। जहाँ तक माया की विलक्षणा, प्रकल्पना का संबंध है, जिसका प्रचार अपने को वेदांती कहने वालों ने किया है, यह केवल बौद्धों के विषयी विज्ञानवाद का ही रूप है। यह प्रकल्पना वेदांत का मंतव्य नहीं है।<sup>19</sup> महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है कि शंकर के दर्शन को सरसरी नज़र से देखने पर मालूम होगा कि वह ब्रह्मवाद को मानता है और उपनिषद् के अध्यात्मज्ञान को प्रधानता देता है, किंतु जब उसके भीतर घुसते हैं, तो वह नागार्जुन के शून्यवाद का मायावाद के नाम से नामांतर मात्र है, यह बात इससे भी स्पष्ट हो जाती है कि उसकी आधारशिला रखने वाले गौड़पाद सीधे तौर से बुद्ध और नागार्जुन के दर्शन के अनुयायी थे और शंकर के अनुयायियों में सबसे बड़े अनुयायी श्रीहर्ष का 'खंडनखंड खाद्य' सिर्फ सीताराम के मंगलाचरण तथा दो चार मामूली बातों के ही कारण शुद्ध माध्यमिक दर्शन (शून्यवाद) का ग्रंथ कहे जाने से बचाया जा सकता है।<sup>20</sup> स्पष्ट है कि आचार्य शंकर ने अपने युग में विकसित श्रेष्ठ दार्शनिक सिद्धांतों का सार तथा विचार-पद्धति को ग्रहण करके बौद्धदर्शन में निहित माया के स्वरूप को अपने मत के स्वरूप की पृष्ठभूमि के रूप में ग्रहण करने में यथेष्ट सफलता प्राप्त की है। वैसे यह तथ्य भी विचारणीय है कि उनके द्वारा अपने समस्त विचार दर्शन का संस्कार उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र के आधार पर करने का तर्क देते हुए बौद्धदर्शन की उपेक्षा की गई है। वास्तविकता यह है कि भारत के धार्मिक इतिहास के निरंतर मिथ्या अध्ययन किए जाने का ही परिणाम यह हुआ कि यह विश्वास सर्वसाधारण में प्रचलित हो गया कि बौद्धमत वेदों के विरुद्ध तथा विदेशी है। बुद्ध ने उपनिषदों के ही कुछ विचारों का परिष्कार किया है। बुद्ध को विष्णु के अवतारों में सम्मिलित करने का यही आशय है कि उनका प्रादुर्भाव वैदिक धर्म की स्थापना के लिए हुआ था, न कि उसके ऊपर कुठाराघात के लिए। इसमें संदेह नहीं कि बौद्धदर्शन तथा अद्वैत वेदांत के विचारों में समानताएँ हैं। इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं है। जबकि हम इस तथ्य को देखते हैं कि दोनों ही दर्शन-पद्धतियों की पृष्ठभूमि में उपनिषद् हैं।<sup>21</sup>

#### संदर्भ

1. आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 16
2. रीज़डेविड्स, बुद्धिज्ञम, पृ० 83, 84
3. डॉ० राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग-1, पृ० 337
4. डॉ० रामनाथ शर्मा, भारतीय दर्शन के मूल तत्त्व, पृ० 151
5. एस०एन० दासगुप्ता, भारतीय दर्शन का इतिहास भाग-1, पृ० 146
6. एस०एन० दासगुप्ता, भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-1, पृ० 151
7. रामनाथ शर्मा, भारतीय दर्शन के मूल तत्त्व पृ० 153
8. शांतिस्वरूप त्रिपाठी, शंकर अद्वैत वेदांत का निर्गुण काव्य पर प्रभाव, पृ० 64
9. भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-1, एस०एन० दासगुप्ता, पृ० 154 से उद्धृत
10. शंकराचार्य, मांडूक्योपनिषद् गौड़पादीय कारिका, पृ० 189
11. वही, पृ० 472
12. डॉ० राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग-2, पृ० 455
13. एस०एन० दासगुप्ता, भारतीय दर्शन का इतिहास भाग-1, पृ० 435



14. भास्काराचार्य, ब्रह्मसूत्र, भास्कर भाष्य, 1/4/45
15. रामानुजाचार्य, श्रीभाष्य 2/2/27
16. वेदांत देशिक शतदूषणी, पृ० 48
17. योगवशिष्ट 5/8/87
18. पद्मपुराण 1/14
19. विज्ञान भिक्षु सांख्य प्रवचन भाष्य 1/22
20. राहुल सांकृत्यायन, दर्शन दिग्दर्शन, पृ० 820, 821
21. डॉ० राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग दो, पृ० 466

□ 6/7 खन्ना भवन  
सुभाषनगर, बरेली।

## डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल के साहित्य पर प्रकाशित महत्त्वपूर्ण समीक्षा-ग्रंथ

डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल : व्यक्ति और साहित्य

डॉ० हरीशकुमार सिंह

350.00

साठोत्तरी हिंदी-गज़ल : डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल का योगदान

डॉ० अनिलकुमार शर्मा

गज़ल : सौंदर्य और यथार्थ

डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल के संदर्भ में

अनिरुद्ध सिन्हा

150.00

जनपद बिजनौर के आधुनिककालीन साहित्यकार

डॉ० अशोककुमार

350.00

सफ़र साठ साल का

डॉ० अजय जनमेजय (संपादक)

400.00

प्रकाशक

हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर (उ०प्र०)

## ‘अज्ञेय’ का हिंदी निबंध-साहित्य को अवदान

डॉ० बाबूराम

एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी-विभाग,  
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र

आधुनिक हिंदी साहित्याकाश में अनेक देदीप्यमान नक्षत्र उदय हुए हैं। उनमें ज्ञानपीठ एवं भारत-भारती पुरस्कार प्राप्त सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन ‘अज्ञेय’ का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने साहित्य की अनेक विधाओं-कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, एकांकी, निबंध, आलोचना, डायरी, संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्टाज, यात्रावृत्त, अनुवाद, पत्रकारिता आदि में अपनी लेखनी सफलतापूर्वक चलाई। साहित्य के क्षेत्र में ऐसे व्यक्तित्व विरल हैं, जो अपनी सर्जना और प्रतिभा के बल पर विशिष्टता प्राप्त कर मूर्धन्य रचनाकार कहलाते हैं। प्रयोगवाद और नयी कविता के तो वे पुरोधा थे। उन्होंने ‘तारसप्तक’ की रचना करके यह सिद्ध कर दिया कि एक ही विचारधारा के अनेक कवियों की रचनाएँ एक साथ संपादित और प्रकाशित की जा सकती हैं। उनकी जन्मशती के अवसर पर उनके निबंध साहित्य से सुपरिचित होना एवं हिंदी साहित्य को उनके अवदान पर विचार-विमर्श करना समीचीन प्रतीत होता है।

निबंधकार के रूप में अज्ञेयजी की अवधारणाएँ सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने हिंदी भाषा के वर्तमान और भविष्य के साथ राष्ट्रीय अस्मिता के रूप में तर्कसंगत विवेचना की है। अज्ञेयजी की समाज, संस्कृति, व्यक्ति स्वातंत्र्य, धर्मनिरपेक्षता, इतिहास, कला, राजनीति, विज्ञान, परंपरा, आधुनिकता, अस्तित्व-बोध, नारी की अस्मिता, मूल्य-चेतना और सृजनशीलता के संबंध में महत्वपूर्ण अवधारणाएँ निबंधों के माध्यम से निरूपित हुई हैं। ये अवधारणाएँ आधुनिकयुग में सामयिक और प्रासंगिक हैं। उनके निबंधों का परिचयात्मक विश्लेषण इस प्रकार है—त्रिशंकु (सन् 1945), सबरंग और कुछ राग (सन् 1956), आत्मनेपद (सन् 1970), लिखि कागद कोरे (सन् 1977), आलवाल (सन् 1977), जोग लिखि (सन् 1977), अद्यतन (सन् 1977), स्रोत और सेतु (सन् 1978), संवत्सर (सन् 1978), युगसंधियों पर (सन् 1982), धार और किनारे (सन् 1982), कहाँ है द्वारका (सन् 1982), आत्मपरक (सन् 1983), केंद्र और परिधि (सन् 1984), सर्जना और संदर्भ।

त्रिशंकु निबंध-संग्रह में कुल चौदह निबंध हैं। इसमें आठ निबंध समकालीन विषयों से संबंधित हैं, जिनमें विषयों का गहन एवं सूक्ष्म चिंतन परिलक्षित होता है। छह संवादपरक टिप्पणियाँ साहित्यिक समीक्षा के मूल स्वरूप को स्पष्ट करती हैं। वास्तव में अज्ञेय के चिंतन की मूल संस्कृति है। अज्ञेय भाषा को संस्कृति का मूलाधार मानकर लिखते हैं— संस्कृति का मूलाधार भाषा है और भाषा का चरम उत्कर्ष साहित्य में प्रकट होता है। अतः साहित्य का पतन

संस्कृति का और अंततः जीवन का पतन है। मशीनयुग हमारे जीवन को सस्ता, घटिया और अर्थहीन बना रहा है।' इसके पीछे विज्ञापन का युग है। यही बाजारवाद, उत्तरआधुनिकता और वैश्वीकरण, जिसके फलस्वरूप मानव-जीवन और संस्कृति निष्प्रयोजन होते जा रहे हैं।

**सबरंग और कुछ राग** 18 निबंधों का संकलन है। ये निबंध उनके मनोवैज्ञानिक चिंतन के परिणाम हैं। लेखक ने इसका रचयिता कुट्टिचालन को माना है - समझ लीजिए कि कुट्टिचालन दक्षिणी लोकजीवन का वह मसखरा बौना जो जिसके-तिसके कंधे पर सवार होकर उसे मनमाने नाच नचाता है खुली हवा का प्राणी है और इन पंक्तियों का लेखक भी खुली हवा में और साफ़-सुथरे पर्वतीय वनप्रदेशों में पला है और घूमने-फिरने का आदी है।<sup>2</sup> वस्तुतः अज्ञेय, कुट्टिचालन का ही प्रच्छन्न रूप है।

**आत्मनेपद** निबंध संकलन पाँच संदर्भों का लेखा-जोखा है। यह रचना आत्मचेतनपरक (सैल्फ़कॉन्शस) है। निबंधकार ने भूमिका में लिखा है—'यहाँ एक अतिरिक्त आत्मचेतना का भाव है, क्योंकि सारी पुस्तक अपने विषय में है। अपने व्यक्ति के अपने जीवनानुभवों के, अपनी रचना-प्रवृत्तियों के, अपने विश्वासों के और उन सूक्ष्म तत्त्वों, जिन्हें लेखक अपने कर्म के बुनियादी मूल्य या प्रतिमान मानता है।'<sup>3</sup> वस्तुतः आत्मनेपद अज्ञेय की रचना-प्रक्रिया को रेखांकित करनेवाले सहज स्वाभाविक प्रश्न हैं, जो कला, साहित्य और सन्मार्ग से जुड़े हुए हैं।

**आलवाल** में अज्ञेयजी के तरह निबंध संकलित हैं। आधुनिकयुग विज्ञान और तकनीकी का युग है, जिसका दबाव मानव-समाज पर निरंतर बढ़ता जा रहा है। निबंधकार का कथन है—'विज्ञान का कहना है कि दुनिया दिन-ब-दिन छोटी होती जाती है। वह एक अर्थ में सही है, लेकिन साहित्य में यह बात सच नहीं है। हर बड़ा लेखक दुनिया को थोड़ा और बड़ा करके अपने परवर्तियों को दे जाता है।'<sup>4</sup>

**लिखि कागद कोरे** 13 निबंधों का संकलन है। इस संग्रह में उन्होंने आधुनिकता पर विचार करते हुए हिंदीभाषा के संदर्भ में लिखा है—'मेरी दृष्टि में हिंदी सदा से आधुनिक रही है। सिंध से ब्रह्मपुत्र तक सारा क्षेत्र हिंदी का है। चाहे आज उसके दोनों छोर देश से बाहर चले गए हैं। यह देश भाषाओं और संस्कृतियों के संगमों का देश है। हिंदी इन संगमों से ही विकसित हुई है। अतः वह संगमों की भाषा है, विद्रोहों की भाषा है। इसी भाषा ने सारे देश में भारतीय संस्कृति को बनाए रखा। भारतीयता के बोध को जीवित रखा। युद्ध होते रहे, फिर भी भारतीय संस्कृति नाम की चीज़ आगे बढ़ती रही। हिंदी उसकी भाषा रही। हिंदी प्रदेश से प्रवृत्तियाँ उठीं और सारे देश में फैलीं। दूसरे भाषा-क्षेत्रों में भी जो प्रशंसनीय हुआ, वह हिंदी में आया और हिंदी में छनकर वितरित हुआ। किसी दूसरी भाषा ने यह काम नहीं किया। हिंदी अब भी यह काम कर रही है।'<sup>5</sup>

**जोग लिखी** अज्ञेयजी के स्फुट निबंधों और प्रश्नोत्तरियों का मौलिक चिंतन है। इसमें 20 लेख संकलित हैं। वस्तुतः यह रचना विचारोत्तेजक और लालित्य-प्रधान है।

**अद्यतन** में अज्ञेयजी के 22 निबंध संकलित हैं, जो समसामयिक समस्याओं पर आधारित हैं। प्रासंगिकता के संबंध में निबंधकार का मत इस प्रकार है—'मेरी समझ में आधारभूमि है, जिस पर खड़े होकर हम प्रासंगिकता का प्रश्न पूछ सकते हैं। सब प्रासंगिकताओं के मूल में एक प्रासंगिकता है, क्योंकि सब मूल्यों के मूल्य में अधिमूल्य है—स्वाधीनता। जो

कुछ स्वाधीनता को बढ़ाता है, पुष्टि करता है उसे दायित्व और सुरक्षा देता है। वह सब मूल्यवान और प्रासंगिक है।<sup>6</sup> डॉ० श्यामसुंदर घोष का मत भी 'अद्यतन' के संदर्भ में विचारणीय है—संकलन का नामकरण 'अद्यतन' शायद इसलिए सार्थक है कि विवेच्य विषय और चर्चित समस्याएँ बिल्कुल आज की ओर प्रासंगिक हैं।<sup>7</sup>

**युगसंधियों पर** संग्रह में 15 निबंध संकलित हैं। इनमें व्यक्ति, समाज, भाषा, संस्कृति, राजनीति, राष्ट्रीयता और साहित्य-संबंधी विषयों और समस्याओं पर गंभीरता से विचार किया गया है। निबंधकार ने भारत के वर्तमान लोकतंत्र को अवसरवादी और सिद्धांतविहीन राजनीति से आक्रान्त माना है। इसके फलस्वरूप नई पीढ़ी भी दिशाहीन और अनुशासनहीन होती जा रही है। यह घटिया राजनीति का परिणाम है।

**स्रोत और सेतु** में नौ निबंध संकलित हैं। निबंधों में स्वाधीनता, जीवनमूल्यों, सभ्यता और संस्कृति जैसे मूलभूत विषयों पर गंभीरता से चिंतन किया गया है। निबंधकार ने स्वतंत्रता के विषय में स्पष्ट लिखा है—'स्वाधीनता की सच्ची कसौटी 'मैं' नहीं 'ममेतर' है।'<sup>8</sup>

**संवत्सर** निबंध-संग्रह साहित्यिक जगत के लिए एक महत्वपूर्ण रचना है। निबंधकार ने इस रचना के संबंध में अपना स्पष्टीकरण इस प्रकार दिया है—'संवत्सर दो खंडों में विभक्त है—क्रमातीत भूमिकाएँ, नया काल : अवधारणा, अनुभव और प्रतीति। पहले खंड में पैंतीस और दूसरे खंड में एक सौ पृष्ठ हैं। पहले में काल की प्रतीति से संबद्ध प्रश्नों को निजी बोध के स्तर पर उठाया गया है, जिन्हें ललित अथवा व्यक्तिपरक भी कहा जा सकता है, समस्या का निरूपण न करके अलग-अलग श्रेणी में उसकी झाँकियाँ दिखाई गई हैं।'<sup>9</sup>

**धार और किनारे** 12 आलोचनात्मक निबंधों का संग्रह है। इन निबंधों में सामयिक विषयों पर चिंतन की धारा परिलक्षित होती है। इन निबंधों की विशेषता है कि ये विषयमताओं के भँवरजाल में ग्रस्त व्यक्ति को सही किनारे का दिशा-निर्देशन करते हैं—'इनमें सामयिक ज्वलंत प्रश्नों पर विचारोत्तेजक सामग्री उपलब्ध होती है। इन निबंधों में परंपरा, आधुनिकता और वैचारिकता का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। निबंधकार के अनुसार परंपरागत संस्कृति और तथाकथित आधुनिकता दोनों ख़तरे में हैं—इस तथाकथित आधुनिक भारतीय संस्कृति में भारतीय कुछ नहीं बचा है, संस्कृति भी लगभग नहीं बची है, आधुनिक कितना है, यह बिल्कुल संदिग्ध है।'<sup>10</sup>

**कहाँ है द्वारका** अज्ञेयजी के 12 ललित निबंधों का संकलन है। द्वारका भारतीय संस्कृति का प्रतीक है। निबंधकार पूर्व जन्म के संस्कारों, उसकी रागात्मक वृत्तियों और सदियों से संचित रागानुभवों का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—'मेरे भी दिवास्वप्नों में अक्सर एक बिंब उभरता है, एक नगर द्वीप का ऊँची चट्टान पर बनी हुई छोटी-सी बस्ती का, जिसकी चट्टानी नींव पर सागर की लहरें पछाड़ खाती रहती हैं ... जब तक वह सामने रहती है, तब तक मैं काल का अतिक्रमण करके निरवधि काल के महाप्रांगण में विचरण करता रहता हूँ, वह महाप्रांगण भी है और महासागर भी और उसी के बीच में ध्रुव और अडिग और ज्योतिष्मती खड़ी है, वह दिव्य द्वारका है।'<sup>11</sup> वस्तुतः इन निबंधों में हमारी ऋषि-परंपरा का साकार स्वरूप दिखाई पड़ता है, जिनसे हिंदी-निबंध-साहित्य बड़ा समृद्ध हुआ है।

**छाया का जंगल** 12 निबंधों का संग्रह है। इनमें मानवीय संवेदनाओं के विविध पक्षों

की अभिव्यक्ति हुई है। इनमें व्यंग्य-विनोद का पुट मिलता है। ये निबंध आज के दिग्भ्रमित मानव-समाज का पथ-प्रदर्शन करते हैं और उसकी वास्तविक स्थिति का भी परिचय कराते हैं। वस्तुतः 'छाया का जंगल' में छाया के भीतर जो सच्चाई है, वह छाया के बाहर होते हुए भी दिखाई नहीं पड़ती।

बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी अज्ञेयजी ने साहित्य की विविध विधाओं पर अपनी लेखनी सफलतापूर्वक चलाई है। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का वास्तविक स्वरूप उनके निबंध-साहित्य में स्पष्ट रूप से झलकता है। उनके निबंध विविध विषयों साहित्य, संस्कृति, समाज, धर्म, दर्शन, कला, राजनीति, परंपरा, मूल्यबोध, आधुनिकता, भाषा और समकालीन ज्वलंत समस्याओं आदि पर आधारित हैं। उनके निबंधों में युगबोध भी प्रबल रूप से झलक रहा है। इनके निबंध अनुभूति और चिंतन के दस्तावेज प्रतीत होते हैं। उनके निबंधों में जितना विषय-वैविध्य है, उतनी ही शिल्पगत विविधता के दर्शन भी होते हैं। इसीलिए उन्होंने वर्णनात्मक, विवरणात्मक, विचारात्मक, भावात्मक, आलोचनात्मक, व्यंग्यात्मक, गवेषणात्मक और लालित्य-प्रधान निबंध प्रचुर मात्रा में लिखे हैं। अज्ञेयजी के निबंधों की वर्णयुक्त विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

1. **सामाजिक प्रतिबद्धता** : मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसका जन्म, जीवन और मृत्यु समाज आधारित है। व्यक्ति का अस्तित्व सामाजिक जीवन के धरातल पर आधारित है। अज्ञेय ने सामाजिक प्रतिबद्धता के विषय में अपने निबंधों में इस प्रकार विचार अभिव्यक्त किये हैं—जब मुझे मेरे कार्य में, मेरे साहित्य में और अपने प्रति निष्ठा है तो सामाजिक प्रतिबद्धता की प्रासंगिकता ही नहीं रह जाती है।<sup>12</sup>

2. **सांस्कृतिक चिंतन** : संस्कृति समाज का मूलाधार है। संस्कृतिविहीन व्यक्ति समाजविहीन स्वतः हो जाता है। व्यक्ति के आदर्श व्यक्तित्व का निर्माण संस्कृति के संसार में ही होता है। आज जीवन में जीवनमूल्यों का अवमूल्यन हो रहा है। वह संस्कृतिविहीनता के कारण ही हो रहा है। संस्कृति व्यक्ति और समाज का पथ-प्रदर्शन करती है। इसी के फलस्वरूप मानव सभ्यता और मानव-समाज युग-युगांतर से अपना अस्तित्व स्थिर रखे हुए है। अज्ञेय जी के सांस्कृतिक चिंतन में समग्रता है और दृष्टि में व्यापकता है। वे संस्कृति की वकालत करते हुए लिखते हैं—'वास्तव में संस्कृति तो समग्र समाज की कारयित्री-निर्मात्री प्रतिभा होती है। यदि वह नियमन भी करती है तो प्रतिमान भी उपस्थित करती है तो इसीलिए क्रियाशीलता और निर्माण के लिए प्रतिमान आवश्यक है। उसके बिन गति में कोई दिशा नहीं मिलती न प्रेरणा को कोई दृष्टि मिल पाती है।'<sup>13</sup>

3. **मूल्यबोध** : जीवन के मूल्य ही मनुष्य को पशुता के धरातल से मनुष्यत्व की ओर ले जाते हैं। इसीलिए व्यक्ति और समाज के विकास के लिए सुव्यवस्था के लिए मूल्यों का अस्तित्व अनिवार्य है। निबंधकार अपने निबंधों में मूल्यबोध पर विशेष बल देते हुए लिखते हैं—'मूल्य मानव की एक अनिवार्य आवश्यकता है। मनुष्य उनकी सृष्टि भी करता है और फिर उनके सहारे जीता भी है। ये मूल्य मनुष्य के रचे हुए होते हैं। इसीलिए माना जा सकता है कि मनुष्य उनसे बड़ा है। वह मूल्य का स्रष्टा है और उसमें सजे हुए मूल्य उससे बड़े हैं और उसे इस बात का बोध है।'<sup>14</sup>

4. **राजनीति** : समाज का सुचारु रूप से संचालन करने और उस पर नियंत्रण करने के लिए किसी न किसी प्रकार की राजसत्ता का होना अनिवार्य है। अराजकता की स्थिति समाज के पतन की स्थिति है। युग-युगान्तर से सभी देशों और कालों में राजनीति आवश्यक रही है। स्वाधीन भारत में संसदीय लोकतंत्र की स्थापना हुई है। निबंधकार ने अपने निबंधों में भारतीय लोकतंत्र के प्रति अपना विश्वास प्रकट किया है—‘लोकतंत्र सबसे पहले एक मानसिकता है। प्रशासनिक ढाँचा और कार्य पद्धतियाँ उस मानसिकता में से निकलती हैं? क्योंकि हमारा मन एक तरह का है, इसीलिए क्योंकि हम एक खास ढंग से जीना चाहते हैं, क्योंकि हमें एक समाज परिपाटी चाहिए। इस तर्क-परंपरा से हम लोकतंत्र के प्रशासनिक ढाँचे की संगति बैठाते हैं।’<sup>15</sup>

5. **कला** : कला मानव-समाज और संस्कृति का एक अभिन्न अंग है, जिसके फलस्वरूप मानव सौंदर्य-बोध का प्रेमी बनता है। सच्ची कला में नैतिक उद्देश्य निहित रहता है। कला के संबंध में निबंधकार का मत इस प्रकार है—‘किसी भी कला, चित्र, मूर्ति, काव्य, नाटक, नृत्य के लिए तथ्यमूलक इतिहास का बंधन बिल्कुल आवश्यक नहीं है। उसके लिए महत्त्व है—भाव सत्य का, जो कालातीत होता है। कला के लिए मानवता का बोध इतिहास-बोध से बड़ा है।’<sup>16</sup>

6. **युगबोध** : साहित्यकार जिस परिवेश में रहता है, उसका प्रभाव उस पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में अवश्य पड़ता है। प्रत्येक साहित्यकार परिवेश के प्रति बड़ा संवेदनशील रहता है, इसीलिए उसके साहित्य में युगबोध की झलक का होना अवश्यभावी है। निबंधकार अज्ञेय जी पर भारतीय ऐतिहासिक घटनाओं का प्रभाव रहा है। अतः उनके युगबोध का जीवन दो रूपों में किया जा सकता है। स्वतंत्रता से पूर्ववर्ती का युगबोध और स्वतंत्रता परवर्ती युगबोध। अज्ञेय जी भारतीय सामाजिक जीवन के साथ कई रूपों में जुड़े हुए हैं। उन्होंने भारतीय जीवन की अनेक बहती हुई धाराओं को अपनी आँखों से देखा है और अनुभव करके अपनी रचनाओं में उसे व्यक्त किया है। स्वतंत्रता से पूर्व विदेशी साम्राज्यवादियों ने भारतीयों का शोषण और अमानवीय व्यवहार किया। स्वतंत्रता-आंदोलन के प्रभाव से भी अज्ञेय जी प्रभावित रहे। उनके निबंधों में किसी न किसी रूप में यह युगबोध उनके चिंतन का अभिन्न अंग रहा। भारतीयों को जो राजनीतिक स्वतंत्रता मिली, तदनंतर भारत में लोकतंत्रात्मक गणराज्य की स्थापना हुई और संसदीय शासन-प्रणाली को अपनाया गया। अज्ञेयजी ने स्वतंत्रता परवर्ती युग में लोकतंत्र के प्रति आस्था प्रकट की, परंतु स्वतंत्रता सेनानियों के सपने साकार नहीं हुए और अनेक विकृतियों, विसंगतियों और भ्रष्टाचार का बोलबाला हुआ। इसे देखकर अज्ञेयजी का विश्वास नेताओं के नेतृत्व में नहीं रहा।

7. **आधुनिक जीवन और विज्ञान** : विज्ञान के कारण आधुनिक युग में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं, जिसका सीधा प्रभाव जनजीवन पर पड़ा है। निबंधकार अज्ञेय ने इस कथन की पुष्टि करते हुए लिखा है—‘हर वैज्ञानिक यह स्वीकार ही नहीं करता, पहचानता भी है कि विज्ञान साधारणजन को अंधविश्वास, रोग, दारिद्र्य से मुक्ति देकर उच्चतर सामाजिक जीवन की स्थापना की परिधि में ले जाता है, पर वह यह मानने को बाध्य है कि विज्ञान द्वारा सृजित मशीन सभ्यता, मानवीय और सामाजिक मूल्यों को नष्ट भी कर देती है।’<sup>17</sup>

अज्ञेयजी एक उच्चकोटि के शिल्पकार हैं। भाषा उनके भावों और विचारों की

अनुगामिनी है। शैली उनके व्यक्तित्व का साकार स्वरूप है। अज्ञेयजी के निबंधों की भाषा-शैली में तत्सम, तद्भव, देशज, विदेशज और आंचलिक शब्दावली का प्रचुर प्रयोग हुआ है। उन्होंने भाषा की कल्पवृक्ष से उपमा दी है।<sup>18</sup> उनके निबंधों में मुहावरे और लोकोक्तियाँ नई छटा प्रदान करते हैं। वे भाषा को मनुष्य के विकासक्रम की प्रथम सीढ़ी मानते हैं। वहीं वह मूल्यबोध का आधार भी है। वे भाषा को मूल्यों के रचनात्मक सोच, गंभीरतम अनुभूतियों और संवेदनाओं की प्रेरणा का माध्यम मानते हैं।<sup>19</sup> उनके निबंधों में वर्णनात्मक, विवरणात्मक, विचारात्मक, भावात्मक, नाटकीय प्रकरण, डायरी और संस्मरण आदि शैलियों के दर्शन होते हैं।

वस्तुतः कहा जा सकता है कि अज्ञेयजी के निबंधों का वस्तुपक्ष बड़ा व्यापक और प्रबल है। उन्होंने साहित्य, समाज, संस्कृति, राजनीति, धर्म, दर्शन, कला, विज्ञान, इतिहास, मनोविज्ञान आदि विषयों पर निबंधों में लेखनी चलाई है। उनके निबंध-साहित्य में वैचारिकता, व्यंग्यात्मकता और लालित्य की भी प्रधानता है। उनके निबंधों में वर्तमान जीवन की ज्वलंत समस्याओं का विवेचन मिलता है। शिल्पगत विशेषताओं में उनकी भाषा की इंद्रधनुषी छटा उनके निबंधों में झलकती है। उनकी शैली नदी की धाराओं की तरह अनेक रूपों में प्रवाहित होती है। अज्ञेय जी हिंदी के मूर्धन्य निबंधकार हैं। उनका निबंध-साहित्य वस्तु और शिल्प की दृष्टि से बड़ा बेजोड़ है। अज्ञेयजी का हिंदी-निबंध-साहित्य को अवदान युगांतकारी है।

#### संदर्भ

1. त्रिशंकु, स०ही०वा० 'अज्ञेय' सरस्वती प्रेस, बनारस, 1945, पृ० 23
2. सबरंग और कुछ राग, 'अज्ञेय', राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1956, पृ० 9
3. आत्मनेपद, 'अज्ञेय', भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1960, पृ० निवेदन से उद्धृत
4. आलवाल, 'अज्ञेय', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1977, पृ० 17
5. लिखि कागद कोरे, 'अज्ञेय', राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 1977, पृ० 67-68
6. अद्यतन, सरस्वती विहार, नई दिल्ली, 1978, पृ० 164-165
7. समीक्षा, संपादक, डॉ० श्याम सुंदर घोष, अंक जनवरी-फरवरी, 1978
8. स्रोत और सेतु, 'अज्ञेय', राजपाल एण्ड संस, 1978, पृ० 10
9. संवत्सर, 'अज्ञेय' नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1978, भूमिका से उद्धृत
10. धार और किनारे, 'अज्ञेय', सरस्वती विहार, दिल्ली, 1982, पृ० 48
11. कहाँ है द्वारका, 'अज्ञेय', राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 1982, पृ० 01
12. सर्जना और संदर्भ, 'अज्ञेय', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1984, पृ० 424
13. केंद्र और परिधि, पृ० 366
14. वही, पृ० 158
15. वही, पृ० 165
16. वही, पृ० 247
17. आलवाल, 'अज्ञेय', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1977 पृ० 162
18. केंद्र और परिधि, वही, 1984, पृ० 11
19. सर्जना और संदर्भ, वही, 1985, पृ० 332

## शाल्मली : विघटित दांपत्य का खुला दस्तावेज़

अशवनीकुमार, शोधार्थी एम०फिल०,  
नेट, (जे०आर०एफ०)

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र  
डॉ० सरिता वशिष्ठ, शोध-निर्देशिका  
प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग  
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

‘शाल्मली’ नासिरा शर्मा द्वारा रचित एक औपन्यासिक कृति है। प्रस्तुत उपन्यास में लेखिका ने संबंधों की ज़मीन पर एक नारी के जीवन की ऐसी घटना को प्रस्तुत किया है, जो विघटन का चित्रण प्रस्तुत करती है। उपन्यास की नायिका शाल्मली स्वयं इस दांपत्य-विघटन का शिकार होती है। वह यद्यपि एक पढ़ी-लिखी अफ़सर होते हुए भी सामान्य नारी है। शाल्मली कि इस सामान्यता का अर्थ यह नहीं कि वह अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों से अपरिचित है अपितु वह प्रतिकूलता के समय परिस्थितियों से भी सरोकार तोड़कर अपनी सजगता का परिचय दे सकती है। शाल्मली उस सेमल के वृक्ष की भाँति है, जो अपने संसर्ग में आनेवाले को जीवन दान देता है। इस दृष्टि से पारिवारिक स्तर पर पति नरेश की अहंवादी प्रवृत्ति ने उसे इतना सजग बना दिया है कि वह अब एक नारी के यथार्थ को जीती है।

देश कि आज़ादी के बाद स्त्री-पुरुष के जीवन में विशेष परिवर्तन आया है। प्राचीनकाल में नारी का स्थान सर्वोपरि था। उसे सृष्टि की साधिका, स्नेह और प्रेम की प्रतिमूर्ति मानते हुए पूजनीय माना जाता था। वहीं दूसरी ओर वह पितृसत्ता से लेकर विवाहिता होने तक आश्रिता ही रही है। वैदिकयुग में जहाँ नारियाँ न केवल हवन-यज्ञ में भाग लेती थीं, अपितु शास्त्रार्थ में भी उनका सर्वोच्च स्थान है। इस दृष्टि से गार्गी, लोपामुद्रा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।<sup>2</sup> बौद्धकाल में स्त्रियों का आदर था तथा स्त्री-पुरुष में कोई भेद नहीं था। समाज में नारियों को संतों एवं पतियों सा उच्च स्थान प्राप्त था। मध्यकाल में जैसे-जैसे मुग़लों का शासन बढ़ा नारी का यह मातृरूप श्रृंगारी और विलासी होता गया। वैदिकयुग में जो नारी उच्च शिखर पर विराजमान थी, इस युग और समाज में पददलित दिखाई देती है।

समय के साथ-साथ नारी के सतीत्व के प्रति यह ऊहापोह ही धीरे-धीरे नारी-आंदोलन का कारण बनती गई और यह आंदोलन न केवल समाज के विशिष्ट स्तर तक सीमित रहा बल्कि वैश्विक स्तर पर भी इसकी अनुगूँज सुनाई देने लगी। नारी-आंदोलन की इसी गूँज ने प्राचीनकाल से शोषित नारी को समाज में शोषकवर्ग के प्रति हर स्तर पर जागरूक बनाया। अपने



अधिकारों के प्रति जागरूकता में नारी-आंदोलन का प्रभाव फ्रांस की क्रांति में देखा जा सकता है, जहाँ नारी ने न केवल अपने अधिकारों की ही लड़ाई लड़ी, अपितु अपनी अस्मिता की पहचान को समाज के समक्ष स्थिर किया।

आधुनिकयुग में नारी के अस्तित्व का प्रश्न इतना अलगाववादी बन गया है कि नारी अब पहले की नारी न रहकर हर स्तर पर समानता का दर्जा चाहने लगी है। वह पुरुष से चाहे संबंधात्मक स्तर पर भले ही जुड़ी हो, परंतु अधिकार के क्षेत्र में समानता की ही पक्षधर रहती है। इसका एक उदाहरण उपन्यास से दृष्टव्य है—

‘यह तो आनेवाला समय ही तुम्हें बताएगा मेरा धर्म और कानून केवल मानवाधिकार है। मगर इस तरह न अपना अधिकार मैं किसी को दे सकती हूँ, न ही किसी के अधिकार के हनन पर मेरा विश्वास है। यह मेरा दो टूक फैसला है।’<sup>3</sup>

आज नारी की अस्मिता का अर्थ ही बदल रहा है। आज उसका धर्मनिष्ठ होना पतिव्रता में सती-साध्वी होना, उसकी अस्मिता का पर्याय नहीं है। समाज का ही नहीं, अपितु औरत का स्वयं का दृष्टिकोण तेजी से बदल रहा है। आज वह सीता, अनुसूइया या अहिल्या नहीं बनना चाहती। वह अपने अस्तित्व के लिए स्वयं लड़ना चाहती है।<sup>4</sup> उपन्यास की नायिका शाल्मली यद्यपि पारिवारिक संस्कारों में बँधी होने के बावजूद अपनी-अपनी अलग अस्मिता चाहती है। यथा—‘सुनो नरेश। मैं सच कहती हूँ, इतना पढ़-लिखकर इन कामों के सहारे मैं भी अपना दिन नहीं गुजार सकती हूँ।’<sup>5</sup>

समाज में नारी समर्थता हर समय उसे पुरुष के समान ही कुछ करने को प्रवृत्त करती है। वर्तमान में जीवन के हर क्षेत्र में नारी की बढ़ती भागीदारी व उसकी अहंवादी दृष्टिकोण के कारण वह पुरुष की चर्चा का केंद्र बनी हुई है। नारी का यह अहंवाद पुरुष को हर स्तर पर शंकालु बनाता है। चाहे वह किसी भी पद पर आसीन क्यों न हो।<sup>6</sup> इस दृष्टि से उपन्यास में शाल्मली की अहंवादिता से कुंठित होकर पति नरेश का पुरुषत्व जाग्रत हो जाता है। वह शाल्मली को हर समय संस्कृति के घेरे में देखने को आतुर है। दूसरी ओर शाल्मली आधुनिक प्रवृत्ति के कारण पददलित होना अपने नारीत्व का अपमान समझती है।

इसप्रकार समाज में स्त्री-पुरुष के पृथक-पृथक अस्तित्व का प्रश्न ही उनके पारिवारिक विघटन का कारण बनता जाता है। ‘शाल्मली’ उपन्यास में नारी के इसी आधुनिक रूप में उपस्थित होना नरेश व शाल्मली के बीच अलगाव का कारण बनता है, जो उसके दांपत्य जीवन के विघटन का दस्तावेज प्रस्तुत करता है। विघटन के लिए लेखिका नासिरा शर्मा ने जिन कारणों को प्रस्तुत किया है उनमें निम्न है—

मानव-समाज की रचना का आधार स्त्री-पुरुष भले ही हो, परंतु इसकी महत्त्वपूर्ण बुनियाद उनके पारस्परिक संबंधों की पूर्णता पर ही टिकी होती है। समाज का यह बुनियादी आधार जहाँ एक ओर उसे संबंधात्मक स्तर पर सुदृढ़ आधार प्रदान करते हैं वहीं यह बुनियादी लड़ाई अहंवादी प्रवृत्ति के कारण स्त्री-पुरुष की विभिन्नता का कारण बन जाती है। पुरुष नारी को चिरकाल से पैर की जूती मानकर स्वयं से कमतर ही मानता आया है।<sup>7</sup> उधर नारी का यह रूप उसे एक सीमा तक ही स्वीकार्य है। आज जीवन के हर स्तर पर वह पुरुष की बराबरी करती नज़र आती है। प्रस्तुत उपन्यास में शाल्मली का कथन—‘वास्तव में पुरुष सब-कुछ पाकर

भी संतुष्ट नहीं होता। वह जीवन में अपनी खोज की इस प्रवृत्ति को अपनी उपलब्धि मान बैठता है। उसे औरत को ठगकर बड़ा सुख मिलता है। परंतु उसका यह शातिराना तरीका ही हर क्रम पर नारी को बदले के लिए उकसाता है।<sup>8</sup>

उपन्यास में सरोज के अनुसार नारी-मुक्ति का अर्थ स्वतंत्र समाज की सोच और नारी की स्थिति बदलने में है। सरोज के कथनानुसार—‘मेरी दृष्टि में स्वावलंबी होने का यह अर्थ बिल्कुल नहीं कि वह परिवार को तोड़ डाले, जो उसकी पहचान है ज़रूरत है। यह सही है कि रोटी पहली तथा सैक्स दूसरी समस्या है इंसान की।..... मगर प्रश्न तो सामने इससे भी जटिल है कि आज कि औरत भूख लगने पर किसी भी तरह की रोटी आँख बंद करके खाने या केवल वासनापूर्ति के लिए किसी के सामने घुटने टेक दे।’<sup>9</sup>

शाल्मली गृहस्थ होने के कारण जहाँ एक ओर संबंधों की परिपूर्णता को महत्व देती है, वहीं वह अपने अहं का भी परिचय साथ देती है। वह नारी के नारीत्व की स्थापना अहं के बल पर ही करती हुई कहती है—‘औरतों के पास दो ही अभिव्यक्तियाँ हैं या सर झुका देना या समस्या को अधूरी छोड़कर सर कटा लेना। मेरा विश्वास न घर छोड़ने पर है, न आत्महत्या पर, न अपने को किसी एक के लिए स्वाहा करने में है।’<sup>10</sup>

इस प्रकार आधुनिक भारतीय समाज में पुरुष का अहं समानता के दायरे में नारी की उपस्थिति को अपरिहार्य मानता है। वह उसे भावनात्मक स्तर पर भी समानता तब तक देता है, जब तक उसकी शारीरिक पूर्ति न हो। इसलिए नारी पुरुष के अहं की इसी कारा के समक्ष अपने अहं को भी हावी रखती है, जो उनके आपसी विघटन का कारण बनता है।

**2. आर्थिक स्वतंत्रता :** ‘भारतीय समाज में भूमिका निर्धारण के संदर्भ में स्त्री-पुरुष के कार्य में भेद किया गया है। गृहस्थी के प्रबंध का काम निरपवाद रूप से स्त्री के क्षेत्र में आता है, वहीं परिवार के भरण-पोषण का पुरुषवर्ग के क्षेत्र में।’<sup>11</sup> आधुनिकयुग की महिला ने अपने इस क्षेत्र की दिशा को ही बदलकर रख दिया है। महिलाओं की धनोपार्जन के क्षेत्र में सक्रिय भूमिका के लिए पुरुषवर्ग की मनमानी को कारण माना जा सकता है। आज की नारी केवल घर की चारदिवारी तक ही सीमित नहीं रही, बल्कि सामाजिक के साथ-साथ आर्थिक क्षेत्र में भी उसका प्रवेश दिखाई पड़ने लगा है। पारिवारिक अर्थव्यवस्था में भी उसके योगदान को अनदेखा नहीं किया जा सकता। आज स्त्रियाँ सार्वजनिक सेवाओं तथा व्यवसायों में इस कदर प्रवेश कर रही हैं कि उन पर पुरुष का नियंत्रण समाप्त होता जा रहा है। वे आज पुरुषों के बराबर वेतन प्राप्त कर रही हैं।

जहाँ पुरुष नारी की मानसिक स्वतंत्रता पर अंकुश लगाकर उसे सदैव निम्न समझता है, समानता के स्थान पर निम्न समझता है, वहीं पुरुष की यही प्रवृत्ति उसे आर्थिक रूप से सुदृढ़ बनने के लिए प्रेरित करती है। समाज में ऐसी नारियाँ पुरुषों के समक्ष न केवल आत्मनिर्भर हैं, बल्कि बुद्धिजीवी होने के कारण बड़ी चुनौती भी हैं। यहीं से परंपरा, आचार-संहिता, नैतिकता के नाम पर पुरुष नारी को दबाने, कुचलने व अपमानित करने का काम करने लगता है। एक संवाद उपन्यास से दृष्टव्य है—

‘नौकरी की तुम्हें क्या आवश्यकता है? मैं कमाता हूँ और जो कमाता हूँ, पूरा-पूरा तुम्हारे हाथ में लाकर रख देता हूँ।’ नरेश ने भारी स्वर में कहा।<sup>12</sup>

नारी गृहस्थ होते हुए भी अपनी अस्मिता को दबाकर नहीं रख सकती, परिवार के पालन-पोषण एवं गृहस्थी के सभी कार्यों के पश्चात् भी अपनी योग्यता का ठीक उपयोग करना चाहती है। शाल्मली का कथन देखिए—‘सुनो नरेश, मैं सच कहती हूँ, इतना पढ़-लिखकर इन कामों के सहारे मैं भी अपना दिन नहीं गुजार सकती हूँ। मेरे दुख को, मेरी असमर्थता को समझो।’<sup>13</sup>

इस प्रकार बदलती व्यवस्था ने नारी के परिदृश्य को बदल डाला है। आज नारी पुरुष से हर स्तर पर बराबर है। वह पुरुष से न केवल कंधे से कंधा मिलाए हुए है, बल्कि समग्र रूप से सुदृढ़ नारी बन चुकी है। परंतु पुरुष को उसका यह नारीमुक्ति से उभरता रूप सालता है। परंतु नायिका शाल्मली आधुनिक भारतीय नारी का जीवन जीती हुई आर्थिक स्वतंत्रता को अनिवार्य मानती हुई कहती है—‘इस सुख के साथ और सुख भी तो हमें चाहिए।’

**3. व्यवस्था के प्रति जागरूकता :** ‘स्त्री का आत्मसंघर्ष प्रत्येक युग में विद्यमान रहा है। वह स्त्री की खोल से बाहर आकर मनुष्यत्व की दिशा में अग्रसर होना चाहती है। वह अपने समर्पण के साथ अपनी मर्जी से जीना चाहती है। वह अपनी आत्मा को पहचानती हुई आकाश को छूना चाहती है, किन्तु धर्म, समाज, राजनीति, न्याय आकाश तो दूर एक सीढ़ी भी उसे चढ़ने नहीं देना चाहते हैं।<sup>14</sup> इस प्रकार नारी का यह शोषण उसमें अहंवादी अविरल धारा जाग्रत करता है।

इस समाज की इस व्यवस्था में स्त्री-पुरुष के कुछ कर्तव्य होते हैं, जो उस समाज की परंपरा-निर्वहन में अति आवश्यक हैं, परंतु आज वर्तमान में यह व्यवस्था अव्यवस्था का रूप लेती जा रही है। इसका एक संवाद दृष्टव्य है—‘देह से हटकर भी तो अवश्यकता होती है मनुष्य की वरना कान, आँख, जबान और दिल मनुष्य को क्यों मिले है।<sup>15</sup>

**4. पारंपरिक जकड़न/बंधन**—परिवार समाज की सबसे छोटी इकाई है। समाज में रहकर प्राणि अपनी आवश्यकताओं को जहाँ एक तरफ़ पूरी करता है, वहीं समाज के ये बंधन मनुष्य को सभ्य बनाने में सहायक होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के अपने समाज में रहते हुए समाज के लोगों से भिन्न स्तरात्मक संबंध होते हैं, जो उसे एक निश्चित वर्ग एवं पारिवारिक श्रेणी से आबद्ध करते हैं। समाज में पति-पत्नि का संबंध एक शुद्ध एवं ठोस आधार लिए रहता है। परंतु समाज की यही बुनियाद ही दूषित एवं विघटित हो जाए तो सभ्य समाज की परिकल्पना ही नगण्य हो जाती है। बंधन जहाँ एक सीमा तक ही स्पृहणीय होते हैं, वहीं उनकी ड्योढी को लाँघना उतना ही दुष्कर हो जाता है। व्यक्ति को समाज में रहते हुए सभी प्रकार की स्वतंत्रता प्राप्त होती है, वह जब चाहे जहाँ चाहे, जो चाहे अपनी इच्छानुसार कर सकता है। प्रस्तुत उपन्यास में शाल्मली यद्यपि एक अफ़सर है, वह अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों से पूरी तरह परिचित है परंतु नरेश उसकी कर्तव्यपरायणता से कहाँ तक संतुष्ट है यह उसके कसैले व्यवहार से स्पष्ट है। आधुनिकयुग की नारी की यही जागरूकता पुरुष की प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचाती है। उपन्यास से एक संवाद दृष्टव्य है—‘अगर मैं यह बात नहीं कहती, तो शायद मैं इतनी अपंग..... और आप अपने को इस तरह कौसते, क्यों?’

‘मैं तुमसे बहस नहीं कर सकता। तुम्हारा तर्क मुझे अपने बॉस की याद दिला देता है।.....पत्नी हो पत्नी की तरह रहो समझीं।’<sup>16</sup>

नारी ही समाज की वह वस्तु मानी जाती है, जिसे रबड़ की भाँति जब चाहो, जहाँ से चाहो, जिस आकार में चाहो ढाल दो, परंतु आधुनिक नारी का यह बदला रूप पुरुषवर्ग के लिए अपनी अस्मिता पर बड़ा प्रश्न बन गया है। वह नारी पर हर प्रकार के बंधन लगाकर उसे वशीकरण का मंत्र दिए रहता है। यही करता है पति नरेश। परिवार की सदस्य होते हुए भी उसकी स्वतंत्रता नरेश के अधीन है। नरेश का कथन है कि—‘तुम अपने बारे में निर्णय लेनेवाली कौन हो? मेरी इच्छा के बिना अब तुम अपने घर न जा सकती हो न इस घर से बाहर।’<sup>17</sup>

इस प्रकार समाज में नारी पर परंपरा की अतिशयता एवं जकड़न जहाँ एक और विच्छेद का कारण बनती है, वहीं पारिवारिक विघटन का भी।

नारी का शिक्षित, जागरूक, प्रगतिशील रूप जहाँ एक ओर उसे व्यवस्था को समझने एवं आत्मसात करने के लिए प्रेरित करता है, वहीं यह जातिगत, व्यक्तिगत एवं सामाजिक निर्दयता के हर स्तर पर पुरुषवर्ग को ललकारता है, उन्हें अपनी अस्मिता का सही ज्ञान करवाने के साथ-साथ समाज में संबंधों की इस कसौटी को समझने के लिए विवश करता है।

### संदर्भ

1. शाल्मली, नासिरा शर्मा, आवरण पृष्ठ
2. भारतीय संस्कृति व साहित्य में नारी का स्थान, रश्मि मल्होत्रा, पृ० 112
3. शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ० 246
4. आधुनिक एवं हिंदी कथासाहित्य में नारी का बदलता स्वरूप, डॉ० मुदिताचंद्र एवं सुलक्षणा टोप्पो, पृ० 33
5. शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ० 44
6. भारतीय समाज, वंदना मिश्र, पृ० 97
7. वही, पृ० 13
8. शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ० 162
9. वही, पृ० 166
10. वही, पृ० 166
11. हिंदूधर्म क्या है?, पृ० 26
12. वही, पृ० 44
13. वही, पृ० 44
14. भारतीय समाज और महिलाएँ, डॉ० सुषमा जैन, पृ० 20
15. शाल्मली-नासिरा शर्मा, पृ० 164
16. वही, पृ० 46
17. वही, पृ० 46

□ पुत्र श्री हजारीलाल  
गाँव-धनौन्दा, डाकखाना मंडी अटेली  
जिला महेंद्रगढ़ ( हरियाणा )123021  
फोन : 08882464626, 09467454458

## डा० अंबाप्रसाद 'सुमन' : के पत्र-साहित्य में चिंतन, दर्शन और कला

श्रीमती निधि, शोधछात्रा  
डा० श्रीमती विदुला सिंह, शोधनिदेशिका  
अध्यक्ष, हिंदी विभाग  
जे०वी०जैन कालेज, सहारनपुर

चिंतन-मनन-साहित्यकार का स्वाभाविक गुण है। चिंतन का अभिप्राय मुख्यतः विचार-विमर्श, अर्थात् सोचने-विचारने से है। बुद्धि का सामान्य धर्म है-सोचना-विचारना, चिंतन करना। बुद्धि के दो रूप-संकल्पात्मक और विकल्पात्मक हैं। संकल्पात्मक बुद्धि के कारण चिंतन में दृढ़ता, स्थिरता एवं गंभीरता आती है तथा विकल्पात्मक से चंचलता, अस्थिरता एवं उच्छृंखलता। आत्मानुभव से ज्ञान और बुद्धि से अर्थ ग्रहण करते हुए व्यक्ति अपने चिंतन को विस्तार देता है। चिंतन का आधार अनुभूतियाँ होती हैं। अनुभूतियाँ जितनी गहन होती हैं, चिंतन भी उतना ही गहन-गंभीर। चिंतन का संबंध किसी-न-किसी समस्या, लक्ष्य अथवा उद्देश्य से होता है, जो स्थूल से सूक्ष्म अथवा मूर्त से अमूर्त की ओर बढ़ता है।

डा० अंबाप्रसाद 'सुमन' के पत्र-साहित्य में उनका चिंतनगत वैविध्य उनके गहन अध्ययन-मनन, नूतन अवबोध एवं समृद्ध आन्वीक्षिकी का प्रमाण है। उन्होंने न केवल वेद-उपनिषद्, रामायण, श्रीरामचरितमानस, महाभारत और श्रीमद्भगवद्गीता वरन् समाज, परिवार, विज्ञान, मनोविज्ञान और हिंदी साहित्य के अनेक विषयों-उपविषयों पर भी सूक्ष्म दृष्टि डाली है। उनका अन्वेषी मन ऐसे तथ्यों की खोज करता है, जिनसे सामान्यजन अनभिज्ञ होते हैं। नए-नए तथ्यों की खोज और उनके पुष्टिकरण हेतु दूसरे ग्रंथों के संदर्भों का उल्लेख 'सुमन' जी की विशिष्टता तथा मौलिकता की उद्घोषणा करता है। गूढ़ से गूढ़तम विषयों को सरल-सरस एवं सहज-स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत कर देना उनकी महती विशेषता है। डा० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण' सुमन जी के चिंतन को 'अमृतमय-चिंतन' से विभूषित करते हैं- 'निःसन्देह, आचार्य डा० अंबाप्रसाद 'सुमन' ऐसे 'सु-मानव' थे, जिनका 'सु-मन' ही नहीं, अमृतमय चिंतन भी ग्रंथ के सु-पत्रों में सर्वत्र व्याप्त है।' वस्तुतः 'सुमन' जी में जितनी ऊँचाई थी, उतनी ही गहराई भी। वे जिस विषय को लेते थे, उस पर सतही विचार करके संतोष नहीं मान लेते थे, वरन् उस विषय की गहराई में जाते थे और मनोयोगपूर्वक मंथन करके असंख्य अमूल्य रत्न निकालते थे।

'सुमन' जी ने अपने पत्रात्मक ग्रंथ 'संस्कृति, साहित्य और भाषा' के पत्रों में वैदिक

साहित्य और उससे संबंधित कतिपय तथ्यों का उल्लेख करते हुए अपने मित्रों और शिष्यों की अनेक जिज्ञासाओं का समाधान किया है। जिज्ञासुओं द्वारा प्रश्न किए जाने पर वे वैदिक साहित्य के सोपान बताते हुए वेदों की संहिताएँ ब्राह्मण ग्रंथ, आरण्यक ग्रंथ और उपनिषद् सभी का महत्त्व प्रतिपादित करते हैं तथा इस संदर्भ में 'गायत्री मंत्र' की विशेष चर्चा करते हैं।

उपनिषदों में विशेषतः 'ईशावास्योपनिद्' एवं 'कठोपनिषद्' की चर्चा की गई है तथा मनुस्मृति के आधार पर ब्राह्मण के स्वरूप व महत्त्व का स्पष्टीकरण किया गया है। वाल्मीकि 'रामायण' और तुलसीकृत 'श्रीरामचरितमानस' की विषद् व्याख्या करते हुए लेखक ने श्रीराम के जीवन से संबंधित विभिन्न प्रसंगों की सत्यता उद्घाटित की है। इन प्रसंगों में उन्होंने कहीं 'अध्यात्मरामायण', कहीं 'कंबरामायण', कहीं 'पउमचरिउ', कहीं भावार्थरामायण और कहीं विभिन्न विद्वानों के मतों द्वारा अपने मंतव्य की पृष्टि की है। 'महाभारत' एवं 'श्रीमद्भगवद्गीता' के विविध प्रसंगों को धर्म, संस्कृति, कर्म और नीति के संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है। श्रीकृष्ण को परम नियंता बताते हुए उन्होंने सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उनका महत्त्व सिद्ध किया है।

सामाजिक प्राणी होने के नाते 'सुमन' जी ने अपने पत्रों में समाज की विभिन्न स्थितियों, बाधाओं एवं समस्याओं के भी उत्तर दिए हैं। साथ ही पारिवारिक तथा वैयक्तिक बिंदुओं पर भी विचार किया है। सामाजिक दृष्टि से लेखक की प्रमुख चिंता समाज में हार्दिक सद्भाव का अभाव, युवापीढ़ी का अलगाव, धार्मिक भावना व सच्चरित्रता का विनाश है तो पारिवारिक दृष्टि से जीवन में मर्यादाहीनता का बढ़ना, मानसिक रोगों का शिकार होना, विचारों का तालमेल न होना, विवाह के वास्तविक स्वरूप को न समझना तथा भौतिकता के मोहपाश में पड़कर स्वतंत्रता को स्वच्छंदता-उच्छृंखलता में बदल देना है। इन सबके समाधान रूप में 'सुमन' जी ने पहले पुरानी पीढ़ी को आदर्श बनने की मंत्रणा दी है। तभी तो युवा पीढ़ी उनका अनुकरण करेगी। वैयक्तिक रूप में लेखक ने अपने कारुणिक और प्रेरणाप्रद प्रसंगों की अवतारणा की है। वैज्ञानिक व मनोवैज्ञानिक चिंतन रूप में उन्होंने आइन्स्टीन तथा फ्रायड, एडलर व युग के मतों की प्रस्तुती की है। हिंदी साहित्य के गहन अध्येता होने के कारण उन्होंने उक्त साहित्य के विविध विषयों व उपविषयों पर भी गंभीरता से विचार किया है। कुल मिलाकर 'सुमन' जी का चिंतन विविधआयामी, व्यापक, सूक्ष्म, गहन एवं नूतन तथ्यों का अन्वेषी रहा है। तथ्यों के अन्वेषण में कहीं उन्होंने 'शब्द' विशेष की व्याख्या की है तो कहीं प्रसंगों की सत्यता उद्घाटित की है।

उदाहरणार्थ विश्वामित्र के प्रसंग में भवभूति कृत 'उत्तररामचरित' नाटक के प्रथम अंक में कहा गया है—'यत्रदाता ग्रहीता च स्वयं कुशिकनन्दनः'। जिज्ञासु द्वारा पूछे जाने पर 'सुमन' जी स्पष्ट करते हैं कि 'राम-सीता विवाह में विश्वामित्र दाता और ग्रहीता दोनों थे, क्योंकि विश्वामित्र जी ने ही राजा जनक को, सीता का विवाह राम के साथ करने के लिए, प्रेरित किया था और विश्वामित्र जी ने ही राम को धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाने के लिए प्रेरणा दी थी। यहाँ 'कुशिकनन्दनः' सामासिक पद है। इसमें 'नन्दन' शब्द का अर्थ 'पुत्र' नहीं है, अपितु 'आनंद प्रदान करनेवाला' है। कुशिक की आत्मा विश्वामित्र के कार्यो तथा गुणों से बहुत प्रसन्न थी। अतः विश्वामित्र 'कुशिकनन्दन' कहलाए। कुशिक का नाम कुशनाभ भी था। कुशनाभ के पुत्र गाधि थे। गाधि के पुत्र का नाम विश्वामित्र था। कुशिक के वंशज कौशिक पुकारे जाते

थे। विश्वामित्र कुशिक के पौत्र थे। वाल्मीकीय रामायण और महाभारत इसके लिए प्रमाण है। स्पष्ट ही 'सुमन' जी का चिंतन गहन, स्पष्ट, सारगर्भित तथा मौलिक है। डॉ० विष्णुदत्त भारद्वाज के शब्द सत्य हैं—'पत्रों से उनकी विद्वत्ता, प्रामाणिकता और आत्मीयता व्यक्त होती है। शब्दचर्चा को वे प्रामाणिक कोशों तक ही सीमित रखते थे। हिंदी की उपभाषाओं के शब्दों के रूप भी वे परिनिष्ठ नियमों पर तोलते थे। शब्दों के रूप में बड़ी सावधानी से लिखते थे। उनके पत्र प्रामाणिक लेख हैं।'

दर्शन की दृष्टि से पत्रों में दर्शन का अर्थ, व्याख्या, परिभाषा, उत्पत्ति और प्रक्रिया पर विचार करते हुए परमात्मा, आत्मा, जीव, जगत, मोक्ष, योग, ज्ञान-भक्ति-कर्म, कर्म और भाग्य, भाग्य और पुरुषार्थ आदि विविध तत्त्वों का ज्ञान प्रकाशित किया गया है। 'दर्शन' के तीन अर्थ-देखने की क्रिया, वह दृश्य जो देखा जाता है, वह साधन जिससे देखा जाता है, में से तीसरे अर्थ, वह साधन जिससे देखा जाता है, को ग्रहण किया गया है। क्या ग्रहण किया जाता है? के उत्तर में वे स्पष्ट कहते हैं कि बाह्य जगत् और आंतरिक जगत् के विविध रूपों, तत्त्वों तथा दृश्यों को जिस साधन द्वारा देखा जाता है, वही दर्शन है। दर्शन वास्तव में 'ब्रह्म-प्राप्ति' का साधन है। मानव-जीवन का लक्ष्य 'ब्रह्म-प्राप्ति' ही है। ब्रह्म स्वयं में पूर्ण और सर्वव्यापक है। इसलिए उसी की प्राप्ति मनुष्य का इष्ट है। 'ब्रह्म-प्राप्ति' के लिए प्रयत्नशील होती है—जीवात्मा। आत्मा परमात्मा का अंश है, जो चेतन है। जब वह 'ब्रह्म-प्राप्ति' के लिए किसी जीव की आत्मा में प्रवेश कर जाती है, तब जीवात्मा कहलाती है। यही जीवात्मा जगत की माया के बंधन में पड़कर अच्छे-बुरे कर्मों का फल भोगती है। अंततः मोक्ष के लिए प्रयत्नशील होती है। मोक्ष के लिए योग, भक्ति और कर्म आदि अनेक मार्ग बताए गए हैं। इनमें योग कठिन है, भक्ति सरल और कर्म स्वाभाविक प्रक्रिया है। 'सुमन' जी किसी पत्र के उत्तर में स्पष्ट लिखते हैं कि 'बिना कर्म के तो कोई रह ही नहीं सकता। बुद्धि और हाथों वाला मनुष्य कर्म तो करेगा ही। मनुष्य जड़ नहीं, जंगम है। कर्म करना जंगम का एक स्वभाव है। प्रश्न तो सत्-असत् कर्म का है। कर्म-फल को न विचारते हुए कर्म की बात 'गीता' कहती है। यहाँ निष्काम कर्म की ओर संकेत है, क्योंकि निष्काम भावना से किए गए कर्म बंधन में नहीं बाँधते। ऐसा व्यक्ति शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। इसीलिए 'सुमन' जी इच्छारहित कर्म पर बल देते हैं।

'सुमन' जी का जीवन-दर्शन उनके दर्शन का पुष्ट प्रमाण, भारतीय संस्कृति का सशक्त रूप, वेद, उपनिषद् तथा श्रीमद्भगवद्गीता का सार रूप, मानव-जीवन को सच्ची दिशा देने वाला दीपक है। कर्म, भाग्य और पुरुषार्थ को स्पष्ट करते हुए उन्होंने वर्तमान में पुरुषार्थ करके भविष्य को उन्नत बनाने की प्रेरणा दी है। वेद की भाषा में वे 'दुरितानि परासुव' की प्रेरणा देते हैं तो उपनिषद् की भाषा में—'उत्तिष्ठ जाग्रत' की। मनु, महाराज के शब्दों में 'स्वं स्वं चरित्र शिक्शेरन्' का उद्घोष करते हैं तो गीता की वाणी में 'कर्मफलं व्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति' की शिक्षा देते हैं। इस अर्थ में उनका जीवन-दर्शन शुद्ध भारतीय है, जो व्यष्टिसेवा से समष्टिसेवा में अधिक रमनेवाला तथा मौन कर्म को महत्त्व देनेवाला है। उनका मानना है कि 'सच्चे मन और सच्ची वाणी से संयुक्त सच्चा कर्म ही धर्म है। इसीलिए सत्य, सेवा, दया, प्रेम आदि मानव-धर्म के मूल तत्त्व माने गए हैं। जो मनुष्य इन तत्त्वों को कर्म द्वारा साकारता प्रदान करता है, वही सच्चा धर्मात्मा है। इसी में सच्चे मानव-धर्म का बीज सन्निहित है। यही उन्हें

प्रिय है। जीवन का वास्तविक सुख उन्होंने धन में नहीं वरन् मन में माना है। उनकी दृष्टि में विलासपूर्ण जीवन त्याज्य है। आध्यात्मिक जीवन ही वास्तविक जीवन है।

कला का अभिप्राय उस सौंदर्य तत्त्व से है, जो पत्रों में अभिव्यक्त विचारों, भावों, शब्दप्रयोगों, लेखन-शैली तथा भाषा आदि के माध्यम से प्रकट हुआ है। किसी भी लेखक की कला उसकी अभिव्यक्तिगत-चारुता में निहित होती है। अभिव्यक्तिगत चारुता के निदर्शन हैं— भाषा, शैली, शब्द योजना, अलंकार चातुर्य बिंबविधान, प्रतीक, व्यंग्य, कहावतें-मुहावरे और सूक्तियाँ 'सुमन' जी के पत्रों में इन सभी का सुंदर सन्निवेश उनकी कलागत कुशलता का परिचायक है। भाषा का समुचित प्रयोग, प्रसंगानुसार समास-व्यास शैली का गठन, विविध संदर्भों का उल्लेख, कथा-प्रसंगों की अवतारणा, कहावतों-मुहावरों और सूक्तियों का यत्र-तत्र गुंफन आदि पत्रों को सहज, सरल, स्पष्ट, प्रभावशाली, मनोरंजक तथा हृदयग्राही बनाने में सहायक सिद्ध हुआ है। इन सभी तत्त्वों का सम्मिलित रूप निम्नलिखित उदाहरण में देखा जा सकता है।

दया और अहिंसा का अंतर बताते हुए 'सुमन' जी एक पत्र में वैचारिक, संवेदनपूर्ण, कथात्मक, उदाहरणपरक, समास-व्यास शैली, सूक्तिपूर्ण कहावतों-मुहावरों और सरल-सरस-रोचक भाषा का सुगठित प्रयोग करते हुए अपने कलागत-सौंदर्य को इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं— 'किसी प्राणी को दुःखी देखकर जो करुणा हमारे मन में जगती है और उसके प्रति जो सहायता का भाव उद्बुद्ध होता है, वह दया है। दया का भाव करुणा स्थिति को देखकर कुछ समय के लिए ही जागता है। वह सदा जाग्रत नहीं रहता। यदि सदा जाग्रत रहेगा और सबके प्रति सामान्य रूप से मन, वचन और कर्म में रहेगा, तो वही दया फिर अहिंसा कही जाएगी। अहिंसा शाश्वत भाव है, सार्वकालिक है, सार्वदेशिक है। विश्व के प्राणीमात्र के लिए है। कभी-कभी दया तो एक क्रूर कसाई में भी उद्बुद्ध हो सकती है। हजरत मुहम्मद और खलीफा उमर के जीवन-चरित हमें बतलाते हैं कि उनमें दयाभाव जगता था, काफ़ी जगता था। वे वास्तव में दयावान् थे। एक बार खलीफा उमर वेश बदलकर रात्रि में अपनी प्रजा का दुःख-सुख जानने के लिए एक गाँव में घूम रहे थे। देखा कि एक स्त्री एक घर में बालक को गोद में लिए बैठी है। बालक बहुत देर से रो रहा है। स्त्री के पास एक हाँडी में कुछ पकाया भी जा रहा था। खलीफा उमर के पूछने पर पता चला कि स्त्री का पति परदेस में था। घर में दाना तक न था। स्त्री भी भूखी थी, बच्चा भी भूखा था। भूखी स्त्री के स्तनों में दूध भी न था। इसलिए भूखा बच्चा बुरी तरह रो रहा था। उमर ने स्त्री से कहा कि 'तुम इस हाँडी में जो पका रही हो, उसमें से कुछ बच्चे का खिला दो।' स्त्री ने कहा, 'हाँडी में सिर्फ़ पानी खोल रहा है। मैंने बच्चे को इसे दिखाकर कुछ तसल्ली बँधाई थी, लेकिन वह तसल्ली कब तक रहती? अब इंतज़ार की हद गुज़र जाने पर बच्चा फिर रोने लगा है।' खलीफा दया से द्रवीभूत हुए और बोले—'तुमने खलीफा के दरबार में जाकर अपनी बात क्यों नहीं कही?' स्त्री कहने लगी—'जिस खलीफा ने मुझसे बिना पूछे मेरे खाविद को फौज़ में भेज दिया, उस खलीफा का क्या यह फ़र्ज न था कि उसकी घरवाली और बच्चों के दुःख-दर्द का ख़्याल भी रखता।' इसे सुनकर खलीफा उमर के आँसू निकल आए। फौरन शाही भंडार से उस स्त्री के घर में पूरे एक साल का खाने का इंतज़ाम कराया और उस स्त्री से क्षमा माँगी। खलीफा उमर का यह भाव दया था। जब दयाभाव



प्राणिमात्र के प्रति सर्व, सामान्य रूप से सदा जाग्रत रहता है, तब 'अहिंसा' कहलाने लगता है। अहिंसा का पुजारी मन, वचन और कर्म से शाश्वत् दयावान् होता है। उसकी यह भावना सदा सर्वदा रहती है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःख भाग भवेत्।

इस प्रकार, चिंतन, दर्शन और कला तीनों दृष्टियों से 'सुमन' जी के पत्र बेजोड़ हैं। ये पत्र उनके गहन अध्ययन, सतत् अभ्यास तथा जागरूक कलाकार की वाणी और लेखनी की जादूगरी के पुष्ट प्रमाण हैं। डॉ० भगवानसहाय पचौरी के ये शब्द दर्शनीय हैं—पत्राचार में वे मोहन-मंत्र थे। उनके पत्रों से साहित्य की शिक्षा मिलती रही। आत्मीयता अक्षर-अक्षर में संपुक्त रही। लिपि में लिपिकार का व्यक्तित्व छिपा होता है, यह बात डॉ० 'सुमन' के पत्राचार के विषय में शत-प्रतिशत घटित होती है। मानवीयता के दर-ब-दर खोज करने वाले मीर साहब काश जीवित होते तो वे 'आदमी मिलना मगर दुश्वार है, न कहते। डॉ० 'सुमन' के व्यक्तित्व में मीर साहब का 'इंसान' तो विद्यमान था ही, एक रचनाधर्मी लेखक भी पालथी मारे बैठा था, जो गुण और मात्रा में यथेष्ट लिखने और छपने के बाद अंतिम समय तक नहीं चुका।'

समग्र रूप में 'सुमन' जी का पत्र-साहित्य चिंतन, दर्शन और कला का सुंदर उदाहरण है। उनका चिंतन और दर्शन भारतीय संस्कृति से अनुप्राणित आत्मचिंतन एवं मानवीय गुणों-प्रेम, सेवा, सहायता, सहानुभूति, सहयोग, कर्तव्यपरायणता तथा समष्टि कल्याण का संदेशवाहक है। उन्होंने अर्थ (धन) की अपेक्षा मन को बलवान बनाने की प्रेरणा दी है, क्योंकि उनका मानना है 'धन बढ़ा-मन गिरा।' शक्ति तभी सफल हो सकती है। 'जब मनोबल और आत्मबल से वह संयुक्त हो।' 'जीवन के संपूर्ण आचरणों की समष्टि का नाम चरित्र है। संपूर्ण सदाचरणों की समष्टि 'सच्चरित्र' कही जाती है।' सच्चरित्र मन, वचन और कर्म की श्रेष्ठता का पुंजीभूत रूप है। 'जिससे मन, वचन और कर्म से किसी प्राणी का बुरा नहीं किया, वही ब्रह्म के निकट हैं। कर्म जीवन का अपरिहार्य तत्व है। 'पुरुष वह है, जिसमें पौरुष है और पौरुष वह है, जिसमें कर्तव्य के लिए कर्मठता है।' सच्चे मन और सच्ची वाणी से संयुक्त सच्चा कर्म ही धर्म है। सत्य, सेवा, दया, प्रेम आदि के साथ सत्कर्म करना ही मानव-धर्म है।' अतः मानव-धर्म का पालन करते हुए 'हम आत्मस्थ बने, साक्षी बनें, यही आवश्यक है। हम वास्तव में आत्मा हैं। इसलिए आत्मोत्थान के लिए प्रयत्नशील होना ही जीवन का प्रमुख उद्देश्य है। 'सुमन' जी ने जिस सहज, सरल, स्वाभाविक, स्पष्ट, कहावतों-मुहावरों-सूक्तियों तथा समास-व्यास शैली के साथ प्रांजल-परिष्कृत भाषा का प्रयोग कर अपने चिंतन मनन व दर्शन को अभिव्यक्त किया है, निश्चय ही सराहनीय है।

## सूचना तकनीक और हिंदी-पत्रकारिता

डॉ० अशोककुमार मिश्र

वर्तमान काल में संपूर्ण विश्व सूचना क्रांति के दौर से गुजर रहा है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी ने जीवन व्यवहार के सभी क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन किया है। जनसंचार माध्यमों को भी सूचना क्रांति ने गहराई से प्रभावित करते हुए अनेक परिवर्तनों का सूत्रपात किया है। भारतवर्ष में पत्रकारिता के प्रारंभिक काल में समाचार पत्र और पत्रिका ही जनसंचार के महत्वपूर्ण माध्यम के रूप में विद्यमान थे। 'अर्थात् कुछ साल पहले तक जहाँ मुद्रण माध्यम ही पत्रकारिता के संवाहक थे, आज वहीं रेडियो, टेलीविजन, इंटरनेट आदि पत्रकारिता के क्षेत्र में निर्णायक भूमिका निभा रहे हैं। ये माध्यम एक आम आदमी को घर बैठे सारी दुनिया की घटनाओं से अवगत करा रहे हैं। 1. अधुनातन परिवेश में पत्रकारिता समाज के निम्न और विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। यह संचार के उपग्रहीय संचरण विकास प्रणाली की देन है। इसके परिणामस्वरूप संपूर्ण विश्व में भूमंडलीकरण की प्रक्रिया शुरू हो गई है। इस भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में पुरानी परंपराएँ नए आवरण में प्रस्तुत की जाती हैं। पत्रकारिता की रूपरेखा भी कुछ ऐसी ही है।' 2. 'पत्रकारिता विज्ञान कला और शिल्प की त्रिवेणी है।' 3. प्रिंट माध्यम समाचार पत्र और पत्रिकाएँ जनसंचार का प्रामाणिक एवं ऐतिहासिक माध्यम हैं। अंतरराष्ट्रीय और राष्ट्रीय समाचार एजेंसियों के संवाददाताओं की सक्रियता और आधुनिक सूचना तकनीक के चलते मुद्रित जनसंचार प्रणाली आज विश्वव्यापी हो गई है। कुछ ही पल में समाचार संबंधी सूचनाएँ विश्व के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँच जाती हैं। 'किंतु समाचार माध्यमों में यह क्रांति सिर्फ तकनीकी क्रांति नहीं है। यह पुराने औजारों की जगह नए औजारों की खोज की ही कहानी नहीं है। यह मनुष्य जीवन, समाज-व्यवस्था, राजनीतिक आर्थिक प्रणालियों और जीवन मूल्यों में चुनौती भरे परिवर्तन करने वाली घटना है। 4. आधुनिक युग में सूचना तकनीक ने हिंदी पत्रकारिता को बहुत गहराई से प्रभावित किया है। हिंदी पत्रकारिता का जो उत्कृष्ट स्वरूप वर्तमान में दृष्टिगोचर होता है, उसका अधिकतम श्रेय सूचना तकनीक को ही जाता है। हिंदी पत्रकारिता को प्रभावी बनाने में इलेक्ट्रॉनिक जनसंचार माध्यमों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यह संचार तकनीक की न्यू संचार प्रौद्योगिकी की देन है। न्यू संचार प्रौद्योगिकी से आशय है, ऐसी संचार प्रणाली जिसका वहन दूरसंचार उपकरण सेटलाइट द्वारा प्रभावित जनसंचार माध्यम हैं। इस दृष्टि से इसका स्वरूप घोषित शब्द के रूप में आकाशवाणी, दृश्य-श्रव्य माध्यम के रूप में दूरदर्शन, वीडियो और फिल्म आदि महत्वपूर्ण हैं।' 5. सूचना तकनीक ने न केवल समाचार संकलन, प्रेषण बल्कि समाचारपत्र-पत्रिकाओं के कलेवर में भी क्रांतिकारी परिवर्तन कर दिया है। 'कंप्यूटर के फलस्वरूप समाचार पत्रों का प्रकाशन कार्य बेहद सस्ता और आकर्षक ढंग से होने लगा है। कंपोजिंग रूम अब कंप्यूटर के कारण अर्थहीन होने लगे

हैं। कंप्यूटर की क्षमता से कम खर्च पर समाचार पत्रों के कई संस्करण निकाले जा रहे हैं। समाचार पत्रों की साज सज्जा में नाटकीय सुधार संभव हो पाया है। समाचार पत्रों के पृष्ठों पर बढ़िया और जीवंत चित्र प्रकाशित होने लगे हैं। ये सब संचार के क्षेत्र में तकनीकी क्रांति का ही सुखद परिणाम है। 6. यह सूचना तकनीक से ही संभव हो पाया है कि जहाँ स्वातंत्र्यपूर्व काल में जहाँ समस्तपत्रों का प्रकाशन केवल श्याम रंग में ही होता था, वहीं आज ऐसे समाचार पत्र प्रकाशित हो रहे हैं। जिनमें 90 प्रतिशत पृष्ठ रंगीन प्रकाशित होते हैं। केवल कलम के सहारे पत्रकारिता करने वाले पत्रकारों के स्थान पर अब सूचना तकनीक से लैस ऐसे संवाददाताओं का वर्चस्व है जो लैपऑप, मोबाइल और इंटरनेट का भरपूर प्रयोग करते हुए दूरस्थ स्थलों से भी बहुत शीघ्रता से समाचारपत्र-पत्रिकाओं को समाचार प्रेषित करते हैं। छोटे शहरों के संवाददाता भी समाचार पत्र मुख्यालय को कंप्यूटर का प्रयोग करके समाचार और फोटो भेजते हैं। समाचार एजेंसियाँ भी इंटरनेट के माध्यम से समाचार प्रेषण का कार्य करने लगी हैं। आज संपादन संबंधी समस्त कार्यों का निष्पादन भी कंप्यूटर पर ही होता है। शाब्दिक त्रुटियों का समाहार करने में भी कंप्यूटर सहायक होता है। कंप्यूटर पर संपादन के कारण प्रूफ रीडिंग की अनिवार्यता भी खत्म होती जा रही है। पृष्ठ विन्यास का कार्य भी सूचना तकनीक का उपयोग करके बड़े उत्कृष्ट ढंग से निष्पादित हो जाता है। पहले जहाँ पृष्ठ विन्यास का कार्य कंपोजिंग विभाग करते थे, वहीं आज यह जिम्मेदारी संपादकीय विभाग के लोगों ने संभाल ली है इससे पृष्ठ की विषयवस्तु में त्रुटियाँ कम होने लगी हैं। दृश्य सामग्री भी आकर्षक रूप में उपलब्ध कराने का कार्य सूचना तकनीक से ही संभव हो पाया है। पहले जहाँ ग्राफ में केवल रेखांकन होता था, वहीं आज बहुरंगी चित्रयुक्त आकर्षक ग्राफ का प्रकाशन संभव हो सका है। फोटो खींचने के लिए रील वाले कैमरे का स्थान अब डिजिटल कैमरे ने ले लिया है जो कम खर्चीला और अधिक सुविधाजनक व तीव्रगति से कार्य करने में समर्थ है। पहले जहाँ फोटो प्रकाशित करने के लिए उसका ब्लाक बनवाना पड़ता था जिसमें कई घंटे लगते थे, वहीं अब एडोब फोटो शॉप आदि साफ्टवेयर के सहारे समाचारपत्र-पत्रिका में प्रकाशनार्थ फोटो बनाने का काम कुछ ही मिनट में पूर्ण हो जाता है। पृष्ठ विन्यास के कार्य में भी पहले काफी व्यतीत होता था। इसके लिए अलग से मेकअपमैन नियुक्त किए जाते थे। लेकिन अब यह कार्य अधिकतर समाचारपत्र-पत्रिकाओं में संपादकीय विभाग के सहयोगी ही संपन्न कर लेते हैं। इससे पृष्ठ विन्यास में गुणवत्ता, शुद्धता, शीघ्रता और आकर्षण का समावेश हुआ है। समाचारपत्र-पत्रिका के प्रकाशन में भी सूचना तकनीक से गति उत्पन्न हुई है। कंप्यूटर के सहारे पृष्ठों की प्लेट बनाए जाने आदि उत्पादन संबंधी कार्यों के संपन्न होने और कंप्यूटरीकृत प्रिंटिंग मशीन का उपयोग किए जाने के कारण आज बहुत कम समय में अधिक प्रतियों का प्रकाशन संभव हो पाया है। आठवें दशक में जहाँ कोई लोकप्रिय समाचार पत्र हजारों की संख्या में प्रतियाँ प्रकाशित कर पाता था, वहीं आज यह संख्या लाखों में पहुँच गई है। समाचार पत्रों के वितरण में भी सूचना तकनीक की बड़ी भूमिका है। आज यह संभव है कि एक संपूर्ण अखबार का संपादन संबंधी कार्य एक स्थान से संपन्न करके हजारों मील दूर से उसका प्रकाशन कर दिया जाए। वास्तव में सूचना तकनीक ने समाचार पत्र-पत्रिकाओं के विकास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

मुद्रित माध्यम और उसके प्रभाव से शिक्षित वर्ग ही लाभान्वित हो पाता है परंतु

विशाल जनसंख्या, दूरदराज में रहने वाले लोग और शिक्षा का अभाव मनुष्य को न केवल जानकारियों, सूचनाओं, ज्ञान और मनोरंजन से दूर रखता है बल्कि उन्हें स्थान केंद्रित भी कर देता है। इलेक्ट्रॉनिक माध्यम इस चुप्पी को तोड़ते हैं। रेडियो ने शिक्षा की सीमा को लांघकर आज दूर रखता है बल्कि उन्हें स्थान केंद्रित भी कर देता है। इलेक्ट्रॉनिक माध्यम इस चुप्पी को तोड़ते हैं। रेडियो ने शिक्षा की सीमा को लांघकर आज दूरदराज में रहने वाली आम जनता से नाता जोड़ लिया। भारत में रेडियो पत्रकारिता उन सुदूर क्षेत्रों में सूचना एवं मनोरंजन तथा समाचारों के सशक्त माध्यम हैं जहाँ टेलीविजन ने अपनी जड़ें नहीं जमाई हैं। जनमानस को सूचना, शिक्षा और मनोरंजन तथा समाचारों के सशक्त माध्यम इस चुप्पी को तोड़ते हैं। रेडियो ने शिक्षा की सीमा को लांघकर आज दूरदराज में रहने वाली आम जनता से नाता जोड़ लिया। भारत में रेडियो पत्रकारिता उन सुदूर क्षेत्रों में सूचना एवं मनोरंजन तथा समाचारों के सशक्त माध्यम हैं जहाँ टेलीविजन ने अपनी जड़ें नहीं जमाई हैं। जनमानस को सूचना, शिक्षा और मनोरंजन उपलब्ध कराने के उद्देश्य से संचालित आकाशवाणी का समाचार सेवा प्रभाग दिल्ली सहित अपने सभी केंद्रों से 19 भाषाओं में समाचार प्रसारित करता है। 7 सन् 1975 तक देश में कुल 71 रेडियो प्रसारण केंद्र थे जबकि भारत सरकार के सूचना और प्रसारण मंत्रालय की वर्ष 1998-99 की रिपोर्ट के अनुसार 195 रेडियो स्टेशन देश में कार्यरत थे। 8 दसवें दशक में सूचना तकनीक ने रेडियो की गुणवत्ता में अभूतपूर्व वृद्धि कर दी जिससे उसकी लोकप्रियता में भारी वृद्धि हुई। रेडियो कार्यक्रम बनाने में कंप्यूटर का प्रयोग किया जाने लगा। जिससे ध्वनि की गुणवत्ता उत्कृष्ट हो गई। रेडियो पत्रकारिता के क्षेत्र में नवीन प्रयोग हुए। ट्रांजिस्टर के आविष्कार से उसे कहीं भी ले जाना आसान हो गया क्योंकि वह बैटरी से चलाया जा सकता था। ऐसे में श्रोताओं की रेडियो से अपेक्षाएँ बढ़ रही थीं। नतीजनतन रेडियो ने संक्षिप्त समाचार बुलेटिन के साथ ही समाचार दर्शन शुरू किया जिसमें खबरों के साथ मौके पर जाकर की गई रेडियो रिकार्डिंग, साक्षात्कार तथा चर्चाएँ होती थी। भाषणों में अंश भी शामिल किए जाते थे। इसी तरह की शैली पर आधारित रेडियो समाचार पत्रिका, रेडियो न्यूज रील तथा रेडियो वृत्त (डाक्यूमेंट्री) का भी प्रसारण किया जाता था। अनेक समसामयिक विषयों पर वर्ताएँ परिचर्चाएँ समीक्षाएँ तथा भेंटवार्ताएँ प्रसारित की जाती थी। इस प्रकार की प्रसारण सामग्री का उद्देश्य श्रोताओं को राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय मामलों की जानकारी देना था। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा शैक्षणिक विषयों से संबंधित सामयिक समस्याओं को भी सदा महत्त्व दिया गया।

टेलीविजन के आगमन के कारण घटी रेडियो प्रसारण ने रेडियो को युवाओं में बहुत तेजी से लोकप्रिय बना दिया। टेलीविजन के आगमन के कारण घटी रेडियो की लोकप्रियता की वापसी एफ०एम० रेडियो के माध्यम से हुई। निजी क्षेत्र में रेडियो का लाइसेंस दिए जाने की सरकार की नीत के कारण अनेक निजी रेडियो केंद्रों की स्थापना हुई। रेडियो मिर्ची, रेनबो और रेडियो 94.5 एफ एम चैनल जैसे अनेक एफ०एम० रेडियो लोकप्रिय हो गए। रेडियो पर प्रत्येक घंटे में समाचार बुलेटिनों का प्रसारण होने से लोगों को तीव्र गति से सूचनाएँ प्राप्त होने लगी। कंप्युनिटी रेडियो की लोकप्रियता के चलते कई विश्वविद्यालयों और कॉलेजों ने रेडियो स्टेशन स्थापित किए जिससे विद्यार्थियों को व्यापक लाभ हुआ। यह सूचना तकनीक का ही

कमाल है कि आज श्रोताओं को न केवल देश दुनिया के समस्त महत्वपूर्ण समाचारों की जानकारी रेडियो के माध्यम से प्राप्त हो जाती है बल्कि ट्रैफिक अपडेट के प्रसारण से उन्हें यह भी पता चल जाता है कि शहर में कौन से मार्ग पर जाम लगा है और कहाँ यातायात सामान्य है।

रेडियो की अपेक्षा भारत में टेलीविजन का विकास अपेक्षाकृत विलंब से हुआ। 15 सितंबर 1959 में सप्ताह में दो बार एक घंटे के शैक्षिक प्रसारण से भारत में प्रायोगिक रूप में दूरदर्शन का प्रारंभ हुआ। वर्ष 1984 में दूरदर्शन ने 11 क्षेत्रीय प्रसारण केंद्र स्थापित कर स्थानीय कार्यक्रमों की शुरुआत की। उस समय तक दूरदर्शन सरकार के अधीन काम करता था। इसलिए इसके समाचारों को जनता सरकार के पक्ष में मानती थी। दूरदर्शन और रेडियो समाचारों की विश्वसनीयता को बढ़ाने के लिए सरकार ने प्रसार भारती का गठन किया। इसके अधीन आकाशवाणी और दूरदर्शन स्वायत्त संस्था के रूप में संचालित होने लगे। इससे इनके समाचारों की विश्वसनीयता बढ़ी। बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक ने सरकार ने निजी टेलीविजन चैनलों की स्थापना को मंजूरी दी। इसके परिणामस्वरूप देश में बड़ी संख्या में निजी चैनल खुले। सूचना तकनीक का प्रयोग करते हुए निजी चैनलों में पत्रकारिता को नए कलेवर में दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत किया। समाचार पत्र अथवा रेडियो में जहाँ शब्दों से ही समाचार की जानकारी दी जाती थी वहीं टेलीविजन चैनलों के समाचारों में उसका चित्र भी प्रस्तुत किए जाते हैं। 'चित्रों का प्रदर्शन दूरदर्शन समाचार का महत्वपूर्ण तत्व है। एक चित्र का महत्व हजारों शब्दों से भी बढ़कर होता है। चित्र के माध्यम से घटनाक्रम को प्रदर्शित करना शब्दों के मुकाबले कई गुना महत्वपूर्ण एवं आसान होता है। 10 यही कारण है कि टेलीविजन समाचारों के प्रति लोगों का तेजी से रुझान बढ़ा है। देश में आज तक पहला ऐसा टेलीविजन चैनल बना जो केवल समाचारों का ही 24 घंटे प्रसारण करता है। इसके बाद तेज, स्टार, न्यूज, जी न्यूज, सहारा समय और ईटीवी न्यूज आदि समाचार चैनलों ने पत्रकारिता की दुनिया ही बदल दी। इन चैनलों के माध्यम से हर समय दर्शकों को समाचार मिलने लगे। मल्टीमीडिया का उपयोग करके समाचार चैनल न केवल लाइव रिपोर्टिंग कर रहे हैं बल्कि एनीमेशन, ग्राफ, कैरिकेचर के माध्यम से भी दर्शकों को उपयोगी सूचनाएँ दे रहे हैं।

एन० सी० पंत की मान्यता है कि 'बीसवीं सदी के साठ-सत्तर के दशक में नई पत्रकारिता का आंदोलन शुरू हुआ, उसका नाम ही 'न्यू जर्नलिज्म' पड़ गया। जैसे भारतीय साहित्य में नई कविता का आंदोलन चला था और उस युग को अब इसी नाम से जाना जाने लगा। 'न्यू जर्नलिज्म' ने इस दृश्य श्रव्य संचार माध्यम को यह सुविधा दी कि उसमें समाचारवाचक अपनी बात किसी टिप्पणीकार की तरह कहे। अर्थात् वह हिंदुस्तानी दूरदर्शनी समाचार वाचक की तरह तटस्थ और भावहीन नहीं दिखे बल्कि अपने चेहरे से, अपनी भंगिमा से, अपनी आवाज के चढ़ाव-उतराव से भाषा और पृष्ठभूमि में दिखाए जाने वाले दृश्यों से भी कुछ अतिरिक्त प्रेषित करता हुआ मालूम हो। वह श्रोता से बातचीत करता हुआ लगे। 11. इसीप्रक्रिया के रूप में भारत में सूचना तकनीक के विकास के संग वीडियो पत्रकारिता का सूत्रपात हुआ। कालचक्र वीडियो पत्रिका ने तो हिंदी पत्रकारिता में महत्वपूर्ण स्थान बनाकर विश्वसनीय समाचार दर्शकों को उपलब्ध कराए।

सूचना तकनीक का हिंदी पत्रकारिता में एक और सशक्त रूप इंटरनेट पत्रकारिता है आज घर बैठे दुनिया की घटनाओं व समाचारपत्रों के तथ्यों और आकड़ों की जानकारी इंटरनेट वे माध्यम से प्राप्त की जा सकती है। आज नवभारत टाइम्स, हिंदुस्तान, अमर उजाला, जागरण, भास्कर आदि हिंदी के समस्त प्रमुख दैनिक समाचारपत्रों और हंस जैसी पत्रिकाओं के इंटरनेट संस्करण भी उपलब्ध हैं। प्रभासाक्षी डॉट काम समाचार पत्र केवल इंटरनेट पर ही प्रकाशित होता है इसी तरह अनुभूति और अभिव्यक्ति नामक इंटरनेट पर प्रकाशित साहित्य पत्रिकाएँ अत्यंत लोकप्रिय हैं। इन समाचार पत्र पत्रिकाओं को दुनिया के किसी भी कोने में कभी भी पढ़ा जा सकता है।

इंटरनेट उपभोक्ताओं के लिए हिंदी ब्लाग पत्रकारिता अत्यंत लोकप्रिय माध्यम के रूप में उभरकर सामने आई है। ब्लॉग पत्रकारिता ने आम आदमी को भी पत्रकारिता की शक्ति से संपन्न कर दिया है। इंटरनेट के माध्यम से संचालित ब्लॉग अर्थात् बेबलॉग को एक ऐसी डायरी के रूप में समझा जा सकता है जिसे हर व्यक्ति पढ़ने के लिए स्वतंत्र है। ब्लागर डट कॉम, वर्डप्रेस डॉट कॉम, सुलेखा डॉट कॉम आदि कई वेबसाइट निशुल्क ब्लाग बनाने की सुविधा उपलब्ध कराती है ईमेल खाताधारक व्यक्ति ब्लाग बना सकता है। वह अपनी इच्छानुसार ब्लाग का नामकरण कर सकता है। और उसे चित्रों आदि से सजा-संवार सकता है। वह किसी भी समय ब्लाग पर अपनी रचनाओं को प्रकाशित कर सकता है। प्रकाशित रचनाओं को पूरी दुनिया के समक्ष लाने में फीड एग्रीगेटर की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। ब्लागवाणी, चिट्ठाजगत, रफ्तार, इंडली आदि ब्लॉग एग्रीगेटर हैं जो ब्लाग पर प्रस्तुत रचनाओं को अपनी वेबसाइट पर सूक्ष्म रूप में प्रकाशित कर संपूर्ण विश्व को इसकी जानकारी दे देते हैं।

ब्लाग की प्रकृति निजी होते हुए भी सार्वभौमिक है। ब्लाग की विशेषता यह है कि इसमें लेखक ही प्रकाशक, संपादक और प्रचारक होता है। ब्लाग में लेखक की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में कोई बाधा नहीं होती है। वह पूर्ण रूप से लेखक और प्रकाशक की भूमिका का निर्वाह करते हुए दोनों दृष्टिकोण से पूर्णतः स्वतंत्र भी होता है। अपनी रचनाओं का प्रचार प्रसार भी करने की सुविधा भी है। प्रकाशित रचनाओं पर त्वरित प्रतिक्रिया की दृष्टि से ब्लॉग से तीव्रगामी अन्य कोई माध्यम नहीं है। इसमें रचना के प्रकाशन के कुछ मिनट के बाद ही लेखक को विश्व के विविध स्थानों से टिप्पणी प्राप्त हो जाती है।

ऐसा नहीं कि सूचना क्रांति ने हिंदी पत्रकारिता को केवल सकारात्मक रूप में ही प्रभावित किया है, बल्कि इसके अनेक नकारात्मक पक्ष भी हैं। पहले जब से समाचार हाथ से लिखे जाते थे, तो उन्हें लिखने और संपादन करने में अधिक समय लगता था। इस कारण संवाददाता और संपादन करने वाले को उस पर विचार करने के लिए अधिक समय मिल जाता था जिससे समाचार की गुणवत्ता श्रेष्ठ और वर्तनी की त्रुटियाँ कम होती थीं। आज संवाददाता समाचार को कंप्यूटर पर ही कंपोज करता है जिससे कई बार गलत की दब जाने से समाचार में अशुद्धि रह जाती है। इसी प्रकार डैस्क के लोग जब वह समाचार को कंप्यूटर पर संपादित करते हैं, तो उन्हें एक समाचार के लिए बहुत कम समय मिल पाता है। वह समाचारों से बहुत गहराई से नहीं जुड़ पाते हैं। समाचार पर विचार करने की स्थिति ही अब डैस्क पर नहीं होती।

इसके साथ ही संपादन विभाग के लोगों को ही पेज बनाने पड़ते हैं जिस कारण उन्हें समाचारों के संपादन के लिए ही कम समय मिल पाता है। फोटो को क्राप करने का काम भी डैस्क की जिम्मेदारी है। इन तमाम कारणों के चलते संपादकीय विभाग के व्यक्ति अपने मूल काम समाचारों के संपादन के लिए कम समय दे पाते हैं। इससे समाचार की गुणवत्ता बुरी तरह प्रभावित हुई है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के भी अनेक नकारात्मक पक्ष सूचना क्रांति से भी उपजे हैं। चौबीस घंटे खबरें देने वाले चैनलों के पास कई बार समाचारों का अभाव रहता है। ऐसे में समाचार के नाम पर दर्शकों को वह सूचनाएँ परोस रहे हैं जो न तो समाचार हैं और न ही उनके लिए उपयोगी यह सूचना के विस्फोट का ही परिणाम है कि आज अनेक टेलीविजन समाचार चैनल अंधविश्वास बढ़ाने वाले रुढ़ियों पर आधारित सूचनाएँ समाचार के नाम पर प्रस्तुत करती हैं जिन्हें देखना अथवा सुनना दर्शकों की मजबूरी है। प्रेस की परंपरागत आचार सजिहता का उल्लंघन भी कई बार दृष्टिगोचर होता है। प्रतिद्वंद्विता और आर पी बढ़ाने की होड़ में कई बार झूठी खबरें योजनाबद्ध तरीके से प्रस्तुत करने के आरोप भी समाचार चैनलों पर लगे हैं। सूचना क्रांति का दुरुपयोग करते हुए चैनल कई बार समाचार को नियोजित करके प्रस्तुत कर देते हैं। मीडिया में कैमरे के दुरुपयोग की शिकायतें कई बार सामने आ चुकी हैं।

सूचना तकनीक ने हिंदी पत्रकारिता की भाषा को भी गहराई से प्रभावित किया है। कंप्यूटर और इंटरनेट पर कामकाज में अँग्रेजी का वर्चस्व रहा है। इसके चलते अँग्रेजी भाषा के शब्द बड़ी संख्या में हिंदी पत्रकारिता में प्रचलित होने लगे। मीडिया जगत में पृष्ठ के स्थान पर पेज, मुख्य समाचार, के लिए लीड, संवाददाता के स्थान पर रिपोर्टर, शीर्षक के स्थान पर हैडिंग आदि शब्दों को प्रयोग इसके उदाहरण है। उर्दू, अरबी और फरसी के शब्दों का भी हिंदी पत्रकारिता में खूब प्रयोग किया जाता है। वास्तव में संचार माध्यम हमारे जीवन के तमाम मूल्यों को अपने सांच में ढाल रहे हैं। सर्वप्रथम भाषिक संरचना की दृष्टि से देखें तो विशेषकर हिंदी भाषा एक उदारवादी स्वरूप ग्रहण कर रही है इस सिलसिले में महात्मा गांधी स्वाधीनता आंदोलन के दौरान हिंदी-हिंदवी-हिंदुस्तानी भाषा की बात कर रहे थे। उसका नया स्वरूप हिंग्लीस्तानी भाषा के रूप में विकसित हुआ अस्तु हिंदी भाषा मानकीकरण की दृष्टि से मात्र तत्सम शब्दों या उसकी शब्दावली का मुहताज नहीं है। उसने अपना दायरा सीमित कर लिया है। अतएव हिंदी भाषा के मानकी कृत स्वरूप या उसके मानदंडों पर पुनः विचार करने की आवश्यकता है।

12. निष्कर्षतः, कहा जा सकता है कि सूचना तकनीक ने हिंदी पत्रकारिता को अत्यंत विश्वसनीय, तीव्रगामी, उपयोगी और वैश्विक बना दिया है। आधुनिक युग में व्यक्ति चाहे शिक्षित हो अथवा अनपढ़ शहर में हो अथवा सुदूर ग्रामीण अंचल में वह सूचनाओं से वंचित नहीं है। सूचना तकनीक ने पत्रकारिता में नवीनता का समावेश करते हुए उसे लोकप्रिय बना दिया है। सूचना तकनीक प्रयोग से हिंदी पत्रकारिता का विकास अधिक हुआ है हालांकि कुछ नाकारात्मक पक्ष भी उत्पन्न हुए हैं। वास्तव में सूचना तकनीक ने हिंदी पत्रकारिता की दुनिया में क्रांतिकारी परिवर्तन किया है। जिससे हर व्यक्ति प्रभावित हुआ है। यही हिंदी पत्रकारिता के लिए सूचना तकनीक की सार्थकता है।

### संदर्भ

1. इंद्रचंद्र रजवार, आधुनिक पत्रकारिता की रूपरेखा, पृ० 69
2. डॉ० देवप्रकाश मिश्र, हिंदी पत्रकारिता आधुनिक संदर्भ, पृ० 48
3. डॉ० अर्जुन तिवारी, आधुनिक पत्रकारिता, पृ० 9
4. गणेश मंत्री पत्रकारिता की चुनौतियाँ, संस्करण 2004, पृ० 48
5. डॉ० देवप्रकाश मिश्र, हिंदी पत्रकारिता आधुनिक संदर्भ, पृ० 120
6. डॉ० ठाकुरदत्त शर्मा, हिंदी पत्रकारिता एवं जनसंचार, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, पृ० 38-39
7. आशा गुप्ता, हिंदी पत्रकारिता की विकासयात्रा से अब तक, पृ० 177
8. वही, पृ० 111, 112
9. वही, पृ० 117
10. एन०सी० पंत मीडिया लेखन के सिद्धांत, तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली, पृ० 195
11. एन०सी० पंत, पत्रकारिता एवं संपादन कला, पृ० 180
12. डॉ० देवप्रकाश मिश्र, हिंदी पत्रकारिता, पृ० 9

□ 26 बी/194 शिवशक्ति नगर  
गली नं० 7, मेरठ 250002  
मो० 09411444929



## उत्तर-आधुनिकता बदलते परिवेश में दरकते मूल्य

डॉ० चंदना गंगवार

वरिष्ठ व्याख्याता

गौरीदेवी रा०म० महाविद्यालय

अलवर (राजस्थान)

आधुनिक अर्थात् जो नया है, वर्तमान समय का है या समयानुकूल है। यह कहना उचित ही होगा कि आधुनिकता के नाम पर बहुत कुछ गड्डु-मड्डु हो गया है। कैसे समझें यह आधुनिकता और उससे जन्मी उत्तर-आधुनिकता? उत्तर-आधुनिकता की अवधारणा और इससे संबंधित सिद्धांत अस्पष्ट हैं, क्योंकि इसके समर्थक किसी सर्वसम्मत अर्थ के लिए राजी नहीं हैं। वास्तव में उत्तर-आधुनिकता आधुनिकता की प्रतिक्रिया में आरंभ हुई। प्रश्न यह उठता है कि क्या उत्तर-आधुनिकता एक विचारधारा है या एक सांस्कृतिक अनुभव अथवा एक सामाजिक स्थिति, या इन तीनों का योग है। हम महसूस कर रहे हैं प्रत्येक क्षेत्र में उत्तर-आधुनिकता का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है। भारत भी वर्तमान में तेज़ी से शहरीकरण के दौर से गुज़र रहा है। हमारे चारों ओर क्रस्बों और छोटे शहरों की संख्या में लगातार इजाफ़ा हो रहा है। शहरों में बेहतर भविष्य तलाशने के अवसर की ललक ने शहरों की आबादी तेज़ी से बढ़ा दी है। चौड़ी चिकनी सड़कें हैं, बड़े-बड़े शॉपिंग मॉल हैं, तरह-तरह की रोशनियों में नहाये महानगर, फिर भी अधिकांश जन के मन में अँधियारा फैला हुआ है। महानगरों से लेकर छोटे शहरों में मकानों का जंगल खड़ा है। हर कॉलोनी में एक-दूसरे से नज़दीक सटे-सटे मकान, पर वहाँ भी गहन अपरिचय का भाव। सामाजिक होकर भी सबसे अधिक असामाजिक हो गए हैं हम। श्रीकांत वर्मा द्वारा रचित मायादर्पण काव्य-संग्रह की 'सभ्यबोध' कविता में आधुनिक महानगरीय सभ्यता से अभिशप्त मानव-जीवन का संवेदनापूर्ण चित्र प्रस्तुत किया गया है-

इतने मकान पास-पास सटे-सटे  
मगर प्रेम नहीं  
इतना घनत्व  
इतनी संकुलता  
इतनी एकता  
मगर सभी कटे-कटे  
सहमति नहीं, भाषा नहीं, प्रस्ताव नहीं  
कोई अनुभाव नहीं

इतनी समीपता/इतना नैकट्य/इतना सहवास  
किंतु स्पर्श में पुलक नहीं।

अजनबीपन और अपरिचय की खाई गहराती जा रही है। युवा होते बच्चे मनमानी के नाम पर निर्णय लेने की स्वतंत्रता का अधिकार चाहते हैं। वैश्वीकरण के इस दौर में सूचना क्रांति की आँधी ने महानगरों में मनुष्यों को एकाकी बना दिया है। नई सभ्यता और संस्कृति की रोशनी ने युवाओं को ऊपरी चमक तो दिखा दी है, पर जीवन का स्थाई आनंद कहीं पीछे छूट गया है। सत्य तो यह है उत्तर-आधुनिकता और भौतिकता के नाम पर उपलब्धियाँ कम हैं, पर इसके बदले मानव-सभ्यता ने जो खोया है, वह क्षति अपूणीय है। हिंदी साहित्य की नई कविता आंदोलन के दौर में प्रचलन में आया लघु मानव शब्द एक बार फिर पहचान के संकट से जुड़कर ज़रूरी लगने लगा है, वैश्वीकरण के प्रभाव के फलस्वरूप भारत में भी स्त्री-पुरुष समानता जातिवाद का समूल नाश और व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर प्रत्येक मंच पर विमर्श हो रहा है, समाज का प्रत्येक वर्ग अपने अधिकारों की दुहाई के बहाने एक उच्छृंखल और बेलगाम समाज का निर्माण करना चाह रहा है।

स्त्री-विमर्श और समकालीन कथा-लेखन में सक्रिय मैत्रेयी पुष्पा ने अपनी पुस्तक खुली खिड़कियों के लेखों में प्रखर शब्दों में स्त्री-पुरुष समानता और स्त्री-स्वतंत्रता के नाम पर समाज के तथाकथित ठेकेदारों का कच्चा चिट्ठा खोला है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि सीता, जिसने अपने निर्वासन को भी राम की कल्याण-बुद्धि का करिश्मा ठहराया, देवतुल्य पति से अग्नि-परीक्षा सहज स्वीकार की। भारतीय परिवेश में लज्जा, संतोष, सहनशीलता औरतों के लिए आचार-संहिता के स्तंभ हैं। इन स्तंभों से टकराकर महादेवी वर्मा जैसी विदुषी 'नीर भरी दुःख की बदली' बनीं। परखने वाले उनको रहस्य के पर्दे में छिपाते रह गए, और स्त्री, स्त्रीधर्म को लाँघकर आगे बढ़ गईं। उसने जता दिया कि आपका धर्म जैसा भी हो, अब उसकी प्रासंगिकता छोड़ रही है। यह सतियों का देश नहीं, स्त्रियों की कार्यस्थली है। आधुनिकता और प्रगतिशीलता के बोध में परवान चढ़ती मनुष्यता को ही धर्म मानना होगा। "नकटौरे का अंत" लेख में व्यंग्य करते हुए उन्होंने लिखा है, बेशक स्त्री-विमर्श भी ऐसे चला जैसे सामाजिक रीति-रिवाजों के चलते कर्मकांड किए जाते हैं। स्त्री-विशेषांकों की धूम मच गई है। कहने का मतलब यह है कि मन से या बेमन इस होम में सभी ने आहुति डालनी चाही। यदि कहीं हाथ झुलसे या ताप-संताप असहज लगा तो पहली बार और आखिरी बार मानकर सहन कर लिया गया। ख़ासा मनोरंजक नज़ारा था, भयानक दुर्गुण माना जाने वाला स्त्री-व्यवहार अपनी गति पर रहे और पुरुष उसे कीले नहीं। कीलने वाले वर्ग ने छूट दे दी कि यहाँ से वहाँ तक चली जाओ, जहाँ तक हमारे असर का दायरा है और तुम्हें लगे कि यह तुम्हारा क्षेत्र है। साहित्य में स्त्रियों द्वारा अपनी बात इस सख्त अंदाज़ में रखना उत्तर-आधुनिकता में ही संभव हो पाया है।

स्त्री-पुरुष समानता, व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर विमर्श और भी न जाने क्या-क्या, इन सभी बहसों ने हमारी सामाजिक संरचना को हिलाना प्रारंभ कर दिया है। व्यक्तिगत उन्नति प्रमुख हो गई हैं, अवसरवादी प्रवृत्ति चरम पर है। सामाजिक, राजनीतिक क्षेत्र में मूल्यहीनता बढ़ती जा रही है। समाज को गति और नेतृत्व देने वाले मूल्य, आदर्श सभी पीछे छूट रहे

हैं। इस गला-काट प्रतिस्पर्धा से कैसे बचा जाए। अति महत्वाकांक्षाओं ने मूल्यों को छिन्न-भिन्न कर डाला है-

तुलसी का-

परहित सरिस धर्म नहि भाई

पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।<sup>2</sup>

उपयुक्त पंक्तियों से वर्तमान युग में मानो सभी का सरोकार खत्म-सा होता जा रहा है। कुछ पाने की चाह में सब-कुछ दाव पर लगाने को उतावली नई पौध विचारशून्यता से गुजर रही है। दीपांकर गुप्ता ने अपने लेख 'कन्ट्रीव्यूशन टू इंडियन सोशियोलॉजी न्यू सोशियोलॉजी, न्यू सीरीज' में लिखा है कि भारत में अभी पूरी तरह आधुनिकता ही नहीं आयी हैं, अतः उत्तर-आधुनिकता की चर्चा कोई अर्थ नहीं रखती। यह सत्य है कि उत्तर-आधुनिकता का कोई सर्वसम्मत अर्थ नहीं है, और उत्तर-आधुनिकता को परिभाषित करना एक कठिन कार्य है। ल्यातार, दरिदा, जेमेसन आदि मुख्य उत्तर-आधुनिकतावदी विचारक हैं। कुछ महिलाएँ हैं, जो जेंडर के क्षेत्र में अपनी विशेष पहचान रखती हैं। इसमें नेन्सीफ्रेसर और लिंडा निकोलसन प्रमुख हैं। इन सबने उत्तर-आधुनिकता को अपने-अपने संदर्भ में देखा है। कुछ लोगों ने इसे सांस्कृतिक और ज्ञान-मीमांसा की दशा कहा है, जिसके नाते आधुनिक सामाजिक संस्थाओं का महत्त्व घटकर भूमंडलीय समाज की दिशा की ओर उन्मुख है। रिचार्डगोट एक अमेरिकी समाजशास्त्री हैं। इनका कहना है कि 20वीं शताब्दी का पहला भाग आधुनिकता का था, जिसमें तकनीकी विकास हुआ और दुनिया को आधुनिक विचार मिला। शताब्दी का दूसरा भाग उत्तर-आधुनिकता का है। इसके अनुसार उत्तर-आधुनिकता आधुनिकता से मुक्ति दिलाने वाला एक स्वरूप है। यह एक विखंडित आंदोलन है।

वर्तमान में मीडिया में, साहित्य में, समाज में उत्तर-आधुनिकता पर लगातार चर्चा-परिचर्चा हो रही है। डॉ० सुधीश पचौरी ने उत्तर-आधुनिकता की अत्यंत बेबाक वकालत की है, उन्होंने उत्तर-आधुनिकता की संकल्पना के अति विस्तार को साहित्य के परिप्रेक्ष्य में रेखांकित करते हुए कहा है कि भारत में शुरू होने वाला अस्मिता-विमर्श, दलित स्त्री-विमर्श, भाषा-संचेतना आदि की स्वीकार्यता, उत्तर-आधुनिकता की स्वीकार्यता है। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप मनुष्य में बहुत बदलाव आया है, उसके गुण धर्मों को प्रभावित किया है। उसी अनुपात में साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ है।

स्त्री-विमर्श और समकालीन कथा-लेखन में सक्रिय मैत्रेयी पुष्पा ने अपनी औपन्यासिक कृति 'इदन्नमम' में बुनी है तीन पीढ़ियों की बेहद संवेदनशील कहानी। उपन्यास की विशेषताओं को रेखांकित करते हुए राजेंद्र यादव ने लिखा है, महानगरीय मध्यवर्ग की संघर्ष करती और पाँव के नीचे ज़मीन की तलाश करती कथा-नारियों के बीच गाँव की मंदा एक अजीब निरीह, निष्कवच, निश्छल, संकल्पदृढ़ नारी का व्यक्तित्व लेकर उभरती है। उसके साथ है एक भरी-पूरी दुनिया रूढ़ियों, परंपराओं, अभ्यासों, आकांक्षाओं, ईर्ष्या से भरी, एक दूसरे के अधिकार झपटते, कुचलते, चूसते और न्याय की रक्षा करते लोगों की ज़िंदगी। उत्तर-आधुनिकता के इस दौर में चँहु ओर भय, आशंका, निराशा, अविश्वास, कुंठा, विखंडन और बिखराव है। सुधीश पचौरी उत्तर-आधुनिकता के विमर्श में कहते हैं- उत्तर-आधुनिकता उन तमाम समग्रतावाद,

संकल्पवादी व्यवस्थाओं की कमियों और पक्की सांस्थनिक बाउंडरीज की कमियों, कमजोरियों के बारे में सचेत करती है। यहाँ इतिहास आत्मकथा जीवनी बस मिश्रित हो उठता है। यहाँ साहित्य की विधाएँ टूट जाती हैं, उनके पक्के रूप टूट जाते हैं। वे शाश्वत मुकम्मल और शुद्ध नहीं रह पाते। सच है उत्तर-आधुनिकता के इस दौर में साहित्य, समाज और फ़िल्मों में व्यक्तिगत औचित्य कि स्वतंत्रता के मनमाने अवसर तलाशे गए हैं। बाज़ारवाद के इस दौर में उपभोक्ताओं के चयन की सुविधाएँ बढ़ गई हैं। सबके लिए सब कुछ उपलब्ध है, फिर भी किसी को कुछ हासिल नहीं होता। अपनी पहचान और परिभाषा को तलाशता उत्तर-आधुनिकता के इस कालखंड में हो रही बहसों को किसी परिणाम तक पहुँचाना ही होगा।

### संदर्भ

1. मायादर्पण, श्रीकांत वर्मा
2. आह ज़िंदगी, नवंबर 10
3. खुली खिड़कियाँ, मैत्रेयी पुष्पा
4. इदन्नमम्, मैत्रेयी पुष्पा
5. उत्तर-आधुनिकता विचार और मूल्यांकन, पृ० 32, 33, 43
6. उत्तर-आधुनिकता साहित्यिक विमर्श, सुधीश पचौरी
7. उत्तर-आधुनिक मीडिया विमर्श, सुधीश पचौरी

## डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल की ग़ज़लों में अभिव्यक्त मानवीय संवेदना

डॉ० सुनीता सक्सेना

असिस्टेंट प्रोफेसर-हिंदी विभाग

ज०ला०ने० स्नातकोत्तर, महाविद्यालय एटा (उ०प्र०)

हिंदी ग़ज़लकारों में डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल का नाम शीर्ष ग़ज़लकारों में है। उनकी मूल संवेदना आदर्शोमुख एवं यथार्थवाद से युक्त युग-चेतना है, उसमें अपने युगीन यथार्थ को प्रकट करने की अद्भुत शक्ति है। उन्होंने अपनी ग़ज़लों के केंद्र में समाज की रेखा तथा सामाजिक परिवेश के विभिन्न बिंदुओं पर अपने विचार खुलकर व्यक्त किए हैं। वे कल्पना की उड़ान भरते हुए, आकाश में विचरण करते हुए नहीं दिखाई पड़ते, अपितु यथार्थ की पथरीली जमीन पर चलते हुए आशा और विश्वास के नए रास्तों की खोज करते हैं। वे अपने युग की चिंताओं का निवारण मानवता से मानते हैं। यही कारण है कि उनकी ग़ज़लों में आदमी के आपसी रिश्तों की खोज, आधारभूत मानवीय भावनाओं, पारंपरिक मूल्यों को बचाए रखने की बेचैनी अधिक दिखाई देती है। वह पूरे संसार के हारे-थके, पीड़ित, दुःखी मनुष्य को आशा का अवलंब देना चाहते हैं। प्रत्येक मनुष्य को आचरण और व्यवहार की शिष्टता सिखाने के लिए तत्पर रहते हैं। वे आम आदमी की पीड़ा को पहले आत्मसात करते हैं फिर अपने 'मैं' का दुःख बनाकर शेर के रूप में प्रस्तुत करते हैं। 'वह संसार का सारा दुःख दर्द, हर पीड़ा हर अच्छा-बुरा अनुभव इसी एक माध्यम से व्यक्त करते हैं। प्रत्येक घाव को अपना घाव बनाकर उसे शब्दों का रूप देना डॉ० अग्रवाल की महत्वपूर्ण विशेषता है।'

कवि अपने युग की चिंताओं का निवारण मानवता से मानते हैं। वे आशावादी दृष्टिकोण रखते हैं। उनकी मान्यता है कि उदारवादी चिंतन से ही समसामयिक स्थितियों में भारतीय जन की व्यवस्था को मानवता के माध्यम से नए आयाम मिलेंगे। वैसे तो हमारी संस्कृति मानवतावादी रही है, जिसने विश्व को एक कुटुंब के रूप में देखा है, उसी राष्ट्र के कवि अग्रवाल भी मानवता से कैसे दूर रह सकते हैं। अतः प्रेम, अहिंसा, परोपकार, सहयोग और सद्भावना से ओतप्रोत डॉ० अग्रवाल की ग़ज़लें 'विश्वबंधुत्व' की भावना को सुदृढ़ करती हैं। सारा संसार उनका अपना है—

एक ही परिवार है, संसार कहते हैं जिसे,

ग़ैर को अपना समझ, अनजान को अपना समझ।<sup>2</sup>

डॉ० अग्रवाल की ग़ज़लों में समकालीन युग चेतना तो है ही, लेकिन मानवीय संवेदना

की अभिव्यक्ति अधिक है। तब ही तो अनिरुद्ध सिन्हा अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं—‘उनकी ग़ज़लगोई की क्षमता और उसके प्रभाव को हम केवल औपचारिकता की बैसाखियों पर टाँगकर नहीं चल सकते। लफ़्जों का इस्तेमाल विचारधारा से आरोपित न करके ज्ञानान्वेषण से पूरित मेघाशक्ति, गहन भावुकता, सच्ची मानवीय दृष्टि और अपनी इंसानपरस्त बैचेनी के साथ करना होगा।<sup>3</sup> वास्तव में डॉ॰ अग्रवाल क्षरित होते मानवीय मूल्य के प्रति अत्यधिक संवेदनशील एवं चिंतित हैं। उनके मन में निरंतर गिरते मूल्यों के लिए बेहद छटपटाहट है—

तेज़ हवा है पर कोसों तक भी मानव की गंध नहीं  
इस नगरी से भाग चलो, यह भूतों का है डेरा साईं<sup>4</sup>

वर्तमान परिवेश में मानव-मूल्यों का अकाल पड़ गया है। संवेदनशील पीढ़ी धीरे-धीरे समाप्त प्रायः हो रही है। अब तो पत्थर-हृदय व्यक्ति अपने, केवल अपने लिए ही जीने के अभ्यास में लगे हैं। रिश्तों में आज खोखलापन आ गया है। ऊपरी आवरण ओढ़कर व्यक्ति वैमनस्यभाव के बीज रोप रहा है। डॉ॰ अग्रवाल की सूक्ष्म दृष्टि प्रतीकों के माध्यम से रिश्तों की कड़वाहट प्रदर्शित कर रही है।

बीज कुछ ऐसे समय की कोख में बोए गए,  
पेड़ जूही के मेरे आँगन में कीकर हो गए।<sup>5</sup>

सहयोग, सहअस्तित्व और शांति के अब तक के सभी मानवीय प्रयास अंधे नर्क में धकेले जा रहे हैं। अपने-अपने घर में सभी बारूद और भीषण विस्फोटक एकत्र करने की साजिश में व्यस्त हैं, सद्वृत्तियाँ स्तब्ध हैं। समसामयिक परिवेश, जातिभेद, धर्मभेद, भाषा-भेद, क्षेत्रीयता आदि न जाने कितनों विकारों से मलिन है। यह भेदभाव मानवता का खून करने पर उतारू है। आदमी ही आदमी का दुश्मन हो गया है। ग़ज़लकार मानवता के लिए उठ रहे ख़तरों से चिंतित है। मानवता के विनाश की स्थिति को निम्न शेर में देखिए—

बहुत मर गए हैं छतें उड़ गईं  
कोई हादिसा फिर अचानक हुआ।<sup>6</sup>

आज के दौर में मनुष्य ही मनुष्य का दुश्मन बन गया है। स्वार्थ की विषैली प्रवृत्ति से संपूर्ण मानवता का भविष्य ख़तरे में पड़ गया है। मानव-जाति की क्रूरतम क्षण की कल्पना-मात्र से संवेदनशील कवि-मन सिंहर उठता है। भौतिकता के मद में आज सर्वत्र खींचतान है। अविश्वास और स्वार्थ की आँधी में मनुष्य अपनी मनुष्यता खो बैठा है। कवि बार-बार आदमी को आदमी बनाने की कोशिश करता दिखाई देता है। कवि स्वार्थ से उठकर परमार्थ की तरफ़ जाने के लिए सर्वत्र लालायित दिखाई देता है। वह मानव सेवा में जीवन का सबसे बड़ा आनंद खोजते दिखाई देते हैं—

आज तक जीते रहे हो, अपनी-अपनी ज़िंदगी,  
दोस्तो! इक-दूसरे की ज़िंदगी बनकर जिओ।  
आदमी के रूप में पैदा हुए तो क्या हुआ?  
बात तो तब है कि सचमुच आदमी बनकर जिओ।<sup>7</sup>

मानवता के नाश और महानाश के लिए यदि कोई पूरी तरह से उत्तरदायी है, तो स्वयं आज का आदमी ही अपने नाश के सभी उपकरणों को वह बड़े चाव के साथ एकत्र करता

रहता है। समस्त भूमंडल में व्याप्त ईर्ष्या, विद्वेष और स्वार्थपरायणता के कारण आज मानवीय संबंधों में जो दरारें दिखाई दे रही हैं उनमें निरंतर विस्फोट हो रहे हैं। धर्म के नाम पर मंदिर-मस्जिद की राजनीति में आम आदमी मर रहा है। परमात्मा के स्थान को लेकर लड़ाइयाँ हो रही हैं। कवि अकेले मानव-जाति की रक्षा हेतु बेचैन नहीं है। वह चिंता प्रकट करके मुक्त नहीं होता। वह संदेश देकर उपाय खोजना चाहता है। वह दुःखी, निर्धन, निर्बल, बेसहाय प्राणियों को पूज्य बताता है। वह चाहता है कि मनुष्य-मनुष्य के प्रति आस्थावान हो जाए।

‘देवता का रूप क्या है, देखना संभव न हो

पर मनुज के वास्ते एक आस्था तो चाहिए।<sup>8</sup>

धनलिप्सा की अंधी दौड़ में दौड़ती आज की भ्रष्ट मानव-जाति को झकझोरना उनकी रचनाओं में साफ़-साफ़ नज़र आता है। देश के करोड़ों लोग आज भूखे पेट सोते हैं, शरीर पर वस्त्र नहीं होते। आदमी और आदमी में वर्ग-विभाजन की रेखाएँ खिंच गई हैं। झूठ, धोखा और बेईमानी ने रिश्तों की मिठास को आज समाप्त कर दिया है। कवि निम्नवर्ग की भूख से बेचैन है, वस्त्रों से तन न ढक पाने की मजबूरी से कराह रहा है। उनके शेर मानवीय मूल्यों के प्रति उनकी आस्था और व्याकुलता को प्रकट करते हैं—

भूख यहाँ सपने बुनती है, सर्दी लोरी गाती है,

इच्छाएँ होली-सी जलतीं हालत यह औसत घर की।<sup>9</sup>

कुल मिलाकर डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल जी की ग़ज़लों में केवल मानवीय मूल्यों के पतन, हास की पीड़ा का रुदन नहीं है बल्कि मानवीय मूल्यों के उत्थान के लिए उद्बोधन भी है। उन्होंने वर्ण, धर्म, जाति, परंपराओं से परे विशुद्ध मानव के समस्त जीवनकाल में जीवन से लेकर मरण तक पग-पग जितनी भी नीतिगत, व्यक्तिगत, सामाजिक आचरण आदि मूलभूत विशिष्टताएँ हैं, उन सभी पर चिंतन-मनन अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया है। यथार्थ के चित्रण के साथ आदर्श के प्रति सावधान करने के सारस्वत प्रयास करने में कवि दृढ़ संकल्पित है।<sup>10</sup>

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल की ग़ज़लें निरंतर ख़तरों से सचेत करती हुई दिखाई पड़ती हैं। क्षुद्र, संकीर्ण स्वार्थों सत्य की निर्भय घोषणा, समष्टि मंगल के लिए व्यष्टि-सौंदर्य का समर्पण, धनलिप्सा का वर्जन आदि वे साधन हैं, जिनसे विश्व-मानव अपने अंतर के परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है। ऐसी मनुजता ही भावी राष्ट्र को सुखमय बना सकती है।

#### संदर्भ

1. सन्नाटे में गूँज, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ० 27
2. रोशनी बनकर जिओ, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ० 73
3. हिंदी ग़ज़ल सौंदर्य और यथार्थ, अनिरूद्ध सिन्हा, पृ० 15
4. मौसम बदल गया कितना, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ० 27
5. सन्नाटे में गूँज, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ० 46
6. मौसम बदल गया कितना, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ० 51
7. रोशनी बनकर जिओ, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ० 162
8. वही, पृ० 162
9. सन्नाटे में गूँज, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ० 32
10. रोशनी बनकर जिओ, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ० 64

## मोहन राकेश का डायरी-साहित्य : एक अनुशीलन

डॉ० ए० अजीज़ 'अंकुर'

एसोशिएट प्राफेसर, हिंदी-विभाग

जी०एफ० कॉलेज, शाहजहाँपुर, उ०प्र०

मोहन राकेश एक प्रयोगधर्मा साहित्यकार हैं। उनका डायरी-साहित्य अपने ढंग का अनूठा है। डायरी-साहित्य के बारे में मेरा विचार है कि जब लेखक तिथि विशेष में घटित घटना-चक्र को यथातथ्य रूप में अथवा अपनी संक्षिप्त प्रतिक्रिया या टिप्पणी के साथ लिख लेता है, तो यह लेखन 'डायरी' के रूप में स्वीकार किया जाता है। डायरी कुछ महत्वपूर्ण तिथियों में घटित घटनाओं को लेकर भी लिखी जा सकती है और क्रमबद्ध रूप में रोज़नामचा के रूप में भी। उसका आकार कुछ पंक्तियों तक ही समिति हो सकता है और कई पृष्ठों तक विस्तृत भी। वह स्वतंत्र रूप से भी लिखी जा सकती है और कहानी, उपन्यास या यात्रवृत्त के अंग के रूप में भी। डायरी मुख्यतः लेखक की निजी वस्तु है। इसमें उसे अपने निजी विचार, दृष्टि, उद्भावना और प्रतिक्रिया व्यक्त करने की पूरी छूट है। इसका आरंभ छायावादी युग से हुआ है। हिंदी में इस कलात्मक विधा का अभी पूर्ण विकास नहीं हो पाया है।

डायरी-साहित्य पर विचार करते हुए अनीता राकेश ने लिखा है— 'एक लेखक अपनी कहानियों, निबंधों, नाटकों और उपन्यासों के माध्यम से अपने आपको व्यक्त कर तो लेता है, पर यह अभिव्यक्ति सीमित होती है, पूर्ण नहीं। तसल्ली उसे तभी मिलती है जब वह डायरी लिखता है। ज़िंदगी की पगडंडियाँ चढ़ने-उतरने के बाद लेखक ज़रूर थोड़ी राहत चाहता है और इसके लिए वह डायरी का सहारा लेता है।' 'जहाँ तक राकेश का प्रश्न है, वह एक भावुक साहित्यकार थे। उन्होंने तिल-तिल करके जीवन जिया था। ज़िंदगी का हर पड़ाव देखा था। जीवन के खट्टे-मीठे यथार्थ के घूँट लिए थे। इसलिए तसल्ली और राहत के लिए ही उन्होंने डायरी लिखने की अनिवार्यता को स्वीकार किया था। फिर भी उसमें कभी-कभी लंबा अंतराल आ जाता था। परंतु गिरते-पड़ते किसी सूरत से उन्होंने इस कार्य को पूरा ही किया। उनकी डायरी सन् 1948 से 1968 तक का कालक्रम अपने भीतर समेटे..... आधुनिक हिंदी-साहित्य का दस्तावेज़ है।'<sup>2</sup>

वास्तव में राकेश की ज़िंदगी एक खुली किताब रही है। उसने जो कुछ लिखा और किया, वह दुनिया को मालूम है। लेकिन उसने जो कुछ जिया, यह सिर्फ उसे मालूम था। अपनी साँसों की कहानी उसने डायरियों में दर्ज की है।'<sup>3</sup> इसी तारतम्य में राकेश के अभिन्न मित्र



कमलेश्वर जी कहते हैं— ‘डायरियाँ लेखक का अपना और अपने हाथ से किया हुआ पोस्टमार्टम होती हैं। ...एक लेखक कैसे तिल-तिल जीता है और मरता है। अपने समय को सार्थक बनाते हुए खुद को कितना निरर्थक पाता जाता है और अपनी निरर्थकता में से कैसे वह अर्थ पैदा करता है। इसी रचनात्मक संघर्ष को डायरियाँ उजागर करती हैं। राकेश की डायरियाँ इसी आत्मसंघर्ष के सघन एकांतिक क्षणों का लेखा-जोखा हैं, जो वह किसी के साथ बाँट नहीं पाया था, उसने बाँटना मंजूर नहीं किया।’<sup>4</sup> अस्तु, कहा जा सकता है कि राकेश की ये डायरियाँ उसकी अपनी रिपोर्ट हैं, जो उसके एकांतिक संताप और सच्चाई की दास्तानें कहती हैं। उनकी डायरियाँ जीवन की अनुभूतियों से जुड़कर प्राकृतिक सुषमा, आत्मनिर्वासन, दर्जन, अंतर्द्वंद्व, उदासी और अकेलेपन को बड़े बेलाग और गहन प्रतिक्रियाओं के साथ व्यक्त करती हैं। इसलिए इन्हीं शीर्षकों के अंतर्गत राकेश की डायरी-साहित्य का सम्यक् विवेचन करना युक्तिसंगत है।

1. प्रकृति-चित्रण और नारी-सौंदर्य : कोई भी लेखक बिना सौंदर्य से प्रभावित हुए नहीं रह सकता है। फिर राकेश तो एक भावुक साहित्यकार थे। उनके अंदर तो इस गुण का होना अनिवार्य था। उन्होंने अपनी यात्रा के दौरान प्रकृति की मनोरम छटा को बड़ी निकटता से देखा-परखा था, फिर उसकी चर्चा वह क्यों न करते? उन्होंने प्रकृति की व्यापक सजीवता, सरसता और सुंदरता का सूक्ष्म निरीक्षण किया और दृश्य को यथार्थ रूप में चित्रित करने का प्रयत्न किया। राकेश की डायरी का एक प्राकृतिक चित्र, जो उन्होंने डलहौजी में बैठकर लिखा था, प्रमाण के लिए काफी है—

‘दोनों तरफ की घाटी में जब बादल भरे रहते हैं, या घाटी में धूप चमकती है और ऊपर स्लेटी, सुरमई, सफेद और ताँबई बादल छाए रहते हैं तो हवा की गति में निरंतर बदलते हुए चित्रपट का हर क्षण सुंदर लगता है। अपनी अनायसता में बनते हुए वे रंगों और रूपों के मिश्रण किसी-किसी क्षण तो चेतना को स्तब्ध कर देते हैं, जो आँख रंगों को उनके साम्य और वैषम्य में देख लेती है, वह क्षणानुक्षण की इस रूप गाँधावी पर विस्फारित होकर बह जाती है। प्रकृति के इस रूप-वैभव के सामने कली अपनी अनुसरणात्मकता में कितनी सीमित और तुच्छ प्रतीत होती है और प्रकृति की सजीवता, जिसे अनुकृति कभी प्राप्त नहीं कर पाती— वे कम्य, अनुकंप, वह गति-अगति, वह मूर्त-अमूर्तता, अस्पृश्य कोमलता... बादल पानी से बोझिल होते हैं। फिर भी स्पर्श में कितने कोमल, कितने लघुवरण, कितने वायव्य...।’<sup>5</sup> स्वभावतः सौंदर्य-प्रेमी होने के कारण यह नामुमकिन था कि राकेश की दृष्टि नारी के रूप-लावण्य पर न जाती। पग-पग पर उन्हें नारी का साहचर्य प्राप्त होता रहा। उससे उन्हें वितृष्णा भी रही और लगाव भी। जहाँ भी वे जिस नारी को देखते थे, उसके अंग-प्रत्यंग की कोमलता और सुडौलपन पर ही उनकी दृष्टि अटककर रह जाती थी। उनकी डायरी से ही एक प्रमाण उद्धृत किया जा सकता है—

‘सामने ग्लेशियर की बर्फ पर नाना चित्रकृतियाँ दिखाई दे रहीं थीं—एक मुग्धा युवती का मुखमंडल गोल, ठोड़ी तिरछी, भाव कामुक, पुरुष के मुँह पर झुका हुआ।’<sup>6</sup> यहाँ राकेश ने नारी के हाव-भाव एवं सौंदर्य की सूक्ष्म पकड़ करते हुए कितना यथार्थ चित्र खींचा है। कहने

की आवश्यकता नहीं इसी प्रकार अन्यत्र भी प्रमाण उपलब्ध हैं।

2. जीवनानुभूति: राकेश एक जीनियस कलाकार थे। उन्होंने जीवन के हर खट्टे-मीठे यथार्थ को भोगा था। स्यात् उसी को झेलते हुए जिया भी था। इसका पूरा लेखा-जोखा हमें उनकी डायरियों में मिल जाता है। कमलेश्वर जी ने राकेश की ज़िंदगी के बारे में बहुत ही सही नक़शा खींचा है— ‘जब यात्री रेगिस्तान का सफ़र करता है तो मुँह में चंग को बजाता रहता है। जिसकी आवाज़ सिर्फ़ भीतर शरीर में हल्के-हल्के गूँजती रहती है और बाहर के रेगिस्तानी सन्नाटे को तोड़ती रहती है... और यात्री अपना रेगिस्तानी सफ़र पूरा कर लेता है। लेकिन लेखक का यह रेगिस्तानी सफ़र तो कभी पूरा नहीं होता। जिस लेखक ने यह रेगिस्तानी सफ़र को नहीं जिया है वह अधूरा ही रहा है। राकेश ने अपने भीतर ये डायरियों के चंग बजा-बजाकर अपने सन्नाटे को तोड़ा और अपने रेगिस्तान को जिया है।’<sup>7</sup>

राकेश के जीवन की पूरी झलक उनकी डायरियों में मिलती है। उन्होंने सदैव अकेलेपन, ऊब और घुटनभरी ज़िंदगी को जिया था। इसीलिए वह अनवरत अंतर्द्वंद्व ग्रस्त रहते थे। इस घुटनभरी ज़िंदगी को संतुलित रूप से जीने के लिए उन्होंने सिगरेट और बियर का सहारा भी लिया था, लेकिन सब निरर्थक रहा। राकेश के अंदर की उदासी ही बाहर की चीज़ों से काटकर उन्हें रख देती थी। उनकी आर्थिक तंगी भी उन्हें तोड़कर रख दे रही थी। कमलेश्वर से कहे गए अनीता के ये वाक्य साक्ष्य हैं— ‘आपको नहीं पता, कैसे-कैसे क्राइसिस में से हम लोग गुज़रे हैं। पहले तो ऐसी-ऐसी स्थितियाँ आया करती थीं कि बस...’<sup>8</sup> इसी तारतम्य में राकेश के कहे वाक्य भी देख लिए जाएँ— ‘मैंने फिर समझना चाहा कि आर्थिक स्थिति इतनी ख़राब हो गई है कि और रिस्क हम नहीं उठा सकते। तुम अपना ही नहीं, मेरी भी तो स्थिति देखो। मुझे दोहरी परेशानी है। पूरे सालभर से चल रही है। एक तरफ तो पैसा नहीं है, उधार चढ़ता जाता है। दूसरी तरफ लिख पढ़ न पाने से वैसे भी अपने में व्यर्थता-सी लगती है।’<sup>9</sup>

राकेश घिसी-पिटी ज़िंदगी जीने के कायल नहीं थे। उनकी दृष्टि में एक तार जीवन जीने का तात्पर्य अवनति के खड्ड में गिरना था। वह नित्यप्रति नए रूप से जीवन जीना चाहते थे। इसकी प्रामाणिकता उनकी कहानियों में देखी जा सकती है। उनकी डायरियाँ ही उनकी कहानियों के अधिकांश नायकों की दास्तानें हैं, जिसमें राकेश का अपना व्यक्तित्व मुखरित हुआ है। राकेश ने अपनी मानसिकता को बड़ी ही सच्चाई के साथ डायरियों में अक्षरशः उतारने का प्रयास किया है। कहीं-कहीं उनके मन का अंतर्द्वंद्व स्पष्ट झलकता हुआ परिलक्षित होता है। राकेश को जितनी प्रिय ज़िंदगी थी, शायद मौत भी उससे कम नहीं। फिर भी वह कुछ और करने के लिए साथ ही अनीता के लिए बीस-तीस साल और जीना चाहते थे... यह स्वीकृति कैसी, नहीं जानता। जो ख़याल आता है वह यही कि बहुत सा काम अभी करने को पड़ा है। अनीता का ख़याल भी आता है। वह अभी बहुत छोटी है... उसे बीस-तीस साल की ज़िंदगी मिलनी ही चाहिए।<sup>10</sup>

अस्तु, निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि ‘एक के बाद दूसरे अनेक पड़ावों से गुज़रती मोहन राकेश की यह साहित्यिक यात्रा आधुनिक हिंदी-साहित्य का महत्वपूर्ण दस्तावेज़

है।<sup>11</sup> उनकी इस डायरी में अपनी व्यक्तिगत विकास-यात्रा तो विस्तृत रूप से चित्रित ही हुई है, साथ ही उनके मित्रगण, विवाह, संबंध, पर्यावरण, प्रेम-प्रसंग, साहित्यिक गतिविधियाँ तथा नई कहानी आंदोलन का अंतरंग विवरण भी उपलब्ध है। डायरी-साहित्य के क्षेत्र में राकेश की यह डायरी महत्वपूर्ण योगदान लेकर उपस्थित हुई है। इसका महत्व अप्रतिम है। डायरी विधा के अभूतपूर्व योगदान के लिए हिंदी-साहित्य मोहन राकेश का चिरऋणी रहेगा।

#### संदर्भ

1. मोहन राकेश की डायरी: राकेश जी की यह डायरी: अनीता, राकेश, पृ० 9
2. मोहन राकेश की डायरी, फ्लैप से उद्धृत।
3. मोहन राकेश की डायरी: एक लेखक का अपना रेगिस्तान: कमलेश्वर, पृ० 11
4. वही, पृ० 11
5. वही, पृ० 119
6. वही, पृ० 184
7. वही, पृ० 12
8. वही, पृ० 244
9. वही, पृ० 244
10. वही, पृ० 295
11. वही, फ्लैप से उद्धृत

## संस्मरणकार अज्ञेय

डॉ० सुनीता

सहायक प्रोफेसर, हिंदी,

कु०वि०आ० डी०ए०वी० महिला महाविद्यालय, करनाल (हरियाणा)

आधुनिक हिंदी साहित्य में काव्य के साथ-साथ नवीन गद्य-विधाओं का प्रादुर्भाव हुआ। उपन्यास, कहानी, निबंध, संस्मरण, रेखाचित्र, यात्रावृत्त, जीवनी, साक्षात्कार, पत्र-लेखन आदि विधाओं के अंतर्गत विस्तृत साहित्य का सृजन हुआ। इन्हीं विधाओं में से एक है— 'संस्मरण विधा'। अतः सर्वप्रथम संस्मरण के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए इसके अर्थ व परिभाषा को समझना आवश्यक है।

**संस्मरण : अर्थ एवं परिभाषा :**

संस्मरण शब्द की व्युत्पत्ति 'सम' उपसर्ग, 'स्मृ' धातु और 'ल्युट' (अण) प्रत्यय से हुई है। जिसका अर्थ है— 'सम्यक् स्मरण' अर्थात् 'पूर्ण रूपेण स्मरण'। वस्तुतः सहज आत्मीयता और गंभीरता से किसी व्यक्ति, वस्तु, घटना आदि का स्मरण करना। विभिन्न विद्वानों ने संस्मरण को इस प्रकार परिभाषित किया है—

महादेवी वर्मा ने अनुभूति की तीव्रता को संस्मरण का मुख्य स्रोत माना है— 'अनुभूति की तीव्रता हमारे मनोजगत में कोई संस्कार छोड़ जाती है और वह तीव्रता अनुभूत विषय के महत्त्वपूर्ण या तुच्छ होने पर निर्भर नहीं रहती। इसलिए मनोवैज्ञानिक रूप से भी ये अनुभूतियाँ संस्मरण का विषय बन जाती हैं।'<sup>1</sup>

डॉ० धीरेंद्र वर्मा ने लिखा है—स्मृति के आधार पर किसी विषय या व्यक्ति के संबंध में लिखित लेख या ग्रंथ को संस्मरण कह सकते हैं।<sup>2</sup>

डॉ० गोविंद त्रिगुणायत के अनुसार—'भावुक कलाकार जब अतीत की उन्नत स्मृतियों में से कुछ रमणीय अनुभूतियों को अपनी कोमल कल्पना से अनुरजित कर व्यंजनामूलक संकेत शैली में अपने व्यक्तित्व की विशेषताओं से विशिष्ट कर रोचक ढंग से यथार्थ रूप में व्यक्त कर देता है, तब उसे 'संस्मरण' कहते हैं।'<sup>3</sup>

उपर्युक्त परिभाषाओं के आलोक में कहा जा सकता है कि अनुभूति और स्मृति की कलात्मक अभिव्यक्ति ही संस्मरण है।

वस्तुतः अतीत की वे स्मृतियाँ, जो हमारे अंतर्मन में गहराई से बैठ जाती हैं और उन्हीं स्मृतियों में से किसी विशेष व्यक्ति, वस्तु या घटना आदि में से कुछ रमणीक अनुभूतियों को कल्पना की कलाई चढ़ाकर व्यंजनात्मक व लालित्य-प्रधान शैली में मनोवैज्ञानिक ढंग से व्यक्तित्व की छाप से विशिष्ट कर यथार्थ रूप में (गद्य में) प्रस्तुत करना ही 'संस्मरण' है।

अज्ञेय जी का साहित्य विविधायामी है। मूलतः वे कवि माने जाते हैं परन्तु उन्होंने उपन्यास, कहानी, नाटक, निबंध, भाषण, ललित निबंध, संस्मरण, यात्रावृत्त, रेखाचित्र, रिपोर्टाज, साक्षात्कार, डायरी, जीवनी, पत्र-लेखन, गद्य-गीत, व्यंग्य-लेख आदि गद्य की विविध विधाओं में सृजन कर हिंदी-साहित्य को समृद्ध किया है। आधुनिक रचनाकारों में अज्ञेय का कृतित्व अत्यंत व्यापक है। एक बार आचार्य विष्णुकांत शास्त्री ने अज्ञेय जी से उनके सर्जक-रूप को समझने की इच्छा व्यक्त की तो अज्ञेय जी ने बताया— 'मैं किसी भी अनुभव के बाद तुरंत लिखने नहीं बैठ जाता। मेरे मन में कोई बात बरसों तक चुभती रहती है, मैं उस पर सोचता रहता हूँ। जब तक मुझे लगता है कि कहीं अस्पष्ट हूँ, कुछ अधूरा है, तब तक लिखना शुरू नहीं करता। जब करीब-करीब उसकी पूरी तस्वीर मन में उभर आती है तब लिखना या लिखाना शुरू करता हूँ और फिर रुकता नहीं, इधर-उधर उलझता नहीं, बिल्कुल निर्विघ्न एकांत चाहता हूँ।'<sup>14</sup>

#### अज्ञेय के संस्मरण :

अज्ञेय द्वारा रचित 'स्मृति-लेखा' संस्मरण संकलन सन् 1982 में प्रकाशित हुआ। इस कृति में अज्ञेय जी ने अपने समकालीन कवियों, लेखकों की स्मृतियों को सँजोया है, जिसमें उनके व्यक्तित्व, कृतित्व के साथ-साथ स्वयं संस्मरणकार के व्यक्तित्व की रेखाएँ भी समाहित हैं। 'स्मृति-लेखा' में केवल स्मृतियों का ही समावेश नहीं है अपितु आलोचना-समीक्षा की विशिष्टताएँ भी देखी जा सकती हैं। किसी एक आयाम में समाहित न होते हुए भी स्मृतियों, अनुभूतियों का संकलन होने के कारण यह संस्मरण विधा की अनुपम रचना है।

'स्मृति-लेखा' संस्मरण-संग्रह में अज्ञेय जी ने बारह प्रसिद्ध हिंदी साहित्यिक लेखकों, कवियों के संस्मरण सँजाए हैं, जिनके शीर्षक निम्नलिखित हैं—

1. भारत कोकिला (सरोजिनी नायडू)
2. राष्ट्रकवि (मैथिलीशरण गुप्त)
3. स्मरण का स्मृतिकार (रायकृष्णदास)
4. उपन्यास सम्राट (प्रेमचंद)
5. वसंत का अग्रदूत (सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला')
6. स्वरसिद्ध (सुमित्रानंदन पंत)
7. कवि वत्सला (होमवती देवी)
8. एक भारतीय आत्मा : एक चुनौती (माखनलाल चतुर्वेदी)
9. धरती का धनी (फणीश्वरनाथ 'रेणु')
10. समय सूर्य (रामधारीसिंह 'दिनकर')
11. बीसवीं सदी का बाणभट्ट (हजारीप्रसाद द्विवेदी)
12. असीम और ससीम के बीच (बालकृष्ण शर्मा 'नवीन')

#### भारत कोकिला (सरोजिनी नायडू) :

अँग्रेजी में काव्य-रचना कर श्रीमती सरोजिनी नायडू 'भारत-कोकिला' कहलाईं। इन्हें केवल कवयित्री होने के नाते यह सम्मान नहीं मिला, अपितु इनकी भाषा का संस्कार, स्वर-माधुर्य जन-समूह को आकर्षित और मंत्र-मुग्ध करता था। लेखक काँग्रेस के लाहौर

अधिवेशन के उस प्रसंग को याद करते हुए लिखते हैं जिसमें श्रीमती नायडू को काँग्रेस की प्रमुख नेता तथा वक्ता के तौर पर वक्तव्य देना था। उन्होंने माइक को एक तरफ हटाकर अत्यंत सहजता से ये शब्द कहे— ‘मेरी आवाज भारत की लाख-लाख जनता तक किसी यंत्र के सहारे बिना ही पहुँचेगी’ सभा में सनसनी फैलाते हैं। वे सभी को पुनः अचरज में डालती हैं— ‘हिन्दुस्तानी में बोलना प्रारंभ करा।’<sup>5</sup> सरोजिनी नायडू जन्म से बंगाली और विवाह से दक्षिण भारतीय थी परंतु वे अँग्रेजी और हिंदी दोनों ही भाषाओं को समान अधिकार से बोलती थी। अज्ञेय जी के लिए उनके प्रभावी और तेजस्वी व्यक्तित्व की अनेक स्मृतियाँ अद्वितीय और सदैव अविस्मरणीय हैं। श्रीमती सरोजिनी नायडू की निर्भीकता, स्पष्टवादिता और विनोदप्रियता से भी अज्ञेय जी बहुत प्रभावित हुए। अज्ञेय जी लिखते हैं— ‘एक निडर बल्कि दबंग स्वभाव और उसके साथ एक आश्चर्यजनक हाजिर-जवाबी और इन दोनों के साथ सार्वजनिक जीवन के उत्तरदायित्वों का एक गहरा बोध— यह उनके चरित्र की विशेषता थी, जिसके कारण वह परिस्थितियों को न केवल सँभाल लेती थी बल्कि आश्चर्यजनक रूप से उन पर हावी हो जाती थी।<sup>6</sup> यद्यपि भारत-कोकिला अँग्रेजी में कविता लिखती थी परंतु उनकी अँग्रेजी कविता में गहरा भारतीय संस्कार निहित है। अज्ञेय जी लिखते हैं— ‘उनके विचार से कृतित्व को कवि जैसा दिखना चाहिए स्वस्थ और सुरूप। उन्होंने कहा था— ‘अब तक हिंदी का कवि मेरा परिचित था— बालकृष्ण शर्मा ‘नवीन’, आज दूसरा देखा, बाकी सब तो ...।’<sup>7</sup> श्रीमती नायडू के इन प्रशंसा शब्दों ने लेखक को तेजस्विता प्रदान की।

#### राष्ट्रकवि ( मैथिलीशरण गुप्त )

अज्ञेय, राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त जी की देशभक्ति परक रचनाओं से विशेष प्रभावित हैं। उनकी भारत-भारती, पंचवटी और जयद्रथ-वध के माध्यम से ही लेखक ने देशभक्ति, भारत के गौरवपूर्ण अतीत के विषय में जाना। अज्ञेय जी का गुप्त जी से प्रथम प्रत्यक्ष परिचय गुप्त जी के चिरगाँव स्थित उनके गाँव घर में हुआ। इस भेंटवार्ता से लेखक को गुप्त जी के साथ सहज आत्मीयता की अनुभूति हुई। गुप्त जी से व्यक्तित्व में व्यवहार कुशलता और सभा चातुर्य विद्यमान था। इसके अतिरिक्त अज्ञेय जी उनकी सहजता पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं— ‘उनमें एक आश्चर्यजनक भोलापन भी था। कभी-कभी तो सहज-भाव से वे अपनी भूल या दुर्बलता भी स्वीकार कर लेते थे।’ अज्ञेय दिल्ली में गुप्त जी के यहाँ जमने वाले दरबार के बारे में बताते हैं— ‘चुटकुले बाजियाँ होती थीं और उपस्थित, अनुपस्थित परिचितों की बखियाँ उधेड़ी जाती थीं। इस संदर्भ में अज्ञेय जब दद्व (गुप्त जी) से परनिंदा का उल्लेख करते हैं तो अत्यंत सहज मुस्कान के साथ गुप्त जी स्वीकार करते हैं कि हाँ, वह तो हम करते हैं। लेकिन आपसे हम सच्ची बताएँ कि दुनिया में परनिंदा के बराबर कोई दूसरा सुख नहीं है।’<sup>8</sup> अज्ञेय जी ने गुप्त जी के खाने-खिलाने के शौक का वर्णन भी विस्तारपूर्वक किया है। लेखक के अनुसार गुप्त जी नूतन को कसौटी पर कसने की अनिवार्यता समझते थे। अज्ञेय के अनुसार ‘उन्हें सांस्कृतिक राष्ट्रीयतावादी भी कहा जा सकता है और उतनी ही सच्चाई से मानवतावादी भी और वैष्णव तो वह थे ही।’<sup>9</sup>

#### स्मरण का स्मृतिकार ( राय कृष्णदास )

अज्ञेय के अनुसार ‘रायकृष्णदास अहिंसक राष्ट्रीय आंदोलन के एक ऐसे स्मृति-यंत्र

थे जिन्होंने स्वाधीनता-प्रेम को ऐसे गौरव-बोध से अनुप्राणित किया था, जो दृष्टि को उदार बनाता था। उनकी स्वाधीनता केवल राजनीतिक सीमा से बँधी नहीं थी वरन् उसके सांस्कृतिक आयाम इतने व्यापक थे कि उसमें इतिहास और कला, दर्शन और साहित्य, सब समा जाते थे।<sup>10</sup> अज्ञेय जी लिखते हैं—‘कला-पारखी, कला-व्यसनी, कला-विलासी, साहित्य-पारखी, साहित्य-व्यसनी, साहित्य-विलासी यह सब होकर वह सच्चे हृदय सामाजिक थे।<sup>11</sup> उनके अपने युग की प्रमुख काव्य-विभूतियों से घनिष्ठ संबंध था। सभी उनसे अपने दुःख बँटा सकते थे, अपनी उनसे केवल प्रशंसा ही नहीं रचनाओं की खरी आलोचना भी सुनने को उत्कंठ रहते थे। क्योंकि उनकी उदार सहृदयता उन्हें सच्चा पारखी बनाती थी।<sup>12</sup> राय कृष्णदास ने कविता की अपेक्षा गद्य-गीत लिखे। वे ‘प्रसाद’ और ‘गुप्त जी’ के अंतरंग मित्र और दोनों के बीच की कड़ी बने रहे। अज्ञेय जी ने लिखा है— ‘कविता तनाव की ऊर्जा माँगती है और रायकृष्णदास कितनी भावात्मक ऊर्जा दोनों कवियों के तनाव हल करने में व्यय करते रहे। फिर भी उन्होंने लिखा और गद्य गीत की विधा में तो भाषा, संरचना और संहति का एक मानक ही स्थापित किया।<sup>13</sup>

#### उपन्यास सम्राट ( प्रेमचंद )

अज्ञेय मानते हैं कि प्रेमचंद साहित्य में प्रतिस्पर्धी भाव से नहीं आए वरन् जीवन पर्यंत वे यही मानते रहे कि साहित्यकार समाजसेवी ही हैं और साहित्य एक साधना है। अज्ञेय के अनुसार— ‘गुप्त जी और प्रेमचंद जी ऐसे साहित्य-सृष्टा हैं, जो हमें एक युग से दूसरे युग में सहजता से ले जाते हैं, वे मानो खाई के आर-पार खड़े होकर इस सहजभाव से हमें एक कगार से उठाकर दूसरे कगार पर रख देते हैं कि हमें पता ही नहीं चलता कि कितना बड़ा संक्रमण जो संपन्न हो गया है।<sup>14</sup> प्रेमचंद सामाजिक रचनाकार हैं। वे चरित्रों को गढ़ते नहीं अपितु प्रस्तुत करते हैं। समाज के सभी वर्गों से लिए गए उनके चरित्रों को अज्ञेय ने तीन भागों में बाँटा है— ‘एक दुखियारों, कष्ट भोगियों का वर्ग; दूसरा शोषकों और उत्पीड़कों का वर्ग और तीसरा महानुभावों का जो मानवता पर से हमारा विश्वास उठने नहीं देता।<sup>15</sup> प्रेमचंद तोल्सतय चेखोव, गोर्की से प्रभावित थे इसीलिए उनके साहित्य में प्रेम और करुणा की लहरें प्रवाहित रहती हैं। अज्ञेय प्रेमचंद को केवल एक उपन्यासकार नहीं, अपितु आधुनिक हिंदी उपन्यास के लिए एक पूरी परंपरा मानते हैं। प्रेमचंद ने मानवीय संवेदना को इतना विस्तृत किया और अन्याय का विरोध करते हुए भी उस संवेदना का दायरा समय के साथ संकुचित नहीं होने दिया। उनकी रचनाओं में संवेदना का संवेग पूर्णतः समाहित है।

#### वसंत का अग्रदूत ( सूर्यकांत त्रिपाठी ‘निराला’ )

अज्ञेय निराला जी की ‘तुलसीदास’ रचना से अत्यंत प्रभावित हुए। वे लिखते हैं— ‘विरली ही रचना ऐसी होती है, जिसमें एक सांस्कृतिक चेतना सर्जनात्मक रूप में अवतरित हुई हो। तुलसीदास मेरी समझ में ऐसी ही रचना है।<sup>16</sup> अज्ञेय ने स्वीकार किया है कि ‘हिंदी काव्य रचना में जो परिवर्तन हो रहा था उसकी इतनी खरी पहचान निराला को थी। उस समय के तमाम हिंदी आचार्यों से कहीं अधिक सही और अचूक।<sup>17</sup> अज्ञेय निराला को प्रभावशाली वाचक मानते हुए कहते हैं कि ‘उन जैसा काव्य-वाचक आधुनिक युग में दूसरा नहीं हुआ। सचमुच वसंत पंचमी के दिन जन्म लेने वाले निराला हिंदी काव्य के वसंत के अग्रदूत थे।<sup>18</sup>

### स्वर सिद्ध ( सुमित्रानंदन पंत )

पंत जी को प्रकृति का कवि माना जाता है। उनका एक ओर प्रकृति से गहरा संबंध था तो दूसरी ओर भाषा से संवेदनात्मक संबंध था। अज्ञेय जी ने पंत जी के साथ अल्मोड़ा में हुए निकट परिचय की स्मृतियाँ इस संस्मरण में सँजोई हैं। इसके साथ ही उनके संकोची स्वभाव का भी चित्रण किया है। अज्ञेय जी मानते हैं कि शब्द-ध्वनियों के प्रति जैसी सजगता पंत जी में थी वैसी दूसरे कवियों में नहीं। काव्य में शब्द-संगीत का आधार स्वर ध्वनियाँ हैं जिसकी अचूक पहचान पंत जी को थी। उन्होंने अपने समकालीन और परवर्ती कवियों को स्वर-सौंदर्य की पहचान कराई। स्वर-ध्वनियों पर पंत जी का ऐसा अधिकार देखकर अज्ञेय उन्हें सच्चे अर्थ में 'स्वर-सिद्ध' कवि कहते हैं।<sup>19</sup> अज्ञेय जी पंत जी के समकक्ष अँग्रेजी के कवि कीट्स का नाम प्रशंसा-भाव से ही लेते हैं क्योंकि उन्होंने काव्य भाव-भाषा हिंदी को तुलनीय सामर्थ्य दिया है। अज्ञेय को पंत की अनेक रचनाएँ सस्वर वाचन के लिए प्रिय थी। उन्होंने आग्रह कर पंत जी से उन्हें रिकार्ड करवा लिया था। उन्हीं में से एक की इस संस्मरण में बात की है वह है— बाँध दिए क्यों प्राण प्राणों से। अज्ञेय मानते हैं कि सचमुच उनकी कविताएँ प्राणों से प्राणों को बाँध देती हैं। प्राणों में चिरव्यथा भर देती हैं।

### कवि वत्सला ( होमवती देवी )

वास्तव में होमवती जी उन गिने-चुने व्यक्तित्वों में से थी, जिनसे अज्ञेय बोलते थे। अज्ञेय के प्रति उनके स्नेह में सहज शुद्ध मानवीयता की भावना थी। अज्ञेय लिखते हैं कि 'उनमें लगन बहुत थी और अवचिल भाव से निरंतर परिश्रम करने की यथेष्ट क्षमता परंतु 'इनिशिपेटिव' की कमी थी, जिसे अज्ञेय नारी के सहज संकोच के रूप में ही लेते हैं।'<sup>20</sup> अज्ञेय होमवती जी के शील-स्वभाव और स्वाभिमान से अधिक प्रभावित थे। वे उनके अतिथि-सत्कार को स्मरणीय बताते हैं— 'प्राचीन कालीन भारतीय आतिथ्य का वह सजीव प्रतिबिंब थीं। उनका आतिथ्य दिखावा नहीं था; उससे सचमुच उन्हें तृप्ति मिलती थी।'<sup>21</sup> होमवती की कहानियों में उनके स्वभाव गुण के अनुरूप ही घरेलू वातावरण, गहरी आत्मीयता, आर्द्रकरुणा, नारी के स्वाभिमान से ही सहज सहानुभूति और अन्याय के प्रति सहज मानवीय आक्रोश व्यक्त हुआ है। वे राजनीति से दूर रहती थी।

### एक भारतीय आत्मा : एक चुनौती ( माखनलाल चतुर्वेदी )

कारावास में रहते हुए अज्ञेय का परिचय माखनलाल चतुर्वेदी की कविताओं— 'पुष्प की अभिलाषा', 'कैदी और कोकिल' से हुआ। एक भारतीय आत्मा की कविता सहजता, ओज, प्रवाह से युक्त होने के कारण उन्हें आकर्षित करती रही। इसी स्मृति में वे उनकी भाषा में अनगढ़पन स्वीकारते हैं। माखनलाल जी की काव्य-भाषा के विषय में अज्ञेय जी लिखते हैं— 'वह भाषा को एक जीवंत, प्रवाहमान और सतत् परिवर्तनशील साधन के रूप में ही बरतते आए; इसीलिए उनकी भाषा अनगढ़ रही, अस्थिर रही, ठेठ शब्दों को भी उतना ही सहजता से अपनाती रही जितनी वे संस्कारी शब्दों को, जो चाहे संस्कृत के हों चाहे फारसी के, पर इस सबके साथ सहज रही कृत्रिम कभी नहीं हुई। हिंदी ही रही।'<sup>22</sup> साहित्यकार के रूप में अज्ञेय उन्हें एक अखंडित व्यक्तित्व वाले लेखक मानते हैं। किसी भी देश या समाज के लिए एक अखंड व्यक्तित्व बहुत बड़ी उपलब्धि होता है। साहित्य के लिए इस समग्रता का विशेष महत्त्व



है। अज्ञेय के अनुसार— ‘माखनलाल केवल कृतिकार कवि नहीं; एक कृति-कवि थे क्योंकि उनकी स्नेह छाया में और भी कई कवि प्रतिभाएँ पनपीं, जो उन्हें ‘दादा’ कहकर अपने को स्नेह-सिक्त और गौरव-मंडित अनुभव करते रहे और कुछ अभी तक उन्हें इसी रूप में स्मरण करते हैं।’<sup>23</sup>

### धरती का धनी ( फणीश्वरनाथ रेणु )

इस स्मृति-लेख में अज्ञेय रेणु जी से पटना के अस्पताल में हुई 1 मार्च, 1977 की मुलाकात को स्मरण करते हैं। कुछ दिनों बाद जब उन्हें पता चलता है कि ‘रेणु नहीं रहे’ तो वे स्मृतियाँ ताजा हो उठती हैं। अज्ञेय ‘सिप्पी बाबू’ का प्रसंग याद करते हैं। ‘सिप्पी बाबू’ स्पेनियल जाति का काले रंग का कुत्ता है, जो रेणु जी को भेंट में मिला था। इस स्मृति-लेख में रेणु जी की पशुओं के प्रति संवेदना, कुत्ते और अन्य पशुओं का सहज बोध, भले-बुरे की सही पहचान का वर्णन किया गया है। रेणु जी के साथ बिहार के एक सूखाग्रस्त प्रदेश की यात्रा की स्मृतियों को सहेजा है। रेणु जी की रचनाओं का चित्रण करते हुए लिखा है— ‘उनके चरित्र मानो एक ऐसे संसार के द्वार खोल देते हैं, जो ‘नया’, ‘अपरिचित’ तो नहीं, परंतु विस्मित करने वाला रहता है। उनकी कहानियों के चरित्र भी ‘आम’ हैं। हमारे आसपास हैं फिर भी अद्वितीय हैं, एकान्त अद्वितीय।’<sup>24</sup> वास्तव में अज्ञेय रेणु को सचमुच ‘धरती का धनी’ मानते हैं। अज्ञेय के अनुसार रेणु जी के उपन्यासों में गाँवों की समस्त बुराइयाँ और कमीनगी के बीच एक अखंड मानवी विश्वास की चिंगारी सुलगती हुई दिखाई पड़ती है। धनी का एक अर्थ— पति है, पति अर्थात् वक्ता। अज्ञेय लिखते हैं— ‘रेणु की हर कथा में इस मिथकीय आयाम का स्पंदन अनुभव किया जा सकता है; वही स्पंदन तो हमें याद दिलाता है कि यह रचना ‘धरती के धनी की’ कृति है।’<sup>25</sup>

### समय-सूर्य ( रामधारीसिंह दिनकर )

मैथिलीशरण गुप्त और दिनकर दोनों राष्ट्र-कवि के रूप में जाने जाते हैं। दोनों राष्ट्रकवियों की युगीन स्थितियों को विवेचित करते हुए अज्ञेय ने लिखा है— ‘राष्ट्रकवि का पद जहाँ गुप्त जी हँसकर ओढ़ते रहे, वहाँ दिनकर को उसका निर्वाह करने में कभी दहाड़ना पड़ा तो कभी गुहारना पड़ा। परंतु बाद में सभी प्रकार की भौतिक सुविधा और सामाजिक प्रतिष्ठा के बीच भी, अपने-आक्रोश में भी उनके लिए हुंकार भरना संभव न हुआ। हार का बोध ही उन्हें हुआ और हरिनाम की टेक ही उन्होंने पकड़ी। ... जिस राष्ट्र के वह होना चाहते थे वह उनके सामने नहीं था और जो था उससे मर्माहत होते हुए भी उसे बदलने में वे अपने को अक्षम समझ रहे थे। ... साथ ही अपनी स्थिति पर ग्लानि भी अनुभव करते रहे।’<sup>26</sup> परंतु अज्ञेय इसका कारण बाहरी परिस्थितियों में नहीं पाते अपितु उनके अपने राजसिक संस्कार और मनोभावों में देखते हैं।

वस्तुतः व्यावहारिक जीवन में दिनकर का मनोभाव अज्ञेय के प्रति विरोध का ही रहा। कारण स्पष्ट नहीं था, परंतु यह अज्ञेय का अनुभूत अनुभव था। दिनकर द्वारा साहित्य अकादमी में भारतीय भाषाओं के अनुवाद के लिए ‘नदी के द्वीप’ का नाम काटना या यूनेस्को प्रकाशन योजना में ‘शेखर एक जीवनी’ की स्वीकृति को ‘अधूरा है’ कहकर टालना यही सिद्ध करता है। अज्ञेय ने उनके काव्य को नए और पुराने के बीच सेतु माना है। अज्ञेय के शब्दों में—

‘अब वह सेतु टूट गया है फिर भी दिनकर की तेजस्वी-वाणी बहुतों के मन में बहुत दिन तक गूँजती रहेगी।’<sup>27</sup>

### बीसवीं सदी का बाणभट्ट ( हजारीप्रसाद द्विवेदी )

अज्ञेय और पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी की सहज आत्मीयता का आभास इसी से हो जाता है कि दोनों संकेतों से ही बातचीत कर लेते थे। कभी जोर से हँस पड़ते थे। दोनों की वनस्पतियों में गहरी रुचि थी। अज्ञेय के अनुसार— ‘जब संस्कृत का विद्वान हिंदी में लिखने का प्रयास करता है तो अपने लिए अनेक समस्याएँ खड़ी कर लेता है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी हिंदी में लिखने का निर्णय लेकर यह किया, स्वेच्छा से किया। परंतु इस संदर्भ में दो बातों से उन्हें बल मिलता रहा— एक तो अपने गुरु कर्म को उन्होंने सीमित नहीं रखा। उनकी कल्पना में साहित्य गुरु भी पूरे समाज को सांस्कृतिक दीक्षा देने वाला दीक्षा-गुरु था, केवल विद्यार्थियों को पढ़ाने वाला पंडित नहीं। इसीलिए पूरे समाज को संस्कृति की शिक्षा देने के इस काम को उन्होंने बड़ी गंभीरता से लिया। उनको बल देने वाली दूसरी बात थी— उनकी रचनात्मक ऊर्जा। यही कारण है कि ललित निबंध लेखन में भी उनका उद्देश्य लालित्य रचना मात्र नहीं था। अतीत के भंडार की तरह-तरह की जानकारी रोचक रूप में वे लोगों को देना चाहते थे।’<sup>28</sup> इसी प्रेरणा के कारण ही ‘बाणभट्ट की आत्मकथा’ की रचना हुई और इसके पश्चात् चारुचंद्र लेखा, पुनर्नवा और अनामदास का पोथा। अज्ञेय के अनुसार— ‘ये उपन्यास हमें जिन बीते युगों की विस्तृत जानकारी और समझ देते हैं उतनी कई शास्त्र और इतिहास ग्रंथ भी मिलकर नहीं दे पाते।’<sup>29</sup> संस्कृत से हिंदी की ओर जाने के इस कठिन कार्य से हजारीप्रसाद जी ने हिंदी को समृद्ध बनाया है।

### असीम और ससीस के बीच ( बालकृष्ण शर्मा ‘नवीन’ )

नवीन जी से अज्ञेय का परिचय एक रचनाकार के नाते नहीं, अपितु एक क्रांतिकारी के नाते सन् 1935 में नागपुर के विराट कवि सम्मेलन में हुआ। इस स्मृति-लेख में अज्ञेय, नवीन जी के साथ जेल के, राजनीतिक जीवन के और समकालीन कवियों पर विशेष रूप से चर्चा करते हैं। मैथिलीशरण गुप्त के निवास पर जब नवीन जी और अज्ञेय काव्य भाषा पर चर्चा करते हैं तो नवीन जी के विचार से ‘काव्य में वास्तव में पर्यायवाची शब्द होते ही नहीं, वहाँ तो एकमात्र सही शब्द होता है या फिर नहीं होता।’<sup>30</sup> परंतु अज्ञेय ने माना है कि ‘हर शब्द का अपना संस्कार होता है, वह अपने साथ एक पूरा इतिहास, एक परिवेश, एक संस्कृति की अनुगूँज लेकर आता है न कि केवल कोशगत अर्थ।’<sup>31</sup> अतः यहाँ दोनों के दृष्टिकोण में अंतर है। अज्ञेय जी की नवीन जी के जीवन के अंतिम वर्षों की अस्वस्थता और मानसिक उद्विग्नता की स्मृतियाँ मार्मिक हैं। चौरी-चौरा हत्याकाण्ड के बाद से सत्याग्रह वापसी से छाने वाली निराशा में लिखी कविता में नवीन जी जब ‘मतिधीर’ की बात करते हैं तो अज्ञेय कहते हैं कि ‘मतिधीर’ तो नवीन जी कभी हुए नहीं। किसी आधुनिक महाकाव्यकार को यदि धीरोदात्त नायक की आवश्यकता पड़ती तो शायद नवीन जी से अधिक उपयुक्त चरित्र नायक उसे न मिल सकता। परम वैष्णव, परम साहसी, अत्यंत भावुक, बज्रादपि कठोर और निश्चय ही कुसमादपि मृदु; सदैव एक फक्कड़ हँसी लिए हुए, लेकिन ट्रेजडी की संभावनाओं से भरा हुआ।’<sup>32</sup>

निष्कर्षतः स्मृति-लेखा साहित्य को एक नया आयाम देने वाली रचना है। इन

संस्मरणों में अज्ञेय जी अपने समकालीन प्रसिद्ध कवियों, लेखकों की स्मृति को अपने संवेदनात्मक स्पर्श से पुनर्जीवित करते प्रतीत होते हैं। प्रस्तुत संस्मरणों में न केवल इन रचनाकारों के व्यक्तित्व का चित्रण हुआ है अपितु इनके कृतित्व व अन्य गतिविधियों की भी सटीक और यथार्थ अभिव्यक्ति मिलती है। अज्ञेय के ये संस्मरण अवश्य ही हिंदी-साहित्य को विशिष्ट देन है।

#### संदर्भ

1. स्मृति की रेखाएँ, महादेवी वर्मा, भूमिका से
2. हिंदी साहित्य कोश, डॉ॰ धीरेंद्र वर्मा, पृ॰ 803
3. हिंदी भाषा एवं साहित्य-विश्वकोश, खंड 2, पृ॰ 13
4. सुधियाँ उस चंदन के वन की, विष्णुकांत शास्त्री, पृ॰ 44
5. स्मृति-लेखा, अज्ञेय, क्रम 5 से 32 तक

## सर्वेश्वर के साहित्य में आर्थिक विषमताएँ

विनोदकुमार

शोधछात्र, हिंदी विभाग

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र (हरियाणा)

आर्थिक विषमताएँ मनुष्य को मनुष्येतर कार्य करने पर बाध्य कर देती हैं। मनुष्य के पास इसके अतिरिक्त कोई विकल्प भी नहीं रहता। आर्थिक विषमताओं का मार्मिक अंकन सर्वेश्वर के साहित्य में प्रसंगानुकूल हुआ है। उन्होंने इस विषम परिस्थिति का यथातथ्य अंकन किया है। लोग कुछ पैसे कमाने हेतु अथवा अपना भरण-पोषण करने के लिए हर वो कार्य करते हैं, जिसके लिए मानवीयता कभी तैयार नहीं होती—

फटे-हाल, भूखे-प्यासे  
टकराते फिरते हैं,  
दूसरों की आज्ञा पर  
चंद पैसों के वास्ते  
शिलाएँ, चट्टानें, पर्वत काट-काटकर  
सड़कें बनाते हैं।<sup>1</sup>

आर्थिक विषमता से ग्रस्त व्यक्ति की इच्छाएँ, कामनाएँ और सपने हमेशा अधूरे रहते हैं। उन्हें पूरा करने के चाह में यद्यपि उसका जीवन समाप्त हो जाता है किन्तु उसकी कामनाएँ पूर्णता प्राप्त नहीं कर पाती—

हम सब  
आधे रास्तों की जिंदगी जी रहे हैं  
हम संपूर्ण आवेगों के साथ  
न तो घृणा कर पाते हैं  
न प्यार,  
न तो क्रोध कर पाते हैं  
अधूरे रास्तों में घूमते हैं।<sup>2</sup>

गरीबी के कारण ही व्यक्ति आत्महत्या जैसा घृणित कार्य करने के लिए मजबूर हो जाता है लेकिन उसकी जिंदगी उसे इतना ऊबा देती है कि वह नदी में कूद जाने पर भी नहीं मर पाता—

बहुत गरीब ज़िला है वह, बस्ती—

जहाँ मैंने इसे पहली बार देखा था।  
मेरे नाना इस नदी में कूद पड़े थे  
और निकाल लिए गये थे  
जिन्दगी से ऊबकर मर नहीं सके।<sup>3</sup>

गरीब व्यक्ति की मौत भी उसी गरीब अंदाज में होती है। उसके संस्कार के लिए  
आई लकड़ियाँ गीली होती हैं, ऐसे अभागे जीवन की अंतिम विडम्बना बहुत मार्मिक है—

मेरे पिता को हर शव-यात्रा में जाने का शौक था।  
अक्सर वह आधी-आधी रात लौटते  
और लकड़ियाँ गीली होने की शिकायत करते।  
माँ से कहते- 'कुछ लोग अभागे होते हैं।'<sup>4</sup>

शोषित वर्ग के प्रति सहानुभूति सर्वेश्वर ने दर्शाई है। वास्तव में वे शोषितों के समर्थक  
एवं शोषकों के घोर विरोधी हैं। शोषितों की दीन-हीन दशा का वर्णन करके सर्वेश्वर ने उनके  
प्रति अपनी संवेदना व्यक्त की है। वास्तव में सर्वेश्वर मध्यवर्गीय चेतना के कवि हैं। उन्होंने  
जिन्दगी को उलट-पलटकर देखा है और अनुभव किया है कि रोमांटिक भावावेग और कल्पना  
की विवृत्ति से काम चलने वाला नहीं है। जो अनुपयुक्त है उसे छोड़ना आधुनिकता का लक्षण  
है और कहना गैरजरूरी है कि सर्वेश्वर पूरी तरह आधुनिक हैं।<sup>5</sup> मध्यवर्गीय चेतना से अभिप्राय  
शोषितों के समर्थन से है। उनके दुख-दर्द का चित्रण करने से है।

सरसराती आती-जाती मोटरें-बसें,  
बजते घंटाघर,  
शोर मचाती सब्जी मंडियाँ,  
आवाज़ लगाते फेरीवाले,  
जलती-बुझती रंगीन बत्तियों में  
सड़कों के किनारे सजी शालीन दुकानों के साइन बोर्ड,  
समर्पित हैं तुम्हें  
ओ युद्धभूमि में लड़ने वाले सैनिकों।<sup>6</sup>

शोषक आपस में धोखा देते हैं तो वे शोषितों को कहाँ छोड़ने वाले हैं। सर्वेश्वर ने  
शोषकों पर व्यंग्य करके अपरोक्ष रूप से शोषितों का समर्थन किया है—

पर था सेठ सुजान किया कुछ  
उसने तुरंत विचार  
यहाँ बहुत मुश्किल है, दुर्जन  
मन का पाना पार  
मगर सेठ-जैसी चतुराई  
कहाँ चौधरी पाय  
घिरा हुआ संकट से वह था  
बैठा शीश झुकाया।<sup>7</sup>

आम व्यक्ति के लिए दुख ही सुख का काम करता है अर्थात् वह दुख में सुख ढूँढ़

लेता है। दुख को आत्मसात् करने वाला आम-आदमी अपनी व्यथा को इन शब्दों में व्यक्त करता है—

दुख है मेरा  
अग्नि की तरह समर्थ  
उसकी लपटों के साथ  
मैं अनंत में हो लेता हूँ।<sup>8</sup>

सर्वेश्वर ने जहाँ शोषितों के प्रति सहानुभूति जताई है, वहीं शोषकों के प्रति घृणा करके पूँजीवाद का घोर विरोध किया है। सत्य को पकड़े हुए इस कवि ने यथार्थवाद की सीमाओं का अतिक्रमण किया है। सर्वश्री अज्ञेय ने इस संदर्भ में लिखा है कि वह मूल गुण जो कवि को कवि बनाता है और जो कवि को रवि दृष्टि से अधिक गहरे पहुँचाता है, वह गुण इनमें है।<sup>9</sup> युद्ध के माध्यम से कवि अपरोक्ष रूप से पूँजीवाद का विरोध कर रहा है—

मैं घृणा करता हूँ उस युद्ध से  
जो बेड़ियाँ खोलने की जगह  
बेड़ियाँ पहनाता है,  
मैदानों को छोटा करता है  
रेगिस्तानों को बढ़ाता है।<sup>10</sup>

पूँजीवाद ने ग़रीबों को और अधिक ग़रीब बनाया है। वे पूँजीवाद को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। कवि ऐसे पूँजीवाद पर थूकता है, जो नंगे पैरों को जूते नहीं दे सकता—

साम्यवाद या पूँजीवाद  
मैं दोनों पर थूकता हूँ  
और पूछता हूँ  
जिसके पैर में तुम जूते नहीं दे सकते  
उसके हाथ में तुम्हें  
बंदूक देने का क्या अधिकार है? <sup>11</sup>

आज सभी लोग विशेषकर नेता और व्यापारी समाजवाद और समानता के नाम पर अपने स्वार्थ साधते हैं, उन्हें मानव से कोई सरोकार नहीं। कवि ऐसे बनावटी लोगों पर व्यंग्य करता हुआ कहता है—

जो भी आएगा  
समाजवाद और समानता के नाम की  
ईंटें पकाएगा  
मनमाने बेडौल साँचों में  
डालेगा कच्ची मिट्टी  
पर बुझा पड़ा रहेगा आवाँ  
नाम गुलबिया चुत्तर झावाँ।  
एक गाँव के ठाकुर का था।<sup>12</sup>

महँगाई से न केवल ग़रीब बल्कि मध्यवर्ग भी ग्रस्त है। महँगाई के कारण लोगों का

जीना मुश्किल हो गया है। महँगाई की स्थिति का वर्णन कवि ने इन शब्दों में किया है—  
 महँगाई है छाई राजा का लइहौ?  
 जितने में आवे  
 राजा इक साड़ी  
 उतने में आवे लुगाई,  
 लुगाई राजा का लइहौ? <sup>13</sup>

मध्यवर्ग हमेशा ऋण से ग्रस्त रहता है। वह इस ऋण को चुकाने के लिए और अधिक ऋण लेता जाता है। फिर उसकी सीमा इतनी अधिक बढ़ जाती है कि कर्ज लेना भी दूभर हो जाता है—

क्योंकि वह  
 हर एक ने यह समझा  
 कि कुछ क्षणों के लिए  
 उसने मुझे ख़रीद लिया है।  
 कैसी विडंबना है  
 कि वे जो गतिशील हैं  
 उनके विश्राम के क्षणों का भी मूल्य  
 मेरी जड़ आत्मा के नाम पर लगता है। <sup>14</sup>

गांधी की चप्पल और घड़ी के माध्यम से इस देश की ग़रीब जनता की ऋणग्रस्तता का चित्रण सर्वेश्वर ने बखूबी किया है—

तुम्हारी चप्पल?  
 ग़रीबों की चाँद गंजी  
 करने के काम आ रही है।  
 और घड़ी?  
 देश के नब्ज की तरह बंद है। <sup>15</sup>

### संदर्भ

1. संपा. वीरेन्द्र जैन, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली, खंड-1, पृ० 107
2. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली, खंड-1, पृ० 178
3. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली, खंड-2, पृ० 15
4. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली, खंड-2, पृ० 15
5. डॉ. हरिचरण शर्मा, सर्वेश्वर का काव्य : संवेदना और संप्रेषण, पृ० 27
6. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली, खंड-1, पृ० 202
7. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली, खंड-1, पृ० 388
8. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली, खंड-2, पृ० 237
9. रघुवंश, समसामयिकता और आधुनिक कविता, पृ० 31
10. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली, खंड-1, पृ० 284
11. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली, खंड-1, पृ० 285

12. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली, खंड-1, पृ० 319
13. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली, खंड-3, पृ० 109-10
14. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली, खंड-1, पृ० 146
15. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली, खंड-1, पृ० 327

□ पी०जी०टी० हिंदी, केन्द्रीय विद्यालय  
गोल मार्केट, नई दिल्ली 110055  
मो० 09968997047

## हमारे महत्त्वपूर्ण ग़ज़ल-संग्रह

मोम की बैसाखियाँ (ग़ज़ल-संग्रह)/निश्तर ख़ानकाही	50.00
ग़ज़ल मैंने छेड़ी (ग़ज़ल-संग्रह)/निश्तर ख़ानकाही	80.00
ग़ज़लों के शहर में (ग़ज़ल-संग्रह)/निश्तर ख़ानकाही	200.00
मेरे लहू की आग (ग़ज़ल-संग्रह)/निश्तर ख़ानकाही	150.00
सन्नाटे में गूँज (ग़ज़ल-संग्रह)/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	160.00
भीतर शोर बहुत है (ग़ज़ल-संग्रह)/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	160.00
मौसम बदल गया कितना (ग़ज़ल-संग्रह)/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	100.00
रोशनी बनकर जिओ (ग़ज़ल-संग्रह)/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	150.00
शिकायत न करो तुम (ग़ज़ल-संग्रह)/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	150.00
आदमी है कहाँ (ग़ज़ल-संग्रह)/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
हिंदी की सर्वश्रेष्ठ ग़ज़लें/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
सच सूली पर टँगने हैं (ग़ज़ल-संग्रह)/डॉ० अजय जनमेजय	80.00
तुम्हारे बाद (ग़ज़ल-संग्रह)/डॉ० अजय जनमेजय	80.00
आदमी के हक़ में (ग़ज़ल-संग्रह)/डॉ० रामगोपाल भारतीय	100.00
आसमान मेरा भी है (ग़ज़ल-संग्रह)/किशनस्वरूप	100.00
बूँद-बूँद सागर मैं (ग़ज़ल-संग्रह)/किशनस्वरूप	100.00
आँचल-आँचल खुशबू (ग़ज़ल-संग्रह)/कर्नल तिलकराज	100.00
ज़ख़्म खिलने को हैं (ग़ज़ल-संग्रह)/कर्नल तिलकराज	100.00
तिराहे पर (ग़ज़ल-संग्रह)/शचींद्र भटनागर	150.00
गुलमुहर की छाँव में (ग़ज़ल-संग्रह)/मनोज अबोध	100.00
फ़ासले मिट जाएँगे (ग़ज़ल-संग्रह)/डॉ० बलजीत सिंह	150.00
बहती नदी हो जाइए (ग़ज़ल-संग्रह)/ डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'	150.00
अंधियारों से लड़ना सीखें (ग़ज़ल-संग्रह)/ डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'	200.00

प्रकाशक  
हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर (उ०प्र०)



## सर्वेश्वर की काव्यभाषा

विनोदकुमार

शोधच्छात्र, हिंदी विभाग

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र (हरियाणा)

भाषा संप्रेषण का माध्यम एवं साहित्य का मूलाधार है। भाषा के बारे में अज्ञेय ने लिखा है कि 'लेखक के नाते और उससे भी अधिक कवि के नाते मैं महसूस करता हूँ कि यही समस्या की जड़ है। मेरी खोज भाषा की खोज नहीं है, केवल शब्दों की खोज है। भाषा का उपयोग मैं करता हूँ, निस्संदेह लेकिन कवि के नाते जो कहता हूँ, वह भाषा के द्वारा नहीं केवल शब्दों के द्वारा। मेरे लिए यह भेद गहरा महत्त्व रखता है।' <sup>1</sup> सर्वेश्वर की काव्यभाषा के संदर्भ में रमेश ऋषिकल्प ने लिखा है कि 'सर्वेश्वर ने एक ऐसी काव्यभाषा को जन्म दिया है, जो भावबोध को विकृत और कुंठित करनेवाली ताकतों का प्रतिकार करते हुए सृजनात्मक भाषा की तमाम संभावनाओं की पर्त दर पर्त खोल दे। इसीलिए कवि ने आम-आदमी की एक मुक्त भाषा का संस्कार लेते हुए उसे लोचदार और काव्यसंभव बनाया है। शब्दों के अर्थ की संगति बैठाने के लिए वाक्य और शब्दों के संबंधों की आधारशिला को नए सिरे से गठित किया है।' <sup>2</sup>

कवि अपनी भाषा से समूचे अर्थ को बाँध देने की क्षमता रखता है। सर्वेश्वर की काव्यभाषा में अनेकरूपता दिखाई देती है। सर्वेश्वर के साहित्य में विभिन्न शैलियों का प्रयोग हुआ है। उनके साहित्य में मुख्यतः आत्मकथात्मक, वर्णनात्मक, प्रश्नात्मक, तुलनात्मक, संवादात्मक, सूक्ति, भावात्मक, गेय आदि शैलियों का स्वाभाविक एवं प्रासंगिक प्रयोग हुआ है। जीवन के बारे में व्यक्ति के विचार उसके अंतर्मन की व्यथा को प्रस्तुत करते हैं। यह वास्तव में व्यक्ति का आत्मकथ्य है—

उसके तट पर पड़ गए?

क्यों यह सारा रंग उड़ गया?

क्यों सारा अंतर सूख गया?

क्यों एक मीठा गीत गाने का सपना

प्रभावहीन, निर्जीव, बेलौस हो गया?

क्यों यह नदी दृष्टि से ओझल हो गया? <sup>3</sup>

जब व्यक्ति जीवन से निराश हो जाए या हताश हो जाए तो उसकी आत्मनिर्वासन की स्थिति शुरू हो जाती है। इस स्थिति को साहित्यकार ने आत्मकथात्मक शैली में प्रस्तुत किया है—

मैं चलता हूँ  
लेकिन रास्ते पर मेरे चरण-चिह्न नहीं छूटते,  
मैं कोई लीक, कोई परंपरा नहीं छोड़ता,  
एक सूखा हुआ पत्ता हूँ  
हर क्षण धरती को स्पर्श करता  
फिर भी धरती के बंधन से छूटा  
उड़ता हुआ चला जा रहा हूँ।<sup>4</sup>  
अपनी निराशात्मक स्थिति को व्यक्ति आत्मकथात्मक शैली में कुछ इस  
तरह से वर्णित करता है—

मैं वर्षा और हवा की मार से  
चीथड़ा हुआ वह निस्तेज फीका झंडा हूँ  
जो अभी भी अपने पूर्वजों के मंदिर पर  
फहरा रहा है,  
ध्वजदंड से लिपटा हुआ है।<sup>5</sup>

आत्मकथात्मक शैली के साथ-साथ वर्णनात्मक शैली का प्रयोग भी सर्वेश्वरदयाल  
की काव्यभाषा की अन्यतम विशेषता है। इस शैली में साहित्यकार विस्तारपूर्वक अपनी बात  
कहता है। अचानक हुए युद्ध की स्थिति और उसके प्रभाव को लेखक ने वर्णनात्मक शैली के  
माध्यम से चित्रित किया है—

आधी रात—  
गहरी नींद में जैसे बिच्छू ने काट लिया,  
तोपें उठ गईं,  
साइरन चीखने लगे-बच्चों के,  
स्त्रियों की अर्थहीन दृष्टि खुली रह गई—  
ब्लैक आउट,  
सारी स्वप्नमयी नीरव शांति  
अचानक कोहराम में बदल गई।<sup>6</sup>

साहित्यकार भावुक होने के साथ ही साथ विचारशील भी होता है। अपने भावों एवं  
विचारों को भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति देते समय उसका मस्तिष्क विशेष क्रियाशील रहता  
है। अपने चिंतन-मनन एवं भावनाओं के साथ संबंध निर्वाह करते समय लेखक अनेक ऐसे  
कथन प्रस्तुत करते हैं, जिनको यदि सूक्ष्मता से देखा जाए तो वे सूक्ति होते हैं। सूक्ति में  
विश्वसनीयता रहती है। देश-कालातीत सत्य उनमें छिपा रहता है।<sup>7</sup> उपदेश-प्रधान साहित्य की  
सृष्टि में सूक्तियाँ विशेष सहायक होती हैं। ये मंत्रों का-सा कार्य करती हैं। सूक्तिपरक कथनों  
का समाज पालन करने के लिए सरलता से तैयार हो जाता है। ऐसी भाषा अमूल्य होती है और  
मानव-हृदय तथा कानून की सामर्थ्य को भी मात कर देती है। सर्वेश्वर के साहित्य में सूक्ति  
शैली का प्रयोग यदा-कदा ही हुआ है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

ईश्वर की न्यायशाला पर से लोगों का विश्वास तभी उठने लगता है, जब किसी सच्ची

और पवित्र आत्मा पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ता है। कोरो का जीवन भी अचानक विपत्तियों से घिर गया। कुछ ही दिनों बाद वह सख्त बीमार पड़ा और चार मास तक लगातार बीमार पड़ा। चित्रों के अतिरिक्त आमदनी का कोई ज़रिया न होने के कारण वह कर्जों से लद गया और भूखा मरने लगा। उसके इन बुरे दिनों में लोग नित्य उस चित्र को बेचने का प्रस्ताव भेजते, परंतु कोरो को यह स्वीकार न था।<sup>8</sup> प्रतीकों के कारण सर्वेश्वर की काव्यभाषा में अर्थवत्ता में वृद्धि हुई है। 'भाषा यदि संप्रेषण का सार्थक सेतु है तो सेतु मजबूत और अविकृत बनाए रखने में प्रतीकों का महत्त्व किसी भी हालत में कम नहीं है। सृजन और प्रेषण, सर्जक और पाठक के बीच गहरा रिश्ता बनाये रखने के लिए संप्रेषण के सभी माध्यमों का महत्त्व है न किसी का कम, न किसी का ज्यादा।'<sup>9</sup> प्रतीकों के महत्त्व को रेखांकित करते हुए डॉ॰ रामअवध द्विवेदी लिखते हैं कि साहित्य में हम जिन प्रतीकों की चर्चा करते हैं, वे अनुभव या अनुभूति की अवस्था-विशेष के शाब्दिक प्रतिरूप हैं। यथार्थ जीवन के साहचर्य से ही प्रतीकों का अर्थ और स्वरूप परिवर्तित होता रहता है। दैनिक जीवन की घटनाओं, स्थितियों और मानवीय संबंधों को प्रभावित करनेवाली स्थितियों को अभिव्यक्त करने के लिए सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने प्रतीकों का सुष्ठु प्रयोग किया है। इस तरह सर्वेश्वर के प्रतीक संप्रेषण का सशक्त माध्यम बनकर आए हैं और न कथ्य को मारकर या उस पर हावी होकर आये। ये संदर्भ से जुड़कर गहरी, सार्थक व्यंजना देनेवाले हैं। विश्वंभर मानव ने सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के प्रतीक-विधान के बारे में लिखा है कि 'इनके प्रतीकों के कई प्रकार हैं— कुछ अत्यधिक प्रचलित जैसे साँझ, दीप, चाँद, नाव, ताल आदि कुछ निजी जैसे खपचियाँ, पोस्टर, बाँस का पुल आदि के, कुछ गाँव के जीवन से संबंधित जैसे नट, चरवाहा आदि इनके अतिरिक्त कबीर की भाँति इन्होंने कुत्ता, खुरगोश, तोता, गौरैया, गिलहरी, मेढक आदि जीव-जंतुओं को भी प्रतीक के रूप में लिया है।'<sup>11</sup> डॉ॰ विजय शर्मा ने इसी संदर्भ में लिखा है कि 'सर्वेश्वर ने भूख, गरीबी, स्वार्थ, भ्रष्टाचार, व्यभिचार, विद्रोह, क्रांति, प्रेम, अकेलेपन की ऊब और दर्द के लिए जिन प्रतीक शब्दों को अपनाया है वे सब लोकजीवन और लोकपरिवेश से आए हैं, जिसमें मामूली आदमी जी रहा है या जीने के लिए अभिशप्त है। इसी कारण इनकी कविताओं की संप्रेषणीयता इस युग के अन्य कवियों से अधिक है।'<sup>12</sup> सर्वेश्वर के साहित्य में प्रयुक्त प्रतीकों के कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं—

यह काली-काली रात  
 बेबसी का आलम,  
 चले नहीं जाना बालम।  
 बेले की पहले ये कलियाँ खिल जाने दो,  
 कल का उत्तर पहले इनसे मिल जाने दो,  
 तुम क्या जानो यह किन प्रश्नों की गाँठ पड़ी?<sup>13</sup>

यहाँ कवि ने खुशियों को कलियों का प्रतीक बताया गया है। मनुष्य को पकी हुई बालियाँ और कटी हुई फ़सल का प्रतीक बताते हुए कवि कहता है कि—  
 तुम, जो धान के खेत के जल  
 में तनकर खड़ी हुई अपनी

मुद्रा से मेरी ओर इस तरह  
देख रही हो, जैसे कि मैं  
पकी हुई बालियाँ हूँ या कटी  
हुई फ़सल हूँ।<sup>14</sup>

#### संदर्भ

1. अज्ञेय, आलवाल, पृ० 10-11
2. रमेश ऋषिकल्प, नयी कविता और सर्वेश्वर, पृ० 57
3. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, कविताएँ-1, पृ० 76
4. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, कविताएँ-1, पृ० 242
5. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, कविताएँ-1, पृ० 243
6. संपा० वीरेन्द्र जैन, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, रचनावली, खंड-5, पृ० 22
7. डॉ० जयप्रकाशनारायण सिंह, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' चिंतन और साहित्य, पृ० 286
8. संपा० वीरेन्द्र जैन, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना रचनावली, खंड-4, पृ० 83
9. डॉ० हरिचरण वर्मा, सर्वेश्वर का काव्य : संवेदना और संप्रेषण, पृ० 171
10. डॉ० रामअवध द्विवेदी, साहित्य के पृष्ठ रूप, पृ० 272
11. विश्वंभर मानव, नयी कविता, नये कवि, पृ० 280
12. डॉ० विजय शर्मा, सर्वेश्वरदयाल का काव्य, पृ० 340
13. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, कविताएँ-1, पृ० 26-27
14. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, कविताएँ-1, पृ० 71

□ पी०जी०टी० हिंदी, केन्द्रीय विद्यालय  
गोल मार्केट, नई दिल्ली 110055  
मो० 09968997047

## सर्वेश्वर के काव्य में प्रकृति-चित्रण

निर्मलादेवी

प्रकृति अनादिकाल से मानव की सहचरी रही है। वर्तमान में भी है एवं अनंतकाल तक मानव एवं प्रकृति का अन्योन्याश्रय संबंध अविराम गति से चलता रहेगा। डॉ० किरणकुमारी गुप्त ने मानव एवं प्रकृति के 'चिर-सहचरी' का उल्लेख करते हुए लिखा है— 'आदिकाल के मानव ने जब चेतना उपलब्ध की, तब उसने स्वयं को हिमाच्छादित उत्तुंग पर्वत-श्रेणियों में परिवृत्त पाया। आगाध जल-राशि का अवलोकन किया। सूर्य, चंद्र और नक्षत्रों ने अपनी नियति-गति द्वारा उसे विस्मित कर दिया, श्याम जलधि-खंड और वसुधा की विभूति को देखकर वह चकित और आश्चर्यान्वित हो उठा।' <sup>1</sup>

'जयशंकर प्रसाद' ने भी मनु की प्रकृति का यही रूप दिखाते हुए लिखा है—

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर  
बैठ शिला की शीतल छाँह,  
एक पुरुष, भीगे नयनों से,  
देख रहा था प्रलय-प्रवाह।  
नीचे जल था, उपर हिम था,  
एक तरल था, एक सघन,  
एक तत्त्व की ही प्रधानता,  
कहो उसे जड़ या चेतना। <sup>2</sup>

सूर्य, मरुत, शून्य, धरित्री एवं निर्झणी आदि सभी पंचभूतों की पृथक् सत्ता है, जो समयानुसार उन्हें भिन्न-भिन्न रूप प्रदान करते रहते हैं।

भूमि, जल, अग्नि, शून्य एवं वायु प्रकृति के प्रमुख पाँच तत्त्व हैं। इन्हीं पाँच तत्त्वों से मानव-शरीर का एवं प्रकृति के विभिन्न उपादानों का निर्माण हुआ है। प्रकृति के विभिन्न अंग, सिंधु, जलद, गिरि, सूर्य एवं पवमान आदि हैं। इनके अलावा चंद्र, वृक्ष, सागर, वायु आदि विभिन्न अंगों का उल्लेख करते हुए डॉ० किरणकुमारी गुप्ता ने इंद्र की महती शक्ति का भी उल्लेख किया है। सिंधु, जलद, गिरि, सूर्य, पवमान आदि अंतर्निहित मांगलिक भावना का भी अनुभव किया है। जलद खंडों ने अमृतोपम जल की वर्षा कर उसके जीवनदाता वृक्षों में नवजीवन का संचार किया, सूर्य ने जीवन के वाँछित उपकरणों का पोषण किया, रत्नाकार ने असंख्य रत्नों का उपहार दिया। चंद्र ने अपनी चंद्रिका के प्रसार से घनांधकार का निराकरण किया। मरुत जीवन का साधन बन गया और धरित्री ने इन सभी का कृतित्व स्नेहपूर्वक वहन किया। वह प्रकृति के विभिन्न अंगों के मंगलमय कृत्यों द्वारा इतना अधिक प्रभावित हुआ कि

उसने इस सभी में देवत्व की प्रतिष्ठा कर ली और क्रमशः इनको इंद्र, सूर्य, वरुण, चंद्र, वायु और पृथ्वी आदि दिव्य नाम देकर गुणगान करने लगा—

हे मनुष्यो, जिसने चल पर्वतों को अचल करके कंपित पृथ्वी को स्थिर किया, जिसने आकाश को सीमित कर गगनमंडल को सँभाला, वही इंद्र है।<sup>3</sup> वैदिक संस्कृति से लेकर आज तक प्रकृति किसी-न-किसी रूप में साहित्य में विद्यमान है।

प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में रहकर ही मानव प्रेम, करुणा, सामजंस्य और स्वच्छंदता आदि मानवीय गुण ग्रहण करता है। प्रकृति किसी भी काव्य का प्राणतत्त्व होती है। प्रकृति-चित्रण करके कवि अपनी सहृदयता, प्रेमभावना और तादात्म्य का परिचय देता है। प्रकृति की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए उदयभानु सिंह लिखते हैं कि 'मनुष्य भी प्रकृतिलोक का ही एक प्राणी है। अन्य प्राणियों के समान वह भी प्रकृति के वरदान का पाथेय लेकर ही अपने-अपने गंतव्य की ओर अग्रसर हुआ। अंतर केवल इतना ही है कि उसने अपेक्षाकृत असाधारण प्रगति की, अपनी मनीषा से नाना प्रकार के आविष्कार किए। उनके प्रयोग से रहने-सहने एवं सोचने के ढंग बदल दिए। प्रकृति के साम्राज्य में रहते हुए भी उसने अपने लिए स्वतंत्र क्षेत्र निर्मित किए।'<sup>4</sup> प्रकृति के नाना उपादानों का चित्रण सर्वेश्वर के साहित्य में बखूबी हुआ है। प्रकृति को आत्मसात् करने का आहवान् करता हुआ कवि कहता है कि—

गंध भी तुम्हें  
नहीं कर सकी निर्बंध,  
हवा की झकोर  
नहीं सकी तुम्हें मरोर,  
तुमने तो अपनी भुजाएँ काट ली हैं  
मेरी कुछ और लंबी कर दो,  
फिर अपनी दीप्ति से  
उद्भासित यह संपूर्ण प्रकृति  
मेरे इस जलते अंक में भर दो।<sup>5</sup>

खिड़की से झाँकता है  
सूरज, रंगभरिया  
डाले लबादा रंगों सना।  
अभी-अभी आया है  
रंगकर सामने की नदी,  
पहाड़, जंगल, सड़कें, मकान  
जमीन और आसमान।<sup>6</sup>

प्रकृति का मानवीकरण करते हुए कवि कहता है कि—

लो,  
धूप को ऊन के गोले की तरह  
तुम्हारे ऊपर फेंकता हूँ

जैसे तुम अपनी हँसती आँखों की चमक  
मेरे ऊपर।<sup>7</sup>

कवि ने प्रकृति को मानवीय सरोकारों से जोड़कर उसका यथार्थवादी चित्रण करते हुए लिखा है कि भोर का मुख नारी की तरह लज्जा से जब लाल हो जाता है, तो वह भी अपने मुख को हथेलियों में छिपाकर भाग जाती है। अर्थात् सुबह का सूरज उदित हो जाता है—

लज्जा से लाल मुख  
हथेलियों में छिपा  
भोर झट भाग  
झोट हो गयी,  
माथे से छूट  
गिरी बेंदी  
बस पड़ी रही।<sup>8</sup>

बादलों के आने और पूरे आकाश पर छा जाने से सभी लोग खुश हो जाते हैं, क्योंकि इस कारण प्यासी धरती की प्यास बुझ जाती है, लेकिन बादलों के आने का चित्रण कवि ने अनूठे ढंग से मानवीय संदर्भों में ही किया है—

सर-सर सर-सर बहुत बयरिया  
उड़ि-उड़ि जात चुनरियाँ रे,  
खुलि-खुलि जात किवरिया ओटंगी  
घिरि-घिरि आत बदरिया रे।<sup>9</sup>

आकाश को कवि ने नीली टोपी लगाए तथा क्षितिज को चरवाहे के रूप में चित्रित करके प्रकृति का मानवीयकरण किया है—

आकाश की नीली टोपी लगाए  
क्षितिज का टीला चरवाहे-सा  
ढलते सूरज की आग तप रहा है।<sup>10</sup>

विराट आकाश की अनंतता का मानवीय रूप में चित्रण कवि ने कुछ इस ढंग से किया है—

कुछ और हो गया है स्पर्श  
हवा का गंध भार से  
गुज़र गया है विराट आकाश  
एक घर के द्वार से।<sup>11</sup>

कवि प्रकृति को ओढ़ लेना चाहता है। उसके साथ एकाकार कर लेना चाहता है। प्रकृति के साथ साहचर्य संबंध स्थापित करके उससे तादात्म्य बना लेना ही कवि की मानो एकमात्र इच्छा हो। बसंत का मौसम प्रत्येक प्राणी को उद्दीप्त करता है। सभी प्रकृति के इस प्राकृतिक रंगों में सरोबार हो जाना चाहते हैं, लेकिन यदि बसंत में फूल न खिले तो स्वाभाविक रूप से सभी के मन में उदासी छा जाती है—

रह-रहकर नाचता है एक सूर्य

दसों दिशाएँ थिरकती हैं  
 अक्षर उछल-उछलकर चूमते हैं  
 उँगलियों के पोरों को  
 और सत्तर समाप्त होते ही  
 दबी आवाज़ आती है  
 सुदूर झुरमुटों से- 'कहु'  
 क्या बसंत का  
 मौसम आया  
 फूल नहीं खिलते इस बार  
 सूनी डाल पे  
 तितली बैठी  
 गुमगुम पढ़ती है  
 अख़बार।<sup>12</sup>

प्रकृति मानव की सहचरी है और कवि आम आदमी से अधिक संवेदनशील होता है। इसलिए वह प्रकृति के विभिन्न दृश्यों को अपने साहित्य के माध्यम से प्रस्तुत करता है। सर्वेश्वर के काव्य में प्रकृति सहज रूप में अभिव्यक्त हुई हैं—

उद्यान में  
 उड़ रही हैं तितलियाँ—  
 बसंत के प्रेमपत्र।<sup>13</sup>

#### संदर्भ

1. डॉ० किरणकुमारी गुप्त, हिंदीकाव्य में प्रकृति-चित्रण, पृ० 1
2. जयशंकर प्रसाद, कामायनी चिंता सर्ग, पृ० 3
3. ऋग्वेद, 6/12/2
4. उदयभानु सिंह, तुलसी, पृ० 98
5. संपा. वीरेंद्र जैन, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, रचनावली, खंड-5, पृ० 40
6. संपा. वीरेंद्र जैन, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, रचनावली, खंड-5, पृ० 49
7. संपा. वीरेंद्र जैन, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, रचनावली, खंड-5, पृ० 55
8. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, कविताएँ-1, पृ० 62
9. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, कविताएँ-1, पृ० 27
10. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, कविताएँ-1, पृ० 206
11. संपा. वीरेंद्र जैन, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, रचनावली, खंड-5, पृ० 45
12. संपा. वीरेंद्र जैन, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, रचनावली, खंड-5, पृ० 98
13. संपा. वीरेंद्र जैन, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना रचनावली, खंड-2, पृ० 164

□ पत्नी डॉ० अशोककुमार  
 4471, डिफेंस काम्लोनी, जींद 126102 ( हरियाणा )  
 मो० 09034660295



## विविध सांस्कृतिक आयाम और सर्वेश्वर का गद्य साहित्य निर्मलादेवी

संस्कृति किसी भी राष्ट्र अथवा समाज-विशेष की गतिविधियों की परिचायक होती है। वही राष्ट्र आज के समय में संपूर्ण है जिसकी अपनी संस्कृति और सभ्यता जीवित है। वस्तुतः विशाल राष्ट्र के गरिमामय इतिहास की एकमात्र साक्षी यही संस्कृति होती है। कोई भी राष्ट्र अपने गौरवशाली अतीत को तभी प्रस्तुत कर सकता है अथवा व्याख्यायित कर सकता है, जब उसकी कोई निजी संस्कृति हो। यही संस्कृति जो देश विशेष की सामाजिक प्रथाओं एवं परंपराओं की द्योतक है। एक राष्ट्र की क्या मान्यताएँ हैं अथवा उस राष्ट्र में कौनसी प्रथाएँ प्रचलित हैं, यह सब संस्कृति के द्वारा ही जाना जा सकता है। डॉ० रामसजन पांडेय ने संस्कृति की महता के संदर्भ में लिखा है कि, 'संस्कृति से मनुष्य सज-सँवरकर, आनंदित होकर दूसरे को प्रसन्न-प्रमुद्रित कर उदात्त मानवीय पथ पर अग्रसर होता है।' संस्कृति एक वृहद वस्तु है, जिसे समझना ज़्यादा कठिन नहीं है।

किसी भी देश की सामाजिक, धार्मिक, मानसिक और आध्यात्मिक विभूति ही उस देश की संस्कृति कहलाती है। जैसे-जैसे युग बदलता है। उसी के अनुरूप उसके बाहरी रूप में भी परिवर्तन होता रहता है, किंतु उसके आंतरिक तत्त्व मूल रूप में ही विद्यमान रहते हैं। संस्कृति एक ऐसी जटिल संपूर्णता है जिसमें समाज की रीति-नीति, कला, ज्ञान-विज्ञान, विश्वास और अर्जित योग्यताओं के साथ निजी प्रवृत्ति एवं विचार भी रहते हैं। आज संस्कृति शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। अतः इस शब्द के विविध अर्थों के साथ इसकी परिभाषा पर विचार करके संस्कृति को व्याख्यायित करना आवश्यक है। संस्कृति की अवधारणा के माध्यम से उसके स्वरूप को भली-भाँति समझा जा सकता है।

'संस्कृति' मूलतः एक संप्रत्यय है, किसी गोचर वस्तु अथवा पदार्थ का सूचक नहीं। इसलिए संस्कृति के जितने भी अर्थ मिलते हैं, वे सभी 'संस्कृति संप्रत्यय' को विभिन्न दृष्टिकोणों से स्पष्ट करने का प्रयास-मात्र है। अंतिम रूप से संस्कृति को किसी परिभाषा में बांध पाना मुश्किल काम है। जिस प्रकार जीवन को अंतिम रूप से परिभाषित नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार संस्कृति को भी निश्चित शब्द-सीमा में रूपांकित नहीं किया जा सकता। कोई भी संस्कृति किसी कठोर ढाँचे में बंद प्रणाली नहीं है, जिसमें किसी समाज के सभी सदस्यों का व्यवहार एक-सा हो। यह केवल एक समाज के बनाने वाले सदस्यों के व्यवहार एवं अभ्यस्त विचार-रीतियों का योग है। मनुष्य ने देशकाल में विश्व के रंगमंच पर जो मन से

सोचा और कर्म से किया, वही मानव-संस्कृति है। मानव ने अपने लिए अनेक मार्गों का विधान बनाया, उसकी वह कर्म-सृष्टि भी मानवीय संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है। प्राणों की शक्ति का कर्ममय पराक्रम मानव की अपूर्व उपलब्धियों का क्षेत्र रहा है। उसमें जो धर्म और नीति की उदात्त प्रेरणा निहित है, वह संस्कृति का अंग है। इस प्रकार दर्शन, धर्म, साहित्य, जीवन और कला के क्षेत्र में मनुष्य की समस्त कृतियाँ और रचनाएँ उसकी संस्कृति हैं।<sup>2</sup>

‘संस्कृति’ शब्द अर्थ की दृष्टि से विकसनशील रहा है, क्योंकि जीवन के नवीन सौंदर्यबोध, नैतिक मापदंड, यथार्थ के नवीन संदर्भ और परिवर्तित जीवनमूल्यों के कारण यह शब्द सुनिश्चित परिभाषा के जाल में नहीं बाँधा अथवा बुना जा सकता। लगभग सभी विचारक परिष्कार की प्रवृत्ति, जीवन-पद्धति की परंपरा, आचार-व्यवहार के तत्त्व और उसकी गतिशीलता पर एकमत हैं। संस्कृति उस सुंदर सरिता के समान है, जो अपने स्वच्छंद भाव से निरंतर प्रवाहित होती रहती है। इस सरिता के भाव अथवा बहाव को रोक पाना असंभव है। यदि संस्कृति को शब्दों के जाल में बाँध दिया जाए तो संस्कृति की मूल प्रवाहशीलता का निर्देशन नहीं हो सकता। आत्मा की तरह ही संस्कृति का स्वरूप शब्दों द्वारा अभिव्यक्त करना कठिन ही नहीं, असंभव भी है। संस्कृति वस्तुतः मनुष्य की पार्श्विक वृत्तियों को परिष्कृत करके उसमें मानवता को प्रतिष्ठापित करती है।

स्पष्ट है कि किसी देश की संस्कृति अपने को धर्म, दार्शनिक चिंतन, कविता, संगीत-कला, शासन-प्रबंध आदि के रूप में अभिव्यक्त करती है। मनुष्य जिस रूप में जिस प्रकार से सृजन करता है और अपने सामूहिक जीवन को हितकर एवं सुखी बनाने के लिए जिन राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक संस्थाओं व प्रथाओं को विकसित करता है, उन सबका समावेश हम संस्कृति में करते हैं।<sup>3</sup> संस्कृति जीवन के वृक्ष का संवर्धन करनेवाला रस है।<sup>4</sup>

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के गद्य साहित्य में संस्कृति के विविध आयाम दृष्टिगोचर होते हैं। उन्होंने अपने गद्य साहित्य के माध्यम से भारतीय संस्कृति की विशद् व्याख्या की है। भारत मेलों का देश है। यहाँ धर्म, संप्रदाय, साहित्य के मेले लगते हैं। पुस्तक मेले का चित्रण करके लेखक ने सांस्कृतिक आयाम का परिचय दिया है—

‘चार अप्रैल। शाम का समय। आँधी और पानी। मेले के सामने लगे विविध देशों के झंडे भीगकर लिपट गए हैं, इधर-उधर कीचड़ फिसलावा। उखड़ते मंडप, खाली होती अल्मारियाँ। चीड़ और दफ़ती के बक्सों में लौटती किताबें। मेला उठ रहा है। एक करुण धुन बज रही है। भीड़ फलों के रस की दुकान पर सिमटी हुई। अट्ठारह दिन की लड़ाई ख़त्म हुई—अज्ञान से बुक ट्रस्ट की नक़ली लड़ाई।<sup>5</sup>

यद्यपि लेखक ने ऐसे पुस्तक मेलों पर प्रश्नचिह्न भी लगाए हैं, क्योंकि जिस देश में 70 प्रतिशत लोग अनपढ़ हों, वहाँ अंतर्राष्ट्रीय पुस्तक मेले आयोजित करना कितना सही है—

‘ऐसे ही मेलों की एक कड़ी पुस्तक मेला। फ्रांकफुर्ट, ब्रुसलेन्स और कोपेनहेगेन की नकल। और यह उस देश में जहाँ की 70 प्रतिशत जनता अनपढ़ है, किताबें तो दूर, अक्षर तक नहीं पहचाने जाते। उसका आयोजन किया नेशनल बुक ट्रस्ट ने। यदि उसे इस देश के मंच को पुस्तकीय बनाना है, केवल राजधानी की तमाशबीन जनता के लिए पिकनिक का सरोसामान इकट्ठा करना नहीं है।’<sup>6</sup>

इसी प्रकार पतंगबाजी के लिए छात्र-छात्राओं को आमंत्रित करना अथवा बसंत पंचमी मनाना हमारी सांस्कृतिक एकता का परिचय देता है—

‘आइए! विश्वविद्यालय में पतंग उड़ाए! लेकिन ठीक समय पर आना होगा। मंझा, डोर, गुड्डी अपनी लानी होगी। जीत गए तो इनाम मिलेगा और अगर एक बार गुड्डी कट गई तो दुबारा मौका नहीं मिलेगा। छात्र अलग उड़ाएँ, छात्राएँ अलगा।’ हो सकता है कुछ दिनों ऐसा एलान हर विश्वविद्यालय में हो। अभी इस आशय का एलान काशी विश्वविद्यालय ने किया था—14 जनवरी को, मकर संक्रांति के अवसर पर। इस पतंगबाजी प्रतियोगिता के नियोजक और निर्देशक विश्वविद्यालय के छात्र अधिष्ठाता थे।<sup>7</sup>

हरियाली तीज भारतीय संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान रखती है, लेकिन अब ऐसे त्योहार नई पीढ़ी नहीं जानती, लेखक इस सांस्कृतिक शून्यता पर चिंतित है—

उनको पता नहीं, सो उनके बच्चों बेचारों को क्या पता होगा? वे तो कभी अपनी अम्मा जी की दुहाई भी नहीं दे सकेंगे। यह सांस्कृतिक शून्यता क्यों? और इसका जिम्मेदार कौन है? क्या मेहँदी, झूला, कजरी, सावन यह सब भूल जाना आधुनिक होने के लिए जरूरी है या लिपस्टिक।<sup>8</sup>

बसंत पंचमी के त्योहार पर पीले वस्त्र पहनने, पीले चावल खाने का रिवाज है। आज लोग इस संस्कृति को भूलते जा रहे हैं। लेखक ने बसंत पंचमी का चित्रण इसीलिए किया है, ताकि लोग संस्कृति को पहचानकर उससे जुड़े रहें—

‘बसंत पंचमी को पीले रूमाल रंगकर परिवार और इष्ट मित्रों को देने, बच्चे को कम-से-कम पीला रिबन बाँध देने और खुद अपने वस्त्रों में कहीं पीले का उभार लेने का संस्कार एकाध घर में मिल जाएगा। एक कलाकार की बिटिया बसंत पंचमी के दिन पीली फ्राक पहनकर स्कूल गयी। माँ के संस्कार ने पहना दी थी। लौटकर बोली—‘मम्मी, मुझे छोड़ किसी ने भी पीली फ्राक नहीं पहनी थी। मैंने कहा पहनते हैं तो लड़कियाँ बोलीं, ‘क्यों पहनते हैं?’ हमने कहा, ‘बसंत पंचमी है न’, तो बोलीं ‘हम लोग बसंत पंचमी नहीं मानते।’ क्यों माँ, हम क्यों मानते हैं, वे लोग क्यों नहीं मानते थे।’<sup>9</sup>

जन्माष्टमी के त्योहार का वर्णन भी लेखक ने किया है। आज से चालीस वर्ष पहले यह त्योहार बड़ी धूमधाम से मनाया जाता था—‘जन्माष्टमी की रात थी। आरती की आवाज़ भारतीय कला केंद्र के छात्रावास की ऊपरी मंज़िल से आ रही थी। उससे पता चल गया कि बारह बज गए हैं और यहाँ कृष्णजन्म हो रहा है। बचपन का संस्कार जाग उठा। चालीस साल पहले के उस छोटे शहर की सड़कें पैरों के नीचे आ गयीं, जहाँ मंदिर ही नहीं, हर चौथे घर में झँकी सजी होती थी। बारह बजते ही सारा शहर झमझमा उठता था और ये नंगे पैर प्रसाद लेने एक झँकी से दूसरी झँकी तक दौड़ते रहते थे।’<sup>10</sup>

दीवाली खुशी का त्योहार है। लोग मिलजुलकर यह त्योहार मनाते हैं, लेकिन लूटपाट, छीनाझपटी के इस दौर में इस त्योहार को मनाने के मायने बदल गए हैं—‘क्यों दीवाली मनाएँ? दीवाली खुशी का त्योहार है। लेकिन कोई खुशी, किसी भी क्षेत्र में इस समाज में बाकी रह गई है? व्यवस्था ने किस खुशी मनाने के लायक आपको छोड़ा है? है कोई खुशी? दीपावली, यदि पौराणिक कथा मान भी लें, राम की विजय के बाद उनके स्वागत में खुशियों का त्योहार

था, आज हम किस विजय का स्वागत करें? महँगाई की विजय का? भ्रष्टाचार, चोर बाजारी, लूटपाट, छीनाझपटी की विजय का?’ 11

इस प्रकार सर्वेश्वर के गद्य साहित्य में विभिन्न सांस्कृतिक आयामों का चित्रण हुआ है। सांस्कृतिक आयामों का चित्रण करके सर्वेश्वर ने भारतीय संस्कृति की जीवंतता को बनाए रखा है।

### संदर्भ

1. डॉ० रामसजन पाण्डेय, निर्गुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ० 11
2. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, संस्कृति और साहित्य, पृ० 3
3. सत्यकेतु विद्यालंकार, भारतीय संस्कृति का विकास, पृ० 34
4. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, संस्कृति और साहित्य, पृ० 6
5. सम्पा. वीरेन्द्र जैन, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली-6, पृ० 97
6. सम्पा. वीरेन्द्र जैन, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली-6, पृ० 101
7. सम्पा. वीरेन्द्र जैन, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली-6, पृ० 220
8. सम्पा. वीरेन्द्र जैन, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली-6, पृ० 258
9. सम्पा. वीरेन्द्र जैन, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली-6, पृ० 282
10. सम्पा. वीरेन्द्र जैन, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली-6, पृ० 318
11. सम्पा. वीरेन्द्र जैन, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली-6, पृ० 223

□ पत्नी डॉ० अशोककुमार

4471, डिफेंस कॉम्प्लोनी, जी० 126102 ( हरियाणा )

मो० 09034660295

### रमेश पोखरियाल 'निशंक' की पाँच काव्यकृतियाँ

मातृभूमि के लिए/रमेश पोखरियाल 'निशंक'	200.00
संघर्ष जारी है/रमेश पोखरियाल 'निशंक'	170.00
देश हम जलने न देंगे/रमेश पोखरियाल 'निशंक'	150.00
जीवन-पथ में/रमेश पोखरियाल 'निशंक'	150.00
तुम भी मेरे साथ चलो/रमेश पोखरियाल 'निशंक'	150.00

प्रकाशक

हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर ( उ०प्र० )

## महानगरीय वर्ग-चेतना

सुदेशकुमारी

जनसाधारण की भाषा में बड़ा नगर, वृहद् या वृहत्तर नगर महानगर का द्योतक है, जो अँग्रेजी के मेट्रोपोलियन शब्द का पर्यायवाची है। यह शब्द ग्रीक भाषा के 'मेट्र' और 'पोलित' शब्दों के सम्मिश्रण पर आधारित है। जिसका अभिप्राय मातृनगर है। 'मातृनगर' शब्द प्राचीनकाल में स्त्री-जाति के विशेषाधिकार या मातृसत्तात्मक प्रणाली का अभिव्यंजक है, जो समयगत या संदर्भ के अनुसार अपना मूल अर्थ खोकर मातृप्रेम या उच्च राष्ट्रप्रेम में परिवर्तित हो गया है।

इसी प्रकार चेतना शब्द संस्कृत भाषा के चि+युच+अन् टाप के मेल से बना है। चेतना शब्द का अर्थ 'संज्ञा में होना, बुद्धि मनोवृत्ति, सावधान होना, विचारना, समझना तथा ध्यान देना आदि मिलते हैं।' चेतना को परिभाषित करना बहुत कठिन कार्य है, फिर भी अनेक विद्वानों ने इसे परिभाषित करने का प्रयास किया है। चेतना पर सामाजिक परिवेश का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है, क्योंकि मनुष्य की अधिकतर संवेदनाएँ सामाजिक होती हैं। चेतना भी कई प्रकार की होती है। जैसे- राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक चेतना आदि। राजनीतिक चेतना के अंतर्गत देश के शासन कार्यों के प्रति जागरूकता का पता चलता है। आर्थिक चेतना से हमें अपने देश की आर्थिक अवस्था के बारे में पता चलता है। व्यक्ति को अपने देश की आर्थिक स्थिति का पता होना चाहिए, क्योंकि देश की आर्थिक स्थिति पर ही उसका अस्तित्व टिका होता है। धार्मिक चेतना के अंतर्गत धर्म, रीति-रिवाज आते हैं। मनुष्य को समाज में रहते हुए अनेक रीति-रिवाजों का पालन करना पड़ता है। चेतना प्राणधारियों में पाया जानेवाला वह तत्त्व है, जो उन्हें अन्य निर्जीव वस्तुओं से भिन्न बनाता है। चेतना वह शक्ति है, जिसके द्वारा मनुष्य अच्छे-बुरे की पहचान कर सकता है तथा सोच-समझकर किसी बात की ओर ध्यान दे सकता है। चेतना द्वारा हम अपने आस-पास के समाज को सुधार सकते हैं। चेतित हुआ मनुष्य किसी की झूठी बातों में नहीं आ सकता और अपने फ़ैसले स्वयं कर सकता है।

'चेतना' शब्द की व्युत्पत्ति से भी इसी आशय की पुष्टि होती है। 'चेतते तथा इति चेतना' अर्थात् जिस वृत्ति से व्यक्ति चेतित होता है, वही चेतना है। मनुष्य कोई भी कार्य तब तक नहीं कर सकता, जब तक उसमें चेतना न हो, क्योंकि चेतना द्वारा वह जान सकता है कि उसके लिए कौनसी वस्तु हानिकारक है और कौनसी लाभदायक? सर विलियम हेमिल्टन ने चेतना को अपरिभाष्य बताते हुए कहा है कि 'चेतना की परिभाषा नहीं की जा सकती, हम केवल अनुभव कर सकते हैं कि चेतना क्या है, लेकिन हम चेतना को जो समझते हैं, जैसा

अनुभव करते हैं, बिना किसी उलझन के दूसरों को नहीं बता सकते।<sup>2</sup>

मानक हिंदी कोश में भी 'चेतना' शब्द के कई अर्थ मिलते हैं जैसे- मन की वह वृत्ति या शक्ति, जिससे जीव या प्राणी को आंतरिक और बाह्य घटनाओं या बातों का अनुभव होता है। इस प्रकार 'चेतना' शब्द के समानार्थक शब्दों में चेत में आना, होश में आना, स्मृति, सावधान, समझना, संज्ञा में आना आदि शब्दों का प्रयोग होता है।<sup>3</sup>

विलियम जेम्स के अनुसार 'चेतना एक इकाई अथवा वस्तु नहीं है, बल्कि एक प्रवाह है, संबंधों की एक प्रणाली है, यह एक ऐसा बिंदु है, जिस पर विचारों का प्रवाह एवं उनका अंतःसंबंध घटनाओं के प्रवाह, वस्तुओं के प्रवाह तथा वस्तुओं के अंतःसंबंध से मिलकर दीप्त हो उठता है।<sup>4</sup>

सर मोनियर विलियम्स के अनुसार 'चेतना शब्द का अँग्रेजी अर्थ है- कान्शसनेस, अंडरस्टैंडिंग, सेन्स इंटेलिजेंस।<sup>5</sup> हिंदी साहित्य कोश में चेतना को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि चेतन मानस की प्रमुख विशेषता चेतना है अर्थात् विषयों एवं व्यवहारों का ज्ञान। चेतना की प्रमुख विशेषता है निरंतर परिवर्तनशीलता या प्रवाह।<sup>6</sup> मानक अँग्रेजी हिंदी कोश में चेतना 'कान्शियसनेस' का अर्थ संज्ञा, चैतन्य, होश, संज्ञा आदि है।<sup>7</sup> वृहत कथाकोश में 'चेतना' शब्द का अर्थ होश में आना सोचना, विवेक से काम लेना, सावधान चैतन्य आदि है।<sup>8</sup>

चेतना इच्छानुकूल रूप धारण करने वाली है, तभी तो वह इच्छापूर्ति के लिए सक्रिय रहती है और इच्छा स्वयं अभावग्रस्त होती है अनुभव प्राप्त करने की यह प्रक्रिया विचार और मनन के माध्यम से होती है। डॉ० लालचंद गुप्त 'मंगल' के अनुसार 'दार्शनिक बाह्य जगत को समग्र रूप में ग्रहण करके अपनी बुद्धि के तर्कों के आधार पर उसके सामान्य रूप की व्याख्या करता है और बौद्धिक सत्य की खोज करके मनुष्य जीवन को गति, दिशा, सार्थकता और महता प्रदान करता है।<sup>9</sup>

हिंदी के समीक्षा-क्षेत्र में चेतना शब्द का प्रयोग अँग्रेजी के 'कान्शियसनेस' शब्द के अर्थ में ही प्रायः प्रयोग किया जाता है। अमरकोश में इसे बुद्धि<sup>10</sup>, भगवद्गीता में ज्ञानात्मिका मनोवृत्ति<sup>11</sup> और दर्शन में इसको स्वयंप्रकाश तत्त्व कहा गया है।<sup>12</sup>

वस्तुतः चेतना का संबंध मानव मन से है। यह एक संज्ञानात्मक वृत्ति है। यह मनुष्य को उसके बाह्य परिवेश का स्वरूप ज्ञान कराती है। यह स्थिर नहीं होती, परिवेश की परिवर्तनशीलता के साथ-साथ इसमें गतिशीलता होती है। यह प्राणी को उसके परिवेश के प्रति जागरूक बनाती है। इसमें अच्छे-बुरे का भेद करने का विवेक होता है, जिससे यह बुराइयों से सावधान कराती है। चेतना स्मृतिमूलक भी होती है और प्रत्यक्षमूलक भी होती है। इस प्रकार चेतना मन की वह शक्ति होती है, जो हमें मनोजगत के सूक्ष्म भावों का विचारों के साथ-साथ बाह्यजगत के पदार्थों, विषयों और व्यवहारों का ज्ञान कराती है। अतीत को स्मरण कराती है। चेतना प्राणी में रहनेवाला वह तत्त्व है, जो उसे निर्जीव जड़ पदार्थों से भिन्नता प्रदान करता है 'चित् संज्ञा ने धातु' में युच, अन् टाप प्रत्ययों के संयोग से चेतना शब्द की निष्पत्ति होती है जिसका अभिप्राय है मन की वह वृत्ति या शक्ति, जिससे जीव या प्राणी को आंतरिक अनुभूतियों, भावों, विचारों तथा बाह्य घटनाओं, तत्त्वों या बातों का अनुभव या भाव होता है।<sup>13</sup>

चेतना शब्द चेतन से बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ बुद्धि, सोच, ज्ञान अथवा समझ

आदि होता है। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो चेतना शब्द की व्युत्पत्ति चेत से हुई है। चेत एक शब्द संस्कृत के 'चेतस' का हिंदी पर्याय है। चेत का अर्थ भी ज्ञान अथवा संज्ञा होता है। अमरकोष में इसको बुद्धि, भगवद्गीता में ज्ञानात्मिका मनोवृत्ति तथा दर्शन में इसे स्वयंप्रकाश तत्त्व कहा गया है। विज्ञान के अनुसार चेतना वह अनुभूति है, जो मस्तिष्क में पहुँचनेवाले अभिगामी आवेगों से उत्पन्न होती है। मनोविज्ञान की दृष्टि से चेतना मानव में उपस्थित वह तत्त्व है, जिसके कारण उसे सभी प्रकार की अनुभूति होती है। 'चेतना में संवेदना, विचार भावना तथा इच्छा सम्मिलित है। उसके अनुसार चेतना का अनुभव दो प्रकार का होता है— संवेदना और भावना। संवेदना बाह्य जगत में आती है और भावनाएँ आंतरिक होती हैं।' <sup>14</sup>

आज पितृसत्तात्मक परिवेश में पुरुष की सर्वोच्चता, पदलोलुपता और महत्त्वाकांक्षा ने इसके पूर्व प्रचलित अर्थ का नए रूप में निलयीकरण कर दिया है। कालांतर में उच्च राष्ट्रीयता के विकास के पश्चात् इन नगरों की विशेषता का प्रसार हुआ। इस समय दस लाख से अधिक जनसंख्या वाले नगर महानगर के अंतर्गत आते हैं। आधुनिक महानगरों के लिए उच्च राष्ट्रीयता के तत्त्वों का होना इतना आवश्यक नहीं है, जितना कि बहुउद्देश्य कार्य और अंतर्राष्ट्रीय महत्व का होना। सामान्यतः महानगर की स्थापना वहीं होती है, जहाँ अनेक प्रकार के विशाल व्यावसायिक केंद्र होते हैं, जिनका संबंध मात्र देश की भौगोलिक सीमाओं तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि विश्व के अनेक देशों से इसका संबंध होता है। ये वे क्षेत्र हैं, जहाँ जनसंख्या का घनत्व अत्यधिक होता है। नगर का निरंतर विस्तार होता जाता है। छोटे-छोटे स्थानों पर बहुखंडीय कार्यालय होते हैं। यातायात और संदेशवाहन की अत्यधिक सुविधाएँ होती हैं। इस तरह महानगर अनेक राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय कार्यों का केंद्रस्थल होता है। भारत में इस दृष्टि से अनेक महानगर हैं—जैसे चेन्नई, मुंबई, कोलकाता, दिल्ली आदि। महानगर शब्द का अब सामान्यतः प्रयोग एक महानगरीय क्षेत्र में केंद्रीय नगर को निर्दिष्ट करने हेतु किया जाता है। डॉ॰ नीलम गोयल का मानना है कि 'शहरीकरण तथा औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप महानगर अस्तित्व में आए हैं। आर्थिक संबंधों से द्रुतगति से परिवर्तन लेने के कारण उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम शतक तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में शहरीकरण की प्रक्रिया आरंभ हुई। विशेष रूप से चमत्कारी तकनीकी प्रगति में औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया वैज्ञानिक उपलब्धियों का परिणाम है, क्योंकि विज्ञान ने यंत्रों के विकास में अभूतपूर्व क्रांति पैदा की। बड़ी-बड़ी मशीनों का आविष्कार करके बड़े पैमाने पर उत्पादन के साधनों को विकसित किया और तकनीकी ढंग से वृहत्तर स्तर पर माल उत्पादित करने की सहायता दी। इस प्रकार यंत्रिकीकरण की प्रक्रिया से औद्योगिकीकरण संभव हुआ। औद्योगिकीकरण का सीधा संबंध उत्पादन से है। महानगर जहाँ विस्तृत क्षेत्रफल, बहुत जनसंख्या, यातायात के बहुमुखी साधनों, परमाणु शक्तियों, ईंधन, विद्युत तेल, जल के केंद्रों से प्रयुक्त होने के कारण भौगोलिक विशिष्टता लिए हुए हैं, वहाँ इन महानगरों में पनपने वाली सभ्यता और संस्कृति भी विशिष्ट आयाम लिए हुए है। जैसे ये महानगर सोचते हैं वैसे ही सारा देश और समाज सोचने लगता है, क्योंकि ये महानगर धीरे-धीरे देश की प्रगति, समृद्धि और सभ्यता के द्योतक बन जाते हैं। इन महानगरों में जिस विशिष्ट सभ्यता का जन्म हुआ, वह पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति की मानसिकता का प्रतीक है। 'हमारा धर्म, हमारी कला, हमारा दर्शन और हमारे नैतिक मूल्य पश्चिमी जीवन-दृष्टि से प्रभावित हुए। परिणामस्वरूप

परंपरागत नैतिक मूल्यों और धार्मिक मान्यताओं में अभूतपूर्व बदलाव आया तथा हमारी मध्यवर्गीय मानसिकता का आधुनिकीकरण हुआ। चूँकि शहरीकरण की प्रक्रिया के साथ पश्चिमीकरण तथा आधुनिकीकरण की प्रक्रिया भी जुड़ी है। इसलिए इन महानगरों में एक विशिष्ट आधुनिक मानसिकता का प्रचार एवं प्रसार बड़ी द्रुतगति से हुआ।'<sup>15</sup>

महानगर का व्यक्ति अकेलेपन और परायेपन को भोगने पर विवश है। महानगर में अकेलेपन और परायेपन के दो रूप देखने को मिलते हैं। पहला तो अपने परिवेश से कट जाने और अपने परिवेश के छूटने का दर्द है और दूसरा महानगर की भागमभाग और व्यस्त ज़िंदगी में एक-दूसरे से बात न कर सकने का एक-दूसरे से मिल न सकने का और एक ही जगह रहते हुए अकेलेपन और परायेपन को भोगने का दर्द है। परिवार को एक प्राणिशास्त्री इकाई के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जो कि पति-पत्नी और बच्चों द्वारा निर्मित होता है। महानगरों में परिवार अपने आपमें एक बहुत छोटा और एकाकी, लेकिन स्थायी संगठन होता है। इसमें पति-पत्नी और बच्चे ही मूलतः निवास करते हैं। आधुनिक नगर और महानगर के नगरीय परिवारों में बड़ी तेजी से परिवर्तन हुए और इन परिवर्तनों के कारण नगर के परिवार में अनेक नई प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। परिवार के अनेक कार्य अन्य संस्थाओं और समितियों द्वारा किए जाने लगे हैं। बच्चों के पालन-पोषण का कार्य शिशुशालाओं द्वारा होता है। छोटी-छोटी बात पर झगड़े हो जाते हैं, जो कभी-कभी विकराल रूप धारण कर लेते हैं और परिवार के विघटन का कारण बनते हैं। 'महानगरों में यौन-संबंधों को स्थापित करने में जो उन्मुक्तता व्यक्तियों को प्राप्त हो जाती है, उससे पति-पत्नी के संबंधों में कड़वाहट उत्पन्न हुई है। विवाह के पूर्व और पश्चात् यौन-संबंधों की संख्या में लगातार वृद्धि हो रही है। महानगरों में काल गर्ल्स (वेश्याओं) का धंधा पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। यौन नैतिकता में परिवर्तन से पारिवारिक तनाव में वृद्धि हुई है।'<sup>16</sup>

महानगरीय बोध ने विवाह की आयु में परिवर्तन कर दिया है। यहाँ लड़के-लड़कियाँ उच्च शिक्षा ग्रहण करते हैं और दोनों ही विवाह से पूर्व स्वावलंबी बनना चाहते हैं। इसलिए विवाह की आयु बढ़ गई है। यह लड़कियों के लिए 25-26 वर्ष और लड़कों की 28-30 वर्ष तक हो गई है। सहशिक्षा के कारण स्त्री-पुरुष एक-दूसरे के संपर्क में आते हैं और यह संपर्क पहले प्रेम और फिर विवाह में बदल जाता है। प्रेम-विवाह जाति, धर्म, प्रांत आदि का कोई बंधन नहीं रहता। कई बार तो अंतर्जातीय और अंतर्देशीय विवाह भी हो जाते हैं। महानगर में प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्ग के प्रति अधिक जागरूक होता है। उसे अपनी प्रतिष्ठा, पद और कर्तव्य का भली-भाँति ज्ञान है। उसके वर्ग का संबंध एवं संगठन रहता है। उसी के माध्यम से वह अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करता है। लेकिन नगर के वर्ग अथवा संगठन की ये विशिष्टता है कि व्यक्ति सभी प्रकार से स्वतंत्र होता है। उसे कोई भी संगठन बाँधकर या क़ैद करके नहीं रख सकता। व्यक्ति अपनी योग्यता, क्षमता अथवा शक्ति के आधार पर परिश्रम करते हुए निम्नवर्ग से उच्चवर्ग में प्रवेश कर सकता है। महानगरीय समाज की वर्गीय व्यवस्था औद्योगिक क्रांति के साथ तीव्र होती गई। विशेषीकरण और नगरीकरण ने एक वर्ग के व्यक्तियों में नई चेतना को जन्म दिया। महानगरीय भौतिकवाद सभ्यता और संस्कृति ने व्यक्ति को अपने परिश्रम, योग्यता, क्षमता और शांति से निम्नवर्ग से उच्चवर्ग में प्रवेश करने के लिए प्रोत्साहित



किया। व्यक्ति को अपनी आर्थिक सामाजिक स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए प्रोत्साहित किया। यही कारण है कि आज महानगरीय निम्नवर्ग का व्यक्ति भी अपने परिश्रम से आगे बढ़ना चाहता है। आज उसके घर में रेडियो, ट्रांजिस्टर, टेप रिकार्डर, फ़र्नीचर, कंप्यूटर आदि देखे जा सकते हैं। ये सभी महानगरीय वर्गचेतना के प्रतिफल हैं।

### संदर्भ

1. रामचंद्र वर्मा, मानक हिंदी कोश, दूसरा खंड, पृ० 274
2. डी०डी० रयूनेस डिक्सनरी आफ़ फ़िलासफ़ी, पृ० 64
3. संपा० रामचंद्र वर्मा, मानक हिंदी कोश, पृ० 274
4. बिल डयूरान, दि स्टोरी आफ़ फ़िलासफ़ी, पृ० 511
5. संपा० सर मोनियर विलियम्स, संस्कृत इंगलिश डिक्सनरी, पृ० 397
6. संपा० डॉ० धीरेंद्र वर्मा, हिंदी साहित्य कोश (प्रथम संस्करण), पृ० 289
7. संपा० फ़ादर कामिल बुलके, अँग्रेजी-हिंदी कोश, पृ० 130
8. संपा० कालिकाप्रसाद, राजवल्लभ सहाय, मुकंदीलाल श्रीवास्तव, बृहत हिंदी कोश, पृ० 449
9. लालचंद गुप्त 'मंगल', आस्तित्ववाद : दार्शनिक तथा साहित्यिक भूमिका, पृ० 89
10. अमरकोश खंड-1, पृ० 51
11. भगवद्गीता, खंड 13, पृ० 6
12. संपा० नगेंद्रनाथ बसु, हिंदी विश्वकोश, खंड-4, पृ० 282
13. संपा० रामचंद्र वर्मा, मानक हिंदी कोश, (दूसरा खंड), पृ० 274
14. रामपाल सिंह वर्मा, मनोविज्ञान के संप्रदाय, पृ०-3
15. Dictionary of Sociology Edited by Henery Partt Fair Child, Little Adams&Company. New Jearsy, 1962 p. 155
16. वीरेंद्रनाथ सिंह, नगरीय समाजशास्त्र, पृ० 192

□ पत्नी डॉ० ईश्वरचंद  
253/12 गौशाला बाज़ार  
थानेसर शहर, कुरुक्षेत्र  
दूरभाष : 094664 07534

## राजेंद्र अवस्थी के उपन्यासों में महानगरीय संस्कारों का यथार्थ चित्रण सुदेशकुमारी

संस्कार मानवीयता की धरोहर होते हैं। बिना संस्कारों के मनुष्य में मनुष्यत्व नहीं आ सकता। 'संस्कार' शब्द से हमारा अभिप्राय संशोधन अथवा परिमार्जन की प्रक्रिया से है। 'संस्कार' पद का अर्थ संस्कृत, उपयुक्त या सम्यक् बनाना है। किसी विकृत वस्तु को विशेष क्रियाओं द्वारा उत्तम बना देना ही उनका संस्कार है। मनुष्य-जीवन को विशिष्ट धार्मिक क्रियाओं द्वारा परिष्कृत एवं उत्तम बनाकर उसे चरमोत्कर्ष तक पहुँचाया जा सकता है। जीवन को अभ्युदय की ओर अग्रसर करने वाली ये धार्मिक प्रतिक्रियाएँ ही संस्कार हैं।<sup>1</sup> डॉ. भगवतशरण उपाध्याय के अनुसार 'मनुष्य अपनी आदिम अवस्था में संस्कारहीन रहा है। धीरे-धीरे अपने ऊपर प्रतिबंध लगाकर, अनुचित को दबाकर, उचित को लेकर ही सुंदर बना है। व्यक्ति रूप में शरीर मन को शुद्ध कर एक ओर व्यक्तिगत विकास दूसरी ओर उसका समूह में शिष्ट आचरण, समाज के प्रति उचित व्यवहार उसे संस्कृत बनाता है।' <sup>2</sup> डॉ. मुंशीराम शर्मा संस्कृति और संस्कार दोनों को एक-दूसरे के निकट मानते हैं। उनके अनुसार 'अर्थ की दृष्टि से एक साध्य है तो दूसरा साधन। एक जीवन की ओर इंगित करता है और दूसरा विधि-विधानों की ओर। संस्कारों का उद्देश्य है, संस्कृत जीवन का निर्माण।'<sup>3</sup>

भारतीय विद्वानों ने संस्कारों को दो भागों में विभाजित किया है—प्रथम आत्मगत संस्कार, दूसरे समाजगत संस्कार। आत्मगत संस्कारों में शारीरिक, मानसिक, भावगत, नैतिक और आध्यात्मिक संस्कार आते हैं, जबकि समाजगत में व्यक्ति समाज से पारंपरित रूप में जो संस्कार ग्रहण करता है, वे आते हैं।

जन्म के समय व्यक्ति में मानवीय गुणों का पूर्ण रूप से विकास नहीं होता। जैसे-जैसे उसका दायरा बढ़ता जाता है वैसे-वैसे वह समाज से प्राप्त संस्कारों से सांस्कृतिक गुणों को ग्रहण करता जाता है और यह प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। सुसंस्कृत मन में संस्कारों के प्रति निष्ठा का भाव पैदा होता है। यही निष्ठा इन संस्कारों को शाश्वत बनाए रखने में सहयोग देती है। वस्तुतः संस्कारों के अभाव में संस्कृति की कल्पना करना भी असंभव है। संस्कार ही मनुष्य को सभ्य एवं सुसंस्कृत बनाते हैं। संस्कारों के कारण ही मानवता बची रहती है। लेकिन आज संस्कारों का स्वरूप बदल गया है। आधुनिकता के चलते संस्कार भी पूरी तरह से परिवर्तित हो चुके हैं।

राजेंद्र अवस्थी के उपन्यासों में विविध संस्कारों का चित्रण हुआ है। आधुनिकता की

छाप इन संस्कारों पर गहरी दिखाई देती है। उनके 'सीपियाँ' शीर्षक उपन्यास में गनपत की तथाकथित जनसेवा के माध्यम से 'सेवा संस्कार' का वर्णन उपन्यासकार ने किया है। तुलसी नामक एक संघर्षशील युवती, जो कि फ़िल्मों में काम कर रही है, अपने पैर जमाने के लिए कपड़े तक उतारने के लिए तैयार है। यही आज की नारी-संस्कृति है। इसी प्रकार एक अन्य पात्र अनिल पूजा पाठ करवा रहा है ताकि घर में सुख-शांति बनी रहे। पूजा-पाठ की प्रक्रिया का चित्रण करके अवस्थी ने संस्कारों का वर्णन किया है। गनपत ने तथाकथित सुसंस्कृत आदमी के बारे में जो कुछ अन्य आदमी के माध्यम से चित्रित किया गया है, वह उसके संस्कारों का वर्णन कर देता है। गुरु अच्छे संस्कार देने के लिए पीटता भी है, मारता भी है और प्यार भी करता है, यही तो शिक्षा का संस्कार है। यम-यमी की कथा के माध्यम से ऐतिहासिक, धार्मिक संस्कारों का चित्रण अवस्थी ने किया है। लोकसंस्कृति का चित्रण 'दिल्ली दरवाजा' शीर्षक उपन्यास में लोकगीत के माध्यम से अवस्थी ने किया है। समय के अनुसार बदल जाना अथवा कृतघ्न हो जाना, यही शहरी संस्कृति है।

महानगरीय संस्कारों का यथार्थ चित्रण अवस्थी के उपन्यासों में यथाप्रसंग एवं यथार्थवादी ढंग से हुआ है। महानगरों की विषमताओं, विभीषिकाओं और समस्याओं का यथातथ्य चित्रण उनके उपन्यासों की प्रमुख विशेषता है। सबीना जैसी लड़कियाँ महानगरों में अपना भविष्य सुरक्षित करने आती हैं, लेकिन उनका भविष्य कोठों, दलालों के चंगुल में कैद और मजबूर हो जाता है। बड़े घरानों के अमीर और बिगडैल लड़कों और लड़कियों को फ़िल्मी जाल में फँसना ही महानगरीय व्यवस्था का एक अभिन्न अंग है। फ़िल्मी हिरोइन की जिंदगी का वास्तविक चित्रण करके अवस्थी जी ने महानगरीय नरकीय जीवन का वर्णन किया है। फ़िल्मी दुनिया में हर पल पैतरेबाजी चलती है। लोग एक-दूसरे का शोषण करने में लगे हुए हैं। उनका एकमात्र मक़सद अपनी जेबें भरना है। शैलू और उसकी तीनों बहनें फ़िल्मी चकाचौंध में अपना सब-कुछ लुटा बैठती हैं। यही महानगरीय जीवन का यथार्थ है। शहरों में लोग स्वार्थ के वशीभूत होकर लाशों तक का सौदा कर बैठते हैं। शहरी लड़कियों विशेषकर कामिनी जैसी लड़कियों का काम प्रिंस आफ़ रामनगर जैसे अमीर लोगों को अपने रूप के जाल में फँसाकर उनकी दौलत हथियाना ही एकमात्र लक्ष्य है। मिस चंचला जैसी शहरी लड़की भी अमीर लड़कों को हुस्न की चकाचौंध से सरोबार करने में पीछे नहीं रहती। शहरी लोगों में संवेदना नहीं होती। बहन को पैसे के लिए बेच देना, मानवीयता को शर्मसार करना है। जीवन अपनी बहन रेखा को बेच देता है, यही महानगरीय जीवन की कटु सच्चाई है। शहरों में स्कूली जीवन को श्रेष्ठ नहीं माना जाता। कम से कम मिस्टर मुक़र्जी की तो यही अवधारणा है। उन्हें शहरी संस्कृति का भली-भाँति ज्ञान है। शहरों में लोग विशेषकर मुंबई जैसे महानगर के लोग घरों में नहीं घोंसलों में रहते हैं। उनके जीवन में तनाव, कुंठा भरी हुई है। लोग पैसे की चकाचौंध में बहदवास से भागे जा रहे हैं। मुंबई के निकट जूहू बीच के परिवेश का चित्रण भी महानगरीय सभ्यता से पाठकों की भली-भाँति परिचित करवा देता है। आज व्यवस्था इतनी भ्रष्ट हो चुकी है कि लोगों का इस पर से विश्वास उठ गया है। व्यवस्था की ख़ामियों के चलते लोगों में इसके प्रति विद्रोही भावना पैदा हो गई है। अवस्थी ने अपने उपन्यासों में इस भ्रष्ट व्यवस्था का वर्णन करके इसके प्रति लोग की मानसिकता का सच्चा चित्रण किया है। अँग्रेजों की प्रशासनिक

व्यवस्था का चित्रण करके उपन्यासकार ने लोगों की भावनाओं का ही वर्णन किया है। व्यवस्था बदलने के साथ सुरजीत जैसे लोग भी बदल जाते हैं। वोट बैंक पक्का करने के लिए वे प्रदर्शनकारियों का साथ देता है। उसे जनता या व्यवस्था से कुछ लेना-देना नहीं है। विनोद जैसा प्रशासनिक अधिकारी अपने स्वार्थ के लिए प्रशासनिक अमले का बेजा इस्तेमाल करता है। पुलिस निरीह लोगों पर अत्याचार करती है। उसे अपने अधिकारों के इस्तेमाल से मतलब है। अवस्थी जी के साहित्य में शोषण के विविध रूप दिखाई देते हैं। जब रक्षक ही भक्षक बन जाए तो नारी की इज्जत को मिट्टी में मिलते देर नहीं लगती। राजेंद्र अवस्थी ने नारी के शोषण का भयावह चित्रण किया है। नारी शोषण का पर्याय बन चुकी है, लेकिन कुछ नारियाँ शोषण स्वयं ही करवाने के लिए सहर्ष तैयार हो जाती हैं। लतिका जैसी लड़की चुनाव लड़ने के लिए टिकट पाने को बेताब है। वह टिकट पाने के लिए पार्टी के मुख्य नेता साथ रात बिताने के लिए सहर्ष तैयार हो जाती है। राजनीति को कभी राज्य की नीति माना जाता था किंतु आज यह स्वनीति का पर्याय बन चुकी है। राजनीति को आज स्वार्थनीति कहा जाने लगा है। मोहनसिंह जैसे लोग राजनीति में इसीलिए आते हैं, ताकि उनके स्वार्थ सिद्ध हो सकें। राजनीति में मोहनसिंह जैसे लोग पार्टी की नीतियों पर नहीं बल्कि स्वार्थहित साधने की नीतियों पर चलते हैं।

पारिवारिक परिवेश आज बिल्कुल बदल चुका है। जिन परिवारों में कभी प्रेम, सौहार्द और विश्वास रहता था, वहीं आज स्वार्थ, वासना और लोभ है। चौकीदार ने दूसरी औरत के साथ इसीलिए दैहिक संबंध बनाए थे, ताकि उसकी दौलत और इज्जत दोनों को प्राप्त कर सके। इस स्थिति का नकारात्मक असर अन्य पारिवारिक सदस्यों पर पड़ना स्वाभाविक था। बंटू की स्थिति का चित्रण यद्यपि मनोवैज्ञानिक संदर्भ में हुआ है, लेकिन उसका चित्रण करके उसके पारिवारिक परिदृश्य का वर्णन लेखक ने परोक्ष रूप से किया है। मिस नीता और बंटू का वात्सल्य-प्रेम दोनों को पारिवारिक सदस्यों की तरह परस्पर जोड़ देता है। अपने किसी आत्मीय या प्रेमिका की याद आना पारिवारिकता का ही एक रूप है।

ठाकुर साहब का गाँव के लोगों के साथ स्नेहिल संबंध रखना उनके पारिवारिक दृष्टिकोण का परिचय देता है।

‘बीमार शहर’ शीर्षक उपन्यास में केतकी और मंजरी के व्यक्तित्व का तुलनात्मक अध्ययन करके उपन्यासकार ने पारिवारिकता का परिचय दिया है। बाप-बेटी के वात्सल्यमय प्रेम का चित्रण भी पारिवारिकता का परिचायक है। दांपत्य संबंधों के माध्यम से भी पारिवारिकता का चित्रण अवस्थी जी के उपन्यासों में हुआ है।

रूपाली और श्यामबाबू बाप-बेटी हैं। पुत्री का पिता पर गर्व करना स्वाभाविक है। पुत्री की पिता के बारे में सकारात्मक सोच पारिवारिकता को दर्शाते हैं। शहरों में वेश्यावृत्ति बढ़ती जा रही है। आज यह व्यवसाय का रूप धारण कर चुकी है। कुछ पैसे के लिए अपना जिस्म गैर मर्द को सौंप देना यही वेश्यावृत्ति है। इस घिनौने कारोबार का चित्रण भी अवस्थी जी के उपन्यासों में हुआ है। किसी भी कोने पर चले जाएँ। मनचाहा पैसा दीजिए, लड़कियों की लाइन हाजिर हो जाएगी। गनपत जैसे दलाल लोग लड़कियों की खरीद-फ़रोख़्त करके कुछ पैसे कमा लेते हैं। इस तरह वेश्यावृत्ति बढ़ती जाती है। मंजरी जैसी लड़कियाँ रशीदा जैसी दलालों के हाथों

बिक जाती हैं। वे इस गलीज से छुटकारा पाने का असफल प्रयास करती हैं। रोहिणी की बातें भी यही बताती हैं कि वेश्या और गायिका में बहुत अंतर होता है, किंतु जिस्म के सौदागर इस अंतर को नहीं पहचानते। मजबूरन उसे नवाब जैसे लोगों का क़त्ल करना पड़ता है। रोहिणी जैसी लड़कियाँ धोखे से कोठे पर पहुँचा दी जाती हैं। बाद में उनका जीवन नारकीय बन जाता है। ऐसी लड़कियाँ जीवन-भर छटपटाती रहती हैं आजाद होने के लिए, लेकिन इस नारकीय जीवन से कहीं कोई मुक्ति नहीं।

आज का जीवन व्यस्ततम जीवन है। लोगों के पास अपने बारे में सोचने तक का समय नहीं है। निराशा, कुंठा, एकाकीपन, आत्मनिर्वासन, संत्रास जैसी नवीन अवधारणाएँ मनुष्य का अभिन्न अंग बन चुकी हैं। भौतिकता और कंप्यूटर के इस युग में लोग आधुनिक तो बन रहे हैं, लेकिन उनका सोचना, उनका व्यक्तित्व कहीं पीछे छूट गया है। आज के जीवन में विसंगतियाँ अधिक हैं और सुख के पल कम। इसी कारण मनुष्य स्वयं को सबसे कटा हुआ या विलग महसूस कर रहा है। मानव-जीवन की इन्हीं विसंगतियों का चित्रण राजेंद्र अवस्थी के उपन्यासों में बखूबी हुआ है। बंटू नामक बाल-पात्र की मानसिकता उसके विसंगतिपूर्ण जीवन का चित्रण कर देती है। जीवन में प्रेम को समर्पण माना गया है, लेकिन यही प्रेम जब वासना का रूप धारण कर लेता है तो सिवाय विसंगति या व्यथा के जीवन में कुछ नहीं करता। प्रेम विश्वास पर टिका रहता है। जैसे ही विश्वास ख़त्म हुआ, प्रेम का आधार भी ख़त्म हो जाता है। प्रेम में वासना का समावेश प्रेम की मूल चेतना को समाप्त कर देता है। महुआ के यौवन को अँग्रेज़ अधिकारी द्वारा एकटक निहारना उसके वासनात्मक दृष्टिकोण का परिचायक है।

अंधविश्वास का चित्रण करके अवस्थी जी ने आंचलिक परिवेश को प्रस्तुत किया है। गाँवों में किस तरह अंधविश्वास ने जड़ें जमा रखी हैं, उसका चित्रण उनके उपन्यासों में हुआ है। गाँववालों को पूर्ण विश्वास है कि उस घर में भूत-प्रेत रहते हैं, इसलिए वे अँग्रेज़ अधिकारी को वहाँ न ठहरने का निवेदन करते हैं। ग्रामीण संस्कृति में भूतप्रेत, चुड़ैल आदि रची-बसी हुई है। अतः गायता नामक पात्र अँग्रेज़ अधिकारी को विस्तार से चुड़ैलों के बारे में बताता है। गाँववालों को जितना विश्वास भूतप्रेतों पर है, उससे ज्यादा विश्वास तांत्रिकों पर भी है। गायिता सिरहा नामक तांत्रिक बारे में जो कुछ बताता है, उससे इसी कथन की पुष्टि होती है। ग्रामीण समाज में अहम् की लड़ाई प्रमुख होती है और इसी कारण कई बार निरीह लोग बेवजह मारे जाते हैं। ऐसी ही एक घटना का चित्रण करके उपन्यासकार ने ग्रामीण परिवेश का यथार्थ वर्णन किया है। इस प्रकार राजेंद्र अवस्थी जी के उपन्यासों में विविध संस्कारों का यथार्थपरक चित्रण हुआ है।

### संदर्भ

1. वाचस्पति गौरोला, भारतीय संस्कृति और कला, पृ० 172
2. डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, सांस्कृतिक भारत, पृ० 12
3. डॉ० मुंशीराम शर्मा, वैदिक संस्कृति और सभ्यता, पृ० 49

### संदर्भ ग्रंथ

1. राजेंद्र अवस्थी, सूरज किरण की छाँव

2. राजेंद्र अवस्थी, जंगल के फूल
3. राजेंद्र अवस्थी, सीपियाँ
4. राजेंद्र अवस्थी, जाने कितनी आँखें
5. राजेंद्र अवस्थी, बहता हुआ पानी
6. राजेंद्र अवस्थी, अकेली आवाज़
7. राजेंद्र अवस्थी, बीमार शहर
8. राजेंद्र अवस्थी, मछली बाज़ार
9. राजेंद्र अवस्थी, भंगी दरवाज़ा
10. वाचस्पति गौरोला, भारतीय संस्कृति और कला
11. डॉ॰ भगवतशरण उपाध्याय, सांस्कृतिक भारत
12. डॉ॰ मुंशीराम शर्मा, वैदिक संस्कृति और सभ्यता

□ पत्नी डॉ॰ ईश्वरचंद  
253/12 गौशाला बाज़ार  
थानेसर शहर, कुरुक्षेत्र  
दूरभाष : 094664 07534

### डॉ॰ बलजीतसिंह का पठनीय साहित्य

फ़ासले मिट जाएँगे (गज़लें)/डॉ॰ बलजीत सिंह	150.00
शब्द-शब्द संदेश (दोहा-संग्रह)/डॉ॰ बलजीत सिंह	150.00
जीवन है मुस्कान (दोहा-संग्रह)/डॉ॰ बलजीत सिंह	150.00
भीतर का संगीत (दोहा-संग्रह)/डॉ॰ बलजीत सिंह	200.00
सुख के बिरवे रोप (दोहा-संग्रह)/डॉ॰ बलजीत सिंह	200.00
इंद्रधनुष के रंग (दोहा-संग्रह)/डॉ॰ बलजीत सिंह	200.00
हम बगिया के फूल (बालगीत)/डा॰ बलजीतसिंह	150.00
आओ गीत सुनाओ गीत (बालगीत)/डा॰ बलजीतसिंह	150.00
दिन बचपन के (बालगीत)/डा॰ बलजीतसिंह	200.00
छुट्टी के दिन बड़े सुहाने (बालगीत)/डा॰ बलजीतसिंह	200.00
आधी हकीकत आधा फ़साना/डॉ॰ बलजीतसिंह	150.00

प्रकाशक  
हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर (उ॰प्र॰)

## विजयानंद त्रिपाठी के काव्य का अनुशीलन

विजेंद्र सिंह

आधुनिक कवियों में विजयानंद त्रिपाठी समादृत हैं। उन्होंने एक से बढ़कर एक सार्थक, ज्वलंत एवं समीचीन काव्य पाठकों को दिए हैं। उन्होंने खंडकाव्य, महाकाव्य आदि लिखे। वीर-करुण वृत्ति को विजयानंद त्रिपाठी ने अपने लघु खंडकाव्य 'संबोधन' का काव्यविषय बनाया है। कवि ऐसे सैनिकों के प्रति हमदर्दी ज्ञापित करता है, जिनका लहू राष्ट्र-हेतु बहता तो अवश्य है, किंतु उनके नाम से इतिहास नहीं बनता। इतिहास उनके स्वामियों को महत्त्व देता है। राजसत्ता का गुण गाता है। वैसे इतना ही कहा जा सकता है कि इतने सैनिकों ने अपने प्राणों की आहुति दी। प्रकृति की हर विभीषिका को सहकर काव्य के प्रारंभिक खंड में कवि सैनिकों के उत्साह को निम्न पंक्तियों में व्यक्त करता है—

रवि-किरणों से तपता पर्वत,  
निर्झर झर-झर कर रोता था।  
शायद इनकी ही किस्मत पर,  
आँसू से भू-रज धोता था।

थे अंकित करने चट्टानों पर,  
तब तुम करुणा का भार प्रबल  
लिख जाते अपने रक्तों से  
सुख-दुःख का वह विस्तार सजल

तेरे कर्मों से इस जग को  
मिला है कितना उद्बोधन  
तुमको दूँ क्या मैं संबोधन।'

यह काव्य प्रकृति की अद्भुत छटाओं के मध्य मंथर गति से अपनी वीर कविता को प्रवाहित करता है। प्राचीन युद्धकाल से लेकर आधुनिक युद्धकाल की सीमारेखा को आँकते हुए कवि सैनिकों की लोमहर्षण वीरता को महज व्याख्यायित ही नहीं करता, वरन् उनके साहस की उस छवि को भी वर्णित करता है, जिसमें मरने का भय नहीं है, कुछ कर-गुजरने की तमन्ना है। इस काव्य का महत्त्वपूर्ण पक्ष अलंकार-योजना है। जीव-जंतुओं की उपमा देकर कवि प्रभाव छोड़ता है। विस्मय में पड़ा कवि हर वक्त यही महसूस करता है कि ऐसे अनाम सैनिकों को वह किस नाम से संबोधित करे, जिन्होंने इंसानी जंगों में अपना सर्वस्व न्योछावर तो कर

दिया, किंतु उनके हाथ मृत्यु के सिवा कुछ भी नहीं आया। शान और आन पर मर-मिटने की प्रेरणा उन्हें उनके पूर्वजों ने दी थी। घास-फूस की तरह सामान्य जिंदगी जीते हुए उन्होंने अपने आपको इस बलि-वेदी पर कुर्बान कर दिया। निःसंदेह उनकी वीरता सामान्यजनों के लिए प्रेरणा का विषय एवं सैनिकों के लिए आदर्श का सूचक है। उनकी टंकार आज भी उसी तरह गुंजायमान है—

गूँजा करती टंकार प्रबल,  
छा जाती चंडी मतवाली  
कट-कटकर गिरता अंग-अंग  
होती सवार सब पर काली।

कितने बलिदान हुए भू पर  
दे न सका जग उद्बोधन  
सच तुमसे तो इतिहास बना  
तुझको दूँ क्या संबोधन?<sup>2</sup>

विजयानंद का यह काव्य पठनीय ही नहीं, अपितु ज्ञानवर्धक सर्जना है। महाकवि भूषण की 'शिवा बावनी', 'छत्रसाल दशक' एवं महाकवि श्यामनारायण पांडेय की 'हल्दी घाटी' जौहर की वीरकाव्य-परंपरा का उत्कृष्ट विकास उनके वीररसपूर्ण काव्यों में हुआ। सन् 1982 ई० में प्रथम प्रकाशन से ही यह काव्य ख्यातिलब्ध हो गया।

एकादश सर्गों में विभक्त वीररस-प्रधान महाकाव्य 'समरभूमि' कविवर विजयानंद त्रिपाठी द्वारा रचित एक महनीय रचना है। भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के इतिवृत्त को रेखांकित करते हुए कवि ने अद्भुत शैली में इस महाकाव्य की रचना की है। सन् 1857 से लेकर सन् 1947 तक का समय भारत ही नहीं, अपितु विश्व के इतिहास में एक अविस्मरणीय काल है। प्रशासन के क्रूर दमन पर भारत की भोली-भाली जनता भीषण संघर्ष करती है? कितने ही वीर फाँसी के फंदे चूम लेते हैं। कितनी ही वीरांगनाएँ चंडी बनाकर लपलपाती तलवार से वैरी को लहुलुहान करती हुई सदा के लिए धरती माँ की गोद में सो जाती हैं। इस भीषण आग में झुलसकर कितने ऐसे वीरगति को प्राप्त हो जाते हैं, जिनको लोग जानते तक नहीं। विजयानंद त्रिपाठी द्वारा रचित यह महाकाव्य स्वाधीनता-संग्राम रूपी महानायक के जन्म से लेकर महाप्रयाण तक की संपूर्ण कथा को शब्दचित्रों में प्रस्तुत करता है। इसके प्रथम पृष्ठ पर परिचय देते हुए कवि लिखता है—

यह समर भूमि है, समरभूमि  
वीरों की अमर कहानी है।  
मानवता की परिचायक यह  
शूरों की चरण निशानी है।  
यह वह दाहक ज्वाला जग की,  
जो धाय-धाय जलती अविरल।  
पर मानवता की सरिता-सी,



वह बहती रहती है कलकल।  
यह झूम-झूमकर घूम-घूम  
वीरों की कथा सुनाती है।  
रणस्थल की टंकार प्रथम  
यह भीषण राग बजाती है।

बतलाती सन सत्तावन की,  
तलवारों का कैसा पानी।  
रण का आवाहन होने पर,  
थी कैसी होती अगवानी।<sup>3</sup>

स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए लोग जूनूनी हो गए थे। उनमें स्वतंत्रता के लिए एक होड़-सी  
लगी हुई थी। विजयानंद त्रिपाठी के शब्दों में-

सर-सर-सर भाले लपके  
दन-दन गोली का वार हुआ।  
धम-धम धमाके धमक उठे,  
छाया था सब ओर धुआँ।

यह स्वतंत्रता का महायुद्ध  
रक्तिम ज्वाला की प्रखर धारा।  
माँ की रक्षा करना सीखो।  
मानवता के संरक्षण हित  
बलिवेदी पर चढ़ना सीखो।<sup>4</sup>

इस महाकाव्य में बहुत-सी ऐसी घटनाओं का भी उल्लेख है, जो जनसामान्य की  
जानकारी में नहीं हैं। वीरों के बलिदान को रोचक शब्दावली में वर्णित कर कवि ने इसे इतना  
सरल बना दिया है कि पढ़ते-पढ़ते जी नहीं थकता। वीरों और वीरांगनाओं के रणचातुर्य,  
जीवन-संघर्ष, एकजुटता, विश्वसनीयता, अक्षुण्ण सामर्थ्य, साहस, उत्साह एवं प्राकृतिक घटनाओं  
की प्रस्तुति कर कवि अत्यंत मृदलु भाव से सुबोध शैली में कथा अशांश को आगे बढ़ाता जाता  
है। 'जलियाँवाला बाग के कांड' का वर्णन करते हुए कवि लिखता है-

थी बैसाखी दोपहरी,  
गर्मी का प्रथम महीना।  
तन मानव का तपता था,  
थर-थर चल रहा पसीना।

रवि खोल दृगों को अपने,  
यों पावक वर्षाता था।

भू पर इस पावस ऋतु में,  
धधका धधका छाता था।

हाँ, कुरुक्षेत्र के रण में,  
लाशों की ढेरी देखी।  
कुछ-कुछ अशोक के प्रण पर,  
थी मर मिटने की रेखी।<sup>5</sup>

‘समरभूमि’ महाकाव्य एक उत्कृष्ट सर्जना है। कवि ने जिस गरिमामय यथार्थ को इस कृति में लिपिबद्ध किया है, वह मिसाल के रूप में जनसामान्य के मानस का उत्कृष्ट प्रतिबिंब है। इस समरभूमि महाकाव्य में हर पात्र अपने साहस एवं पौरुष की कथा के साथ-साथ सिनेमा फ़िल्म की तरह शामिल हुआ।

कविता प्राणों का संगीत है। कविता जबसे पृथ्वी पर अवतरित हुई, शायद तभी से सुसभ्य मानव-सृष्टि का भी प्रादुर्भाव हुआ। मनोरंजन के साथ-साथ जीवन जीने की संप्रेषण की भावधारा इसी के मध्य प्रवाहित हुई। बहुतों को इसने आदर्शोन्मुख किया तो बहुतों को रसमग्न, बहुतों में ऐसा उत्साह भर दिया कि वे जान हथेली पर लेकर मृत्यु से निर्भय होकर परमवीरता से लड़ने लगे।

चेतना की अभिव्यक्ति देते हुए कवि युग के लिए एक संदेश भी दे रहे हैं। ‘वाक्यं रसात्मकं काव्यं’ से लेकर ‘काव्यं यशसे अर्थकृते’ तक काव्य साहित्य हमें कुछ न कुछ सोचने-समझने को आतुर करता रहा है। कविता सरिता की तरह जीवनधारा से संयुक्त होकर अविरल बहती रहती है। स्वाधीनता-आंदोलन के समय की अद्भुत राष्ट्रीय चेतना अब भी किसी न किसी रूप में संयुक्त होकर बह रही है। विजयानंद त्रिपाठी की काव्यरचना ‘प्यारा भारत’ राष्ट्रप्रेम की भावनाओं से पूर्ण है। यह रचना साहित्यिक क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण रचना होने की क्षमता रखती है। रचनाकार की प्रथम चार पंक्तियाँ ही इस रचना की भावधारा का विस्तार के साथ अपने संक्षिप्त कलेवर में कह देती हैं।<sup>6</sup> एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

‘वीर देश के वीर उत्स का  
चित्रांकन है प्यारा भारत  
एकता और सहिष्णुता का  
मूल्यांकन है सारा भारत।’

इस संग्रह में आठ कविताएँ वंदना, यह भारतवर्ष हमारा, लहरा रहा है भारत का झंडा, मेरा भारत कितना महान, देश का अंकुर देश में फूटे, इस माटी पर है अभियान, सदा ऊँचा स्वर रहे हमारा-संगृहीत हैं। ‘इस रचना का आरंभ वंदना से करके रचनाकार ने जहाँ एक ओर भारतीय परंपरा का निर्वाह किया है वहीं दूसरी ओर पाठकों में बुद्धि विकसित करने का भी अवसर निकाल लिया है। वर्तमान युग की भौतिकवादी तृष्णा मानव-जीवन को जिस चारित्रिक पतन के महागर्त में ले जा रही है, उससे रक्षा करने की क्षमता एकमात्र बुद्धि में ही सन्निहित है।’<sup>8</sup> वर्तमान समय में स्वार्थवादी बुद्धि ने आत्मप्रेम के समक्ष राजप्रेम को तिरस्कृत कर दिया है। सर्वस्व में आकंठ डूबे व्यक्तियों में आज झंडे को फहराने की शक्ति भुजाओं में शेष नहीं

है। इस साहस एवं शक्ति को उनके स्वार्थ ने ही कुचला है फिर साहस और शक्ति खो बैठे लोगों में 'मेरा भारत महान' 'अभिमान सदा ऊँचा स्वर रहे हमारा' जैसे उद्घोष कैसे निकल सकते हैं। स्वार्थ तो उनके मुख पर ताला लगा देता है। ऐसे दुर्भाग्यपूर्ण समय में रचनाकार ने अपनी इस रचना में इन्हीं उद्घोषों को प्रस्फुटित करके सच्चे मनवाले पाठकों के सम्मुख रखा है, जिससे देश के कर्णधार राष्ट्रप्रेम की मशाल जलाकर स्वार्थ के अंधकार को समाप्त कर सकें। इस रचना में संगृहीत कविताओं के माध्यम से रचनाकार ने जहाँ एक ओर देशप्रेम का पाठ पढ़ाया है, वहीं दूसरी ओर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से देशवासियों को राष्ट्रीय गौरव एवं एकता के प्रति सचेत किया है। यही कहा जा सकता है कि कवि के हृदय का समग्र देशप्रेम इस रचना में प्रकट हुआ है। इसमें बच्चों के लिए शिक्षा, देशद्रोहियों के लिए सुझाव तथा देशप्रेमियों के लिए समर्थन के रूप में कवि का अंतर्भाव फूट पड़ा है। रचनाकार ने स्वयं अपनी काव्यभाषा को सुबोध बनाए रखने का प्रमाण दे दिया है, जिससे सामान्य पाठक भी उसका रसास्वादन कर सके। छंदों में वर्णित रचनाएँ तो बेहद आकर्षित करती हैं। वर्तमान समय में भारत भूमि का यह परम दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि जिस मिट्टी में रामकृष्ण, बुद्ध जैसे महान सत्यवादी, दृढ़प्रतिज्ञ, सदाचारी, कर्मवीर, शक्तिशाली और आदर्श महात्माओं ने जन्म लिया था, उसी भारतभूमि पर अवसरवादी, अनैतिक, क्षुद्र विचारधारा, पलायनवादी प्रवृत्तियों का विकास अपेक्षाकृत तेजी से हुआ है। इसका कारण उचित संस्कारों का प्राप्त न होना है। कहा जाता है कि बच्चे राष्ट्र का भविष्य होते हैं। यदि बच्चों में उचित संस्कार न डाले जाएँ तो ये बच्चे राष्ट्र को अंधकारमय मार्ग पर ले जाते हैं। युवा अपने ज्येष्ठों को पलायनवादी प्रवृत्तियों में विचरण करते देखकर नैतिक पथ का प्रदर्शन भी नहीं कर पाते तो फिर कैसे राष्ट्र का भविष्य उज्ज्वल कर सकते हैं? इन्हीं ज्वलंत समस्याओं का चित्रण विजयानंद के काव्य में हुआ है।

### संदर्भ

1. विजयानंद त्रिपाठी, संबोधन, पृ० 8
2. वही, पृ० 12
3. विजयानंद त्रिपाठी, समरभूमि, पृ० 1
4. वही, पृ० 18
5. वही, पृ० 82
6. आचार्य मम्मट, काव्यप्रकाश
7. तुलसीदास, रामचरितमानस
8. डॉ० विद्यानिवास मिश्र, साहित्यकार विजयानंद, पृ० 5
9. विजयानंद त्रिपाठी, प्यारा भारत, पृ० 4
10. श्रीकृष्ण त्रिपाठी, विजयानन्द स्रष्टा एवं सृष्टि, पृ० 27

□ सुपुत्र श्री माँगेराम  
ग्राम व पो० बियानाखेड़ा  
तहसील बरवाला, जिला हिसार  
दूरभाष : 09466370249

## हिंदी एकांकी-साहित्य की परंपरा और विजयानंद त्रिपाठी का एकांकी साहित्य विजेन्द्र सिंह

किसी भी एकांकीकार के एकांकियों की समीक्षा करने से पूर्व सर्वप्रथम यह जानना जरूरी है कि एकांकी-साहित्य का उद्भव और विकास कैसे हुआ? इस संदर्भ में डॉ० रामचरण महेंद्र लिखते हैं कि पाणिनि और पतंजलि के समय तक रूपकों का यथेष्ट प्रचार हो चुका था। ये संक्षिप्त नाटक होते थे, जिनमें अंकों का विधान नहीं था।<sup>1</sup> डॉ० महेंद्र का कथन एकांकी के प्रारंभिक स्वरूप का चित्रण करता है। डॉ० सिद्धनाथ कुमार ने प्रकार के आधार पर एकांकी का वर्गीकरण करते हुए उसे बारह भागों में विभक्त किया है।<sup>2</sup>

आधुनिकयुग वस्तुतः एकांकियों का युग है। इसके अंतर्गत रेडियो रूपक भी आते हैं। इनके उद्भव के मूल में समय की माँग है। दर्शकों की अत्यधिक व्यस्तता, चित्रपट की लोकप्रियता, रेडियो का प्रचार एवं नाटक के लिए सुसज्जित मंच का अभाव आदि के कारण एकांकी का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। यों तो एकांकी का प्रारंभ जयशंकर प्रसाद के 'एक घूँट' से माना जाता है, किंतु एकांकी-कला की दृष्टि से उत्कृष्ट एकांकी रचनाकारों में उल्लेखनीय एकांकीकार हैं— डॉ० रामकुमार वर्मा, जगदीशचंद्र माथुर, उपेंद्रनाथ अशक, प्रभाकर माचवे, विष्णु प्रभाकर, देवीलाल सागर, विनोद रस्तोगी, चिरंजीव, राजीव सक्सेना तथा लक्ष्मीनारायण लाल आदि।

प्रायः सभी एकांकीकारों ने अपनी रचनाओं में सामाजिक क्रांति, युगसंघर्ष, रूढ़ियों के प्रति विद्रोह तथा निम्नमध्यवर्गीय जीवन की अंतर्बाह्य मनःस्थितियों को चित्रित किया है। इसी प्रकार समकालीन नाटक एवं एकांकीकार डॉ० विजयानंद त्रिपाठी ने असामाजिक क्रांति, युगसंघर्ष, रूढ़ियों के प्रति विद्रोह तथा अंतर्बाह्य स्थितियों को देखते हुए अनेक नाटक एवं एकांकी लिखे। 'दानवीर कर्ण' एक पौराणिक नाटक है, जिसमें एक स्त्री की मार्मिक स्थिति का चित्रण किया है। देशभक्ति को जगानेवाला एकांकी 'मातृभूमि के लिए' है, जो देश की जागरूकता का प्रतीक है।

हिंदी एकांकी आधुनिक युग की देन है। इसके विकास का इतिहास भले ही सुदीर्घ नहीं है, पर विकास की गति बड़ी तेज रही है। वर्तमान हिंदी-एकांकी की परंपरा और प्रेरणा स्रोत के संबंध में विचार करते समय आलोचकों के दो दल बन जाते हैं, जो अपने-अपने तर्कों एवं प्रमाणों द्वारा आधुनिक हिंदी एकांकी को या तो संस्कृत की प्राचीन नाट्य-परंपरा से जोड़ते हैं या अँग्रेजी के नाटकों से प्रभावित मानते हैं। भारतीय परंपरा के समर्थक विद्वानों का मत है कि आधुनिक हिंदी-एकांकी भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में वर्णित प्रहसन और नाटिका आदि

का ही आधुनिक रूप है। आधुनिक हिंदी-एकांकी का मूल स्रोत या प्रेरणाभूमि प्राचीन संस्कृत नाट्यसाहित्य ही है। संस्कृत-परंपरा को मूलस्रोत माननेवाले विद्वानों में डॉ० सरनामसिंह शर्मा, सदगुरुशरण अवस्थी, ललितप्रसाद शुक्ल आदि प्रमुख हैं। डॉ० सरनामसिंह ने हिंदी-एकांकी परंपरा को पूर्णतः भारतीय मानते हुए लिखा यह मानना नितान्त भ्रामक होगा कि हिंदी-एकांकी के सामने कोई भारतीय आदर्श नहीं था। इसी प्रकार का मत अवस्थी जी ने भी व्यक्त किया है— यह नहीं समझना चाहिए कि भारतवर्ष में एकांकी थे ही नहीं।

एकांकी आधुनिकयुग में साहित्य की एक प्रभावशाली और समर्थ विधा है। हिंदी-एकांकियों की प्रगति बड़ी तेज़ गति से हो रही है और इस क्षेत्र में नयी-नयी शैलियों का प्रयोग किया जा रहा है। आजकल रेडियो से प्रसारित होनेवाले ध्वनिरूपक, रेडियो नाटक लिखकर बहुत से रचनाकारों ने काफ़ी यश प्राप्त किया। यह शाश्वत सत्य है कि कमल की उत्पत्ति पंक से ही होती है। यही बात प्रतिभाओं के संदर्भ में भी सत्य उतरती है। विश्व के महान साहित्यकारों, कुशल राजनीतिज्ञों और अन्य क्षेत्रों में प्रसिद्ध व्यक्तियों के जीवनवृत्त का अवलोकन करने से यह स्पष्ट होता है कि प्रतिभा सदैव निर्धनता एवं विनम्रताओं में जन्म लेती है, वैभव विलास में नहीं। साहित्यकार के हृदय में अनुभूति एवं अभिव्यक्ति दोनों पक्षों की अलौकिक क्षमता होती है। वह अपनी प्रतिभा से इस वर्तमान जगत को ही नहीं, बल्कि भूत, अनागत, अव्यवहृत सभी का अवलोकन करने में सक्षम होता है। एक साहित्यकार अपने साहित्य के माध्यम से कायरों को वीर बना सकता है तथा भूले-भटके को सुमार्ग पर ला सकता है। रचनाकार डॉ० विजयानंद तिवारी का 'मातृभूमि के लिए' एकांकी-संग्रह इसी कड़ी की एक नवीन प्रस्तुति है। इसमें कुल सात एकांकी संकलित हैं। पहला एकांकी 'मातृभूमि के लिए' साहित्यिक गोष्ठियों की व्यंग्यपूर्ण रूपरेखा प्रस्तुत करता है। हिंदी प्रचार का ढोंग करनेवाली अध्यापिका आलोचना है। उसका नौकर राजू उसे बालकटी, शराबवाली कहकर गालियां बकता है। समीक्षा, भूमिका, कविता, कल्पना तथा भौतिक नामक पात्र अपनी समस्याओं का परिचय देते हैं। युवा कवयित्री कल्पना अपनी कविता पढ़कर व्यंग्य, परिहास और क्षमायाचना के वातावरण से समरसता देती है।

'इंसानियत' शीर्षक एकांकी रेलयात्रा में गाँव, नगर के वासियों की विच्छेद-दृष्टि का परिचय देता है। अध्यापक अविनाश, सरकारी अफसर जसराज, कृषक माधव, पुलिसकर्मी गजाधर तथा टिकटचेकर जगदीशचंद्र की वृत्ति का अवलोकन करता है। 'गाँव का दर्द' शीर्षक एकांकी गाँव की वास्तविक व्यथा-कथा को प्रस्तुत करता है। दहेज के गहनों के लिए विवाह रुक जाता है। दो भाई एक साथ रहकर भी एक नहीं हो पाते। छोटे भाई की पत्नी अद्भुत चमत्कार दिखाती है।<sup>3</sup>

'प्रायश्चित' शीर्षक एकांकी आधुनिक प्रेम-विवाह के रोमांचक दृश्य को उल्लिखित करता है। दीपक अपनी पत्नी नीरू पर एक बच्चे की प्राप्ति के उपरांत भी शक करता है, क्योंकि मुहल्लेवाले उसे परेशान करते हैं। अंततः पुराने आदर्श विवाह की परंपरा का महत्त्व स्वीकारते हुए अपने मित्र महमूद के कहने पर वह नीरू से क्षमा माँगता है। दूसरा एकांकी 'मकड़ी का जाला' एक पत्रकार के उत्पीड़न की व्यंग्यपूर्ण कहानी है। यह इस संग्रह का सबसे रोचक कथानकवाला एकांकी है। इसमें विश्वविद्यालय में स्थापित सरदार भगतसिंह की मूर्ति

का अनावरण करने प्रदेश के मुख्यमंत्री आते हैं। छात्रसंघ के कुछ नेता उनके पक्षधर हैं और कुछ उनका विरोध करते हैं। विरोधीदल चम्पल-जूतों की माला लेकर मंच पर पहुँचता है। पी०ए०सी० के लाठीचार्ज के कारण माहौल रक्तरंजित हो जाता है। एक पत्रकार बुरी तरह पीटा जाता है। उसे शहर के चर्चित अस्पताल में भर्ती कराया जाता है। उसके बैड के ठीक उधर मकड़ी ने जाला बना रखा है। उसके अगल-बगल दो छिपकलियाँ घूम रही हैं। पत्रकार बारी-बारी डॉक्टर नर्स, दाई और मेहतर से जाला हटाने को कहता है। सभी, 'वह हमारा काम नहीं है' कहकर चले जाते हैं। अंत में दस रुपये की रिश्वत पर मेहतर मकड़ी का जाला साफ़ करने को तैयार हो जाता है। सचिव की सलाह पर रहस्यात्मक ढंग से मुख्यमंत्रीजी जाले का उद्घाटन करने के लिए पधारते हैं।

'ग़रीबी का सेहरा' शीर्षक एकांकी विजयानंद का तीसरा एकांकी है, जो अस्पताल के वातावरण को सजीवता से अंकित करता है। निर्धनवर्ग की अज्ञानता-भरी रोगमुक्ति आतुरता और सरकारी डॉक्टरों का असहज व्यवहार सशक्त पक्ष बनकर उठता है। एक गाँव के ग़रीब की पत्नी धन की आपूर्ति न हो जाने के कारण और डॉक्टरों की लापरवाही से रोगमुक्त होने के बजाय संसारमुक्त हो जाती है।<sup>4</sup> वस्तुतः संकलन के सभी एकांकी व्यंग्य के साथ बदलते परिवेश का नवीन स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। मंच-संयोजन में भी लेखक का सटीक निर्देशन दिखाई देता है। आपके समस्त एकांकी मानवीय मूल्यों से जुड़कर संवेदनाओं द्वारा तराशे गए हैं। व्यंग्य के साथ उनमें साहित्य-चिंतन की भावधारा भी प्रवाहित है। जीवन की छोटी-छोटी सामाजिक घटनाओं और उनका विस्तृत विवेचन अपने एकांकियों में विजयानंद जी ने नीर-क्षीर विवेक की तरह किया है। ये एकांकी सचमुच नई परंपरा का सृजन करते हैं।

विजयानंद त्रिपाठी का एकांकी-संग्रह 'मातृभूमि के लिए' कथ्य, शिल्प, वस्तुविधान, कथोकथन आदि गुणों से युक्त है। 'दानवीर कर्ण' विजयानंद का एक महत्त्वपूर्ण नाटक है। वह नाटक चूँकि पौराणिक महाभारत के महापात्र कर्ण पर आधारित है। अतः निःसंदेह इस कृति में पुरानी भारतीय संस्कृति का प्रक्षेप नज़र आता है, किंतु अधुनातन परिवेश का भी उन्होंने सफल परिचय दिया है।<sup>5</sup> इस कृति से यह लगता ही नहीं है कि पाठक पौराणिक कर्ण को पढ़ रहा है। यहाँ कर्ण समाज के शिकंजों में फँसा दिखता है। कर्ण की असहज जीवन-यात्रा का अर्थात् बचपन से लेकर वीरगति प्राप्त होने तक का, इसमें वर्णन है। नाटक को सात अंकों में विभक्त किया गया है तथा इसके संवाद छोटे-छोटे हैं। कुल दस पात्रों के परिप्रेक्ष्य में घूमता यह नाटक कर्ण को एक अति संवेदनशील, उत्कृष्ट एवं प्रेरणादायक चरित्र के रूप में प्रस्तुत करता है।

इनका 'दानवीर कर्ण' नाटक एक उत्कृष्ट नाटक है, जिसका अनुभव रंगमंच पर आसानी से लोग कर सकते हैं।

पुरुष के समक्ष एक कुशल नारी-पात्र को भी आपने संपूर्ण नाटक का रूप दिया है। वह है— वनवासिनी सीता। यद्यपि इस कृति में आपने अन्य नारी-पात्रों को भी विशेष महत्त्व दिया है, किंतु सरल एवं सहज साहित्यिक भाषा के समावेश से इसका सौंदर्य प्रभावशाली हो गया है। 'वनवासिनी सीता' नाटक में विजयानंद त्रिपाठी ने अपने स्वभाव के अनुसार नए संदर्भों को प्रस्तुत किया है। राम पर सीता के आक्षेप एवं रावण के विचारों में सीता की पक्षधरता की बात बहुत ही नई है। वाल्मीकि रामायण एवं अथर्ववेद से सीता के चित्र का शोधन कर इस

नाटक का सृजन किया गया है।

#### संदर्भ

1. डॉ० रामचरण महेंद्र, एकांकी और एकांकीकार, पृ० 17-18
2. डॉ० सिद्धनाथ कुमार, हिंदी-एकांकी की शिल्पविधि का विकास, पृ० 92-93
3. डॉ० राजविलास शर्मा, विजयानंद एक रचनात्मक विश्लेषण, पृ० 17
4. डॉ० एम०शेषन, विजयानंद स्रष्टा एवं सृष्टि, पृ० 44
5. उपेंद्रनाथ अशक, मातृभूमि के लिए, पृ० 2

□ सुपुत्र श्री माँगेराम  
ग्राम व पो० बियानाखेड़ा  
तहसील बरवाला, जिला हिसार  
दूरभाष : 09466370249

## आठवें दशक के उपन्यासों में ऐतिहासिक यथार्थ और सांस्कृतिक आलोक

डॉ० गीतारानी

प्रवक्ता हिंदी विभाग

जनता वैदिक महाविद्यालय, बड़ौत (बागपत) उ०प्र०

ऐतिहासिक-सांस्कृतिक उपन्यासों के तत्त्व प्रायः वही होते हैं, जो सामान्य उपन्यास साहित्य के, इन उपन्यासों में अंतर इतिहास-तत्त्व की उपस्थिति के कारण होता है, हिंदी के ऐतिहासिक उपन्यासों पर दृष्टिपात से पता चलता है कि उनकी रचना-प्रक्रिया में वैभिन्य है। सभी ऐतिहासिक-सांस्कृतिक उपन्यासों में इतिहास-तत्त्व का प्रयोग समानता पर आधारित नहीं है, अपितु उनमें परस्पर अंतर मिलता है। ऐतिहासिक उपन्यासों के निर्माण में जिस तत्त्व का, स्वरूप पर भी प्रभाव पड़ता है, वह है ऐतिहासिकता। इतिहास आश्रित उपन्यासों में इतिहास के प्रति न विशेष आग्रह रहता है और न ही इतिहास-पुरुष रूपी पात्रों का चित्रण उनका ध्येय रहता है। इन उपन्यासों में इतिहास के मार्मिक प्रसंगों का अपेक्षाकृत अधिक सावधानी से अध्ययन करना होता है। विषय-चयन में किसी प्रकार की एकरूपता का निर्वाह ऐसे उपन्यासों में संभव नहीं है। प्रायः इस प्रकार के उपन्यासों में ऐसा भी देखा गया है कि नायक-नायिका के नाम तो इतिहास से ले लेते हैं, परंतु उनके आस-पास घटित घटनाओं की कल्पना वे इतिहास के संदर्भ में कर लेते हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी का बाणभट्ट की आत्मकथा इसी श्रेणी का उपन्यास है।

जो आज यथार्थ है, वह कल के लिए ऐतिहासिक यथार्थ हो सकता है। ऐतिहासिक यथार्थ में बीते हुए कल की सामाजिक एवं राष्ट्रीय परिस्थितियों का वास्तविक चित्र उपस्थित किया जाता है फिर भी इतिहास और ऐतिहासिक यथार्थ एक-दूसरे के लिए प्रयुक्त किए गए शब्द भी नहीं हैं। इतिहास, तिथि, घटना तथा परिणाम का ठीक-ठाक वर्णन प्रस्तुत करता है, किंतु ऐतिहासिक यथार्थ के भीतर तिथि और घटनाओं आदि की सत्यता पर इतना अधिक बल नहीं रहता, जितना उस समय की सामाजिक, राष्ट्रीय एवं धार्मिक परिस्थितियों को उभारकर रखने के प्रति आग्रह दिखाया जाता है। ऐतिहासिक यथार्थ की रचना सोद्देश्य होती है। उपन्यासकार पात्र-योजना भी ऐसी करता है, जो कि वर्तमान समाज को प्रेरणा प्रदान कर सके। उपन्यासकार उस कालखंड की परिस्थितियों को इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि वर्तमान समाज को उससे प्रेरणा मिल सके।

आठवें दशक के उपन्यासों में ऐतिहासिक सच्चाई को इस प्रकार उजागर किया गया



है कि वर्तमान समस्याओं का बहुत कुछ समाधान स्वतः हो जाता है। इस दृष्टि से हम सर्वप्रथम 'मानस के हंस' को देखते हैं। 'तुलसीदास को मैंने एक जीवंत आदमी बनाकर देशहित के लिए प्रस्तुत किया है। तुलसी के संघर्ष की प्रसिद्धि बनारस की गलियों में आज भी है। वह कर्म की ओर आने के लिए लोगों का आह्वान करता है। पुराणपंथियों से जिस प्रकार तुलसी लड़े वैसा संसार में कोई नहीं लड़ा।<sup>11</sup> आधुनिकयुग की ज्वलंत समस्या एवं चिंतन को हम आलोच्य उपन्यास में इस प्रकार देख सकते हैं—'मेरी आदिगुरु परमतपस्विनी पार्वती अम्मा ही थीं। मानो शंकर भगवान ने मुझे जिलाए रखने के लिए ही जगदंबा पार्वती को भिखारिन बनाकर भेज दिया था। दरिद्रता में इतना वैभव, दुर्बलता में इतनी शक्ति और कुरूपता में इतनी सुंदरता, मैंने पार्वती अम्मा के अतिरिक्त औरों में प्रायः कम ही देखी है।'<sup>12</sup>

उपन्यासकार ने तुलसी के चरित्र को एक समन्वयकारी के रूप में चित्रित किया है। जो शैव-वैष्णव और सवर्ण-दलित के अंतर को स्वीकार नहीं करता है। 'हमारे देश में जिसको निकम्मा करना हो उसको महात्मा बनाकर पूज लो। जीवन के जिस श्रेष्ठतम मूल्य और मान को नकारना हो उसे भगवान बना दो। यह हम हिंदुओं का कार्य रहा है। तुलसी का राम और तुलसी दोनों ही न केवल हिंदू के लिए वरन् मानव-मात्र के लिए है।'<sup>13</sup> उपर्युक्त कथन वर्तमान समाज को प्रेरणा प्रदान करता है। जीवन में उत्साह एवं सद्वृत्तियाँ जाग्रत करने में भक्ति कितनी सहायक होती है, मूल अंश इसका प्रमाण है—'राम शब्द का 'रा' मात्र सुनते ही उनका, मुखमंडल खिला उठा। धीरे-धीरे ताली बजाते हुए उन्होंने आँखें मूँद लीं। ध्यान-पट की श्यामता मन की तेजी से सिमटकर बीच में आने लगी। ध्यान-पट अरुण-पीत हो गया, जैसे किसी रंगमंच की काली ज्वनिका उठा दी गई हो। और ज्वनिका गोलाकार होकर सिमटती हुई पीतपट के बीचोबीच अधर में लटककर नाचने लगी। वह पीतपट ऐसा है जैसे विद्युतरेखा चौड़ी होकर फर्श की तरह फैल जाय और उसका अणु-अणु निरंतर कौंधने लगे।'<sup>14</sup>

भारतीय इतिहास इस बात का साक्षी है कि हमारे समाज में धर्म की आड़ में सदैव से पाखंडों को प्रश्रय मिलता रहा है। गोस्वामी तुलसीदास का युग भी इसका अपवाद न था। नागर जी ने अपने आलोच्य उपन्यास में इस प्रवृत्ति का पर्दाफाश किया है। वस्तु का मुख्य केंद्र चूँकि राम क्षेत्र है, इसीलिए अयोध्या के पोंगापंथी ब्राह्मणों के धार्मिक पाखंड को इसमें विशेषतः चित्रित किया गया है। 'ब्राह्मणपाड़े के नुक्कड़ पर पीपल के पेड़ के पास दो-तीन लड़कों के साथ रामबोला गुल्ली-डंडा खेल रहा था। .....फिर ईके साथ खेलै लगे, ऐं। ससुर नीच जात भिखारी, जिसकी देह से बास आती है, उसके साथ ब्राह्मण-छत्री के बेटे खेलते है, जो है सो हज़ार बार मना किया ससुरों को।'<sup>15</sup> तुलसीदास राम जी के परम भक्त और प्रकांड पंडित हैं तथा अवधी भाषा में रामकथा लिख रहे हैं। यह जानकर क्षेत्रीय पंडितों के मन में उनके प्रति ईर्ष्या जाग उठी। वह कभी भी यह नहीं चाहते थे कि उनके ढोंगी ब्राह्मण समाज को कोई सच्चा पंडित चुनौती दे, इसलिए वे तुलसी के विरुद्ध एक षड्यंत्र रचते हैं। धार्मिक पाखंड का यथार्थ चित्र उन्हीं के इस संवाद में प्रस्तुत है—'महात्मा वैदेही वल्लभ बोले—महंत जी, यह तुलसी भगत हम सबकी मान-मर्यादाओं को फलांगता भया और, क्या नाम करके, अयोध्यावासियों के सिर पर चढ़ायमान होता भया चला जा रहा है। यह वास्तौ में बड़ी चिंता का विषै है।'<sup>16</sup>

इसी प्रकार हिंदू-मुस्लिम संदर्भ में भी इस पाखंड को प्रस्तुत करना लेखक का

उद्देश्य है। जिस मंदिर में तुलसी रहते हैं, उसके आसपास की जनता पहले हिंदू थी, किंतु कालांतर में वहाँ की कुछ जनता ने धर्म-परिवर्तन कर लिया। अब वे मूर्तिपूजक से खुदा के बंदे बन गए और राम भगवान के भक्त तुलसी से दुष्टता करने लगे। कथावाचस्पति पंडित शिवदीन का कथ्य भी ऐसा ही है—‘और तो सब ठीक ही है, पर वह जो अब रामायण लिख रहा है सो समझ लो कि हमारे विरुद्ध एक भीषणतम षड्यंत्र रच रहा है। उस दंभी का दुस्साहस तो देखिए आदिकवि महर्षि बाल्मीकि जी के परम पुनीत काव्य के रहते भये, भाखा में काव्यरचना क्या उचित बात है? मतलब यह कि वह तो कथा बाँचने की सारी परिपाटी ही बदल डालेगा।’<sup>7</sup>

यह काल भारत की राजनीतिक उथल-पुथल का युग भी था। बाबर ने किस प्रकार अयोध्या के राम-मंदिर को तुड़वाकर वहाँ पर मस्जिद बनवा दी थी, किस प्रकार हुमायूँ शेरखाँ से पराजित हुआ और तब किस प्रकार की लूट-मार सारे उत्तरी भारत में फैल गयी थी। इन सबके साथ ही हिंदू जनता पर क्या-क्या अन्याय मुस्लिमों की ओर से हुए थे, का चित्रण भी ऐतिहासिक यथार्थ के अंतर्गत आता है—‘सिपाही तंबू में लूट की मूल्यवान वस्तुएँ लाकर सामने रखते हैं। फिर औरतें लायी जाती हैं और अंत में एक अति सुंदरी नवयौवना। उसे देखते ही नाचना भूलकर बेड़िन के मुँह से बेसाख्ता निकल गया—‘कुँवर जू।’

सरदार ने राजकुमारी के सौंदर्य को उपेक्षा-भरी दृष्टि से देखा, पूछा—‘तू कौन है?’  
‘राजकुँवरी, सरकार।’ बेड़िन ने राजकुमारी का परिचय दिया।

खामोश, इसे बोलने दे। नाम बतला।

राजकुमारी तमतमाया मुख झुकाये मौन खड़ी रही। सरदार ने नाचनेवाली से कहा—‘झोंटा खींचकर इसका सिर उठा।’

बेड़िन झिझकी, फिर कुँवरी की ओर बढ़ी ही थी कि उसने हाथ बढ़ाकर बेड़िन के गाल पर जोर से एक थप्पड़ मारा। बेड़िन चकराकर गिर गई।

सरदार ने दूसरी बेड़िन से कहा—‘देखती क्या है, शहजादी साहबा की लातों से खातिर कर, ये बातों से नहीं मानेगी।’<sup>8</sup>

‘पुनर्नवा’ की रचना ऐतिहासिक यथार्थ की भावभूमि पर हुई है। इसमें हलद्वीप, मथुरा, उज्जयिनी, बटेश्वर आदि स्थानों के इतिहास को प्रत्यक्ष एवं सूच्य शैली में प्रस्तुत किया गया है। इसमें भारशिव राजाओं की चार पीढ़ियों का उल्लेख ऐतिहासिक है। अभीर वृद्ध गोप के पूर्वजों का मथुरा में शुंग राजाओं की सेनाओं के साथ हलद्वीप के समीप बसने की बात भी इतिहाससम्मत है। मांदी के विक्रय द्वारा तत्कालीन नारी-विक्रय की ओर संकेत किया है। वृद्ध ब्राह्मण द्वारा मथुरा के शासकों की सूचना देना भी ऐतिहासिक तथ्य की ओर इंगित करता है। समुद्रगुप्त की सेना द्वारा विदेशी प्रभाव की समाप्ति और उज्जयिनी में शिप्रा एवं महाकाल के मंदिर का वर्णन भी ऐतिहासिक यथार्थ के सर्वथा अनुकूल है।

पुनर्नवा में ऐतिहासिक यथार्थ एवं सांस्कृतिक आलोक की सृष्टि के लिए संस्कृत के कतिपय ग्रंथों तथा प्रख्यात लोककथाओं का आश्रय लिया गया। आर्यक-चंद्रा की कहानी लोरिक-चंदा संबंधी लोककथा पर आधारित है। ऐसे ही शूद्रक कृत मृच्छकटिकम् के आधार पर राजा पालक, भानुदत्त, आर्यक, चारुदत्त, धृता, बसंत सेना, मदनिका, वीरक, शार्विलक,

मैत्रेय चंदनक, पालक आदि से संबंधित घटनाओं का वर्णन ऐतिहासिक यथार्थ और सांस्कृतिक आलोक की सृष्टि में सहायक सिद्ध हुआ है—‘उस दिन उसकी संपूर्ण देह-लता किसी निपुण कवि द्वारा निबद्ध छंदोधारा की भांति लहरा रही थी, द्रुत-मंथर गति अनायास विविध भावों को इस प्रकार अभिव्यक्त कर रही थी कि, मानों किसी कुशल चित्रकार द्वारा चित्रित कल्पवल्ली ही सजीव होकर थिरक उठी हो। उसकी बड़ी-बड़ी काली आँखें कटाक्ष-निक्षेप की घूर्णमान परंपराओं का इस प्रकार निर्माण कर रही थीं जैसे नील कमलों का चक्रवाल ही चंचल हो उठा हो, शरत्कालीन चंद्रमा के समान उसका मुखमंडल चारियों के वेग से इस प्रकार घूम रहा था कि जान पड़ता था, शत-शत चंद्रमंडल ही आरात्रिक प्रदीपों की अराल-माला में गुंथकर जगर-मगर दीप्ति उत्पन्न कर रहे हैं। उसकी नृत्यभंगिमा से नाना स्थिति की भाव-मुद्राएँ अनायास निखर उठी थी। उसके कंधे के नीचे मृणाल कोमल भुज-युगल सुकुमार-संग्रथित द्विपदी खंड के समान भाव-परंपरा में वलयित हो उठते थे।’<sup>9</sup>

उपन्यासकार ने कुमारसम्भव, मालविकाग्निमित्रम्, मेघदूत आदि ग्रंथों से प्रकृति-चित्रण को लेकर उपन्यास में एक अद्भुत सांस्कृतिक आलोक की सृष्टि की है। उपन्यासकार राजनीतिक हलचल का चित्रण करने के लिए समुद्रगुप्त के माध्यम से ‘जनहितैषी राजतंत्र’ का आदर्श प्रस्तुत करता है। समुद्रगुप्त को धर्म का नेता बताकर धर्म और राजनीति के समन्वय को पुष्ट करता है एवं सशस्त्र विद्रोह को मान्यता प्रदान करता है। तत्कालीन भागवद्धर्म की प्रतिष्ठा भी की गई है। लोकधर्म, लोकनैतिकता और लोकनायकों की मान्यता भी तत्कालीन वातावरण की सृष्टि में सहायक सिद्ध हुई है।

पुनर्नवा में चित्रित ऐतिहासिक-सांस्कृतिक आलोक के सूक्ष्म विवरण सामाजिक व्यवस्था की ओर भी संकेत करते हैं। उस समय समाज में व्यक्ति-व्यक्ति का संबंध गुप्तकाल में पुनरुद्धारित ब्राह्मणधर्म की वर्णाश्रम व्यवस्था पर प्रतिष्ठित था। ब्राह्मणों को अधिक सम्मान दिया जाता था। इसी कारण ब्राह्मणकुमार, श्यामरूप, मथुरा के वृद्ध ब्राह्मण, आचार्य श्रुतिधर, माढव्य शर्मा, आचार्य पुरगोभिल चारुदत्त, मैत्रेय आदि के प्रसंगों में ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा का वर्णन किया गया है। तत्कालीन समाज में ‘संस्कारभ्रष्ट’ हो जाने पर ‘पुनः संस्कृत’ कर लिया जाता था। जिस प्रकार श्यामरूप को किया गया। क्षत्रिय लोग राजकाज के लिए प्रतिष्ठित थे। बौद्धधर्म का उस समय पर्याप्त प्रभाव था। दासप्रथा भी प्रचलित थी। गणिकाओं को पर्याप्त सम्मान प्राप्त था। वे अपने रूपशील और कलापटुता के कारण सम्मान की अधिकारिणी थीं। किंतु सामंतयुगीन अर्थव्यवस्था में नारी की हीन स्थिति थी। नारियों का पर्याप्त क्रय-विक्रय होता था। किंतु गुप्त सम्राटों के समय में पर्याप्त सुख, शांति एवं समृद्धि थी। इसी कारण गुप्तकाल को ‘स्वर्णकाल’ कहा जाता था।

अनामदास का पोथा उपनिषद्कालीन कथा की समसामयिक व्याख्या है। इस ज्ञान-गंभीर रचना को भी उन्होंने जिस ललित रूप में प्रस्तुत किया है, ज्ञान को जिस ढंग से समसामयिक बोध से संपन्न किया है, वह उनकी ऐतिहासिक-सांस्कृतिक दृष्टि के परिणाम स्वरूप ही साकार हुआ है। आचार्य जी के अनुसार मानव-कल्याण ही संस्कृति का सर्वोपरि तत्त्व है। माँ ऋतंभरा रैक्व से पूछ ही लेती है—‘क्यों रे, अगर शुभा कहे कि वह तेरे साथ रहकर तेरी बुद्धि की परीक्षा करेगी तो उससे क्या कहना चाहिए मुझे।’<sup>10</sup> प्रत्युत्तर में जो रैक्व कहता

है, वह इस पोथे का प्राण-तत्व है—‘मेरे पास अगर वह बुद्धि की परीक्षा लेने आएगी तो मैं उसे गाड़ी खींच दीन-दुःखियों तक खाद्य पहुँचाने को कहूँगा, इसी में उसकी बुद्धि की परीक्षा हो जाएगी। माँ, जो दीन-दुःखियों की सेवा नहीं कर सकता, वह क्या बुद्धि की परीक्षा करेगा। मैं अब थोड़ा-थोड़ा रहस्य समझने लगा हूँ। कोरी वाम्-वितंडाज्ञान नहीं है।’<sup>11</sup> द्विवेदीजी पुराने मूल की ओर लिखते चलते हैं। यद्यपि इसका कथानक ‘छांदोग्यपुराण’ है, मगर ये ऋग्वेदकाल को स्पर्श करता है। ‘रैक्व, रिक्व का बेटा है। र-इ-क-उ ही रिक्व है। रिंग, रिंग्, रिक् ये विकासक्रम है। रिक्, यानी चलना। जनमन का मान नाम के द्वारा प्रकट किया जाता है। चूँकि रैक्व अभी केवल मनधर्मी है, जनधर्मी नहीं, इसलिए निर्मान नहीं, अमान है। केवल पद है, पदार्थ नहीं। वो किस तरह अमान से मान की ओर गति करता है, ये ही इस उपन्यास में रचा गया है। यानि किस तरह वो जन (जज) की ओर गति करता है, रथता है। मन से आगे वो जन (जज) होता है। मन के भीतर जन (जज) होता है। ये ही जान है।’<sup>12</sup>

द्विवेदीजी संपूर्ण संसार के लिए सामान्य मानव-संस्कृति और मूल मानवधर्म की स्थापना के प्रति आशान्वित थे। यह आशा तभी फलीभूत हो सकती है, जब विभिन्न राष्ट्रीय इकाइयों में पाई जानेवाली संस्कृतियों और धार्मिक संप्रदायों के विश्वासों में समन्वय स्थापित हो सके। द्विवेदीजी का उपन्यास-साहित्य बाह्य आचारों के समन्वय की बजाय उन मूल तत्त्वों की एकता को स्वीकारने का पक्षधर है, जो समग्र मनुष्य-जाति को सामूहिक रूप से नाना प्रकार की कुशिक्षा, कुसंस्कार और अभावों के बंधन से मुक्त करके उसे जीवन की उच्चतर चरितार्थता की ओर ले जाने का प्रयास करता है।

रघुवीरशरण ‘मित्र’ सोने की राख उपन्यास में चित्तौड़ के ऐतिहासिक दुर्ग का सजीव अंकन करते हैं। उस समय के वस्तुशिल्प की गहरी जानकारी पाठक को देते हैं—‘सात मील की परिधि में बसा हुआ यह चित्तौड़ दुर्ग है। सुदृढ़ प्राचीरों के इस दुर्ग के सात प्रसिद्ध द्वार हैं, जिनको पार कर किले में पहुँचा जाता है। किले की लंबाई तीन मील एवं चौड़ाई डेढ़ मील है। इस किले में वीरता और कलाओं का अद्भुत दृश्य है। देखिए, ये हैं शृंगार-चौरी की दीवारों पर भावात्मक कृतियाँ, ये मूर्तियाँ शिल्प-कला की बेजोड़ कहानियाँ हैं। एक-एक मूर्ति जीवित प्रतिभा की तरह मुखर दिखती है।’<sup>13</sup> यहाँ सृजनकार ने ऐतिहासिक यथार्थ की साभिप्राय सर्जना की है।

लेखक ने पाठक के भीतर राष्ट्रीय स्वाभिमान भरने के लिए महोबे के दुर्ग का यथार्थ चित्र अंकित किया है—‘महोबे के गर्वीले दुर्ग में राजा परिमर्दिदेव ऊँचे सिंहासन पर बुढ़ापे की चंचल गंभीरता से विराजमान हैं। उनके लंबे, पतले और झुर्री-भरे शरीर से शांति और वीरता की गंध चारों ओर फैल-फैलकर शांति और क्रांति के गीत सुना रही है। दुर्ग में सामंतगण अपने-अपने स्थान पर विराजमान हैं। महोबापति परमाल के बराबर में राजकुमार ब्रह्म की चौकी शरद पूर्णिमा के चाँद की तरह चमक रही है। सामंतों में सबसे ऊँची चौकी पर आल्हा बिजली की क्रोध की तरह दमक रहे हैं। बड़ी-बड़ी आँखें, ऊँचा मस्तक, चौड़ी छाती और लंबी भुजाएँ। किंतु पौरुष की इस अनूठी आभा में भी वीरवर आल्हा धरती की तरह शांत बैठे हैं।’<sup>14</sup> आल्हा वीरता, शौर्य एवं राष्ट्रीय ओज का प्रतीक है इसीलिए लेखक ने इसकी उद्भावना की है।

लेखक ने पौरुष के प्रतीक ऊदल का चित्रण भी ऐतिहासिक यथार्थ के संदर्भ में

किया है—‘मुझे सौगंध है महोबे और ‘बनाफल’ की जाति की, जब तक शयन नहीं करूँगा। चौहान ने सोते सिंहों को छोड़ा है। वह समझ बैठा है कि अपनी अधिक सेना और शक्ति के जोश में भारत के हर राजा को धूल में मिला दूँगा। दो-चार लड़ाइयाँ क्या जीती हैं कि स्वयं को प्रलयंकर ही समझ बैठा। हम चाहते थे कि दिल्ली के साथ मिलकर देश की शक्ति को बढ़ाएँ। यवनों को बता दें कि यदि इस देश की ओर आँखें उठाई तो अपना घर भी खो बैठेंगे। पर सबकी मूँछें निराली हैं। कोई स्वयं को रावण से कम नहीं समझता, कोई प्रेम के नाते एक होने को तैयार नहीं, कोई सीमांत सहयोग के बारे में मिलना नहीं चाहता।’<sup>15</sup>

लेखक ने ऐतिहासिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को चित्रित करने के लिए तत्कालीन महाकवियों का चित्रण किया है। ‘जब महर्षि नारद और विश्वामित्र तक न सँभल सके, जब पाराशर जैसे ऋषि दुनिया की आँखों के सामने धुआँ तानकर वह कर बैठे जिसे पाप कहकर पुकारा जाता है तब महामंत्री किमास का ही क्या दोष था। प्रकृति के नियमों को कौन मिटा सकता है। महाराज स्वयं इस अग्नि का पान करते हैं। फिर क्यों राज्य परिषद् की स्वीकृति के बिना किमास का वध किया गया? राजतंत्र में भी राजा इतना स्वतंत्र नहीं कि महामंत्री तक की हत्या कर डाले। जो चाहता है कि तुम्हारे इस अपराध के बदले हम सब तुम्हें छोड़कर चले जाएँ।’<sup>16</sup>

इस प्रकार प्रत्येक युग की वास्तविकता को ढूँढ़ना ऐतिहासिक यथार्थ का मुख्य कर्तव्य है। मध्ययुगीन इतिहास पर दृष्टिपात करने पर ही हम जानते हैं कि साहित्य में अपने युग का जो सर्वश्रेष्ठ वास्तविक चित्रण हुआ है, वही कालजयी साहित्य बनकर आज तक जीवित रह सका है। वेद की ऋचाओं में तत्कालीन समाज का चित्र है। रामायण और महाभारत में भी ऐसा ही हुआ है। ‘एक बात और भी आप देखेंगे, चाहे मैं इतिहास में गया हूँ चाहे आज के जमाने में रहा हूँ, व्यक्ति और समाज का नाता मैंने किसी भी हालत में छोड़ा नहीं है।’<sup>17</sup>

एक ऐतिहासिक यथार्थ को उपन्यासकार चुनता है, उसे कल्पना से रंगता है। इस दशक के प्रायः सभी उपन्यासकार तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक झाँकी को ऐतिहासिक परिवेश के फलक पर चित्रित करते हैं। इनमें रहन-सहन, वेशभूषा, आचरण, शिष्टाचार, लोकविश्वास एवं विवाहोत्सव आदि का वर्णन सांस्कृतिक आलोक को पुष्ट करता है। इन्हें कल्पना के द्वारा सँवारा गया है, फिर भी अधिकांश विवरण तत्कालीन वातावरण की सृष्टि करने में सहायक सिद्ध हुए हैं।

### संदर्भ

1. अमृतमंथन : संकीर्ण व्यक्तिवाद ही सारी बुराइयों की जड़ है, पृ० 205, सं० डॉ० शरद नागर, डॉ० आनंदप्रकाश त्रिपाठी
2. मानस का हंस, अमृतलाल नागर, पृ० 53
3. अमृतमंथन : सांस्कृतिक नातों की व्यापकता, पृ० 161, सं० डॉ० शरद नागर, डॉ० आनंदप्रकाश त्रिपाठी
4. वही, पृ० 19
5. वही, पृ० 52

6. वही, पृ० 305
7. वही, पृ० 305
8. वही, पृ० 35-36
9. पुनर्नवा, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० 12
10. अनामदास का पोथा, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० 89
11. वही, पृ० 89-90
12. आलोचना, सहस्राब्दी अंक-28, श्रीराम त्रिपाठी, पृ० 90
13. सोने की राख, रघुवीरशरण 'मित्र', पृ० 107
14. पहली हार, रघुवीरशरण 'मित्र', पृ० 40
15. वही, पृ० 65
16. वही, पृ० 132-134
17. अमृतमंथन : सृजनयात्रा के प्रेरक प्रसंग और पड़ाव, पृ० 27, सं० डॉ० शरद नागर, डॉ० आनंदप्रकाश त्रिपाठी।

## ‘आवाँ’ का यथार्थ

स्नेहा सिंह

‘आवाँ’ अर्थात् वह भट्टी, जो समय की आँच से, परिस्थितियों के ताप से, विवशताओं की झुलसाहट से दिशाहीन अनगढ़ व्यक्तित्व को निरंतर गढ़ रहा है। नवबाजारवाद और उत्तर पूँजीवाद की जटिल विकृतियों से प्रभावित युवा पीढ़ी दिग्भ्रमित हो रही है। अतृप्ति की खाई गहरी होती जा रही है। प्रतिद्वंद्विता की दहकती लपटें, अराजक तत्त्वों को प्रश्रय दे रही हैं। ऐसे परिवेश में चित्रा मुद्गल का ‘आवाँ’ समकालीन यथार्थ को केंद्रीभूत करता हुआ अनेक सामाजिक समस्याओं को आयामित करता है। माजदा असद के शब्दों में—‘आवाँ प्रतीक लगता है जीवन की ज्वलंत समस्याओं का, उनमें जूझते हुए लोगों का, जीवन की कठिनाइयों को झेलते परिस्थितियों से लड़ते हुए भी कुछ बनने और पाने का।’<sup>1</sup>

चित्रा जी स्त्री-जीवन के विविध संदर्भों, संघर्षों का अंकन करती हुई स्त्री-सुरक्षा का प्रश्न बड़ी संजीदगी से उठाती हैं। स्त्री कहाँ सुरक्षित है? घर, कार्यालय, संस्थान, सड़क कहीं भी स्त्री-देह सुरक्षित नहीं। दसवर्षीय नमिता के साथ सगे मौसाजी द्वारा यौनाचार, अन्ना साहब द्वारा नमिता से हस्तमैथुन करवाना, पिता मटका किंग मदन खत्री का बेटा के साथ यौन-संबंध, मजदूरनी अनीसा का सहयोगी मजदूर किरपू दुसाध द्वारा यौन-शोषण, सौतेले भाई द्वारा गौतमी का गर्भवती होना, अंजना वासवानी द्वारा युवतियों की दलाली, संजय कनोई द्वारा नमिता को किराए की कोख बनाना आदि ऐसी विडंबनाजन्य त्रासदी है, जो पारिवारिक, सामाजिक यथार्थ पर प्रश्नचिह्न लगाती है। नमिता के संग बलात् दुराचार करते मौसाजी का कथन है—‘अच्छा है, वह मुँह सिए रहे। यह भी नहीं कि उसके साथ ही ऐसा हो रहा, सभी लड़कियों का यही होता है। बस किसी को किसी के विषय में भनक नहीं लगती।’<sup>2</sup>

‘आवाँ’ नारी-विमर्श का अद्भुत आख्यान है। विभिन्न वर्गों एवं स्तरों की महिलाओं का संघर्ष स्त्री सशक्तिकरण की पहल है। ‘जागो री’ एवं श्रमजीवा जैसी संस्थाएँ पुरुष तांत्रिक समाज-तंत्र में महिलाओं की सांगठनिक शक्ति का आह्वान करती हैं। शाहबेन के प्रशिक्षण और विमलाबेन के नेतृत्व में निम्नवर्गीय, निम्नमध्यवर्गीय मजदूर महिलाएँ आत्मनिर्भर हो वैचारिक क्रांति के लिए मोर्चेबंदी करती हैं। डॉ० रोहिणी अग्रवाल कहती हैं—‘आवाँ’ महिला श्रमिक समुदाय में अधिकार चेतना के अभाव तथा क्रमिक स्फुरण का विश्वसनीय महाख्यान है, जो अंततः लहर का रूप लेकर पूरे समाज को विचाराप्लावित कर जाता है।<sup>3</sup>

उपभोक्ता-संस्कृति ने नारी को उपभोग की वस्तु मात्र बनाने में अपनी अहम भूमिका निभाई है। नवपूँजीवाद एवं बाजारवादी नीतियों से प्रभावित नवयुवतियाँ सौंदर्य उद्योगों में अपना

कैरियर तलाश रही हैं। बाज़ार ने ग्लैमर का ऐसा जाल बुना है, जिसमें चाहे-अनचाहे युवतियाँ फँसती चली जा रही हैं। बहुत कुछ पाने की उम्मीद में, महत्वाकांक्षाओं की उड़ान भरती हुई इनकी जड़ें कब ज़मीन से उखड़ जाती हैं, इन्हें एहसास तक नहीं होता। 'नमिता' का संघर्ष दरअसल, आज की नवयुवतियों का यथार्थ है, जो फैशन, मॉडलिंग और ग्लेमराइज़्ड दुनिया के पीछे अंधाधुंध दौड़ लगाती है और वास्तविकताओं की दीवारों से टकराकर चूर-चूर हो जाती है। संजय कनोई जैसे पूँजीपतियों की रखैल बनकर रहने का विकल्प ही उनके समक्ष शेष रह जाता है। नमिता की आत्मानुभूति इन शब्दों में अभिव्यक्त होती है, 'उसे लगा, गर्भ कल नहीं आज गिरा है उसका, किरपू दुसाध मरा नहीं है, मरेगा भी नहीं! जब तक औरत अपने पेट को उसकी लातों के प्रहार से स्वयं को बचाना नहीं सीख जाती.....।'<sup>4</sup>

संजय कनोई के झूठे प्रेम में समर्पित नमिता छली जाती है, वह उसके लिए मात्र एक कोख है, जो उसे पिता बना सकती है। वह नमिता से विवाह का वायदा करता है। पत्नी निर्मला से मिलने वाली मानसिक प्रताड़ना का झूठा बखान करता है, परंतु जैसे ही नमिता के गर्भपात की ख़बर सुनता है, वह अपने मुखौटे से बाहर आ जाता है और नमिता को तंदूर कांड की धमकी देता है, झूठी.....प्राण ले लूँगा मैं तुम्हारे.....मुझे मेरा बच्चा चाहिए.....बच्चा .....।<sup>5</sup> तभी नमिता का साक्षात् होता है उस संजय कनोई से, जो उसका प्रेमी नहीं, बल्कि उसका ख़रीददार है। वह तो संजय के लिए मात्र देह है, पवित्र देह, जिस पर वह अपने वंश की खेती करना चाह रहा था..... 'मैं रंडियों से बाप नहीं बनना चाहता था, जिनके लिए बच्चा पैदा करना महज सौदा-भर हो और जो अनेकों से सौदा कर चुकी हों...मुझे सिर्फ़ उस लड़की से औलाद चाहिए थी, जो पेशेवर न हो....पवित्र हो, जो मुझसे प्रेम कर सके, सिर्फ़ मेरे लिए माँ बने! सिर्फ़ मुझसे सहवास करे....।<sup>6</sup> आश्चर्य है। स्त्री-देह के साथ खेलनेवाला ऐयाश पूँजीपति भी स्त्री से यौन-शुचिता की माँग करता है। अपना पुरुषत्व सिद्ध करने के लिए वह भोली-भाली नमिता की भावनाओं के साथ खिलवाड़ करता है। पूँजी का मायाजाल फैलाता है और इस पूँजीवादी बाज़ार में उसे रखैल बनाकर छोड़ देता है, 'शादी में तुमसे करूँ न करूँ... मुझे बाप बनाकर तुम जीवन-भर ऐशोआराम से रह सकती थीं.....।'<sup>7</sup> परंतु चित्रा मुद्गल की प्रतिनिधि नारी-पात्र नमिता मात्र देह नहीं है, वह हांड-मांस की बनी मनुष्य है। भाव, विचार, संवेदन, उत्तेजना और अनुभव का संगुणित रूप। नमिता की स्त्री-चेतना संचय की पूँजी को लात मारते हुए अपनी जड़ों की ओर लौटने का संकल्प लेती है, 'मैं घर लौट रही हूँ.....।'<sup>8</sup>

वह समझ चुकी है कि वह एक मज़दूर की बेटी है और मज़दूर कभी पूँजीपतियों के जीवन का हिस्सा नहीं बन सकता। नमिता का 'शिवकुमारी चाली' लौटना वस्तुतः श्रमिकों की सांगठनिक शक्ति के प्रति लेखिका की आस्था प्रकट करता है। उपभोक्ता संस्कृति एवं बाज़ारवादी षड्यंत्रों से मुखातिब नमिता आत्मानुभव की आँच में तपकर आत्मपरिष्करण द्वारा नई दिशा तय करना चाहती है, 'दूसरों की नज़र से देखी हुई दुनिया अपना सच नहीं होती, न अपना अनुभव। अपने अनुभव के बिना कोई परिष्करण संभव है।'<sup>9</sup>

नमिता का स्वत्व-बोध मन की आवाज़ सुनने के लिए व्याकुल है। वह न तो टूटती है, न पराजित होती है, बल्कि विचारों के आवाँ में विवेक का कपाट खोलकर आशान्वित भविष्य की ओर बढ़ना चाहती है, 'मैं सिर्फ़ भीतर की आवाज़ सुन रही हूँ.....शहतीर इंगित दे



रही होती है कि कपाट खोलने की ज़रूरत है बाहर उजाला है प्रतीक्षा में.....।’<sup>10</sup>

रेखा कस्तवार की संदर्भित अभिव्यक्ति है—‘स्त्री की लड़ाई अपनी संस्कारबद्धता से है। चित्रा मुद्गल पुरुष-मानसिकता को अनावृत करने के साथ-साथ स्त्री की कंडीशनिंग से लड़ने की ज़रूरत पर बल देती हुई उपन्यास को स्त्री के कोण से कमज़ोर नहीं करतीं, लड़ाई की ज़मीन तैयार करती हैं और आवाँ के स्त्री-विमर्श के लिए आधार प्रदान करती हैं।’<sup>11</sup>

चित्रा मुद्गल ने नमिता, स्मिता, गौतमी, हर्ष, सुनंदा आदि नारी-पात्रों के चारित्रिक भिन्नता द्वारा नारी-मुक्ति आंदोलन के विविध अर्थों का स्पष्टीकरण किया है। समकालीन आलोचना जगत के केंद्र में स्त्री-विमुक्ति का प्रश्न विवादित विषय है। स्मिता के लिए स्त्री मुक्ति उच्छृंखलता में है, देह के मनमाने उपभोग-उपयोग में वह स्त्री-स्वतंत्रता का सुरक्षित भविष्य देखती है, जबकि नमिता की स्त्रीत्ववादी अवधारणा संघर्ष से प्रदीप्त स्वावलंबिता की माँग करती है। नमिता का नारीवाद स्त्री-अस्मिता का संघर्ष है, तो स्मिता और गौतमी स्वच्छंद यौन-विहार में स्त्री की विमुक्ति के अर्थर तलाशती है, परंतु नमिता का प्रतिरूप से प्रकरण हर्षा स्त्री-मुक्ति को देह से जोड़कर नहीं देखती। हर्षा कहती है, ‘देह में दिमाग है, दिमाग में हर समय देह मंडराती रहे..... मुझे नहीं लगता यह सच है कुछ का हो सकता है हर्षा और नमिता के रूप में लेखिका के लिए स्त्र- विमुक्ति का प्रश्न लिंगभेद के दायरे से मुक्त होना है। देह-मुक्ति का कोरा वितंडावाद सामाजिक असंतुलन एवं नैतिक स्खलन को बढ़ावा दे रहे हैं। निरंतर अवमूल्यित हो रहे समाज में चित्रा मुद्गल की नारी-दृष्टि समन्वयात्मकता की माँग करती है। नमिता के शब्दों में, ‘जो शिकायत आमतौर पर स्त्री को पुरुषवर्ग से है, वह पुरुष को स्त्री से होने लगे तो समन्वय का लक्ष्य पूरा होने से रहा।’<sup>12</sup> अविवाहित नमिता का संजय से देह-संबंध परस्पर प्रेम की प्रगाढ़ता है, स्वच्छंद यौन-विहार नहीं। नमिता के शब्दों में चित्राजी पुरुष बनाम स्त्री कांसेप्ट को खारिज कर स्त्री-विमर्श का नूतन अभिप्राय प्रस्तुत करती हैं। इन तथ्यों को रेखांकित करते हुए भूपेंद्र कलसी की टिप्पणी है—‘आवाँ’ में स्त्री-मुक्ति के कुछ स्पष्ट अर्थ निकलते हैं। वे स्त्री- मुक्ति को स्वच्छंद यौनाचार में अवमूल्यित नहीं करती। उनकी संघर्षशील स्त्रियों की ‘बोल्डनेस’ एक समझदार, निर्भय आत्मविश्वास से भरी संवेदनशील बुद्धिजीवी की अवधारणा बनती है, जो निर्द्वंद्व हो अपने निर्णय लेने की क्षमता रखती है।’<sup>14</sup>

गौतमी उपभोक्ता-संस्कृति का प्रतिरूप है। पैसा, ग्लैमर और भौतिक संसाधनों को प्राथमिकता देनेवाली गौतमी की आस्था सुविधाभोगी समाज-तंत्र में हैं। वह नमिता को भी यही दीक्षा देती है। हास-परिहास में वह नमिता को स्वच्छंद यौन-संबंध बनाने के लिए प्रेरित करती रहती है। यहाँ तक कि संजय कनोई द्वारा नमिता की कोख का उपयोग करने के षड्यंत्र में अंजना वासवानी के साथ गौतमी भी शामिल है, बल्कि वह स्वयं मिस्टर छेड़ा के लिए किराए की कोख रह चुकी है। संजय कनोई शब्दों में, ‘जूठी कोख है गौतमी’<sup>15</sup> उपभोक्तावादी मानसिकता में आस्था रखने वाली गौतमी को भी स्त्री का भोग्या रूप स्वीकार नहीं। वह पति को आधिकारिक बलात्कारी मानती है, जो स्त्री की मर्जी की चिंता किए बिना जब चाहे बिस्तर पर पटक देता है, लेकिन उसने अपने पति को इस अधिकार से वंचित रखा है, ‘पति क्या होता है। आधिकारिक बलात्कारी। आथोराइज्ड.....? मैंने अशोक को उस अधिकार से वंचित रखा है कि जब मन किया बीवी, सो रही हो, जग रही हो काम में व्यस्त हो, मर्जी हो न हो, उठाकर

बिस्तर पर पटक लिया.....।<sup>16</sup> गौतमी के लिए स्त्री-विमर्श का अर्थ पुरुषवर्ग को पंगु बनाना है। दरअसल, गौतमी का यह व्यवहार पितृसत्तात्मक मूल्यों के प्रति प्रतिशोध है। अपने सौतेले भाई के यौन के अतिचार से पीड़ित नेहा, गौतमी बनकर पुरुष सत्ता की बुनियाद गिराना चाहती है। गौतमी की उपयोगितावादी दृष्टि में फ्रिज, वाशिंग मशीन, अलमारी और पति में कोई अंतर नहीं—‘अशोक के साथ भी मेरा यही रिश्ता है...कहाँ जाती हूँ, किसके साथ सोती हूँ, सोना चाहती हूँ...कोई मतलब नहीं उससे। घर मेरा है, अशोक को रहना है रहे, न रहना हो छोड़कर चला जाए।’<sup>17</sup> कहा जा सकता है कि गौतमी की नारीवादी दृष्टि विदेशज प्रकृति की है। आर्थिक दृष्टि से समर्थ, आत्मनिर्भर स्त्रियों पर फेमिनिज़्म का चढ़ता बुखार कहीं पुरुष-विमर्श का बीजारोपण तो नहीं कर रहा?

गौतमी का उत्कृष्टतम रूप स्मिता में है। स्मिता में चित्राजी ने भविष्य की स्त्री को उपस्थापित किया है, जो अब तक जन्मी नहीं थी, जन्मने के लिए व्याकुल थी। स्मिता की आत्माभिव्यक्ति, ‘मुझमें आज की औरत के जीन हैं, जो अब तक जन्मी नहीं थी..... जन्मने को छटपटा रही थी।’<sup>18</sup> स्मिता के पिता मटका किंग मदन खत्री का उसकी बड़ी बहन से यौन-संबंध और गर्भपात जो उसे विक्षिप्त-सी जिंदगी जीने के लिए बाध्य करती है। पिता के इस अकल्पनीय कुकृत्य की भट्टी में तपकर तैयार होती है भविष्य की स्त्री स्मिता, जो पुरुष को आधी औरत बनाकर उस पर सवारी गाँठना चाहती है—‘वैसे तो हरामखोर मर्द रोते नहीं.. ... साआल्ले रुलाने पर ही रोते हैं, रुलानेवाला चाहिए!.....रोता हुआ मर्द कितना सुरीला लगता है। तेरी कल्पना के बाहर है।’<sup>19</sup> जिस देह का उपभोग करता हुआ पुरुषवर्ग अपनी कामेच्छाओं को तृप्त करता रहा है, स्मिता उसी देह को हथियार बनाकर पुरुषों पर वार करती है। जिस उद्दाम यौनाकांक्षा से उत्तेजित हो एक पिता अपनी मर्यादित सीमा का अतिक्रमण कर बैठता है, उन्हीं उद्दाम उत्तेजना के क्षणों में स्मिता अपने प्रेमी को अकेला छोड़ देती है, ‘मैं तेरे बच्चे की कुँवारी माँ नहीं बनना चाहती और जो लड़का कंडोम का इस्तेमाल नहीं करना जानता, वह मेरा प्रेमी होने के काबिल नहीं। बैठ घर में।’<sup>20</sup> अन्ना साहब द्वारा नमिता की इच्छा के विरुद्ध, कामगार आघाड़ी कार्यालय में किए गए दुराचार पर प्रतिक्रिया व्यक्त करती हुई वह कहती है ‘पें-पें करने से कुछ हासिल नहीं होने वाला पें-पें के बजाय...उसी समय हिम्मत दिखाती कुर्सी उठा पटक देती साले हरामी के सिर पर....। शीलभंग नहीं हो गया तेरा। मैं होती तेरी जगह तो साले बुद्धे से खूब खो-खो खेलती। चल करवा ले जो तू करवाता है। हाथभर ही तो डिटोल से धोने होंगे। धो लेंगे। मगर हर बार की खो पर निकाल दस हजार की गड्डी। मलाई खाएगा, साआला, और मुफ्त के मारे हुए चुटकुले सुनाकर मामला रफ़ा-दफ़ा कर लेगा.....।’<sup>21</sup> स्मिता को किसी भी शर्त पर स्त्री का रिरियातापन बर्दाश्त नहीं। स्मिता के लिए देह एक औजार है, पितृसत्ता का वंशवाद फैलाने वाली कोख नहीं। नमिता के गर्भवती होने पर वह उसे सलाह देती हैं, देह कोई चपाती सेकने का तवा भर नहीं.....पानी में तब तक आदमी को नहीं कूदना चाहिए, जब तक हाथ पाँव मार तैरना न सीख लें।<sup>22</sup> स्मिता अतिस्वच्छंद विचारों की संवाहिका है। फेमिनिज़्म के विदेशज प्रभावों से प्रभावित स्मिता विवाह-संस्था को अस्वीकार करती है ‘तलाक न मिले तो उनके परस्पर संबंधों में कोई फ़र्क नहीं पड़ने वाला। भाँवरों की महिमा में उसकी कोई विशेष आस्था नहीं।’<sup>23</sup> चित्रा मुद्गल का आवाँ प्रेम और विवाह-संबंधी पारंपरिक

मूल्यों को भी कठघरे में ला खड़ा करता है। किशोरीबाई का देवीशंकर पांडेय की भावात्मक पत्नी बनी रहना तथा माँ उर्मिला के कर्कश व्यवहार से परिचित नमिता द्वारा किशोरीबाई और सुनंदा को आत्मीय भाव से स्वीकार करना स्वर्था एक नवीनपरंपरा की शुरुआत है। चित्रा जी के लिए प्रेम, धर्म और जाति-बंधन की सीमा से परे है। सुनंदा कुँवारी माँ बनने का साहस तो दिखाती है, 'पर सुहैल द्वारा इस्लाम कबूल करने का प्रस्ताव टुकरा देती है। उसका संदर्भित कथन प्रेम करने के समय तो कोई शर्त नहीं रखी? ब्याह करना होगा तो उससे नहीं, इस्लाम से करना होगा.....या उसे हिंदुत्व से।' <sup>24</sup>

आवाँ ट्रेड यूनियन के मजदूरों का यथार्थ है। लेखिका ने मिल मजदूरों के शोषणपूर्ण जीवन, मिल-मालिकों के राजनीतिक छल-छद्म तथा प्रतिनिधि नेताओं के चारित्रिक विरोधाभास को करीब से देखा है। उनके अनुभवों की ताप में तपकर ही देवीशंकर, पवार, अन्ना साहब, शेवडे, विमलाबेन, शाहबेन जैसे चरित्र प्रकट होते हैं। ट्रेड यूनियन के प्रति समर्पित मजदूर देवीशंकर का जीवन जब लकवाग्रस्त हो जाता है, तो कामगार आघाड़ी उसके प्रति जिम्मेदारियों से मुँह मोड़ लेती है। 13 लाख मजदूरों के प्रतिनिधि नेता अन्ना साहब की हत्या वस्तुतः मजदूरों के हितों की हत्या है साथ ही 'मजदूर संगठनों' की दलगत प्रतिद्वंद्विता का यथार्थ भी प्रस्तुत होता है। दलित पवार की दमित कुंठा दलित समूह का आक्रोश है। पवार की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था पर समानाधिकार की चेष्टा वस्तुतः दलित-चेतना को संकेतित करती है, 'दोष भी दूँगा। यह प्रवृत्ति अकारण नहीं। मेरे इर्द-गिर्द फैले कथनी और करनी के अंतर मुझे मेरी दुनिया नहीं सौंप रहे।' <sup>25</sup> पवार और नमिता के मैत्रीय संबंधों में दलित एवं ब्राह्मणवाद का सामंजस्य संभावित हो रहा है। दया दीक्षित की समीक्षात्मक टिप्पणी है—'आवाँ ज़मीनी हकीकतों पर टिका, देखे-सुने, जाने-बूझे पात्रों से युक्त उत्कृष्ट कोटि का उपन्यास है। कथानक में बाँधे रखने की सामर्थ्य है। व्यापक अनुभव के आवें में पकाए जाने के कारण उपन्यास आज का प्रामाणिक अभिलेख बन गया है।'

विडंबनात्मक स्थिति है कि नमिता अन्ना साहब के लिए बेटी-जैसी है, बेटी नहीं। अन्ना साहब का नमिता से दुराचार की घटना कार्यालयी अधिकारियों द्वारा महिला कर्मचारियों के शोषणपूर्ण यथार्थ को प्रस्तुत करता है। 'पिता समान हूँ मैं तुम्हारा, पिता नहीं हूँ।....नियंत्रण में नहीं रहूँगा तो कह नहीं सकता, क्या होऊँगा।....तुम्हारी देह के साथ मैं कोई खिलवाड़ नहीं करूँगा।....अपनी देह के साथ खेलने के लिए मैं स्वतंत्र हूँ। हाथ मत छुड़ाओ। जैसा कहूँ करती चलो।.....।' <sup>27</sup> अन्ना साहब जैसे तथाकथित समाजसेवियों का यह छद्म यथार्थ है। जो अपने कुकृत्यों पर बड़ी चतुराई से दार्शनिकता का अवरण डाल देते हैं—'देह मुझे नहीं भोगती। भूले-भटके मैं स्वयं अपनी दैहिक और मानसिक थकान उतारने के लिए उसका उपयोग कर लेता हूँ और नई स्फूर्ति, नई ऊर्जा के साथ श्रमिक-सेवा में संलग्न हो उठता हूँ.....।' <sup>28</sup> शराब और नशेबाजी के विरुद्ध दिन के उजाले में विमलाबेन का भाषण और अँधेरी रात गए अपनी थकान उतारने के लिए शराब का अगाध सेवन! विमलाबेन के चारित्रिक विरोधाभास को ही रेखांकित करता है। यह बात अलग है कि विमलाबेन का नेतृत्व दलित-समुदाय में क्रांति-चेतना का संचार कर रहा है।

आवाँ पितृसत्तात्मक निर्धारित मूल्यों को विखंडित कर नव्य समाज का नया मानदंड

गढ़ता है। विमालाबेन के आह्वान पर स्त्रियों का बारी-बारी से सुनंदा की मय्यत को कंधा देना है— 'मैं कंधा किसी औरत की मय्यत को नहीं दे रही, उस स्त्री-चेतना को दे रही हूँ, जिसका गला घोटने की कोशिश हत्या के बहाने हुई है!.....।'<sup>29</sup> शास्त्रों में माता-पिता का अंतिम संस्कार करने का अधिकार बेटों को ही दिया गया है। बेटों का कंधा ही उन्हें मुक्ति दे सकता है। नमिता का क्रांतिकारी कदम शास्त्रगत रूढ़ियों का निषेध है। नमिता का अपने पिता देवीशंकर को मुखाग्नि देने और अंतिम संस्कार करने का निश्चय पितृसत्तात्मक मानसिकता को ठेस पहुँचाता है। नमिता की माँ उर्मिला का क्षुब्ध आक्रोश इस रूप में शब्दबद्ध है—'न मैं बाँझ हूँ न, छूँछी! कुलदीपक बेटा जना है मैंने बेटा!, जना है तो भला किस दिन के लिए जना है?'<sup>30</sup> सुनंदा बिनब्याही माँ होते हुए भी सगर्व जचकी की सुविधाएँ पाने के लिए संघर्ष करती है, आवाज़ उठाती है, 'सुविधा का प्रावधान गर्भवती स्त्री और उसके बच्चे को लेकर है, न कि कुँवारी माँ या ब्याहता माँ के विशेषणों के लिए। कुँवारी माँ क्या ब्याहता माँ के ही समान जचकी के घोर कष्टों से होकर नहीं गुजरती? उसे आराम की जरूरत नहीं होती? माँ बनना किसी के निजी मामले के बजाय कंपनी का मामला कैसे हो गया।'<sup>31</sup>

डॉ० कल्याणमल लोढ़ा का निष्कर्ष है—'आवाँ की तह में निहित मानवीय संवेदना केवल यत्र-तत्र बिखरते स्फुलिंग भर नहीं हैं। आज की उपसंस्कृति, औद्योगिक अभिशाप के प्रभावी चित्रण के परिप्रेक्ष्य में वर्तमान विकृत और भ्रष्ट स्वरूप धारण करने वाली व्यवस्था है।'<sup>32</sup>

आज भी मध्यवर्गीय परिवारों में लिंगभेद की राजनीति सक्रिय है। नमिता की माँ उर्मिला द्वारा नमिता की उपेक्षा, फ़्रीस के अभाव में मुनिया की हिंदी स्कूल में भर्ती, किंतु कठिन परिस्थितियों में भी छुनु को अँग्रेजी स्कूल में ही पढ़ाना ऐसे ही प्रसंग हैं। उच्च-शिक्षा एवं उससे जुड़े तमाम स्वप्नों को तिलांजलि देती हुई नमिता लकवाग्रस्त जर्जर परिवार की ज़िम्मेदारियों के निर्वहन का संकल्प लेती है। पापड़ बेलकर, साड़ियों में फॉल टाँककर, ट्यूशन आदि से संघर्ष की यात्रा आरंभ करने वाली नमिता कभी भी माँ की ममता, उदारता, सहानुभूति और विश्वास न पा सकी। उर्मिला के ये तित्त वचन, 'नमी की जगह आज हमारा जवान बेटा होता तो आपद-विपद का सहारा होता!.....लड़की कमा-धमा रही लड़कों के बराबर कमा रही, मगर ठहरी चार दिन की चाँदनी! दफ़्तर में किसी से लप्पा-डुग्गी हुई नहीं कि मिनट खाँड नहीं लगेगा प्रेम में अनारकली बनते। लड़के की बात जुदा! सलीम बन भी जाए तो अनारकली आती तो अपने ठिय्याँ ठिकाने!'<sup>33</sup>

इसी क्रम में शिवकुमार मिश्र का मंतव्य है—'स्त्री की लड़ाई में उसकी सबसे सशक्त प्रतिद्वंद्वी औरत खुद है। गुलामी को एक सुख की तरह भोगती औरत, लुभावने और मोहक विशेषणों से ठगी हुई औरत, सदियों के संस्कारों से जड़ी-मढ़ी औरत, उन्हें मूल्य और आदर्शों के रूप में छाती से चिपकाए हुए औरत और जब औरत ही सामने हो, तो लड़ाई कितनी कठिन होगी अनुमान किया जा सकता है।'<sup>34</sup>

चित्रा मुद्गल ने आवाँ में एक ऐसी सामाजिक संरचना को प्रतिकृत किया है, जिसमें साम्य-वैषम्य, नैतिक-अनैतिक, मानवीय-अमानवीय, प्रेम-घृणा, उदारवादी एवं अराजक तत्वों का रेशा-रेशा अनावृत हो रहा है। उत्पाद-उपभोक्ता की मानसिकता मर्यादित समाज-व्यवस्था को भस्मीभूत कर रही है। फोटोग्राफर सिद्धार्थ का नमिता को रातों-रात कामयाब मॉडल बनाने

का प्रस्ताव बशर्ते 'फ्रीस की शक्ल-भर बदल जाएगी....। पोर्टफोलियों बनाने की एवज में तुम्हें मेरे साथ दैहिक संबंध रखने होंगे।'<sup>35</sup> जो फ्रैशन, मॉडर्निंग और फ़िल्मी दुनिया के यथार्थ को यथावत् प्रस्तुत करती है। दूसरी ओर नमिता की परिणति समाज में तेज़ी से फैल रही वेश्यावृत्ति को संकेतित कर रही है। एक समय में यह व्यापार सीमित क्षेत्रों एवं अँधेरी कोठरियों तक ही चालित था, लेकिन आज यह व्यवसाय पंचसितारा होटलों खंडाला और ए०सी० मकानों तक विस्तारित है। विडंबनात्मक सत्य है कि नारी ही नारी को वेश्यावृत्ति के गर्क में धकेल रही है। कैरियर की तलाश में भटकती सुकुमार युवतियों के लिए चकलाघरों का द्वार खोले बैठी हैं दलाल अंजना वासवानी जैसी महिलाएँ, जो विश्वास और कृपा के छद्म आवरण में ज़रूरतमंद लड़कियों को पूँजीपतियों के भोग के लिए परोस रही हैं। अंजना वासवानी अपनी तीन-तीन ए०सी० गाड़ियों को छोड़कर लोकल ट्रनों में सफ़र करती हैं जहाँ उसकी पारखी दृष्टि ज़रूरतमंद लड़कियों को तलाश लेती है, जिन्हें वह अपने ग्राहकों को परोस सके। वेश्यावृत्ति का यह अभिजातीय ढंग पतनोन्मुख सामाजिक यथार्थ को ही चिह्नित करता है।

अपने विस्तृत कलेवर में आवाँ विभिन्न कथा-सूत्रों के माध्यम से व्यक्ति एवं समाज के बहुआयामी यथार्थ को प्रस्तुत करता है। चारित्रिक भिन्नता, प्रतिरोधी मूल्यों की तह में चित्रा जी की समाज-चिंता निहित है। प्रतिस्पर्धा, पांखड, व्यभिचार, शोषण एवं वैचारिक वैमनस्य से उपजी विकृत मनोग्रंथियों का परिष्करण कर स्वस्थ, उन्नत और उत्तम समाज-व्यवस्था की प्रतिष्ठा ही आवाँ का लक्ष्य है। आवाँ उपभोक्ता संस्कृति में मानवीय संवेदनाओं की महत्ता का रेखांकन है। वैषम्यमूलक पूँजीवादी-व्यवस्था में संघर्षशीलता का आह्वान है, बाज़ारवादी समीकरण में आत्मनिर्णय की प्रेरणा है और सबसे ऊपर मानवीयता को प्रतिष्ठित करने का एक प्रयास है। चित्रा मुद्गल की आधुनिकता सामाजिक दायित्व से पूर्ण है, नमिता के शब्दों में, 'मैं वैसी आधुनिका नहीं हूँ कि बिना ब्याह के अवैध संतान पैदा कर छद्मक्रांति जीऊँ। मेरे लिए संतान सामाजिक जिम्मेवारी है।'<sup>36</sup>

उपन्यास के अंत में नमिता का गर्भपात पाठकों को अस्वाभाविक-सा लगता है। किसी की हत्या की ख़बर सुनकर गर्भपात हो जाए, निश्चय ही अविश्वनीय घटना प्रतीत होती है। नमिता का गर्भपात, दरअसल, पूँजीवादी छद्म व्यवस्था का गर्भपात है, संजय कनोई जैसे पूँजीपतियों के भावी वंशवाद का गर्भपात है। दूसरी ओर सुनंदा की हत्या के बावजूद उसकी बेटी को भविष्य की अनंत संभावनाओं के रूप में बचा लेना चित्रा मुद्गल की कलात्मक सजगता का प्रमाण है।

### संदर्भ

1. माज़दा असद, आवाँ विमर्श, पृ० 12
2. आवाँ, चित्रा मुद्गल, पृ० 302
3. डॉ० रोहिणी अग्रवाल, आवाँ विमर्श, पृ० 112
4. आवाँ, पृ० 450
5. वही, पृ० 539
6. वही, पृ० 539
7. वही, पृ० 539

8. वही, पृ० 543
9. वही, पृ० 542
10. वही, पृ० 542
11. स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ, रेखा कस्तवार पृ० 197
12. आवाँ, पृ० 306
13. वही, पृ० 281
14. भूपेंद्र कलसी, आवाँ विमर्श, पृ० 14
15. आवाँ, पृ० 540
16. वही, पृ० 361
17. वही, पृ० 361
18. वही, पृ० 374
19. वही, पृ० 205
20. वही, पृ० 205
21. वही, पृ० 278
22. वही, पृ० 508
23. वही, पृ० 434
24. वही, पृ० 112
25. वही, पृ० 112
26. दया दीक्षित, आवाँ विमर्श, पृ० 13
27. आवाँ, पृ० 241
28. वही, पृ० 136
29. वही, पृ० 153
30. वही, पृ० 399
31. वही, पृ० 110
32. डॉ० कल्याणमल लोहड़ा, आवाँ विमर्श, पृ० 11
33. आवाँ, पृ० 241
34. शिवकुमार मिश्र, स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ, पृ० 117
35. आवाँ, पृ० 293
36. वही, पृ० 522

## गोस्वामी तुलसीदास और मैथिलीशरण गुप्त के अप्रस्तुत विधान

आलोक त्रिपाठी, शोध-छात्र  
डॉ० मनमोहन शुक्ल, शोध निर्देशक  
वी०ब०पू०वि०वि० जौनपुर

गोस्वामी तुलसीदास और मैथिलीशरण गुप्त दोनों ही कवि अपने युग के सशत्रु कवि रहे हैं। एक ने चिर-पिपासाकुल संसार-संतप्त पथिकों के लिए सुशीतल सुधास्रोतस्विनी पुण्य सलिला रामभक्ति मंदाकिनी की धवल धारा बहा दी है, भद्र-भ्रमरों के लिए अपनी कृति वाटिका में भाव-कुंज-कलिकाओं से अनुराग मकरंद प्रस्तावित किया है, साहित्य-सेवियों के सम्मुख भगवती भारती की अप्रतिम प्रतिमा प्रत्यक्ष करा दी है, वहीं दूसरे ने समाज के सभी पार्श्वों की उन्नति को लक्ष्य करके जीवन के नवोत्थान का संदेश सुनाया है। इन दोनों ही कवियों ने अपनी काव्य सरिता में अपने भावों के प्रवाह को अबाध रूप से प्रसारित करने हेतु अप्रस्तुतों की सुंदर योजना की है। अप्रस्तुत विधान के आधार व दोनों ही कवियों के कुछ प्रमुख उदाहरणों के माध्यम से इनके अप्रस्तुत विधानों की तुलना ही इस शोध-पत्र का प्रतिपाद्य है।

इस क्रम में सर्वप्रथम अप्रस्तुत योजना के बारे में चर्चा करना अपेक्षित है। अप्रस्तुत विधान या अप्रस्तुत काव्य की एक सुन्दर शैली है। जैसा कि अप्रस्तुत शब्द से ही यह अर्थ व्यंजित होता है, कि जो प्रस्तुत न हो उसकी योजना, उसकी प्रशंसा ही अप्रस्तुत योजना अथवा विधान कहलाता है। मम्मटाचार्य विरचित काव्यप्रकाशः में इसका विवेचन करते हुए लिखा गया है—‘अप्रस्तुत प्रशंसा यासा सैव प्रस्तुताश्रया।’

इस प्रकार प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति कराने वाली द्व्यप्रस्तुताश्रयाः जो अप्रस्तुत (अर्थ) की प्रशंसा (वर्णन) है, वह ही अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है—‘अप्राकरणिकस्यभिधानेन प्राकरणिककस्यक्षेपोखप्रस्तुतप्रशंसा।’

इस प्रकार ऐसा कथन जो प्रकरण तथा प्रस्तुत अर्थ से भिन्न वस्तु के प्रकरण अर्थात् उस अप्रस्तुत की मात्र प्रतीति करा देती है, इस प्रकार के वर्णन को अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार की श्रेणी में रखा गया है। मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश के एक सूत्र का वर्णन करते समय इसके संदर्भ में अपने विचार इस प्रकार से व्यक्त किया है—

कार्य निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति।  
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पंचधा।

इस सूत्र के माध्यम से अप्रस्तुत विधान के 5 भेद होते हैं। आचार्य देवेन्द्र शर्मा अपने काव्यशास्त्र में यह प्रतीति 5 प्रकार से मानते हैं—

1. कारण निबंधना
2. कार्य निबंधना
3. विशेष निबंधना
4. सामान्य निबंधना
5. सारूप्य निबंधना

अब इन्हीं प्रकारों को आधार बनाकर हम गोस्वामी तुलसीदास तथा मैथिलीशरण गुप्त के अप्रस्तुत विधानों की तुलना करेंगे। इन दोनों साहित्यकारों में अप्रस्तुत विधानों के प्रस्तुति की विलक्षण प्रतिभा है और इन्होंने अपने प्रतिभा कल्पना के सहारे विषय संयोजन में अप्रस्तुत विधान का मणिकांचन संयोग प्रस्तुत किया है। हम अप्रस्तुत विधान का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए यह देखने का प्रयास करेंगे कि अप्रस्तुत विधान में गोस्वामी तुलसीदास और मैथिलीशरण गुप्त कितने सफल रहे हैं।

**कारण निबंधना :** गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' में रामचरित को सुंदर 'चिंतामणि' के रूप में चित्रित करते हुए लिखा है—

रामचरित चिंतामनि चारु। संत सुमति तिय सुभग सिंगारु।

जग मंगल गुनग्राम राम के। दानि मुकुति धन धरम धाम के।

यहाँ अप्रस्तुत है चिंतामणि जिसके द्वारा सुबुद्धि रूपी स्त्री का श्रृंगार होता है, यह चिंतामणि का चरित्र है जो सुबुद्धि रूपी स्त्री को सुंदरता प्रदान करने का कारण है। यहाँ कारण निबंधना व्याप्त है, वहीं दूसरी ओर 'साकेत' में भी गुप्तजी ने कारण निबंधना प्रयुक्त करते हुए लिखा है—

सामने से हवा, अधिक न बोल

द्विजिह्वे, रस में विष मत घोल।

यहाँ 'द्विजिह्वा' अप्रस्तुत है जिसके वर्णन से 'विष की प्रतीति हो रही है, इस प्रकार यहाँ अप्रस्तुत कारण के वर्णन से कार्य की प्रतीति हो रही है, इसलिए यहाँ कारण निबंधना है—

है अयोध्या अवनि की अमरावती

इंद्र है दशरथ विदित वीरव्रती।

नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम।

लाजहि तन सोभानिरखि कोटि-कोटि सतकाम।

यहाँ प्रथम उदाहरण में गुप्त जी पृथ्वी को स्वर्ग मानते हैं जिसके कारण राजा दशरथ इस धरती के स्वर्गाधिपति हैं, वहीं दूसरी ओर गोस्वामी जी ने भगवान को नीले कमल और नीले जलयुक्त मेघ के समान मानते हैं, जिसके कारण उनसे करोड़ों कामदेव लज्जित हो जाते हैं। यहाँ अप्रस्तुत कमल व मेघ के ही कारण कार्य होता है इसलिए यहाँ भी कारण निबंधना है। इस प्रकार कारण निबंधना के आधार पर यदि गोस्वामी तुलसीदास और गुप्त जी की तुलना की जाय तो पता चलता है कि दोनों ही कवियों ने कारण निबंधना का बड़ा ही सुंदर प्रयोग



किया है।

**कार्य निबंधना :** जब प्रस्तुत का वर्णन इस प्रकार से हो कि अप्रस्तुत कार्य के वर्णन से अप्रस्तुत कार्य के वर्णन से प्रस्तुत कार्य की प्रतीति हो, वहाँ कार्य निबंधना होती है। गोस्वामी जी और गुप्त जी दोनों ने ही अपने काव्य में बड़ी सहजना से इसे प्रयुक्त किया है। युद्धभूमि में रावण के बाणों से राम ऐसे घिरते हैं जैसे कुहरे में सूर्य—

समरभूमि दसकंधर कोप्यो। बरषि बान रघुपति रथ तोप्यो।

दंड एक रथ देखि न परेऊ। जनु निहार महुँ दिनकर दुरेऊ।

यहाँ कुहरे में सूर्य को छिपना अप्रस्तुत है। कुहरा अज्ञानता व अंधकार है वहीं दूसरी ओर सूर्यरूपी सूर्यवंशी राम हैं, जो रावण के बरसाए हुए बाणों में इस प्रकार ढक जाते हैं, कि मानों सूर्य कुहरे में छिप गया हो। यहाँ कुहरे में सूर्य का छिपना अप्रस्तुत कार्य है, जो राम के छिपने को व्युत्पन्न करता है। इसलिए यहाँ कार्य निबंधना है, छीक उसी प्रकार गुप्त जी ने साकेत में कार्य निबंधना का सुंदर प्रयोग किया है—

असुर शासन शिशिर-मय हेमन्त है,

पर निकट ही रामराज्य बसंत है।

और रह सकी न अब वह शान्त,

उठी आँधी सी होकर भ्रान्त।

एड़ियों तक आ छूटे केश,

हुआ देवी का दुर्गा वेश।

इस उदाहरण में 'हेमन्त' ऋतु के अप्रस्तुत कार्य के माध्यम से रामराज्य रूपी बसंत ;तु की कारण की प्रतीति का माध्यम बनाया है। जैसे आंधी का कार्य अशांत रहना है ठीक उसी प्रकार केकेयी का मन अशांत हो जाता है, यहाँ कार्य अप्रस्तुत है कारण की प्रतीति कराना है। ठीक इसी प्रकार गोस्वामी जी भी सिंह के अप्रस्तुत कार्य के माध्यम से श्रीराम के कार्य की प्रतीति लंकाकांड में करते हैं—

जय राम सदा सुखधाम हरे।

रघुनायक सायक चाप धरे॥

भव बानर दारन सिंह प्रभो।

गुन सागर नागर नाथ विभो।

इस प्रकार कार्य निबंधना की दृष्टि से भी गोस्वामी जी एवं गुप्त जी का साहित्य बहुत समृद्ध है, दोनों ही कवियों ने अप्रस्तुत विधान के इस भेद का भी अपने साहित्य में प्रचुरता से किया है।

**विशेष निबंधना :** जब अप्रस्तुत विशेष के वर्णन से प्रस्तुत के सामान्य अर्थ की प्रतीति हो तब विशेष निबंधना होती है। गोस्वामी तुलसीदास एवं गुप्त जी दोनों ने ही अपने काव्य में ऐसे अप्रस्तुतों का प्रयोग किया है, जो विषय गाम्भीर्य को स्पष्ट करते हैं। रामचरितमानस के आयोध्याकांड में राज्याभिषेक के समय एकाएक वन गमन की प्रस्तुति कवि गोस्वामी जी इस प्रकार से करते हैं—

भूप मनोरथ सुभग बन सुख सुविहंगु समाजु।

भिल्लिनि जिमि छाड़न चहति बचनु भयंकरू बाजु।

यहाँ गोस्वामी जी ने केकेयी के वचनरूपी बाणों को बाज की तरह माना है, क्योंकि बाज सुंदर पक्षियों को नष्ट करने की क्रिया में विशेष है, जो सामान्य अर्थ राजा के मनोरथ की अनुभूति करता है। यहाँ पर सुंदर वन व सुंदर पक्षियों का समुदाय है, जिन पर विशेष अप्रस्तुतों (भिल्लनी व बाज) का प्रयोग कर सामान्य अर्थ की अनुभूति कराई गयी है।

यहाँ इसी प्रसंग में साकेत में गुप्त जी ने केकेयी का दशरथ के हृदय में स्थान की ओर इस प्रकार संकेत करते हैं—

जिसे चिन्तामणि-माला जान,  
हृदय पर दिया प्रधान स्थान,  
अन्त में लेकर यों विषदन्त,  
नागिनी निकली वह हा हन्त!

यहाँ गुप्त जी ने दो अप्रस्तुतों का प्रयोग किया है एक है चिन्तामणि तथा दूसरा नागिन का। क्योंकि चिन्तामणि एक विशेष अप्रस्तुत है, जिसे सर्वश्रेष्ठ मानकर गले के साथ हृदय में प्रधान स्थान दिया जाता है, सामान्य अर्थ में वह केकेयी है, जिसे राजा दशरथ ने अपने हृदय प्रधान स्थान दिया है, वही केकेयी अप्रस्तुत नागिन की तरह हो जाती है जो अपने वचन रूपी जहर से राजा दशरथ को डस लेती है।

इतना ही नहीं इस प्रकार के अनेक उदाहरणों से गोस्वामी जी और गुप्त जी के काव्य भरे पड़े हैं, जिनमें दोनों ही कवियों ने विशेष निबंधना का फलतापूर्वक प्रयोग किया है।

**सामान्य निबंधना :** जहाँ अप्रस्तुत वर्णन में अप्रस्तुत सामान्य के वर्णन से विशेष की प्रतीति होती है, वहीं सामान्य निबंधना पायी जाती है। दोनों ही कवियों के काव्य में ऐसे अप्रस्तुतों की प्रचुरता है, अतः उनकी तुलना हेतु कुछ उदाहरण निम्नवत् हैं।

जब चित्रकूट में श्रीरामचन्द्र जी से मिलने भरत आते हैं, तो उनकी माताएं भी आती हैं, जो श्वेत वस्त्र धारण किए हैं, उनका वर्णन गुप्त जी इस प्रकार से करते हैं—

जिस पर पाले का एक पत-सा छाया,  
हत जिसकी पंकज, पंक्ति अचल सी काया।  
उस सरसी-सी, आभरण-रहित सितवसना,  
सिहरे प्रभु माँ को देख, हुई जड़ रसना।

‘पाले’ जैसे सामान्य अप्रस्तुत के माध्यम से कितने विशेष अर्थ की प्रतीति कराई गई है, ठीक उसी प्रकार तुलसीदास जी रामचरितमानस के सुंदरकांड में ‘खद्योत’ जैसे सामान्य अप्रस्तुत का प्रयोग राम जैसे सूर्य की तुलना में किया है, सुंदरकांड में सीता राम से रावण की तुलना इस प्रकार करती हैं—

सुनि दसमुख खद्योत प्रकासा। कबहुँ कि नलिनी करई विकासा।  
अस मन समुझि कहत जानकी। खल सुधि नहि रघुबीर बान की।  
आपुहि सुनि खद्योत सम रामहि भानु समान।  
परुष बचन सुनि काढ़ि असि बोला अति खिसियाना।’

यहाँ सीता जी रावण को जुगनू कहती हैं, कि तू तो जुगनू के समान है तथा राम तो

सूर्य के समान हैं, इस प्रकार कमलिनी के खिलने के लिए सूर्य की आवश्यकता होती है, जुगनू के प्रकाश से कुमुदनी नहीं विकसित होती है, यह सामान्य से अप्रस्तुत जुगनू, सूर्य और नलिनी ये सभी अप्रस्तुत विशेष अर्थ की प्रतीति कराते हैं।

इस प्रकार यदि दोनों ही कवियों के काव्य का अवलोकन सामान्य निबंधना की दृष्टि से किया जाय तो यह कहा जा सकता है, कि दोनों ही कवियों ने अपने-अपने काव्यों में इस प्रकार के अप्रस्तुतों का प्रयोग बड़ी फलता से किया है। दोनों ही कवियों ने अपने काव्य में मार्मिकता की वृद्धि व भावप्रेषण हेतु सामान्य निबंधना अप्रस्तुतों का प्रयोग फलतापूर्वक किया है।

**सारूप्य निबंधना :** यह अप्रस्तुत इस प्रकार का होता है, कि अप्रस्तुत तुल्य वर्णन प्रस्तुत तुल्य वस्तु की प्रतीति कराता है ऐसे वर्णन में सारूप्य निबंधना होती है। यदि सारूप्य निबंधना की दृष्टि से दोनों ही कवियों की तुलना की जाय तो सारूप्य निबंधना के अनेक उदाहरण मिलते हैं—

साकेत महाकाव्य के 'अष्टम' सर्ग में सीता के लिए राम के द्वारा कहा गया कथन भी सारूप्य निबंधना विधान से सजाया गया है—

बैठी है सीता सदा राम के भीतर,  
जैसे विद्युतद्युति घनश्याम के भीतर।

यहाँ दामिनी जैसे साँवले बादलों के बीच में छिपी रहती है अथवा वहीं निवास करती है यहाँ घने बादलों और बिजली के बीच जो संबंध है वही समरूपता श्रीराम और सीता के संबंधों के बीच में है, क्योंकि यहाँ सीता दामिनी की तरह राम के भीतर समाहित रहती हैं। इसी प्रकार गोस्वामी तुलसी दास भी श्रीराम के सौंदर्य का वर्णन इस प्रकार से करते हैं, श्रीराम वल्कल वस्त्रों का जब धारण करते हैं तो करोड़ों काम देवों का मन मोहित हो जाता है—

तरुण तमाल बरन तनु सोहा। देखत कोटि मदन मन मोहा।

दामिनी बरन लखन सुठि नीके। नख-सिख सुभग भावते जी के।

यहाँ गोस्वामी तुलसीदास जी श्रीरामचंद्र जी के शरीर का वर्णन करते के लिए तरुण (नवीन) तमाल जैसे अप्रस्तुतों का प्रयोग किया है। यहाँ तरुण तमाल का वृक्ष भी श्याम वर्ण का है और राम का शरीर भी श्याम वर्ण का है। यहाँ दोनों के वर्णों में एकरूपता है, अतः यहाँ भी सारूप्य निबंधना की अप्रस्तुत योजना है।

इस प्रकार यदि सारूप्य निबंधना की दृष्टि से गोस्वामी जी और गुप्त जी के अप्रस्तुत विधानों की तुलना की जाय तो अप्रस्तुत प्रयोग करने का दोनों का उद्देश्य एक ही दिखाई देता है केवल अभिव्यक्ति को स्पष्ट करने अथवा दोनों ने ही भावबोध कराने के लिए अप्रस्तुतों का प्रयोग किया है जिसमें दोनों कवियों को पर्याप्त फलता मिली है।

इस प्रकार अप्रस्तुत विधानों की तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो गोस्वामी तुलसीदास एवं मैथिलीशरण गुप्त दोनों ही कवियों ने अपने काव्य सरिता में अपनी अप्रस्तुत योजना के असंख्य मोती छिपा रखे हैं। दोनों ही कवियों में सहृदयता एवं भाषा का मंजुल सामंजस्य है। भावाभिव्यक्ति और शिल्पगत संयोजन हेतु विभिन्न अलंकारों के साथ उपमानों को बड़ी ही कुशलता एवं प्रभावोत्पादकता के साथ प्रस्तुत किया है। निस्संदेह रूप से कहा जा सकता है कि

गोस्वामी तुलसीदास जी की अप्रस्तुत योजना कालिदास की भाँति अपनी मौलिकता में उस युग में अद्वितीय है तो गुप्त जी का अप्रस्तुत विधान भी अपने युग में एकमेव है।

#### संदर्भ

1. काव्यप्रकाश दशम उल्लास, पृ० 476
2. काव्यप्रकाश दशम उल्लास, पृ० 476
3. काव्यप्रकाश दशम उल्लास, पृ० 476
4. गोस्वामी तुलसीदास रामचरितमानस बालकांड, चौ० 31/2
5. मैथिलीशरण गुप्त साकेत, द्वितीय सर्ग, पृ० 17
6. मैथिलीशरण गुप्त साकेत, प्रथम सर्ग, पृ० 4
7. तुलसीदास रामचरितमानस, बालकांड, दोहा 146
8. तुलसीदास रामचरितमानस, बालकांड, दोहा 92/2
9. मैथिलीशरण गुप्त साकेत, प्रथम सर्ग, पृ० 1
10. मैथिलीशरण गुप्त साकेत, एकादश सर्ग, पृ० 235
11. तुलसीदास रामचरितमानस, बालकांड, दोहा 110/1
12. गोस्वामी तुलसीदास रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा 28
13. मैथिलीशरण गुप्त साकेत, द्वितीय सर्ग, पृ० 28
14. मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, पृ० 128
15. गोस्वामी तुलसीदास रामचरितमानस, सुंदरकांड, दोहा 8/7ए 8 व दोहा 9
16. मैथिलीशरण गुप्त साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० 121
17. गोस्वामी तुलसीदास रामचरितमानस, अयोध्याकांड, चौ० 114/3ए4

□ द्वारा डॉ० मनमोहन शुक्ल  
147, मायापुरी आवास योजना  
झूँसी, इलाहाबाद 211019

## डॉ० भद्रपालसिंह 'संतोष' के काव्य में 'वीररस' की योजना

रोहिताश्वकुमार, प्रवक्ता  
श्री गांधी स्मारक कृषक इंटर कॉलेज  
बेरा, मथुरा (उ०प्र०)

रस को पारिभाषित करनेवाले आदिआचार्य भरतमुनि हैं। उन्होंने 'नाट्य-शास्त्र' के छठवें अध्याय में रस के सिद्धांत एवं विनियोग पर सम्यक् रूप से प्रकाश डाला है। रस का परवर्ती अध्याय भावों के विवेचन से संबंधित है, जिसमें भरतमुनि ने भाव, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव, सात्त्विक भाव तथा स्थायी भावों का विशद् विवेचन किया है। दोनों ही अध्याय एक ही विषय से पूर्णतः संबद्ध हैं, क्योंकि भरत ने स्वयं कहा है कि रस और भाव अन्योन्याश्रित हैं। अर्थात् रस के बिना भाव नहीं होता और भावों के बिना रस नहीं होता। दोनों के परस्पर सहयोग से ही अभिनय में सिद्धि प्राप्त होती है।<sup>1</sup>

भरत ने रस का विवेचन करते समय उससे संबंधित प्रत्येक अंग-उपांगों पर मुनियों से प्रश्न कराकर प्रत्येक शंका का निवारण कर दिया है। रस की चर्चा के प्रारंभ में ही मुनिजन भरत से प्रश्न करते हैं—'रस इति कः पदार्थः। उच्यते आस्वाद्यत्वात्।'<sup>2</sup>

अर्थात् रस यह क्या पदार्थ है? भरत ने उत्तर में कहा—'जिसका आस्वादन किया जा सकता है। तब मुनियों ने पूछा—'कथमास्वाद्यते रसः' अर्थात् रस का आस्वादन किस प्रकार किया जा सकता है? भरत ने उत्तर में दिया—

भाषाभिनयासंबद्धन्स्थायिभावांस्था बुधाः  
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः।<sup>3</sup>

अर्थात् अनेक भावों से युक्त अभिनय से संबंधित स्थायी भावों का सहृदय पुरुष मन से आस्वादन कर लेते हैं, अतः इसको नाट्य-रस कहा जाता है।

भरत ने नाट्यशास्त्र में आठ रस तथा उनके आठ स्थायी भाव स्वीकार किए हैं। परवर्ती आचार्यों ने रसों की संख्या में वृद्धि की। भरत के परवर्ती काल में अनेक आचार्यों ने भरत को आधार स्वीकार करते हुए रस की विशद् व्याख्याएँ ही नहीं कीं, रस के परिपाक के संबंध में अपने-अपने मत भी प्रस्तुत किए।

विश्वइतिहास का प्रत्येक पृष्ठ खून की होली से रक्त रंजित है। जैसे ही मानव ने सभ्यता के कदम आगे बढ़ाए उसने प्रतिद्वंद्वी को मर्दित करने के लिए खून की होली खेली है। विश्वसाहित्य में सर्वत्र इस कहानी की पुनरावृत्ति होती रही है। भारत में भी आर्यसभ्यता के

पदार्पण के साथ-साथ यह इतिहास रक्त वर्णों में लिखा गया है। रामायण, महाभारत, जैन एवं बौद्धयुग, मौर्य एवं अशोक आदि सभी के युग में ईसा से पूर्व अनेक युद्ध हो चुके हैं। अनेक सेनानियों ने इतिहास के पृष्ठों पर अपनी छाप छोड़ी है। ईसा के पश्चात् भारत के इतिहास में प्रत्येक पृष्ठ युद्ध की विभीषिका से प्रकंपित है। भारत की स्वतंत्रता से पूर्व और उसके पश्चात् भी यह खूनी चक्र निरंतर गतिशील हो रहा है। मानव का अतीत, वर्तमान और भविष्य युद्ध की रक्तरंजित होली से रंगा हुआ है। वीररस का संबंध युद्धभूमि से है। उत्साह यों तो प्रत्येक हृदय में सुप्तावस्था में स्थित है, परंतु युद्धकाल में यह जन-जन के हृदय का संगीत बन जाता है। डॉ० भद्रपालसिंह संतोष ने स्वतंत्र भारत के प्रत्येक युद्ध का सजीव चित्रण किया है। कवि की दृष्टि स्वतंत्रता से पूर्व होने वाले युद्धों तक पहुँची है और उनका भी मर्माहत चित्रण किया है।

‘चित्तौड़ केसरी’ में डॉ० भद्रपालसिंह ‘संतोष’ ने महाराणा प्रताप के भाले की चमक का मनोहारी चित्रण किया है। महाराणा प्रताप भारतीय जनमानस के महानतम योद्धा हैं। उन्होंने अपने प्राणों की चिंता न कर युद्धभूमि में शौर्य की कहानी के अनेक स्तंभ स्थापित किए हैं। भारत के मध्यकाल में महाराणा प्रताप का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा हुआ है। कविवर भद्रपालसिंह ‘संतोष’ इस संदर्भ में किसी से पीछे नहीं रहे हैं—

बच्चों के मन में खूयाल उठा, वृद्धों में जाग मलाल उठा  
घाटी के वीर जवानों में मर-मिटने का भूचाल उठा  
चम-चम कर भाले चमक उठे, झम-झम करती तलवार उठी  
कट-कट कर तेगा कड़क उठे, खन-खन-खन प्रखर कटार उठी  
कहीं धनुषों की टंकार उठी, रणवीरों की हुंकार उठी  
उस मानसिंह का मान घटाने को क्षत्रिय सेना ललकार उठी।<sup>4</sup>

प्रस्तुत पद्यांश में महाराणा प्रताप और उनके सेनानियों के हृदयस्थ उत्साह स्थाई भाव का अत्यंत सुंदर चित्रण किया गया है। उत्साह स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव एवं संचारियों से जाग्रत होकर शारीरिक चेष्टा के रूप में परिणत हो गया है। आलंबन विभाव के रूप में शत्रु सेना का चित्रण हुआ है। शत्रु सेना के सेनानियों की तलवारें एवं भाले उद्दीपन का कार्य कर रहे हैं। युद्धभूमि में युद्धवीर प्राणों की चिंता किए बिना युद्ध में कूद पड़ते हैं। शूरवीरों की हुंकार, तलवार और भालों की चमक आदि तथ्य अनुभाव के रूप में अंकित हुए हैं। युद्धभूमि में धैर्य के साथ विपरीत सेना से युद्ध करना, भाले और तलवारों का प्रयोग करते समय, मति, गर्व, आवेग, उग्रता आदि संचारियों का कवि ने सटीक चित्रण किया है। उत्साह स्थायी भाव का चित्रण इस प्रकार से किया गया है कि पाठक के हृदय में भी उत्साह स्थायी भाव जाग्रत हो जाता है। महाराणा प्रताप और उसकी सेना की शौर्यगाथा आज भी मानव-हृदय में उत्साह का संचरण कर रही है।

स्वतंत्र भारत में हुए युद्धों का भी कवि ने सजीव चित्रण किया है। भारत में सन् 1962 में चीन के युद्ध की विभीषिका का अनुभव किया था। शस्त्रहीन भारतीयों ने चीन की सेना के दांत खट्टे कर दिये थे। सन् 1965 में जब लालबहादुर शास्त्री भारत के प्रधानमंत्री थे, उस भारत-पाकिस्तान युद्ध का कवि ने मार्मिक चित्रण किया है। वास्तव में यह युद्ध भारत और अमेरिका के अस्त्र-शस्त्रों के मध्य भारत की शौर्यगाथा का प्रतीक है—

अमेरिका में प्रलयकारी पैटन टैंक बने थे।  
 पैसठ में भारत के आगे सीना तान खड़े थे।  
 भोली माँगों के सुहाग भारत माता के बेटे।  
 गोले बाँध-बाँध वक्षों से टैंकों नीचे लेटे।<sup>5</sup>

प्रस्तुत पद्यांश में कविवर भद्रपाल सिंह 'संतोष' ने भारतीय सेनानियों के उत्साह स्थायी भाव का चित्रण करते हुए अमेरिका निर्मित पैटन टैंकों और पाकिस्तानी सैनिकों का आलंबन रूप में चित्रण किया है। अमेरिका का पैटन टैंक युद्ध में मौत उगलने का भारी भरकम टैंक था, जिसने भारतीयों का संहार करते हुए हाहाकार मचाने के लिए विवश कर दिया था। भारतीय सैनिकों के द्वारा मृत्यु की चिंता किए बिना गोला बाँधकर टैंकों के सामने लेटना रौंगटे खड़े करने वाली घटना है। इस घटना में उत्साह स्थायी भाव के पुष्ट करने के लिए लेटने की प्रक्रिया अनुभावों से प्रेरित है। कवि ने अनेक संचारियों जैसे स्मृति, जनशक्ति, उग्रता, आवेग, गर्व आदि का सफलता के साथ चित्रण किया है।

सन् 1971 में जब श्रीमती इंदिरा गांधी भारत की प्रधानमंत्री थीं और जुलफिकार अली भुट्टो पाकिस्तान के राष्ट्रपति थे, उस समय भी भारत और पाकिस्तान के मध्य विकराल युद्ध हुआ था। इस युद्ध ने भारत के वीर सैनिकों की वीरता का परचम सारे विश्व में लहरा दिया था। एक नये राष्ट्र बंगलादेश का इसी युद्ध से उदय हुआ था। कविवर भद्रपालसिंह 'संतोष' ने उस युद्ध का शब्द-चित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

सुना करुण क्रंदन भारत के सैनिक टूट पड़े थे  
 भुट्टो की सेना के क्षण में छक्के छूट पड़े थे  
 भारत वीरों ने वहाँ पर संग्राम प्रचंड किया था  
 खंड-खंड करके घमंड वीरों ने दंड दिया था।<sup>6</sup>

सन् 1971 के युद्ध में भारतीय सैनिकों के द्वारा शौर्य एवं पराक्रम का नया इतिहास लिखा गया था। पाकिस्तानी सेना आलंबन विभाव के रूप में अंकित की गयी है। करुण क्रंदन का सुनना उद्दीपन विभाव के जागरण के लिए पर्याप्त है। अनुभाव रूप में शूरता, धैर्यता, स्थिरता, तत्काल टूट पड़ना आदि तथ्य वर्णित हैं। संचारियों के रूप में उग्रता, धृति, स्मृति जनशक्ति आदि का भी सटीक चित्रण हुआ है।

कारगिल की लड़ाई के समय भारत के प्रधानमंत्री श्री अटलबिहारी वाजपेयी थे तथा पाकिस्तान के राष्ट्रपति नवाज शरीफ़ थे। उस समय अचानक धोखे के साथ कारगिल क्षेत्र पर पाकिस्तान ने कब्ज़ा कर लिया था। डॉ॰ भद्रपालसिंह 'संतोष' ने इस लड़ाई का सजीव एवं मार्मिक चित्रण किया है—

ट्रांस वटालिक टाइगर हिल की सीमा लगी लरजने  
 शहादत लेते हिमगिरि की चट्टानें लगीं लरजने  
 जाग उठे ये शेर बबर पौरुष हुंकार उठा था  
 मातृभूमि की बलिदेवी पर लहु पुकार उठा था।<sup>7</sup>

कविवर डॉ॰ भद्रपालसिंह संतोष ने कारगिल की लड़ाई के लिए पाकिस्तानी सेना का आलंबन विभाव के रूप में चित्रित किया है। भारतीय भूभाग पर उनके द्वारा कब्ज़ा जमाना

उद्दीपन विभाव के रूप में है। कायिक एवं वाचिक अनुभावों के द्वारा कवि ने उत्साह स्थायी भाव को पुष्ट किया है। ललकारते हुए भारतीय सैनिक पाकिस्तानी सेना पर टूट पड़ते हैं। संचारियों के रूप में उग्रता, धृति, स्मृति, गर्व, आवेग का चित्रण किया है।

#### संदर्भ

1. नाट्यशास्त्र, अध्याय-6, श्लोक सं० 36
2. नाट्यशास्त्र, अध्याय-6, श्लोक सं० 31 का परवर्ती गद्य
3. नाट्यशास्त्र, अध्याय-6, श्लोक सं० 33
4. चित्तौड़ केसरी, डॉ० भद्रपालसिंह 'संतोष', पृ० 18
5. भारतमाता, डॉ० भद्रपालसिंह 'संतोष', पृष्ठ-78
6. भारतमाता, डॉ० भद्रपालसिंह 'संतोष', पृ० 78
7. वही, पृ० 79



## डॉ० भद्रपालसिंह 'संतोष' के काव्य में रूपक अलंकार की स्थिति

रामगोपाल सिंह, सहायक अध्यापक  
श्री गांधी स्मारक कृषक इंटर  
कॉलज, बेरा, मथुरा  
रोहिताश्वकुमार, प्रवक्ता  
श्री गांधी स्मारक कृषक इंटर  
कॉलज, बेरा, मथुरा

### अलंकार : स्वरूप एवं परिभाषा :

अलंकार शब्द की मूल धातु 'अलम्' है। पाणिनि ने 'अलम्' शब्द में अनेक पद मिलाकर इसकी अनेक रूपों में व्याख्या की है। 'अलंकरिष्णु' शब्द की व्याख्या करते हुए महर्षि पाणिनि ने इसका अर्थ सज्जा बताया है।<sup>1</sup> यों अलंकार शब्द का प्रयोग ऋग्वेद से ही देखने को मिल जाता है। ऋग्वेद में अलंकार शब्द का अर्थ सजाने की क्रिया के रूप में किया गया है।<sup>2</sup> पश्चात् 'शतपथ ब्राह्मण' तथा 'तैत्तिरिय ब्राह्मण' आदि में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है।

कोशगत अर्थ के अनुसार अलंकार शब्द का स्वरूप इस प्रकार प्रकट होता है—"An ornament of the sense or the sound."<sup>3</sup>

हमारा प्रतिपाद्य अलंकारों का अध्ययन है, अतः हम अलंकार शब्द का अध्ययन अपनी परिधि में ही करना उचित समझते हैं। कारण यह है कि काव्य के क्षेत्र में अलंकार एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व रहा है। इस पर विभिन्न काल में विभिन्न आचार्यों द्वारा शताधिक ग्रंथ लिखे गए हैं। प्रत्येक आचार्य ने अलंकार का स्वरूप एवं उसकी परिभाषा अपने-अपने मतानुसार प्रस्तुत करने का उपक्रम किया है। आचार्य भामहकृत 'काव्यालंकार' से इतर मात्र अलंकार शब्द के आधार पर ही 'अलंकारकारिका', 'अलंकार कौस्तुभ', 'अलंकार चंद्रिका', 'अलंकार चूड़ामणि', 'अलंकार मंजरी', 'अलंकार माला' तथा 'अलंकार मुक्तावली' जैसे अनेक ग्रंथ लिखे गए थे। संस्कृत से लेकर यह परंपरा प्राकृत, पिंगल, ब्रजभाषा तथा हिंदी में अद्यावधि अक्षुण्ण बनी हुई है। प्रत्येक शताब्दी में कोई न कोई विद्वान् अलंकारशास्त्र पर न्यूनाधिक लिखता ही रहा है।

रूपक अलंकार भी सादृश्यमूलक अलंकारों की श्रेणी का एक प्रमुख अलंकार है। जब कवि के मन में उपमेय के साथ उपमान की रूप गुणविषयक एकता अपने पूरे वेग के साथ उत्पन्न होकर मूर्तित हो उठती है तब रूपक अलंकार का जन्म होता है। रूपक दो प्रकार के होते हैं एक सावयव और दूसरा निरवयव रूपक। सावयव अथवा सांगरूपक में उपमेय उपमान

के अनेक अंगों की एकरूपता विकसित की जाती है। सांगरूपक के निरूपण के लिए कवि में अपेक्षाकृत अधिक तल्लीनता की आवश्यकता होती है। जबकि पारंपरिक एवं निरवयव रूपक केवल एकरूपता के आधार पर ही निर्मित हो जाते हैं। डॉ० भद्रपालसिंह संतोष के काव्य में सावयव सांगरूपक के उदाहरण अपेक्षाकृत विरल ही हैं। 'भारतमाता' में भी उस प्रकार के रूपक-निर्माण की प्रवृत्ति है—

मैं कामना का सागर,  
तुम पूर्ति की धारा  
ओ मेरी नयनतारा,  
ओ मेरी नयनतारा।<sup>4</sup>

डॉ० भद्रपालसिंह 'संतोष' ने उपर्युक्त में 'रूपक' के माध्यम से 'भारतमाता' को अपनी इच्छा रूपी सागर को पूरा करने वाली पूर्ति की धारा के रूप में स्वीकार किया है और 'भारतमाता' को अपनी आँखों की तारा के रूप में स्वीकार किया है—

भक्ति की भावना तुम  
शक्ति की साधना तुम  
..... साँसों के तुम सहारे  
ओ मेरे प्राण-प्यारे।<sup>5</sup>

डॉ० भद्रपाल सिंह संतोष ने 'भारतमाता' नामक काव्यसंग्रह में प्रस्तुत छंद में भारत-माता के उद्गार व्यक्त करते हुए कहा है कि-भक्ति में तुम मेरी भावना के रूप में हो और मेरे अंदर निहित शक्ति में तुम साधनास्वरूप हो। मेरे शरीर में चलती हुई साँसों-प्रश्वासों के सोहर स्वरूप में हो—

सोचो तिमिर भरे जीवन में,  
शायद दीवाली आएगी।  
शरदकाल की राका अपनी  
मधुर चाँदनी बरसाएगी  
कुहुक-कुहुक मदमाती कोकिल,  
वासंती सरगम गाएगी।  
मंद गंधमय, रजनीगंधा,  
सूने मन को महकाएगी।<sup>6</sup>

प्रस्तुत छंद में डॉ० संतोष ने मानव-जीवन में निराशा के स्थान पर आशा के संचार हेतु अनेक उपमान सजाए हैं। उपर्युक्त छंद में रूपक अलंकार की मनोरम छटा आकर्षक है। इसी प्रकार—

दुःख जलधि में उठते-गिरते दोनों सरसिज मुरझाए  
अपनों से जो कर मल बैठे उनकी कौन कथा गाए?  
बिन डाली के ये प्रसून थे असफलता में खिले कभी,  
दुख से द्रवित हुए राही के नयन नीर थे भर लाए।<sup>7</sup>

डॉ० संतोष ने उपर्युक्त छंद में परंपरित रूपक के माध्यम से दुःख रूपी समुद्र में डूबी

हुई नायिका (नीता) के कमल के समान सुंदर लेकिन दुख में मुरझाए हुए उठती-गिरती पलकों के भीतर नेत्रों का मनोहारी चित्रण किया है। उसने दुःखानुभूति को व्यक्त करते हुए निम्नलिखित शब्दों का प्रयोग किया है—

मानव विकल सोचते मन में अपनी 'भूल' उभर आयी,  
सूने में कुछ क्रीड़ा करती मानस सलिल, अकुलायी।  
करी उपेक्षा कल मैंने उपकार नहीं कुछ स्वीकारा  
भद्र पुरुष! अब उसी भूल की क्षमा चाहने मैं आयी।<sup>८</sup>

डॉ० संतोष जी ने उपर्युक्त छंद के माध्यम से यह दर्शाया है कि मनुष्य अपने जीवन में जब मूल कर्तव्य को भूलकर कुछ मनमानी करता है, तब उसके आगे के जीवन में दुःखदायी व्याकुलता आती है और वह अपनी भूल पर पश्चाताप करके अधिक व्याकुल हो उठता है। कवि ने व्यक्त-अव्यक्त प्रकृति का सामंजस्य प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

नृत्यनिरत मन-वन में, उन्मद मोर दिखायी देते थे,  
क्रीड़ा करते चक्रवाक हर ओर दिखायी देते थे  
दूर सामने नीले-नीले सहज सघन मिलते-मिलते  
वसुधा और गगन के दोनों छोर दिखायी देते थे।<sup>९</sup>

डॉ० संतोष ने उपर्युक्त छंद में रूपक के माध्यम से यह प्रस्तुति की है कि जिस प्रकार प्रकृति परिस्थिति के अनुकूल होने पर मोर चक्रवा, आदि पक्षी अपनी क्रीड़ा को प्रारंभ कर देते हैं, उसी प्रकार नायिका (नीता) के जीवन में विभिन्न प्रकार की भौतिक सुख-सुविधाओं के अनुकूल होने पर, वह भी अपने मन रूपी वन में नृत्य करने लगती है। पुनश्च—

क्यों व्यर्थ निशा में आधा  
जीवन का कमल खिला है।  
मुस्काती-सी किरणों का,  
वह आँचल नहीं मिला है।<sup>१०</sup>

डॉ० भद्रपालसिंह संतोष ने 'माँ' खंडकाव्य में उपर्युक्त छंद के माध्यम से विपरीत परिस्थिति में भी सदैव प्रसन्न रहने का संदेश व्यक्त किया है—

जीवन-निशीथ के तम में,  
ये योगी वाला फेरा।  
क्यों उँगलियाँ तत्क्षण ही,  
होने नहीं दिया सवेरा।<sup>११</sup>

डॉ० संतोष ने माँ के अभाव का वर्णन निम्नलिखित पंक्तियों में रूपक अलंकार के माध्यम से किया गया है—

वो समता के धागों में,  
ममता के पुष्प पिरोता  
फिर मन की गहराई में,  
अपना सुख-चैन डुबोता।<sup>१२</sup>

डॉ० भद्रपालसिंह संतोष ने सांगरूपक अलंकार के माध्यम से माँ की समन्वयकता के

गुणों का वर्णन किया है। यथा—

जड़-जंगम नित्य निरखते,  
ये नियति नरी का वर्तन।  
निर्माण कहो, विशेषण,  
या मृत्यु कहो परिवर्तन।<sup>13</sup>

डॉ० भद्रपालसिंह संतोष ने 'माँ' नामक खंडकाव्य में वर्णित उपर्युक्त छंद में रूपक के माध्यम से ब्रह्मा की सृष्टि में 'सृष्टि रूपी नर्तकी' (भाग्य रूपी नृपी) का प्रभाव संसार के सभी जड़ व चेतन पदार्थों पर दर्शाया है।

यह कर्म-यज्ञ प्राणी का,  
प्रारब्ध पुरोहित होता  
यजमान बना मुस्काता,  
संसार तिरोहित होता।<sup>14</sup>

डॉ० भद्रपालसिंह 'संतोष' ने उपर्युक्त छंद में रूपक के माध्यम से प्राणी के प्रारब्ध अर्थात् पूर्व में किए गए कर्म को वर्तमान में फल को भोगने का संदेश दिया है।

निज से मिलने की शिक्षा,  
वह कब कैसे देता,  
शुचि-कर्म यदा की दीक्षा,  
वह कब कैसे देता है।<sup>15</sup>

डॉ० भद्रपालसिंह 'संतोष' ने उपर्युक्त छंद के माध्यम से 'पवित्र-कर्म रूपी यज्ञ' की दीक्षा दी है।

### संदर्भ

1. अष्टाध्यायी, पाणिनि, अध्याय-3 (खंड-2), 136
2. ऋग्वेद, 2/40/13
3. संस्कृत-अँग्रेजी डिक्शनरी, सर मोनियर विलियम्स, पृ० 94, कालम-2
4. भारतमाता, डॉ० भद्रपालसिंह 'संतोष' पृ० 67
5. भारतमाता, डॉ० भद्रपालसिंह 'संतोष' पृ० 68
6. भारतमाता, डॉ० भद्रपालसिंह 'संतोष' पृ० 72
7. भूल, डॉ० भद्रपालसिंह 'संतोष', पृ० 39
8. भूल, डॉ० भद्रपालसिंह 'संतोष', पृ० 53
9. भूल, डॉ० भद्रपालसिंह 'संतोष', पृ० 55
10. माँ, डॉ० भद्रपालसिंह 'संतोष', पृ० 18
11. माँ, डॉ० भद्रपालसिंह 'संतोष', पृ० 18
12. माँ, डॉ० भद्रपालसिंह 'संतोष', पृ० 46
13. माँ, डॉ० भद्रपालसिंह 'संतोष', पृ० 63
14. माँ, डॉ० भद्रपालसिंह 'संतोष', पृ० 67
15. माँ, डॉ० भद्रपालसिंह 'संतोष', पृ० 60

## हिंदी-व्यंग्य का स्वरूप

योगेंद्रराज सिंह, प्रवक्ता

रघुवीर सहाय इंटर कॉलेज, अलीगढ़ (उ०प्र०)

रोहिताश्वकुमार, प्रवक्ता

श्री गांधी स्मारक कृषक इंटर

कॉलेज, बेरा, मथुरा (उ०प्र०)

व्यंग्य विसंगति के आलंबनत्व से प्रेरित मानसिक प्रक्रिया है। विसंगति के आलंबनत्व धर्म की परिशोधन-प्रक्रिया व्यंग्य की मूल धातु है। युगानुरूप यह प्रक्रिया अपना नवीन एवं युगानुरूप स्वरूप निर्मित करती रहती है। अतः प्रत्येक युग में साहित्यिक व्यंग्य पूर्वापर संबंध रखते हुए भी नितान्त नवीन एवं समयानुरूप होता है। यह मानसिक प्रक्रिया व्यक्ति, समाज, देशकाल, वातावरण आदि से साहित्यकार के मानसिक संसार में निर्मित होती रहती है। विसंगति साहित्यकार को आकर्षित कर शब्द में व्यंग्यार्थ संप्रेषित करती है। वैविध्यमय जीवन में मानव की आवश्यकताओं, माँग और पूर्ति के असंतुलन से सामाजिक स्तर पर नित्य नई विसंगतियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। साहित्यकार का संवेदनशील व्यक्तित्व जब इन विसंगतियों के साथ प्रतिक्रिया करता है, तो व्यंग्य का प्रादुर्भाव होता है। विश्वसाहित्य में यह प्रक्रिया निरंतर होती रहती है। यह प्रक्रिया एक मानसिक उपज है, जिसके पल्लवन के लिए अनेकानेक विसंगतियाँ उत्तरदायी होती हैं। साहित्य की प्रायः सभी विधाओं में व्यंग्य का विशेष स्थान रहता है। गद्य एवं पद्य साहित्य में व्यंग्य की अनेक शैलियाँ निरूपित हुई हैं। साहित्यिक आलोचना के उद्भवकाल से ही आचार्यों ने इसके स्वरूप को परिभाषाओं में समाविष्ट करने का अथक प्रयास किया है। अंततः व्यंग्य की कोई एक ऐसी परिभाषा नहीं है, जो इसके समस्त स्वरूप का विश्लेषण कर सके। हिंदी, अँग्रेजी, संस्कृत तथा अन्य अनेक भाषाओं के आचार्यों ने व्यंग्य के स्वरूप-विश्लेषण पर अपने-अपने मत प्रकट किए हैं। विभिन्न भाषाओं में व्यक्त व्यंग्य का स्वरूप इस प्रकार है—

### अँग्रेजी परंपरा के अनुसार व्यंग्य का स्वरूप :

अँग्रेजी के कोशग्रंथों में व्यंग्य के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए अनेक आचार्यों ने अपने मत व्यक्त किए हैं। इनसाइकोलोपिडिया ब्रिटैनिका में व्यंग्य पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है। अँग्रेजी शब्द 'सैटायर' की व्युत्पत्ति करते हुए यह लिखा गया है कि इस शब्द का ग्रीक भाषा के सैटीर शब्द से विकास हुआ है। इसके साथ ही यह भी लिखा गया है कि अँग्रेजी का 'सैटायर' शब्द लैटिन के 'सैतुरा' से विकसित हुआ है। इस प्रकार ग्रीक व लैटिन के शब्दों का समन्वित रूप इस शब्द में समाहित हो गया है। सैमुएल जॉनसन ने इसकी परिभाषा करते समय उस कविता की ओर इशारा किया है, जिसमें धूर्तता और मूर्खता का संशोधन किया

गया हो। इस ग्रंथ में यह भी स्वीकार किया गया है कि 'सैटायर' एक ऐसा उलझा हुआ शब्द है, जिसकी समुचित परिभाषा संभव नहीं है।

स्टूडेंट इंगलिश डिक्शनरी में 'सैटायर' की व्याख्या करते हुए भी इसी प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है। इसके अनुसार रोमन भाषा में कवियों द्वारा मानव की मूर्खता को लक्ष्य करके व्यक्त की गयी उक्तियाँ 'सैटायर' कहलाती हैं। इसके साथ ही कटाक्षपूर्ण टिप्पणियाँ, विरोधाभास, मजाक आदि भी संप्रेषित शब्द हैं।<sup>2</sup> इंडो-हिंदी स्कूल डिक्शनरी में 'सैटायर' की व्याख्या करते हुए अत्यंत संक्षिप्त रूप में यह लिखा गया है कि 'सैटायर' का अर्थ है आरोप या निंदा से भरा हुआ पद्य, निंदोपाख्यान, निंदा, उपहास, आदि।<sup>3</sup>

#### **द वर्ल्ड बुक आफ़ इनसाक्लोपीडिया के अनुसार :**

मनुष्य के किसी व्यवहार पर आक्रमण करने के लिए व्याजोक्ति अथवा उपहास का उपयोग ही व्यंग्य है।<sup>4</sup>

अँग्रेजी कोशग्रंथों के अनुसार 'सैटायर' शब्द लैटिन शब्द 'Satura' जिसका अर्थ 'गड़बड़झाला' है, से विकसित हुआ है। 'सैतुरा' के कम से कम दो रूप विकसित हुए थे, जिसका एक रूप बाद में भी प्रचलित रहा और एक रूप पद्य निबंध के समान था। पुराणकाल में 'सैतुरा' शब्द 'परनिंदा' के अर्थ में प्रयुक्त होता था और इस ऐतिहासिक अर्थ की छाया वर्तमान 'सैटायर' शब्द पर भी पड़ी है। अब 'सैटायर' में केवल परनिंदा नहीं होती है, कुछ बातों में हेर-फेर होता है। आलंबन की खिंचाई होती है। पर आलंबन की तुलना चिढ़ाने योग्य, बदनाम या काबिल नफ़रत चीज़ से की जाती है या बात को उलट दिया जाता है या उसे बातों में उड़ा दिया जाता है।

#### **हिंदी शब्दकोशों के अनुसार व्यंग्य का स्वरूप :**

हिंदी शब्दकोशों में व्यंग्य शब्द पर गहन-चिंतन मनन उपलब्ध है। हिंदी के आचार्यों ने भी इस शब्द के स्वरूप पर अपने विचार प्रकट किए हैं। इस शब्द की व्याख्या पर अँग्रेजी और संस्कृत दोनों का ही प्रभाव दृष्टिगत होता है। यह एक विचारणीय प्रश्न है कि हिंदी के आचार्यों और कोशग्रंथकारों ने मौलिकता के स्थान पर अँग्रेजी एवं संस्कृत के प्रभाव को ही व्यंजित किया है। हिंदी में व्यंग्य असंगत, विसंगत, विरूपता, विषमता एवं वस्तु की हीनता का बोध कराने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत साहित्य की व्यंजना शक्ति को ही व्यंग्यार्थ के रूप में हिंदी के आचार्यों ने स्वीकार की है। हिंदी के आचार्य संस्कृत तक ही सीमित नहीं रहे। अपितु उन्होंने अँग्रेजी के 'सैटायर' शब्द की विशेषताओं का भी इसके साथ समन्वय किया है। वास्तव में अँग्रेजी 'सैटायर' में भी व्यंजना शक्ति की प्रबल भूमिका निहित है। संस्कृत का व्यंग्य-क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। उसमें सौंदर्य, भाव, तथ्य, चेतना, सभी व्यंजना के विषय हैं। इसके विपरीत पाश्चात्य 'सैटायर' कलात्मक अभिव्यक्ति, प्रहार अथवा विरोध के रूप में स्वीकृत है। हिंदी में इस शब्द का स्वरूप, चिंतन इस प्रकार है— 'व्यंग्य वह है, जहाँ कहने वाला अधरोष्ठ में हँस रहा हो और सुननेवाला तिलमिला उठा हो और फिर भी कहने वाले को जबाब देना अपने को और भी उपहासास्पद बना लेना होता है।'<sup>5</sup>

आलंबन के प्रति तिरस्कार, उपेक्षा या भर्त्सना की भावना लेकर बढनेवाला हास्य-

व्यंग्य कहलाता है।<sup>6</sup>

डॉ० नगेंद्र द्वारा संपादित परिभाषिक कोश में व्यंग्य का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए लिखा गया है कि—‘व्यंग्य-रचनाओं का अस्तित्व बहुत पुराने समय से प्रायः सभी साहित्य में रहा है। उसका लक्ष्य प्रायः मानवीय दुर्बलताओं पर कटाक्ष करके उन्हें उभारना है और सुधारना होता है। किसी व्यक्ति के वस्तु के प्रति आश्चर्य प्रकट करने के और भी ढंग हो सकते हैं, किंतु व्यंग्य का स्वरूप और पद्धति सर्वथा भिन्न होती है। व्यंग्यकार उपदेशक की तरह प्रवचन नहीं करता, न किसी वयोवृद्ध की भर्त्सना करते हुए गालियों पर उतरता है। वह ग्रहण तो करता है परंतु बड़े कौशल से, वह कटाक्ष का उपयोग करता है। पार्श्व से आघात करता है और उस सबके द्वारा आपत्तिजनक विचारधारा या गर्हणीय व्यक्ति को परास्त करने का प्रयत्न करता है। हमारे यहाँ सिद्धों के साहित्य में तथा कबीर आदि संतों की वाणियों और पदों में उपचारपरायण ब्राह्मणों तथा कट्टर धर्मावलंबियों पर बड़े सशक्त व्यंग्य मिलते हैं। व्यंग्य संपदा की दृष्टि से सूरदास के भ्रमरगीत के पद अद्वितीय हैं। परवर्ती सुधारवादी आंदोलन को भी व्यंग्य-लेखन का भरपूर सहारा मिला।’<sup>7</sup>

हिंदी शब्द सागर के अनुसार व्यंग्य पुल्लिंग संज्ञा शब्द है। इसमें इसके दो अर्थ प्रस्तुत किए गए हैं। प्रथम वह अर्थ जो शब्द की व्यंजनावृत्ति के द्वारा प्रकट हो व्यंजनाशक्ति के कारण प्रकट होनेवाला अर्थ साधारण अर्थ से कुछ विशिष्ट होता है। इसे गूढ़ और छिपा हुआ अर्थ कहा जा सकता है। दूसरा जो अर्थ इस ग्रंथ में व्यक्त किया गया है, वह है व्यंजनावृत्ति द्वारा बोधित अर्थ परोक्ष संकेत द्वारा सूचित या उपलक्षित।<sup>8</sup>

‘अँग्रेज़ी हिंदी पर्यायवाची कोश में अँग्रेज़ी के ‘सैटायर’ शब्द के साथ अरबी शब्द का प्रयोग हुआ है। इन दोनों शब्दों की अलग-अलग व्याख्या की गयी है—‘सैटायर’ का अर्थ है एक ऐसा विरोध, जिसमें किसी व्यक्ति की भूलों, त्रुटियों को दर्शाते हुए उसे तुच्छ ठहराया गया हो। विद्रूप, उपहास! इसी प्रकार अरबी की व्याख्या करते हुए यह लिखा गया है कि इस शब्द के विनोदपूर्ण पूर्णता के साथ शब्दार्थ और अभिप्रेत अर्थ में परस्पर विरोधात्मक संबंध रहता है।’<sup>9</sup>

हिंदी विश्वकोश में उपहास एवं विद्रूप अर्थ को भी अन्य अर्थों के साथ स्थान दिया गया है।<sup>10</sup> श्री हरिशंकर परसाई ने हास्य-व्यंग्य पर लेखनी चलाते हुए मार्मिक रूपों का चित्रण किया है। उनके अनुसार व्यंग्य जीवन से साक्षात्कार करता है, जीवन की आलोचना करता है, विसंगतियों, व्यभिचारों और पाखंडों का पर्दाफाश करता है, जीवन के प्रति व्यंग्यकार की उतनी ही निष्ठा होती है, जितना गंभीर रचनाकार की, बल्कि ज़्यादा ही। वह जीवन के प्रति दायित्व का अनुभव करता है। जिंदगी बहुत जटिल चीज़ है। अच्छा व्यंग्य सहानुभूति का सबसे उत्कृष्ट रूप होता है।<sup>11</sup>

संस्कृत वाङ्मय में हास्य-व्यंग्य की धारा आरम्भ से ही सम्मिलित और प्रथक रूप से प्रवाहित होती रही है। शास्त्रीय व्यंग्य के भीतर प्रहारात्मक व्यंग्य अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। ऐसी रचना का सीधा संबंध प्रत्यक्ष जीवन से तो है ही साथ ही दैनिक जीवन से भी है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से व्यंग्य के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। संक्षेप में इन परिभाषाओं से निम्नलिखित तथ्य उजागर होते हैं—

1. व्यंग्य एक भावात्मक प्रवृत्ति है।
2. व्यंग्य में भाव एवं विचार दोनों का सम्मिश्रण रहता है।
3. व्यंग्य में सुधार की प्रवृत्ति निहित रहती है।
4. यह सुधार की प्रवृत्ति वैयक्तिक न होकर सामूहिक रूप में होनी चाहिए।
5. व्यंग्य का आलम्बन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक विसंगतियाँ हैं।
6. व्यंग्य में कटुता का भाव ही समाहित रहता है।
7. व्यंग्य की सामाजिक उपयोगिता सर्वाधिक है।
8. व्यंग्य को उद्दीप्त करने के लिए अहितकर प्रवृत्तियाँ कार्यरत रहती हैं।
9. व्यक्तिगत उद्देश्य से व्यंग्य का महत्त्व कम हो जाता है।
10. व्यंग्य परिष्करण का साहित्यिक साधन है।

### संदर्भ

1. As soon as a noun enters the domain of metaphor, as one modern scholar has pointed out, it clamours for extension; and satura (which had no verbal, adverbial, or adjectival forms) was immediately broadened by appropriation from the Greek word for "satyr" (satyros) and its derivatives. The odd result is that the English "satire" comes from the Latin satura; but "satirize," "satiric", etc., are of Greek origin. Encyclopaedia Britannica, William Benton, Page No.269
2. Student English Dictionary, John Ocilivie, Page 615.
3. Anglo Hindi School Dictionary, Ram Narain Lal, Page 277.
4. दि वर्ल्ड बुक ऑफ इनसाइक्लोपीडिया, पृ० 150
5. कबीर, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० 164
6. हिंदी साहित्य में हास्य-व्यंग्य, डॉ० बरसानेलाल चतुर्वेदी, पृ० 42
7. पारिभाषिक शब्द कोष, डॉ० नगेंद्र, पृ० 228
8. हिंदी शब्द सागर, शंभूनाथ वाजपेयी, पृ० 463
9. हिंदी-अंग्रेजी पर्यायवाची शब्दकोश, पृ० 155
10. हिंदी विश्वकोश, डॉ० नगेंद्रनाथ वसु, पृ० XXII
11. सदाचार का ताबीज, (कैफियत), हरीशंकर परसाई, पृ० 10



## सांप्रदायिकता बनाम धर्म-निरपेक्षता

डॉ० स्नेहलता शर्मा

प्रवक्ता, अँग्रेजी विभाग

ऐ०पी०जे०सरस्वती पी०जी०कॉलेज

चरखी दादरी (भिवानी)

गत दो दशकों में वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने जिस तेज़ी से प्रसार किया है, लगभग उतनी ही तेज़ी से पूरे विश्व में धार्मिक कट्टरपंथ की समस्या ने भी सिर उठाया है। यथार्थ में, चरमपंथ एवं कट्टरपंथ का जन्म अति आधुनिकीकरण का ही परिणाम है। मानव-इतिहास प्रमाणित करता है कि जब एक विचारधारा को समाज पर ज़बरन मढ़ा जाता है तो प्रतिक्रिया स्वाभाविक तौर पर उग्र हो जाती है तथा उदारवादी विचारधारा को नकारते हुए समाज का एक वर्ग हिंसक दमन की नीति अपनाते हुए अतिवादी मूल्यों को समाज पर थोपता है। बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध बौद्धिक विकास एवं उन्मुक्त सोच को प्रोत्साहित करने वाला काल था, परंतु कुछ अतिउत्साही शासक धर्मनिरपेक्षता एवं आधुनिकीकरण को थोपने में चरमपंथी हो उठे तथा पश्चिम का अंधानुकरण करते हुए जब पूर्वी देश अपने धर्म एवं संस्कृति से विमुख हो जनसाधारण की धार्मिक भावनाओं का हनन करने लगे तो कालांतर में धर्म के स्वर्णकाल के स्थापत्य का स्वप्न दिखाकर कट्टरपंथी धार्मिक नेताओं ने भी दमन एवं हिंसा का सहारा लिया। इस प्रकार कट्टरपंथी समाज दो विपरीत पक्षों की दरार का परिणाम है, जिसे पाटना वर्तमान में सर्वाधिक दुष्कर हो गया है। बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में तालिबान के सशक्तीकरण एवं प्रतिक्रियास्वरूप अन्य संप्रदायों के कट्टरपंथी संगठनों का उदय इसी का परिणाम है।

सभी धार्मिक कट्टरपंथी आंदोलन धर्मविशेष के मूलभूत सिद्धांतों की पुनः स्थापना के उद्देश्य से आरंभ होते हैं। मुस्लिम कट्टरपंथी समुदायों ने पैगंबर मुहम्मद की जीवनशैली एवं उनकी शिक्षाओं का अनुकरण करते हुए इस्लाम के पाँच मूलभूत स्तंभों पर आधारित समाज की परिकल्पना की, तो हिंदू चरमपंथी रामराज्य की स्थापना की कामना करने लगे। धीरे-धीरे समय ने करवट बदली और यही कट्टरपंथी अपने मूलभूत उद्देश्यों से भटककर तुच्छ निहित स्वार्थों की पूर्ति तथा समाज पर अपना प्रभुत्व कायम रखने के लिए औचित्यहीन आदेश (एवं फ़तवे) पारित करने लगे, जिनमें न केवल उनके द्वारा एकछत्र साम्राज्य स्थापित करने की महत्त्वाकांक्षा की बू आती थी वरन् उन आदेशों को न मानने वाले व्यक्ति-विशेष को जानमाल के जोखिम पैदा होने लगे। परिणामस्वरूप धार्मिक सौहार्द का वातावरण कलुषित होने लगा तथा विशेष रूप से अल्पसंख्यक वर्ग को बहुसंख्यक वर्ग की घृणा एवं हिंसा का शिकार होना पड़ा।

भारतीय उपमहाद्वीप में सांप्रदायिकता का एक लंबा इतिहास रहा है, जिसका सबसे काला अध्याय भारत-पाक विभाजन है। इसका संदर्भ आज भी क्षेत्र के लोगों के मनो को कलुषित करने के लिए पर्याप्त है। तदनंतर समय-समय पर हुए असंख्य हिंदू-मुस्लिम दंगों के अतिरिक्त अयोध्या में रामजन्म-भूमि बाबरी मस्जिद विवाद के चलते 6 दिसंबर 1992 को हुए बाबरी मस्जिद विध्वंस के उपरांत हुए दंगों का दुष्प्रभाव न केवल भारतीय क्षेत्र के दोनों समुदायों अपितु दक्षिण-पश्चिम एशिया एवं अन्य देशों में बसे अल्पसंख्यक हिंदुओं को झेलना पड़ा।

वस्तुतः अपने धर्म में कट्टरता से विश्वास करना तथा शेष सभी धर्मों को निकृष्ट समझकर उनके अस्तित्व को नकारना एवं हिंसक घृणा का शिकार बनाना ही सांप्रदायिकता है। कालांतर में कट्टरपंथी सांप्रदायिकता का शिकार हुए जनमानस में चेतना जाग्रत करने हेतु समय-समय पर कलम की ताकत के बल पर हमारे युगीन उपन्यासकारों, कवियों एवं लेखकों ने अपनी ओजस्वी रचनाओं द्वारा इस कट्टरपंथी व्यवस्था पर प्रश्नचिह्न खड़े किए। सांप्रदायिकता एवं कट्टरपंथ से जुड़े इन्हीं प्रश्नों के उत्तर तलाशने का प्रयास प्रस्तुत लेख में किया गया है, जिन्हें बांग्लादेशी लेखिका तसलीमा नसरीन ने समय-समय पर अपनी रचनाओं में उठाया है। इस लेख में तसलीमा नसरीन के उपन्यास 'लज्जा' (1993) तथा उनकी आत्मकथा भाग-3 'द्विखंडित' (2004) का धर्म के संदर्भ में विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। तसलीमा नसरीन के संदर्भ में दो प्रश्न इसलिए महत्वपूर्ण हो जाते हैं, क्योंकि बाबरी मस्जिद के 6 दिसंबर 1992 के विध्वंस के बाद उन्होंने बांग्लादेश में अल्पसंख्यक हिंदुओं पर हुए बर्बर अत्याचारों का प्रतिकार न केवल एक मुस्लिम होने के नाते बल्कि एक संवेदनशील इंसान होने के नाते किया।

'लज्जा' की उत्पत्ति के बारे में अपनी भावनाओं को व्यक्त करते हुए तसलीमा नसरीन 'द्विखंडित' में लिखती हैं—

बीसवीं शती के अंतिम छोर पर पहुँचकर जब सभ्यता, ज्ञान-विज्ञान तकनीक और साथ ही मानवता के अकल्पनीय विकास में व्यस्त है, तब एक इंसान प्रचंड निष्ठुर, विवेकहीन जल्लाद की तरह दूसरे इंसान पर टूट पड़ता है, इसलिए कि वह इंसान दूसरे धर्म में विश्वास रखता है।<sup>1</sup>

'लज्जा' के प्रकाशन के साथ ही धर्माधता के इस अंधयुग में एक कौंधती हुई बिजली के रूप में प्रकट हुई बांग्लादेशी लेखिका तसलीमा नसरीन तत्काल जिस अंतर्राष्ट्रीय ख्याति को प्राप्त हुई, उतनी ही त्वरित गति से वे कट्टरपंथी मुल्लाओं की आँख की किरकिरी भी हो गई, जिन्होंने तसलीमा को धर्मद्रोही एवं राष्ट्रद्रोही घोषित करते हुए उनके विरुद्ध फतवा जारी कर दिया एवं विडंबनापूर्ण ढंग से, अल्पसंख्यकों के हितों की बात करते हुए वे स्वयं भी उन्हीं की भाँति कट्टरपंथियों के विरोध का शिकार हुईं। उनकी अभूतपूर्व प्रशंसा एवं असीमित आलोचना का आधार 'लज्जा' न केवल मुस्लिम अपितु हिंदू कट्टरपंथी सांप्रदायिक ताकतों के मुँह पर करारा तमाचा है तथा मानवीय संवेदनाओं को झकझोर देने वाला 'वर्तमान समय में सिर उठाए हुए सांप्रदायिक पशुता के ख़िलाफ़ ज़बरदस्त प्रतिवाद है'<sup>2</sup> जैसा कि डा० मुहम्मद अनीसुल हक़ ने 'लज्जा' के लिए कहा है।

अयोध्याकांड अर्थात 6 दिसंबर 1992 की पृष्ठभूमि में रचित इस उपन्यास का नायक सुरंजन धर्मनिरपेक्षता, राष्ट्रप्रेम एवं उन्मुक्त विचारधारा का द्योतक है, जो उपन्यास के आरंभिक पृष्ठों में ही अपनी ही विचारधारा पर प्रश्नचिह्न लगाता हुआ पाया जाता है। 7 दिसंबर 1992 से लेकर

13 दिसम्बर 1992 के बीच 7 दिन की अवधि में लिखा गया यह उपन्यास सुरंजन के सर्वधर्मावलंबी स्वरूप से पूर्ण सांप्रदायिक हिंदू में परिवर्तित होने की गाथा है। अयोध्याकांड का टी०वी० चैनलों व समाचारपत्रों में अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन बांग्लादेश के कट्टरपंथी मुसलमानों के दिलों में प्रतिशोध की ज्वाला भड़काने के लिए पर्याप्त है तथा अल्पसंख्यक हिंदू अपनी सुरक्षा हेतु सुरक्षित स्थान तलाशते फिरते हैं। ऐसी ही आशा में सुरंजन का परिवार सुरंजन की ओर मुँहबाये खड़ा है, जो बार-बार के कायरतापूर्ण पलायन से उकता चुका है तथा अपनी मातृभूमि बांग्लादेश के अपने प्रति लगाव पर प्रश्नचिह्न लगाए किसी भी मुस्लिम मित्र के यहाँ शरण लेने के औचित्य को ही नकार देता है। कहने की आवश्यकता नहीं, सुरंजन के परिवार का दंगाइयों के हाथों वही हाल होता है, जो दंगों में लावारिस पायी गयी गाय का। सुरंजन की युवा बहन माया, जो कुछ समय के लिए अपनी मुस्लिम सहेली पारुल के घर में शरण लेती है, किंतु अपने पिता सुधामय की बीमारी की सूचना पाते ही लौट आती है, असामाजिक तत्त्वों द्वारा अपहृत कर ली जाती है। यह तब होता है, जब सुरंजन के इंतज़ार में बैठी माँ किरणमयी दरवाज़े पर दस्तक सुन दरवाज़ा खोलती है कि तभी हथियारों से लैस सात युवा ताबड़-तोड़ घर के अंदर घुसकर सब तहस-नहस करना शुरू कर देते हैं।

‘सुधामय ने उठकर बैठना चाहा लेकिन नहीं उठ सके। माया ‘पिताजी’ कहकर चीख़ा पड़ी। किरणमयी दरवाज़े पकड़कर स्तब्ध खड़ी थी। कितना वीभत्स दृश्य था। एक ने कमर से कटार निकालकर कहा, ‘साला, बाबरी मस्जिद तोड़ता है। सोचते हो, तुम्हे ज़िंदा छोड़ूँगा?’<sup>3</sup>

निरीह बेबस इंसानों पर यह लज्जाहीन आरोप कितना विडंबनापूर्ण है, इसका अनुमान ‘द्विखंडित’ में तसलीमा नसरिन (जो उस समय दंगा-पीड़ितों की चिकित्सा में संलग्न थी) में एक संस्मरण द्वारा लगाया जा सकता है। वे अपने एक मरीज सुबोध मंडल के सिर पर कुल्हाड़ी से हुए वार के घावों का उपचार करते हुए उसकी पत्नी से हमलावरों की पहचान के बारे में पूछताछ करती हैं।

गायत्री ने कहा, ‘पहचान काहे नहीं हूँ? ऊ लोगन हमरे मुहल्ले के ही मानस थे—अबुल, रफीक, हलीप, शहीदुल... ‘आप लोगों को मारा क्यों? इल्ज़ाम क्या लगाया?’ गायत्री ने दबी-दबी आवाज़ में जवाब दिया, ‘कहत रहे, हम लोगन ने मस्जिद तोड़ी है—’ इतना कहकर वह फफक-फफककर रो पड़ी और मेरा हाथ कसकर थामे-थामे उसने कहा, ‘ए दिदिया, हमन ने काउनो मस्जिद नहीं तोड़ी। ‘वे लोग कौनसी मस्जिद तोड़ने की बात कर रहे हैं, आपको पता है? ‘हम का जानूँ कउन मस्जिद! हमका नाही मालूम! हम रिक्शे पर सीता के बप्पा के साथ आय रही थी, तब तो बहुतेरी मस्जिद देखत आयी, कउनो मस्जिद टूटी नाही थी।’

‘आपने बाबरी मस्जिद का नाम नहीं सुना?’ गायत्री ने इनकार में सिर हिला दिया। उसने यह नाम नहीं सुना।<sup>4</sup>

अतः तसलीमा नसरिन के लिए अयोध्याकांड केवल एक हादसा नहीं था, यह उनकी अंतश्चेतना का एक अंग बन गया। अपने आदर्शों (धर्मनिरपेक्षता, प्रगतिवादी सोच एवं मानववाद) को चहुँओर से घिरा पाकर असहाय, निर्बल, बेकसूर हिंदुओं की पीड़ा को आत्मसात करते हुए तसलीमा नसरिन अपनी भावनाओं को स्वर देती हुई कहती हैं—

‘अचानक मुझे लगा, मैं डॉली पाल, गायत्री मंडल, गौतम विश्वास जैसी हो गई हूँ। मुझे लगा जैसे मैं हिंदू हूँ। एक भयंकर ख़ौफ़ मेरी रीढ़ की हड्डियों से निकलकर, समूचे तन बदन,

अंग-अंग में बिखर गया। मेरी दोनों मुट्टियों में क्रोध आ गया। मेरी साँसें तप आईं। मैं मारे बेचैनी के एक कमरे से दूसरे कमरे में चक्कर काटने लगी। अंत में निर्मलेंदु गुन की तरह ही पाँव समेटकर बिस्तर पर आ बैठी। मुझे ऐसा अहसास होता रहा मानो मैं हिंदू हूँ और मुझे किसी भी वक्त क़त्ल कर दिया जाएगा।<sup>5</sup>

उपर्युक्त वक्तव्य से पाठकवृंद यह निष्कर्ष कदापि न निकालें (जैसा कि कट्टरपंथियों व चरमपंथियों द्वारा आरोप मढ़ा जाता रहा है) कि तसलीमा नसरीन को लघुसंख्यक हिंदुओं के प्रति सहानुभूति किसी धर्म-विशेष के प्रति लगाव अथवा राजनीतिक पार्टियों से मिलने वाली आर्थिक सहायता का परिणाम है बल्कि 'लज्जा' का गहन अध्ययन इसके ठीक विपरीत तथ्यों को उजागर करता है। तसलीमा नसरीन न केवल मुस्लिम चरमपंथियों को अपितु हिंदू चरमपंथी ताकतों एवं राजनीतिक पार्टियों को बराबर लताड़ती हैं। 'लज्जा' में वे कहती हैं—

हिंदुओं के स्वार्थरक्षकों को क्या यह मालूम नहीं है कि कम से कम दो-ढाई करोड़ हिंदू बांग्लादेश में हैं? सिर्फ बांग्लादेश में ही क्यों, पश्चिम एशिया के प्रायः सभी देशों में हिंदू हैं। उनकी क्या दुर्गति होगी, क्या हिंदू कठमुल्लों ने कभी सोचा भी है? ..... भारत में यदि विष फोड़े का जन्म होता है तो उसका दर्द सिर्फ भारत को ही नहीं भोगना पड़ेगा, बल्कि वह दर्द समूची दुनिया में, कम से कम पड़ोसी देशों में तो सबसे पहले फैल जाएगा।<sup>6</sup>

चंद विवेकहीन धर्मांध रामभक्तों के जुनून के परिणामस्वरूप समूचे बांग्लादेश में वीभत्स बर्बरता का नंगा नाच हुआ। कट्टरवादी सांप्रदायिक तत्त्वों के हाथों अनगिनत मंदिरों को धराशायी कर दिया गया, हिंदुओं के घर और दुकानें लूट ली गईं या जला दी गईं। हिंदू-बालाओं एवं महिलाओं की अस्मत्तें लूट ली गईं। इस प्रकार तसलीमा नसरीन न केवल भारत की स्वार्थी ताकतों का पर्दाफाश करती हैं, अपितु मानवीय संवेदनाओं के विध्वंस के लिए भी उत्तरदायी ठहराती हैं, वहीं दूसरी ओर बांग्लादेश की साम्प्रदायिक तथा तथा असांप्रदायिक समझी जाने वाली पार्टियों को भी समान रूप से इस क्रूरतापूर्ण खेल में संलिप्त पाती हैं। तसलीमा नसरीन के विचारों का उद्घोषक सुरंजन अपने दोस्त विरुपाक्ष के समक्ष अपने विचार रखता है—

'सभी को तो वोट की ज़रूरत है। इस देश में वोट की राजनीति चलती है। यहाँ पर आदर्श-वादर्श कोई नहीं देखता। छल-बल कौशल से वोट लेने से मतलब है। आवामी लीग ने तो सोचा है कि हिंदुओं का वोट उसे ही मिलेगा। 'रिजर्व बैंक' या क्या कहते हैं, कहीं-कहीं पर तो उसे भी उन लोगों ने लूटा है।

कहीं कहीं ऐसा भी हुआ है कि जिन इलाकों से आवामी लीग चुनाव जीती है, उनमें बी०एन०पी० के लोगों ने ही हिंदुओं के घरों को लूटा है, मंदिरों को तोड़ा है और जला दिया है। यह भी कहा कि जिनको वोट देते हो, वे लोग अभी कहाँ हैं? इसी तरह बी०एन०पी० जहाँ जीती है, वहाँ पर आवामी लीग द्वारा ऐसा किया गया।<sup>7</sup>

धर्म के क्षेत्र में राजनीति के बढ़ते कुप्रभाव को समझने के लिए इतना ही पर्याप्त है कि आज धर्मस्थल राजनीतिक फ़रमानों का अड्डा बन गए हैं। आम नागरिकों की सांप्रदायिक सद्भावना के विरुद्ध राजनेताओं की स्वार्थी राजनीति का ज्वलंत प्रमाण इस प्रकार है—

मंगलवार, 13 मई 2008 को जयपुर में आतंकवादी बम विस्फोट हुए, जिनमें आधिकारिक तौर पर करीब सत्तर लोग मारे गए थे और 200 से अधिक घायल हुए थे। सुनियोजित ढंग से हनुमान

मंदिरों के आसपास हुए इन विस्फोटों के बाद भी जयपुर में किसी प्रकार का सांप्रदायिक तनाव उत्पन्न नहीं हुआ। घायलों की मदद कर जनसाधारण ने क्षेत्र की सांप्रदायिक एकता का प्रमाण दिया। परंतु तत्कालीन गृहमंत्री ने संकीर्ण मानसिकता का परिचय देते हुए राज्य सरकार को दोषी ठहराया।<sup>8</sup>

दरअसल, हमारे चतुर नेताओं ने ब्रिटिश सरकार से प्रशासकीय कुशलताओं का सबक लेते हुए केवल एक ही नीति पर अपना ध्यान केंद्रित रखा है, जिसके बारे में पिछले छः दशकों से पाठ्य पुस्तकों में पढ़ाया जा रहा है, फूट डालकर शासन करने की नीति। भीष्म साहनी ने 'तमस' (1973) में अँग्रेजों की, या यूँ कहें, शासकवर्ग की उसी वर्गीय स्वार्थसिद्धि की नीति का पर्दाफाश किया है, जिसके तहत वे जनसाधारण की धार्मिक कट्टरता, अज्ञान व असहिष्णुता का लाभ उठाते हुए उन्हें आपस में लड़ाकर स्वयं को सुरक्षित महसूस करते हैं। 'तमस' में शहर के डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड की पत्नी शहर में हुए फ़साद से विचलित होकर प्रश्न करती है—

'ये लोग आपस में लड़ें, क्या यह अच्छी बात है?'

रिचर्ड हँस दिया।

'क्या यह अच्छी बात होगी कि ये लोग मिलकर मेरे खिलाफ़ लड़ें, मेरा खून करें?'

रिचर्ड ने कहा और करवट बदलकर एक हाथ से लीजा के बाल सहलाने लगा।

'कैसा रहे अगर इस वक्त ये आवाज़ें मेरे घर के बाहर उठ रही हों और ये लोग मेरा खून बहाने के लिए 'संगीनें उठाये बाहर खड़े हों?'

लीजा सिर से पाँव तक काँप उठी। वह रिचर्ड के और पास आ गई और अँधेरे में उसके चेहरे की ओर देखती रह गई। उसे लगा जैसे मानवीय मूल्यों का कोई महत्त्व नहीं होता, वास्तव में महत्त्व केवल शासकीय मूल्यों का होता है।<sup>9</sup>

पूरा शहर दंगों की आग में झुलसता रहता है और आसपास के एक सौ तीन गाँव जल जाते हैं। प्रशासन मूक दर्शक बना रहता है। एकाकी जीवन से उकताई लीजा के समक्ष रिचर्ड काम की व्यस्तता का बहाना बनाता है। नशे में डूबी लीजा की जिह्वा से मर्मभेदी व्यंग्य निकलता है, 'इतने गाँव तो जल गए रिचर्ड, अभी भी तुम्हें काम है? अब तुम्हें और क्या काम करना है?'<sup>10</sup>

यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि तसलीमा नसरीन न केवल सांप्रदायिक विद्वेष के राजनीतिक कारणों पर धाराप्रवाह लिखती हैं, अपितु धर्म से सांप्रदायिक वैषम्य की ओर ले जानेवाले सामाजिक, आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक पहलुओं को भी नज़रअंदाज नहीं करती हैं। धर्म का जिम्मा उठाने वाले लोग किस प्रकार अपने धर्म के मूलभूत सिद्धांतों से भी दूर-दूर तक सरोकार नहीं रखते तथा केवल ढकोसलों, अंधविश्वासों एवं कर्मकांडों का अंधानुकरण करके ही अपने दायित्व की इतिश्री समझ लेते हैं, इसकी बखिया तसलीमा नसरीन ने 'लज्जा' में बखूबी उधेड़ी है। सुरंजन के पिता सुधामय, जो एक मुक्तियोद्धा रहे हैं, धर्म के इसी विडंबनापूर्ण पक्ष को प्रस्तुत करते हैं—

'कहा गया है कि शांति ही सभी धर्मों का मूल गंतव्य है, लेकिन उसी धर्म को लेकर इतनी अशांति, इतना रक्तपात। मनुष्य कितना लांछित हो सकता है, इस शताब्दी में आकर यह भी देखना पड़ा।' धर्म की पताका उड़ाकर मनुष्य और मनुष्यत्व को जिस तरह चकनाचूर किया जा सकता है, उतना और किसी चीज़ से संभव नहीं।<sup>11</sup> कुंठित धर्म जिस तेज़ी से नफरत का संक्रमण फैलाता है, उसके सामने वर्षों की मित्रता और भ्रातृभाव गौण हो जाते हैं। जिगरी दोस्त केवल

एक-दूसरे की धार्मिक पहचान याद रखते हैं। सुरंजन के घनिष्ठ मित्र उसे कट्टर धर्मांध हिंदुओं की श्रेणी में ठहराकर, उसे स्वयं को दोषी ठहराने के अंतर्द्वंद्व में घिरा छोड़ देते हैं। सुरंजन के पल-पल के इस आत्मसंघर्ष को तसलीमा नसरीन कलात्मक सूक्ष्मता से व्यक्त करती है—

सुरंजन अहसास कर उठा। हँसते-हँसते बोला, 'अंतत' तुम भी कितनी अच्छी तरह 'तुम्हारी उम्मीद', 'तुम्हारे सपने' कह गए। यह 'तुम लोग' कौन हैं? हिंदू ही तो। तुमने मुझे भी हिंदुओं में शामिल कर ही दिया? इतने दिनों तक नास्तिकता में विश्वास रखने का यही फायदा हुआ मुझे? <sup>12</sup>

माया के अपहरण के बाद मानसिक विक्षिप्तता के कगार पर खड़ा सुरंजन स्वयं से प्रश्न करता है—कल रात जब बेलाल आया था उसके स्वर में भी वही एक ही राग सुरंजन को सुनाई दिया था, 'तुम लोग हमारी बाबरी मस्जिद क्यों तोड़े हो?'

सुरंजन ने सोचा, बाबरी मस्जिद भारतीयों का मस्जिद है, यह मस्जिद भला बेलाल का कैसे होगा? फिर सुरंजन ने बाबरी मस्जिद कैसे तोड़ा? सुरंजन तो कभी भारत गया ही नहीं। वह कैसे मस्जिद तोड़ेगा? तो क्या बेलाल भारत के हिंदू और इस देश के हिंदू को एक करके देख रहा है? हिंदू मस्जिद तोड़ा है, इसका अर्थ सुरंजन तोड़ा है? अयोध्या के कट्टरवादी हिंदू और सुरंजन एक ही हैं? भारत के मस्जिद तोड़ने का अपराध सुरंजन का है? धर्म के सामने देश और जाति तुच्छ हो जाती है? <sup>13</sup>

प्रेम और सद्भावना पर आघात का ऐसा ही संदर्भ दंगों की पृष्ठभूमि में रची कहानी 'सहाय' में मिलता है। सदाअत हसन मंटो द्वारा रचित इस कहानी में जुगल नामक पात्र को लाहौर से खत मिला कि दंगों में उसका चाचा मारा गया है। इस सदमे से बौखलाए जुगल ने एक दिन अपने जिगरी दोस्त मुमताज से कहा—

'मैं सोच रहा हूँ कि हमारे मुहल्ले में अगर दंगा शुरू हो जाए तो मैं क्या करूँगा?' मुमताज ने उससे पूछा— 'क्या करोगे?' जुगल ने बड़ी संजीदगी के साथ जवाब दिया— 'मैं सोच रहा हूँ, बहुत मुमकिन है, मैं तुम्हें मार डालूँ।'

यह सुनकर मुमताज बिल्कुल खामोश हो गया और उसकी यह खामोशी लगभग आठ दिन बनी रही और उस वक्त टूटी, जब उसने अचानक हमें बताया कि वह पौने चार बजे समुद्री जहाज से कराची जा रहा है। <sup>14</sup>

दंगों के दौरान मानवता की सुंदरता, पारस्परिक सद्भावना, नैतिकता और सज्जनता जैसे मूल्य अपना अस्तित्व खो देते हैं और शेष रह जाते हैं— लावारिस पड़ी लाशें, आकाश में ललचाई दृष्टि लिए मँडराते हुए गिद्ध, चील, कौए; और अस्मिता लुटी हुई माताएँ व बहनें। परंतु जिस मकसद से दंगे शुरू होते हैं, तथाकथित रूप से अपने धर्म की रक्षा और दूसरे धर्म को नष्ट करने के लिए वह कभी पूरा नहीं होता। विश्वइतिहास में 1947 के विभाजन के दौरान मारे गए हिंदू-मुसलमान एवं सिक्खों की संख्या दुनिया के किसी भी क्षेत्र में दंगों में हुई हत्याओं से अधिक थी। इस संदर्भ में 'सहाय' कहानी के आरंभ में मंटो की टिप्पणी देखिए—

यह मत कहो कि एक लाख हिंदू और एक लाख मुसलमान मरे हैं, यह कहो कि दो लाख इंसान मरे हैं, और यह इतनी बड़ी ट्रेजडी नहीं कि दो लाख इंसान मरे हैं। ट्रेजडी असल में यह है कि मरने से मारने वाले किसी भी खाते में नहीं गए। एक लाख हिंदू मारकर मुसलमानों ने यह समझा

होगा कि हिंदू मज़हब मर गया है, लेकिन वह जिंदा है और जिंदा रहेगा। इसी तरह एक लाख मुसलमान क़त्ल करके हिंदुओं ने बगलें बजाई होंगी कि इस्लाम ख़त्म हो गया है। मगर असलियत आपके सामने है कि इस्लाम पर एक हल्की सी ख़राश भी नहीं आयी—वे लोग बेवकूफ़ हैं, जो समझते हैं कि बंदूकों से मज़हब शिकार किए जा सकते हैं—मजहब, दीन, ईमान, धर्म, यक़ीन, विश्वास—वे जो कुछ भी हैं हमारे जिस्म में नहीं आत्मा में होते हैं—छुरे, चाकू और गोली से ये कैसे फना हो सकते हैं? <sup>15</sup>

फिर क्यों बार-बार अपना मानव-धर्म भूलते हुए विवेकहीन मदांध की भाँति उत्तेजित हो कर मनुष्य दूसरे धर्म के अनुयायियों एवं विशेष रूप से अल्पसंख्यकों के सम्मानपूर्ण जीवन जीने के अधिकार का हनन करता है तथा आहत शिकार को प्रतिशोध के लिए उकसाकर उसकी भी मानवता का गला घोट देता है—इन्हीं प्रश्नों को बार-बार तसलीमा नसरीन ने 'लज्जा' में उठाया है। दरअसल, 'लज्जा' केवल एक लेखिका का दंगाग्रस्त अल्पसंख्यकों की वेदना, खिन्नता एवं करुण त्रासदी का व्यंग्यात्मक वर्णनमात्र नहीं है, अपितु एक आक्रोशपूर्ण प्रतिकार है। अपना मानसिक संतुलन खोते देशभक्त, समाजवादी, उदारवादी, मानवमूल्यों के प्रतीक रूप सुरंजन का अपनी बहन माया के अपहरण एवं हैदर, बेलाल इत्यादि मुस्लिम मित्रों की उदासीनता के प्रतिशोधस्वरूप सुरंजन का नैतिक पतन (एक मुस्लिम वेश्या का बलात्कार) केवल व्यक्ति विशेष का नैतिक पतन न होकर पूरे राष्ट्र, पूरी मानवता का पतन एवं लज्जा है। स्वयं तसलीमा नसरीन कहती हैं—

'लज्जा मेरी तत्क्षण के आवेगों की फ़सल नहीं है। यह हम सबकी पराजय का इतिहास है। यह हम सबकी लज्जा है, सबकी ग्लानि है। हर किसी स्वस्थ जागरूक इंसान के लिए यह पराजय बेहद मार्मिक है। एक इंसान सुरंजन हिंदू हो गया, एक इंसान हैदर, मुसलमान हो गया। ये दोनों ही बेहद ग्लानि देती हैं। इंसानियत से मजहब जब अहम हो उठा, तभी मैंने प्रतिवाद की जिम्मेदारी महसूस की। 'लज्जा' लिखने से बहुत पहले से मैं इन सबका विरोध करती रही हूँ। 'लज्जा' धार्मिक सांप्रदायिकता और दंगों के ख़िलाफ़ तीखा प्रतिवाद है।'<sup>16</sup>

अपनी रचनाओं में तसलीमा बार-बार लिखती हैं कि धर्म का दूसरा नाम ही मानवता है। वे मानती हैं कि किसी धार्मिक संप्रदाय पर हुआ प्रहार उस धर्म पर नहीं वरन् मानवता पर प्रहार है। सांप्रदायिकता एवं धार्मिक पहचान से ऊपर उठकर मनुष्य को केवल मनुष्य समझना ही सच्ची मानवता है। इन मानवतावादी मूल्यों की स्थापना का लेखिका का यह स्वप्न केवल एक धर्मनिरपेक्ष प्रजातांत्रिक राष्ट्र में ही संभव हो सकता है, बशर्ते वह निष्पक्ष रूप से संवैधानिक नियमों का पालन करें। अतः तसलीमा नसरीन की रचनाओं में उनका संदेश स्पष्ट है— धार्मिक सहिष्णुता, धर्मनिरपेक्षता, वास्तविक अर्थों में प्रजातंत्र की स्थापना एवं मानवतावाद में आस्था।

#### संदर्भ

1. तसलीमा नसरीन, द्विखंडित, अनुवाद सुशील गुप्ता, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, 2004, पृ० 346
2. पूर्वोक्त, पृ० 370
3. तसलीमा नसरीन, लज्जा, 1993, अनुवाद मुनमुन सरकार, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, 2007, पृ० 122
4. द्विखंडित, पृ० 338-39
5. पूर्वोक्त, पृ० 344-45

6. लज्जा, पृ० 7
7. पूर्वोक्त, पृ० 94
8. हेतु भारद्वाज, 'जयपुर में हुए विस्फोटों से जुड़े सवाल' संपादकीय 'अक्सर' अंक चार, अप्रैल-जून 2008
9. भीष्म साहनी, तमस, 1973, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1996, पृ० 115
10. पूर्वोक्त, पृ० 232
11. लज्जा, पृ० 31
12. पूर्वोक्त, पृ० 72
13. पूर्वोक्त, पृ० 144
14. सदाअत हसन मंटो की कहानियाँ, संपादक नरेंद्रमोहन, नई दिल्ली, किताबघर प्रकाशन, 2008, पृ० 434
15. पूर्वोक्त, पृ० 433-34
16. द्विखंडित, पृ० 399



## शिक्षा और शांति की संवाहक: ख्रामोशियाँ बोलती हैं

डॉ० अनीता भारद्वाज

अध्यक्ष, हिंदी विभाग

ऐ०पी०जे०सरस्वती पी०जी०कॉलेज

चरखी दादरी (भिवानी)

‘सा विद्या या विमुक्तये’<sup>1</sup> शिक्षा वही है जो मनुष्य को बंधनों से मुक्त करती है अथवा शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक दासता से मुक्त कर सर्वांगीण विकास करती है। ‘शिक्षा का अर्थ है देश के लिए प्रशिक्षण तथा राष्ट्र के लिए प्यार।’<sup>2</sup> डॉ० किरण वालिया कई दशकों से शिक्षण-प्रशिक्षण क्षेत्र से जुड़ी हैं और राष्ट्र के लिए प्यार उनकी आँखों से सदा झलकता है। राष्ट्र की मिट्टी के कण-कण के प्रति वह सदा नतमस्तक हैं। उनकी राष्ट्रीय भावना में देशप्रेम, त्याग, बलिदान, आत्मानुशासन का समावेश है। राष्ट्रप्रेम की भावना उन्हें धरोहर रूप में प्राप्त हुई है, तभी तो राष्ट्रप्रेम की बात आते ही भावुक हो उठती हैं। इसलिए राष्ट्र में घटने वाली घटनाओं के प्रति चिंतातुर दिखाई देती है। राष्ट्रप्रेम उनकी रचनाओं में कभी ‘माक्स और गांधी’ के रूप में उभरा है तो कभी ‘बापू के आह्वान में—

आ लौट आ बापू,  
तेरा देश तेरा आह्वान करता है  
तेरा दर्शन कभी मर नहीं सकता  
आ लौटकर बता दे सबको  
अहिंसा, प्रेम, भाई-चारा, मानवता  
इन मूल्यों को  
कोई मार नहीं सकता।<sup>3</sup>

ये मानवीय मूल्य एक बार मानव-मन में स्थापित हो जाएँ तो मानव-प्रेम की भाषा बोलने लगता है। प्रेम की भाषा में बहुत ताकत है, प्रेम हृदय में उत्पन्न आवेग-मात्र नहीं है, वह सच्चा है, शाश्वत है, प्रेम परम आनंदस्वरूपा है। जब प्रेम से सृष्टि का कण-कण सिंचित होगा, तभी जीव मूल आनंद को प्राप्त कर सकेगा। वालिया प्रेम को मानवीय स्तर पर प्रस्तुत करती है, अपनी अंतर्दृष्टि को प्रेम रूप में इस प्रकार निरूपित करती हैं कि मानव-मन भावना की भाषा समझ जाए—

मन भावना की भाषा  
पहचानता है

दिलों को छूता है  
जज़्बातों को सींचता है  
प्रेम की बोली बोलता है  
अपनों को जोड़ता है

संदेश छोड़ जाता है  
मानवता का  
भाई-चारे का  
शांति का  
अहिंसा का।<sup>4</sup>

प्रेम मानव को धर्मपथ पर अग्रसर करता है। 'धारयते इति धर्मः', वालिया धर्म को धारण करने तक ही सीमित नहीं हैं, उन्होंने धर्म को विस्तृत अर्थ में लिया है, धर्म को कला संस्कृति और प्रकृति में खोजा है, धर्म को मानवीय संदर्भों में निहित माना है। समाज के निर्धन, निरक्षर तथा शोषित लोगों की सेवा सच्चा धर्म है। आज वह धर्म गर्त में जा रहा है।

धर्म के नाम पर कत्ले-आम है।<sup>5</sup>

धर्म शिक्षा का आंतरिक मर्म है।<sup>6</sup> (Religion is the inner most core of education) जहाँ तक शिक्षा की बात है कुशल शिक्षक होने के कारण शारीरिक, बौद्धिक, सामाजिक, राजनीतिक, व्यावसायिक दृष्टिकोण से सर्वांगीण विकास पर बल देती हैं। शारीरिक विकास के आधार पर खेलकूद व्यायाम को जीवन की आवश्यकता बताया है। महाविद्यालय में प्रवेश करते ही सर्वप्रथम 'व्यायामशाला' की स्थापना की, ताकि शरीर को स्वस्थ रखा जा सके। शारीरिक विकास और अध्ययन को परस्पर समांतर मानते हुए 21वीं सदी के बच्चों के लिए लिखती हैं—

बच्चे इस दौर के कितने दूर हो गए हैं  
अपनों में रहके अपनों से दूर हो गए हैं  
लैपटाप की दुनिया से बना ली है रिश्तेदारी  
ई-मेल और चैटिंग में मशगूल हो गए हैं।<sup>7</sup>

स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क का विकास होता है। मस्तिष्क विकास के लिए मात्र पुस्तकीय ज्ञान पर्याप्त नहीं है, उसके लिए प्रकृति और जीवन से प्रत्यक्ष अनुभूतिजन्य ज्ञान की आवश्यकता है। शिक्षा के माध्यम से चिंतन-मनन, कल्पना, स्मरण आदि के लिए समय-समय पर वाद-विवाद, भाषण, कविता, संगोष्ठी, सम्मेलन, प्रदर्शनियों के आयोजन के लिए प्रेरक स्तंभ हैं।

कवयित्री ने स्त्री शिक्षा पर विचार प्रकट करते हुए कहा है—

जो निकल पड़ी है  
अपने अस्तित्व के लिए अपनी पहचान के लिए  
ये रास्ते तलाशने को  
नई मंज़िलों की प्राप्ति के लिए।<sup>8</sup>

एक शिक्षित नारी दो परिवारों को नहीं, अपितु अपने आसपास के पूरे परिवेश को शिक्षित करने का हौसला रखती है। जहाँ एक ओर शिक्षित नारी जागरूक होकर किरण बेदी बनती है तो दूसरी ओर मदर टेरेसा बनकर शांति में सहायक सिद्ध होती है, अतः स्त्री-शिक्षा अनिवार्य है। राजनीति का विषय वे भारत माता से सांझा करना चाहती हैं कि इस भ्रष्टाचार की राजनीतिक शिक्षा शिक्षार्थियों को कैसे प्रदान की जाए—

राजनीति में सब जायज़ है  
बता दे माँ  
सच क्या है  
क्योंकि नई पीढ़ी को  
मुझे सच के लिए तैयार करना है माँ।<sup>9</sup>

वह भावी पीढ़ी को वास्तविकता से अवगत करा नैतिकता का पाठ पढ़ाना चाहती हैं, नैतिकता जो धर्म और कर्म पर आधारित है। नैतिकता का अनुसरण करनेवाला मनुष्य कंगाली में भी सुखी है। नैतिकता ही है, जो मनुष्य को पशुत्व से ऊपर उठा देवत्व की ओर ले जाती है। सबके सुख की कामना करने वाले 'बरगद' का विचार वालिया का नैतिक विचार ही तो है—

जब ये दोनों एक साथ  
मेरी छाँह में पनाह लेंगे  
और मेरा बूढ़ा बरगदी मन  
अपने अश्रुओं से  
उनका अभिषेक करेगा।<sup>10</sup>

विश्वबंधुत्व की भावना के दर्शन भी 'खामोशियाँ बोलती हैं' में स्थान-स्थान पर होते हैं। वालिया की सोच राष्ट्रवाद की सीमाओं का अतिक्रमण करके विश्वव्यापी होना चाहती है, उनकी उड़ान विश्वसमुदाय तक पहुँचने को आतुर है। विश्वबंधुत्व पर अपने विचारों के पंख लगाकर पंछियों की भाँति समस्त वितान को अपना मानती हैं—

क्या कोई संदेश है किसी अपने का ?  
उस पार भी मेरी तरह  
बैठा कोई छत पर  
ताकता होगा सरहद पार  
सोचता होगा जब कोई पंछी  
उड़कर उसकी मुँडेर पर बैठे  
क्या कोई संदेश है किसी के आने का।<sup>11</sup>

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कवयित्री आशावादी है, वह उस दिन की आशा में बैठी है जब चहुँदिस शांति होगी, जब सब मनुष्य जाति-पाति, धर्म-अधर्म, ऊँच-नीच के भेदभाव भूलाकर एक हो जाएँगे, तब इंसानियत हँसेगी, खिलखिलाएगी—

ये ज़रूरी नहीं

कि सच हरदम सूली पर चढ़ेगा  
अहिंसा गोलियों से छलनी होगी  
मुहब्बत पर हरदम पत्थर बरसेंगे  
और इंसानियत हमेशा हार जाएगी  
ये ज़रूरी नहीं।<sup>12</sup>

### सदर्भ

1. राजकिशोर ओझा, भाषण-कला पृ० 7
2. डी०डी०महता, आधुनिक भारतीय समाज में शिक्षा, पृ० 7
3. डॉ० किरण वालिया, खामोशियाँ बोलती हैं, पृ० 59
4. वही, पृ० 22
5. वही, पृ० 19
6. राजेंद्र मिश्र, प्रह्लाद तिवारी, विश्व के शिक्षाशास्त्री, पृ० 256
7. डॉ० किरण वालिया, खामोशियाँ बोलती हैं, पृ० 3
8. वही, पृ० 38
9. वही, पृ० 19
10. वही, पृ० 78
11. वही, पृ० 54

## बलवंत मनराल के काव्य संग्रह 'पहाड़ आगे : भीतर पहाड़' में पहाड़ी त्रसदी की मुखर अभिव्यक्ति

रीना अग्रवाल

प्रवक्ता हिंदी विभाग

ए०पी०जे० सरस्वती कन्या महाविद्यालय,

चरखी दादरी (हरियाणा)

मिथकों के लिए प्रमाण नहीं चाहिए, पर कुछ सत्य मिथकों से अधिक आश्चर्यजनक होते हैं। क्रॉच वध ने आदिकवि के हृदय को अलोडित किया। व्याघ्र का तीर मानो बाल्मीकि को ही लहूलुहान कर गया। बड़ी छटपटाहट के बाद निकली थी पहली कविता— 'मा निषाद'

कवि बलवंत मनराल के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ है। वे हिंदी के साठोत्तरी अवधि के एक बहुचर्चित साहित्यकार हैं, जिन्होंने बिना किसी वैशाखी का सहारा लिए 'एकला चलो' के सिद्धांत को आत्मसात करते हुए हिंदी का गौरववर्धन किया। अपने कविता-संग्रह 'पहाड़ आगे : भीतर पहाड़' के द्वारा इन्होंने प्रकृति की सुंदरतम सृष्टि हिमालय के अनुपम सौंदर्य के बीच पीड़ित एवं उद्वेलित मन का दर्द, आए-दिन उत्तराखंड की त्रसदी को झेलते जीवन, चतुर्दिक परिवेश की हलचलों और दिन-प्रतिदिन के आघातों प्रत्याघातों को व्यक्त किया। यह कविता-संग्रह उत्तराखंड के प्ररिप्रेक्ष्य में अवतरित हुआ है, अतः इसकी प्रायः सभी कविताओं में उत्तराखंड के उद्वेलन, उत्पीड़न और आक्रोश के तीखे तेवर व्यापक अनुगूँज लिए हुए हैं। कवि की भावुकता कहीं-कहीं उनके भीतर के असीम ज्वार को व्यवस्था पर प्रहार की दृष्टि से विद्रोही मुद्रा में अनियंत्रित होने से रोक नहीं पाती। संग्रह की अनेक कविताओं में कवि का कर्तव्य-बोध हिचकोलों के साथ प्रकट हुआ है। जो मिट्टी कवि के लिये वंदनीय, पूज्यनीय है और जिसके जन अपने हैं, सगे हैं उसकी उपेक्षा, तिरस्कार, अनादर भला कवि के मन में ज्वालामुखी-सा भयंकर विस्फोट 'पहाड़ आगे : भीतर पहाड़' के रूप में करे तो आश्चर्य कैसा। कवि ने जब-जब और जहाँ-जहाँ अन्याय देखा, उसका डटकर विरोध किया, वह चाहे चीन का भारत के साथ विश्वासघात का अवसर हो (1962 ई०) चाहे आपातकाल की ज़्यादातियाँ और मौन (1975 ई०) और चाहे उत्तराखंड के दमन का अपावन प्रयास (1994 ई०) 'पहाड़ आगे : भीतर पहाड़' की कविताओं में इन सभी की अनुगूँज है, इन सभी का साक्ष्य है। कवि का जुझारूपन और आक्रोशी तेवर इन कविताओं की जान है।

पहाड़ी जीवन की सादगी, निश्छलता और प्राकृतिक वैभव की अपार संपदा निर्दयता के साथ लूटी गई। कभी यह प्रदेश राजनीतिज्ञों की कूटनीति का शिकार बना, कभी व्यापारियों ने यहाँ की संपदा को लूट अपने घर भरे। लोग माँग रहे पहाड़, कहाँ से लाऊँ? कविता की निम्नलिखित

पंक्तियाँ इस मार्मिक सत्य को वाणी देती हैं—

अपनों को ही देखिए  
मुफ्ती माल समझकर  
सीधे-साधे / मेरे पहाड़ की कैसी दुर्दशा की है?  
लोग माँग रहे हैं पहाड़  
मेरे पास पहाड़ भी कहाँ ?  
लालची मुनाफ़ाख़ोरों ने  
इसके नाम पर चला कारोवार  
इसे रसीले आम-सा ख़ूब चूसा  
फिंकी सूखी  
केवल गुठली मेरे हाथ आई थी ।

दो अक्टूबर को गांधी जयंती पर मुजफ्फरनगर में उत्तराखंड की जनता के प्रति अन्याय, अत्याचार का जो तांडव हुआ, उससे कवि का मन बहुत व्याकुल हो उठा। कवि का मानना है कि इन सबके पीछे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सत्ताधारियों का ही हाथ है। उनकी कविता चलो इतिहास को याद करो की निम्न पंक्तियाँ उनकी इसी भावना को व्यक्त करती हैं—

सत्ता-शृंगो चेतो  
इतिहास को याद करो  
जब भी जनाक्रोश  
संघर्ष का विगुल बजाता है  
मारे गए निरीह की हड्डियों से बज्र बनता है।  
आसुरी दमन-तंत्र को सिर कटा सा कर देता है  
बड़े सत्ताकामी सिंहासनों को  
धूल चटाता है  
सर्वोच्च भगवान को झुकाता है।

कवि को लेखनी की ताकत पर विश्वास है। जब लेखनी आग उगलने पर उतारु हो जाती है, तब उसे सत्ता के ठेकेदार अपने अत्याचारी तेवरों से भी रोक पाने में कभी सफल नहीं हो सके हैं। जब कलम स्वयं समाज को दिशा-निर्देश देने के लिए पहल करती है तब बड़े-बड़े राजमुकुट धराशायी हो जाते हैं। इस शाश्वत सत्य को कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

तुम्हें अस्वीकृत करने की  
हमारी इस घोषणा को  
अफवाह बनाकर टाल न देना  
क्योंकि हम सभा-जुलूस नारे नहीं  
कलम के सिपाही हैं  
दुर्घटनाओं से जनमते हैं  
स्याही की बूँदों में  
वक्त के माथे की लकीरों में

सदा-सदा बने रहते हैं हम  
किसी भी हथियार से कभी नहीं मरते हम।

व्यंग के माध्यम से भी कवि को अपनी बात कहने में भरपूर सफलता मिली है। जो विषमताएँ आज समाज में नाना रूपों में पैर पसार रही हैं, उन पर व्यंग की धारदार सच्चाई जेठ की दुपहरी-सी आग की वर्षा कर रही है। 'हे राम' कविता के माध्यम से कवि ने इसी सच्चाई को व्यक्त किया है—

(सत्ता के) राजघाट  
वोट-लोभी नेताओं की भीड़  
गोलियों की बौछार  
सामूहिक बलात्कार  
देश में गांधी जयंती धूम-धाम से मनाई गई।

कवि ने व्यंग के माध्यम से ही वर्तमान लोकतंत्रीय व्यवस्था पर भी प्रहार करते हुए कहा है कि—

एक हाथ,  
जातिभेद विष के प्याले,  
दूसरे हाथ बंदूक साधे,  
चरण-तले निरीह जनता की लाशें,  
लोकतंत्रीय शहंशाह  
बार-बार जय जयकार।

बलवंत मनराल ने पहाड़ की त्रासदी को भोगा है, उसकी वेदना महसूस की है, कसकता जीवन देखा है, भूखे पेट सोने का प्रयास करते शिशु की पीठ पर थपकी देती और अश्रुपूरित आँखों से लोरी गाती हुई माँ की वेदना को अनुभव किया है। अन्याय और अत्याचार से लड़ने के लिये उनकी लेखनी छटपटा रही है—

सफ़े पर छूटा थोड़ा हाशिया  
काफ़ी होगा  
यदि तुम मुझे सत्य लिखने दो।

कवि ने अपनी कविताओं में परिवर्तित समाज के कुत्सित रूप का सुंदर चित्रण किया है। बदली हुई सामाजिक परिस्थितियाँ, सामाजिक मान्यताओं तथा आपसी भाईचारे का मार्मिक चित्रण करते हुए कवि ने कहा है—

कैसी भी भीषण दुर्घटना हो  
अब भीड़ें नहीं लगतीं  
मौन इशारों से भी  
आँख कुछ नहीं कहती  
मिल रोने-गाने की बातें  
अब सपनों-सी मिथ्या लगतीं।

कवि की दृष्टि में शोषित, अभावग्रस्त, दोहन और शोषण का शिकार पहाड़ दोगली

सत्ता, कुचक्र, स्वार्थ की राजनीति में लिप्त नेताओं के विश्वासघात से पीड़ित है। इस घिनौने राजनीति के खेल और हिंसा के तांडव ने प्रजातंत्र की जड़ें खोखली कर दी हैं और कवि की आत्मा छटपटाने लगी है—

नर पिशाचों द्वारा  
भोले शंकरों की हत्या  
नियोजित भेड़ियों से  
पार्वतियों की लज्जा भंग  
देख-देखकर  
भारत के सारे तीर्थ/ सारे धर्म  
आँख मूँदकर शर्म से गड़े हैं  
बद्रीनाथ को दुखी देख  
तीन धाम  
निष्फल, निरर्थक हो गए हैं।

कवि की भावना 'वसुधैव कुटुंबकम्' की है। वे बिना किसी भेदभाव के सबको अपना मानते हैं और यही बात वे सबको समझाना चाहते हैं। वे कहते हैं—

बलात्कार का शिकार  
वह युवती  
मेरी बहन या आपकी भाभी  
पत्नी भी हो सकती है  
अपहृत किशोरी  
हममें से किसी की बेटी अवश्य है।

इस प्रकार कवि ने इस कविता-संग्रह के माध्यम से उत्तराखंड के लोगों का जीवन, लोकतंत्रीय व्यवस्था, भ्रष्टाचार, उपद्रव आदि का सजीव चित्रण किया है। इन त्रासदियों को झेलता पहाड़ आज अपने अधिकार के लिए जाग्रत हो गया है और कहता है—

राजनीति के हिंसक खेल से  
अनजान भोला-पहाड़।  
लोकतंत्री कर्तव्यनिर्वाह  
तन-मन से करने वाला  
देशनिष्ठ पहाड़  
पहली बार  
सत्य और औचित्य पर  
न्याय माँगने  
प्रजातंत्र में अधिकार के लिए  
खड़ा-पहाड़।

#### संदर्भ

पहाड़ आगे : भीतर पहाड़ : बलवंत मनराल, कत्यूरी प्रकाशन, नई दिल्ली, जून सन् 1995



## ‘घासीराम कोतवाल’ में चित्रित भ्रष्टतंत्र : वर्तमान यथार्थता

अंजू राणा

प्रवक्ता हिंदी विभाग

ए०पी०जे० सरस्वती कन्या महाविद्यालय,

चरखी दादरी (हरियाणा)

‘घासीराम कोतवाल’ एक प्रसंग मात्र है, जिसे विजय तेंदुलकर ने अपने वक्तव्य की अभिव्यक्ति का एक निमित्त, एक साधन बनाया है। इसके अंतर्गत ‘घासीराम’ व ‘नाना’ के माध्यम से न केवल तत्कालीन अपितु आधुनिक समाज, प्रशासन, पुलिस व राजनीतिक स्तर पर अनेक परिस्थितियों के कटु सत्यों को उद्घाटित करने का सफल प्रयास किया गया है, जो सनातन हो गए हैं। वही सत्य आज के परिप्रेक्ष्य में प्रशासन के संदर्भ में देखें तो 99.9 प्रतिशत अधिकारी नाटक की कटु यथार्थता को उजागर करते हैं।

वर्तमान में भ्रष्टाचार अत्यंत द्रुतगति से समाज में व्याप्त होता जा रहा है। इसके बढ़ते चरण हमारे समाज को नरक में धकेले जा रहे हैं। यहाँ तक कि शिक्षा-व्यवस्था भी इसका शिकार हो गई है। ‘यथा राजा तथा प्रजा’ का अनुसरण करते हुए प्रथम श्रेणी से चतुर्थ श्रेणी तक सभी कर्मचारी, राजनेता इसमें आकंट डूबे दिखाई देते हैं। नित नए घोटाले सामने आ रहे हैं : जो भारतीय लोकतंत्र के चेहरे पर कालिख पोत रहे हैं। प्रशासकवर्ग आमजन की समस्याओं को सुलझाने की अपेक्षा उन्हें दबाने का अधिक प्रयास करते हैं। यथा किसी बलात्कार, डकैती के संबंध में एफ०आई०आर० दर्ज करवाना हो, जिलाधिकारी से मिलना हो, तो यह सब सरलता से नहीं होता है, विशेषकर तब जब इन घटनाओं में किसी प्रभावशाली व्यक्ति, नेता आदि की संदिग्ध भूमिका रही हो।

विविध समाचार चैनलों द्वारा चलाए गए स्टिंग आपरेशनों में केबिनेट मंत्री से लेकर राज्यों के मुख्यमंत्री तक फँसे, भ्रष्टाचार के घेरे में जज से लेकर पूर्व चीफ़ जस्टिस तक का नाम उजागर हुआ। नौकरशाहों की फेहरिस्त में बी०डी०ओ० से लेकर केंद्र में सचिव स्तर तक के अधिकारी सम्मिलित हैं। कारपोरेट जगत् के सर्वेसर्वा से लेकर सिटी बैंक के आला अधिकारी तक ने घपला-घोटाला कर लाभ कमाया। अधिकांश मामलों को शक्तिशाली प्रभाव द्वारा दबा दिया गया किंतु स्पष्ट परिलक्षित हुआ कि देश को चूना लगाकर प्रत्येक ने बहती गंगा में हाथ धोए। लेकिन कभी कारपोरेट जगत ने मंत्री की, तो कभी मंत्री ने न्यायपालिका की तो न्यायपालिका ने कानून मंत्रालय की तो कानून मंत्रालय ने लोकतंत्र की दुहाई देकर कानून राज स्थापित करने की ऐसी-ऐसी परिभाषा दी कि प्रधानमंत्री तक यह कहने से नहीं चूके कि ‘वे तो मिस्टर क्लीन हैं’।

अब उनके मातहत भ्रष्ट हैं तो वह क्या करें। अर्थात् शान की समूची प्रक्रिया ही संविधान के दायरे में इस प्रकार निर्मित की गई है जहाँ 'वी द पीपुल, फॉर दी पीपुल' का प्रश्न हर प्रगति के लिए 'वी द गर्वनमेंट फॉर द गर्वनमेंट' हो जाए और गर्वनमेंट का आशय कहीं पी० एम०, कहीं सी०एम० तो कहीं रिलायंस व टाटा हो जाए। वास्तव में संसदीय व्यवस्था में 'चैक एंड बैलेंस' का खेल सिर्फ बैलेंस पर ही जा टिका है और प्रत्येक क्षेत्र में लोकतंत्र का तमगा उसी की छाती पर टँगा है, जो अपने घेरे में सत्ताधारी हो।

इनसे पूर्व जीप घोटाला, हथियारों— तोप, पनडुब्बी सौदों की दलाली, सूटकेस, अटैची कांड, स्टांप पेपर घोटाला, चारा घोटाला आदि कितने ही घोटाले राजनेताओं व अधिकारीवर्ग की मिलीभगत से हुए हैं। सन् 1980 का चुनाव जीतने के लिए अनेक असामाजिक तत्त्वों को संजय गांधी द्वारा टिकट दिए गए। वास्तविकता यह है कि गांधी परिवार ने राजनीति के अपराधीकरण व अपराध के राजनीतिकरण की परंपरा को जन्म दिया। आज असंख्य शिक्षित व बेरोज़गार युवा राजनेताओं की शह पर गुंडागर्दी व अपहरण आदि जैसे घृणित कार्य करते हैं। यहाँ तक कि राजनेताओं व उच्चाधिकारियों के नौनिहाल ही किसी प्रकार के अनैतिक कार्यों में लिप्त पाए जा रहे हैं। यह उल्लेख करना आवश्यक नहीं कि युवावर्ग द्वारा दंगा, नगरों, कस्बों आदि में कपर्युं जैसी परिस्थितियाँ, जितने कारगर ढंग से उत्पन्न करने की क्षमता व सामर्थ्य राजनेताओं में होगी, उतना ही अधिक वे सत्ता-सुख को भोग सकेंगे, उनकी यही मानसिकता बनी हुई है।

'घासीराम कोतवाल' में भी यही परिस्थितियाँ चित्रित की गई हैं। नाना साहब शिक्षित, सभ्य व स्वाभिमानी घासीराम को मात्र कठपुतली मानते हैं और उसके कंधों पर रखकर बंदूक चलाते हैं। जब पर्दाफाश का भय लगता है तो कुटिल चालों में फँसाकर घासीराम को मरवा देते हैं। सारा समाज व प्रशासकवर्ग नाना के समक्ष हाथ जोड़े खड़ा रह जाता है। वर्तमान में भी राजनेता इसी प्रकार बालू के ढेर पर महल खड़ा करने का प्रयास करते हैं और फँसने की आंशका-मात्र से तत्काल मोहरा परिवर्तित कर लेते हैं। नाना को यह भली-भाँति ज्ञात था कि घासीराम चोरी के आरोप में जेल जा चुका है, फिर भी वह उसे शहर का कोतवाल नियुक्त करता है, उसे पता है कि इस प्रकार घासीराम उसके संकेतों पर नाचता होगा।

जातिवाद, सांप्रदायिक दुर्भावना, दुराचार, महँगाई, दहेज हत्याओं, बलात्कार, गोलीकांड, डकैती, उत्पीड़न आदि नेताओं व उच्चाधिकारियों के उर्वर मस्तिष्क से उपजने वाले नारों की खेती हैं। ऊपर से भले ही 'मुलायम' या 'लालू' लगते हों पर सत्ता की 'राबड़ी' सभी चटखारे लेकर चाटते हैं।

यदि कोई अधिकारी ईमानदार है तो राजनीतिज्ञ उसे अपनी ओर खींचने का पूरा प्रयास करते हैं। प्रसिद्ध पुलिस अधिकारी किरण बेदी ने बी०बी०सी० के एक कार्यक्रम 'आपसे मिलिए' में यह बात स्वीकार की कि पुलिस अधिकारियों पर राजनीतिक दबाव बनाने के प्रयास किए जाते हैं। वर्तमान में बहुदलीय सरकारें अस्थायी प्रशासन में अस्थिरता व भ्रष्टाचार का कारण बनती हैं। प्रशासन में अनुशासनहीनता के कारण भ्रष्टाचार महामारी की तरह फैला है। 'खादी' जो कभी 'मिशन' था आज राजनीतिक प्रयासों से कमीशन बन गया है। रिश्वतखोरी नीचे से उपर तक निःसंकोच अपना स्थान बनाए है। सूत्रधार जेल में घासीराम को समझाता है कि तुम चोर तभी बन सकते हो जब सिपाही तुम्हें बनने दें। समाज का सशक्त वर्ग आम आदमी की स्वतंत्रता का हनन

कर रहा है तो दूसरी तरफ़ पुलिस आमजन के अधिकारों की रक्षा कम, उत्पीड़न अधिक कर रही है। घासीराम कोतवाल बनने पर जन्म व मृत्यु पर भी पहले परमिट ले लेना आवश्यक समझता है। घासीराम अपनी लड़की नाना को सौंप देता है और क़ीमत के रूप में कोतवाल का पद प्राप्त करता है। नाना चाहता है कि घासीराम इस अहसान से दबकर विरोधी दल के व्यक्तियों को दंड दे और वह लड़की के साथ रंगरलियाँ मना सके और कोई अँगुली उठानेवाला भी न हो। वह घासीराम को असीम अधिकार प्रदान कर उसे शैतान बनने को प्रेरित करता है।

वर्तमान में आरक्षण वह कमज़ोर बैशाखी है, जो देश को गर्त में धकेलने के अतिरिक्त कुछ नहीं करनेवाली, क्योंकि किसी देश की सर्वांगीण प्रगति के लिए सरकारी व गैरसरकारी कर्मचारियों का सुयोग्य होना पहली शर्त है, आरक्षित जाति नहीं। अनेक राजनेता अपने क़रीबियों को फ़र्जी जाति प्रमाणपत्र उपलब्ध करवाकर नौकरियाँ देते हैं। जैसे नाटक में घासीराम बाहरी व्यक्ति होने के बावजूद लड़की के बदले कोतवाल के पद पर आसीन हो जाता है।

#### नारी की दयनीय दशा व अधिकारियों की कटौती :

अर्द्धनारीश्वर की कल्पना इसी बात का प्रतीक है कि नारी व पुरुष समान हैं, किंतु समसामयिक भारत में मात्र कुछ महिलाओं द्वारा उच्च पदों की प्राप्ति को ही संतोषजनक नहीं कहा जा सकता है। भारतीय नारी की पीड़ा यह है कि तथाकथित बुद्धिजीवियों की जमात में भी उसे दोगुना दर्जे का नागरिक समझा जाता है। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' अपने व्यंग्यात्मक उपन्यास 'सरकार तुम्हारी आँखों में' 'राग' शीर्षक के अंतर्गत लिखते हैं— 'जिस तरह महाराज के रंगमहल में हज़ारों रानियाँ हैं, वैसे ही महाराज के कुत्ता भवन में हज़ारों कुत्ते भी हैं। रंग-रंग और देश-देश की रानियाँ। रंग-रंग और देश-देश के कुत्ते।' यहाँ रानियों की तुलना पालतू कुत्तों से की गई है, जो भारतीय नारी की वेदना की अभिव्यक्ति है। विवेचित नाटक में घासीराम कोतवाल पद के बदले अपनी मासूम बेटी कामांध नाना को सौंप देता है। वृद्ध नाना सातवीं शादी भी एक नाबालिग से करता है। शासकवर्ग के साथ आमजन भी भोग-लिप्सा में रत थे। ब्राह्मण भी रात में वेश्याओं की मंडली में सम्मिलित होते थे। महिलाएँ तो विवशता में इस घृणित कार्य को अपनाती हैं। ख़ामोश व सुख़्ख़ चेहरे के भीतर दर्द का उमड़ता सैलाब छिपाए चलती-फिरती लाश बनी रहती हैं, किंतु इनकी वेदना की परवाह किसे हैं? कामुक समाज तो कामुकता की आग बुझाने में मशगूल है। व्यभिचार व बलात्कार क़ानून में इतनी ख़ामियाँ हैं कि अभियुक्त पुरुषवर्ग बेदाग़-बाइज़्ज़त रिहा हो जाता है। यथा—बहुचर्चित पडरिया कांड, मथुरा कांड, सुमन कांड, रुचिका राठौड़ प्रकरण, भोपाल का मिश्रा कांड आदि इन सभी में बलात्कार के आरोपी पुलिसकर्मियों केवल इसलिए छोड़ दिए गए अथवा नाममात्र को दंडित हुए, क्योंकि पीड़ित महिलाओं के पास गवाह नहीं थे, किंतु इन तमाम सच्चाइयों के पीछे छिपी एक और सच्चाई है, वह यह कि माननीय अदालत के निर्णयों से यह ज़ाहिर होता है कि उसकी दृष्टि में निर्धनता ही चरित्रहीनता का प्रतीक है। दिल्ली का नैना साहनी हत्याकांड न मालूम कब न्याय प्राप्त कर पाएगा। वधूदहन से संबंधित सुधा गोयल हत्याकांड के अभियुक्त लगभग 28 महीने तक खुलेआम घूमते रहे हैं। प्रजा की श्वेतनिशा उर्फ़ बाबी हत्याकांड भागलपुर के पापरी बोस अपहरण कांड में अभियुक्तों को सज़ा न मिलना अनेक ऐसी घटनाएँ हैं, जिससे कानून के न्याय से आमजन का विश्वास उठ जाता है। भारतीय नारी के शोषण के अन्य कई

रूप है, जो कानूनी शिकंजे से बाहर ही रहते हैं। यथा—विधवा-विवाह निषेध, बाल-विवाह, बेमेल विवाह, लड़कियों की ख़रीद-फरोख़्त, भ्रूण-परीक्षण उपरांत कन्या भ्रूणहत्या, बहुओं का जला देना आदि अमानवीय कृत्य परंपरानुमोदित बन चुके हैं। 'घासीराम कोतवाल' में भी उपर्युक्त सभी समस्याओं को पूर्णता के साथ चित्रित किया गया है। इसमें भी सभ्यता व संस्कृति के नाम पर धिनौना व फूहड़ व्यवहार चित्रित किया गया है। तत्कालीन युग में शासकीय कर्मचारियों के पास असीम अधिकार होते थे। जो भी व्यक्ति शासन के विरुद्ध काम करते हुए या अन्याय, अत्याचार चोरी आदि का दोषी पाया जाता था उससे पुलिस अपना हिस्सा लेती थी। नाटककार ने पेशवा-प्रधान को महिलाओं व बालिकाओं के साथ भोगरत व उनके गर्भवती हो जाने पर हत्या करवाते हुए दर्शाया है। उसी के संदर्भ में मधुमिता-अमरमणि कांड आदि अनेक घटनाएँ वर्तमान में परिलक्षित होती हैं।

आज का प्रशासन व राजनेता मीर जाफ़र व जयचंद की परंपरा का पालन कर रहे हैं। इस तथ्य की पुष्टि 'वोहरा समिति' की रिपोर्ट करती है। चारों ओर अपराध, कालाबाज़ारी, तस्करी, चोरबाज़ारी, रिश्वत आदि का एकछत्र साम्राज्य है। स्वतंत्रता के पश्चात् हुए घोटालों को अँगुलियों पर गिनना असंभव हो गया है। इन घोटालों से लगभग एक लाख करोड़ रुपए की संपत्ति राजनेताओं व प्रशासनिक अधिकारियों की जेबों में चली गई है। यदि इतनी बड़ी राशि राष्ट्र के विकास में लगाई गई होती तो क्या भारत विकसित देशों की पंक्ति में नहीं आ गया होता। जाति, वर्ण व महजब जैसी संकीर्णता की खाई को हम आज भी पाड़ नहीं पाए हैं। आर्थिक रूप से बंदरबाँट आधुनिक सभ्यता के मुख पर करारा तमाचा है। नाटक के परिवेश में जो अभिव्यक्ति की गुलामी दर्शाई गई है, वह स्वतंत्रता के बाद भी ज्यों की त्यों है। क़लम आज भी उतनी स्वतंत्र नहीं है, जितनी गुलामी के समय में थी। उदाहरणतः फायर, आरक्षण व खाप जैसी फ़िल्मों पर आए-दिन विरोध-प्रदर्शन इस बात का प्रतीक है। विडंबना यह है कि उच्छृंखल आचरण द्वारा हम व प्रशासन अपने देश की छवि को धूमिल करते हुए भी लज्जित नहीं होते। जिस प्रकार नाना व प्रशासन के अन्य अधिकारी अनुचित कार्य करते हैं, लेकिन लज्जा उनके पास नाम-मात्र भी नहीं है।

अंततः कह सकते हैं कि नाटककार ने जो युगीन परिस्थितियाँ नाटक में चित्रित की हैं, वे आज भी उतनी ही वास्तविक व सार्थक हैं।

## बाज़ारवाद का संदर्भ और चित्रा मुद्गल की कहानियाँ स्नेहा सिंह

बाज़ारवाद का अर्थ है पूरे विश्व को बाज़ार में तब्दील करना। पूरा विश्व आज एक बाज़ार है, जो निरंतर उन्नतिशील प्रगतिशील और गतिशील है। इस बाज़ार में तरह-तरह के मेले हैं, दुकानें सजी हैं, लाल-पीली-हरी बत्तियों से आकर्षित झुंड एक-दूसरे से टकरा रहे हैं, पूँजी का तमाशा देख रहे हैं। हाँ, यह सत्य है कि बाज़ारवाद और पूँजीवाद वस्तुतः पर्याय है। बाज़ार की केंद्रीय सत्ता पूँजी ही है। कहना न होगा कि पूँजीवाद वस्तुतः उपनिवेशवाद का ही पुनरागमन है। पूँजीवादी नीतियों ने समाज में पुनः वर्ग-वैषम्य की स्थिति पैदा कर दी है। एक तरफ पूँजीपति अपेक्षाकृत अत्यधिक संपन्न तथा समृद्ध होते जा रहे हैं तो दूसरी ओर दरिद्र दरिद्रता की सीमा-रेखा से अतिक्रमित हो रहे हैं। गरीबी रेखा के मानदंडों को अवहेलित करने वाले जनसमूह की व्यापकता, पूँजीवादी शक्तियों के वर्चस्व की ही परिणति है। समस्याएँ मुँहबाएँ खड़ी हैं। सामाजिक-शोषण हो या राजनैतिक भ्रष्टाचार, सांस्कृतिक-अवमूल्यन हो या नैतिक-पतन, बाज़ार की छल-छद्म नीतियों ने राष्ट्रीय अस्मिता का संकटबोध उत्पन्न किया है। वैश्विक धरातल पर इन विकृतियों को दृष्टिकेंद्रित करते हुए आलोचक कहता है—‘यहाँ मूल्यों का द्वंद्व है, समय के अनेक विरोधाभास एवं विडंबनाएँ हैं। पूरा भारतीय परिदृश्य अनेक संकटों से भयाक्रांत है, उपभोक्तावादी संस्कृति में हर आदमी किसी-न-किसी को छल रहा है, स्वयं भी छला जा रहा है।

हालाँकि बाज़ारवाद ने पूँजी का उदारीकरण किया है, लेकिन प्रश्न उठता है कि उदारीकरण की यह नीति किसके लिए? क्या वास्तव में यह नीति उदार है? परंपरा से जो वर्ग हमारे समाज में छले जा रहे हैं, पूँजीवादियों-नीतियों की उत्पीड़न एवं प्रताड़ना का शिकार है, तिरस्कृत, अवमानित और अवहेलित जीवन जीने को बाध्य है, उनके लिए उदारीकरण की क्या परिभाषा होगी? अरुण कुमार इन वस्तुस्थितियों को इस रूप में शब्दबद्ध करते हैं—‘जो बाज़ार है वह कोई न्याय का औज़ार नहीं है और दुनिया में कहीं भी न्याय करने का औज़ार नहीं है और बाज़ार कहीं भी दुनिया में मूल्यों को आगे नहीं बढ़ाता है। वह सिर्फ़ गुड्स की जो वेल्यू है उसको आगे बढ़ाता है। ऐसे बाज़ार को आप अगर अपनी नियति सौंप रहे हैं, अपना नियंत्रण सौंप रहे हैं तो ठोंक बजाकर देखना उससे दो-चार होना ज़रूरी है।’

बाज़ारवाद में मूल्य है केवल वस्तुओं का। उत्पाद और उपभोक्ता की मानसिकता निर्मित कर रही यह बाज़ार मानवीय संवेदनाओं का मूल्य (कीमत) आँक रही है। बाज़ारवाद हमें हमारी सांस्कृतिक विरासत से काट रहा है। इसकी रणनीति में ‘इतिहास’ शब्द का स्थान नहीं। यह केवल वर्तमान का आईना दिखाता है, सजा-सँवरा, आरामदायक और चकाचौंध। सांस्कृतिक

क्षरण की विडंबनात्मक स्थिति तो तब उजागर होती है जब यह बाजारवादी मूल्य हमारी बहन-बेटियों के शारीरिक समृद्धि और सौंदर्य को भी मुद्र में तौलते हैं। बाजार और मीडिया की सहभागिता ने सौंदर्य-प्रतियोगिताओं का आयोजन कर 'स्त्री-देह' का व्यापार करने की साजिश रची है। आयोजित सौंदर्य-प्रतियोगिताएँ स्त्रियों में प्रतिस्पर्धा को जाकर नारीवादी स्वभाविक-मूल्यों (लज्जा, शील, प्रेम) को भी दमित कर रही है। आज सौंदर्य के मानदंड बदल रहे हैं प्रवृत्तिगत एवं गणात्मक प्रतिमानों को वर्जित समझा जा रहा है। अंग-प्रदर्शन एवं अश्लीलता की क्रोड़ में वैश्यावृत्ति का बीज तेजी से अंकुरित हो रहा है।

नारी-देह बाजार का दाहिना हाथ है बद्रीनारायण ने शब्दपदीयम् संग्रह की कविता बाजार का गीत लिखा है—'जो कोई बाजार में आएगा, चार पैसे में बिकाएगा, पर दो ही पैसा पाएगा, दो तो दलाल ले जाएगा.....

चाहे कोई हो, हम आप या कबीर, बौद्धिक, लेखक, फ़कीर, सब चार में बिकाएँगे, पर दो ही पैसा पाएँगे, हाँ! जिसे ठीक से बिकना आएगा, वह दो की जगह दस भी पा जाएगा।'<sup>3</sup> और कविता के अंत में कवि का कथन है—'बाजार में बढ़ती ही जा रही है भीड़ सज्जनो! बाजार में बढ़ती ही जा रही है भीड़।'<sup>4</sup>

'बाजारवाद' ने 'साम्राज्यवादी शक्तियों को विस्तारित किया है। पूँजी वर्चस्व ने जातिगत वैमनस्य का बीज-वपन किया है। जिस बाजार में आकर लोगों की आँखें चौंधिया जाती हैं, वहीं बाजार के पीछे फैले अंधकार में खुली आँखें भी मूँद जाती हैं। आज भी देश में ऐसे अनगिनत बच्चें हैं जो पढ़ने लिखने की उम्र में रिक्शा और टेला खींचते नजर आते हैं, रेलवे-स्टेशनों पर तमाशे दिखाते फिरते हैं, होटलों में खाना परोसते, बर्तन माँजने में मशगूल। चिंतनीय विषय है कि भारत-सरकार द्वारा नियोजित साक्षरता अभियान किसे लाभान्वित कर रहा है? बाजारू संस्कृति ने धार्मिक आस्था को भी पराजित किया है। अभावग्रस्त बच्चे देवी माँ की तस्वीर लिए धर्म के ग्राहकों को अपनी का प्रयास कर रहे हैं साम्राज्यवादी नीतियों ने सामाजिक हीनताबोध को बढ़ावा दिया है, जो धीरे-धीरे सांप्रदायिकता का उग्र रूप लेता जा रहा है। मीडिया की सुर्खियाँ भी इन लपटों को बढ़ा रही हैं। 'बाजारवाद' के रूप में आज फिर से हम औपनिवेशिक षड्यंत्रों के मकड़जाल में फँसते जा रहे हैं। फलतः राष्ट्रीय, सामाजिक अस्मिता, आर्थिक स्वावलंबिता, सांस्कृतिक-धार्मिक आराजकता, नैतिक मूल्य, संस्कारहीनता एवं मानवीय संवेदनाओं की असुरक्षा का प्रश्न हमारे समक्ष चुनौतीपूर्ण है। 'बाजारवाद' के प्रभावों का गहनतम विश्लेषण करते हुए उमेश त्रिवेदी की आशंका इन शब्दों में अंकित है—

यदि 'बाजारवाद की अवधारणा यहाँ फलीभूत होती है तो विषमताओं की जो खाई है, वह इतनी गहरी हो जाएगी, इतनी बढ़ जाएगी कि इस देश में एक दो तो क्या कई हिंदुस्तान बन जाएँगे, कई संप्रदाय बन जाएँगे और इतना असंतुलन पैदा हो जाएगा कि न तो यह टेक्नोलॉजी उनको बहन कर पाएगी और न यह बाजारवाद के प्रणेता, जो इसको आगे बढ़ा रहे हैं।'<sup>5</sup>

आज हम टेक्नोलॉजी के विकास की बात कर रहे हैं, उस पर गर्वित हो रहे हैं, पर इस एडवांस टेक्नोलॉजी पर जनता का समानाधिकार नहीं है, वरन् बाजारवाद ने इसे भी अपनी गिरफ्त में कर रखा है। एडवांस टेक्नोलॉजी का उपभोक्ता भी वही है, जो पूँजी-शक्तियों द्वारा संचालित है। पूँजीविहीन लोगों के घरों में एअर कंडीशन की ठंडक नहीं, फ्रिज, वाशिंग-मशीन

और कूलर की ताजगी नहीं, उनके हाथ अब भी कपड़े घिस रहे हैं। उनके घरों में बिजली की जगमगाहट और पानी की शुद्धता नहीं है। जब तक देश में पूँजी का समान वितरण न होगा एडवांस टेक्नॉलॉजी द्वारा हम लाभान्वित नहीं हो सकते।

बाजारीकरण का सबसे बड़ा अघात मानवीय मूल्यों पर हुआ है। बाजार मुद्रा से चलता है, मूल्यों से नहीं। मूल्यों के अभाव में सामाजिक व्यवस्था विशृंखलित हो रही है। संवेदनाओं का क्षरण, सांस्कृतिक अस्मिता का संकटबोध पैदा कर रहा है। बाजार ही हमारे मूल्य, हमारी नियति तय कर रहा है, यह हमारी सुविधाओं का नियामक नहीं बल्कि हमारा नियंता ही बन बैठा है वैश्वीकरण का संजाल पूरे विश्व को एक आँगन में तो समेट रहा है परंतु इस आँगन में कितनी दरारें उभर आई हैं? पूँजीपतियों ने 'वसुधैव कुटुंबकम्' की संस्कृति का आश्रय लेते हुए वैश्वीकरण की लहर पूरे विश्व में तो फैला दी परंतु यह 'वसुधैव कुटुंबम्' पूर्णतः अर्थलिप्सा पर आधारिक है। वैश्वीकरण की रणनीतियों को रेखांकित करते हुए अशोक अग्रवाल का कथन है—'आज का वैश्वीकरण उस वैश्वीकरण उस वसुधैव कुटुंबकम् से भिन्न है। इसमें व्यापार है, बाँटने की कला है। लाभ कमाने की मनोवृत्ति है। हमारे इस नए घर में रिश्तों के अर्थ बदल गए हैं। अपनापन उसी अनुपात में है जिस अनुपात में लाभ है।'<sup>6</sup>

उपर्युक्त बाजारवादी प्रवृत्तियों ने समकालीन कथासाहित्य को विशेष रूप से प्रभावित किया है। महिला कथाकारों ने अपसंस्कृति के इस मायाजाल को बखूबी पहचाना है। अपनी विशिष्ट रचनाओं में उसकी कटाक्षपूर्ण अभिव्यक्ति भी की है, जिनमें चित्रा मुद्गल अन्यतम हैं। बाजारवादी समीकरण के आलोक में चित्रा जी की चर्चित कहानियाँ संग्रह की 'अपनी वापसी', 'भूख', 'लकड़बग्घा', 'त्रिशंकु', जगदंबाबाबू गाँव आ रहे हैं', जिनावर, प्रेतयोनि, पाली का आदमी, दुलहिन, मामला आगे बढ़ेगा अभी आदि कहानियाँ विशिष्ट हैं।

चित्रा मुद्गल की भूख दलित-विमर्श को एक नए आयाम से जोड़ती है। यह शोषित, पीड़ित, अवहेलित, दमित समुदाय की कारुणिक स्थिति का साक्षात् प्रतिरूप है। प्रमुख पात्र लक्ष्मा पूँजीवादी अर्थव्यवस्था से पीड़ित है। कहानी की मूलभूत संवेदना तब जाग्रत होती है, जब लक्ष्मा परिस्थितियों से विवश हो अपने छोटे को (गोदी के बच्चे को) धंधा पर लगा देती है। विडंबनात्मक स्थिति है कि बाजार में भूख सफल सिद्ध होता है। आर्थिक वैषम्य की दरारें एक माँ को कितना कठोर, निर्दयी और तुच्छ बनाती हैं, जहाँ ममता के समक्ष 'भूख' समस्या है और एक महत्वपूर्ण प्रश्न, जिससे प्रत्येक वर्ग का सदस्य जूझ रहा है। चित्राजी बाजारवादी व्यवस्था तथा पूँजीवादी नीतियों को भी बेपर्दा करती हैं। स्त्री-विमर्श एवं दलित-विमर्श वस्तुतः पूँजी सभ्यता द्वारा प्रस्फुटित विवेचनाएँ हैं। समसामयिक प्रासंगिकताओं से साक्षात्कार करती हैं चित्रा मुद्गल की विवेच्य कहानी स्त्री-सत्ता को शक्ति केंद्रित करती है। कहानी की सभी प्रमुख पात्र स्त्री ही हैं (लक्ष्मा, सावित्री अक्का, कलाबाई) जो अस्तित्व-संरक्षण हेतु भूख और शांति के लिए निरंतर संघर्ष कर रही हैं।

डॉ० कृष्णदत्त पालीवाल 'भूख' की समीक्षात्मक टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—'भूख यातना, अमानवीयकरण और शोषणजन्य हत्या की एक ऐसी चीख है, जो हमें भीतर तक हिला देती है.....।'

आधुनिकता, उत्तर आधुनिकतावादी चेतना विशृंखलित समाज-व्यवस्था को विकसित

कर रही है। अकेलापन, ऊब, कुंठा, हताशा, हीनताबोध की भावना वर्तमान मनुष्य की प्रवृत्ति है। मानवीय संबंधों का टूटन, सांस्कृतिक मूल्यों, नैतिक मानदंडों का क्षरण अपसंस्कृति को बढ़ावा दे रहे हैं। महानगरीय परिवेश की यांत्रिकता, उपभोक्ता संस्कृति की उपयोगितावादी दृष्टि वर्तमान समाज व्यवस्था की नियति है। चित्रा जी की 'अपनी वापसी' अर्थहीन दांपत्य जीवन का प्रतिबिंबन है। हरीश और शकुन पति-पत्नी होते हुए भी उनमें भावात्मक मधुरता का अभाव है। बच्चों के लिए भी शकुन 'माँ' कम, आवश्यकतापूर्ति का साधन ही है। पति और बच्चों की उपेक्षा सहती शकुन अपने ही घर में अपना वजूद तलाशती है। शकुन के शब्दों में—'उसकी दृष्टि में अब उसकी औकात देह से उतरी हुई उस श्रीहीन पोशाक जैसी है, जो कभी बहुत प्रिय होने की वजह से अलमारी के किसी कोने में सुरक्षित तहाई रख दी गई है। बस.....।'

उपभोक्ता-संस्कृति के द्वंद्वात्मक प्रभावों की विवेचना करते हुए अरुण होता जी का निष्कर्ष है—'उपभोक्तावादी-संस्कृति ने मनुष्य को आधा-अधूरा बना दिया है। इसने मनुष्य में अतृप्ति की खाई इतनी गहरी कर दी है कि परिवार और कर्तव्य उसे महज बोझ-सा प्रतीत होता है। वह बोझ ढोने के लिए मजबूर है, विवश भी। उसकी अंतर्वृत्ति न तो उससे पूर्णतः जुड़ पाती है और न मुक्त हो पाती है।'

बाजारवादी मूल्यों ने हमारे विचारों, हमारी मानसिकता का बाजारीकरण किया है। बाजार ने नारी को प्रोडक्ट में रूपांतरित कर दिया है। नवयुवतियाँ अपने देह-गठन और सौंदर्य की बोली लगाकर स्वयं को गर्वित महसूस कर रही हैं। रिन्नी की गर्वोक्ति है—'इस वक्त मैं सबसे महँगी माडल हूँ।'<sup>10</sup>

सौंदर्य-उद्योग की जालसाजियों की शिकार नवयुवतियों की दिग्भ्रमितता को रेखांकित करते हुए समरेंद्र सिंह लिखते हैं—'पढ़ी-लिखी लड़कियाँ, जो कि स्त्री-मुक्ति का झंडा बुलंद कर सकती थीं और समाज में व्याप्त स्त्री-शोषण के कुचक्र को खत्म करने का प्रयास कर सकती थीं, आज सड़कों-चौराहों और पर्दों पर अपने बदन की नुमाइश से किसी उत्पाद को बेचती या इन्हीं उत्पादों को खरीदती नज़र आती हैं।'<sup>11</sup>

चित्रा मुद्गल की प्रेतयोति स्त्री-सत्ता का संघर्ष प्रस्तुत करती है। दो तरह के मूल्यों में विभक्त हमारा मध्यवर्गीय समाज बुद्धिजीवियों के चारित्रिक विरोधाभास को सांकेतिक करता है। कहानी की केंद्रीय पात्र अनिता, टैक्सी-चालक के वहशीपन से लड़ती-जूझती अपने स्त्रीत्व की रक्षा करती है। लेकिन जहाँ अनिता के सहस, शौर्य और संघर्ष का स्वागत होना चाहिए था, वहाँ उसके इसी संघर्ष को कलंक का कारण समझा जाता है। उसके परिवारवाले बलपूर्वक इस सत्य को दबाना चाहते हैं कि वह बहादुर लड़की उनकी अपनी बेटी अनिता नहीं, वरन् अन्य है। अनिता को आश्चर्य होता है। क्या सेवकराम वास्तव में वही पिता है, जो कभी उसे स्वावलंबन का पाठ पढ़ाते थे? और आज उन्हीं की कटूवक्तियाँ सुनकर वह हतप्रभ हो उठती है—'एफ०आई०आर० दर्ज कराते समय अगर इस बुद्धिमती ने पुलिसवालों से स्पष्ट कह दिया होता लड़की का मामला है, उसकी सुरक्षा और भविष्य का ख्याल कर वे मामले को गुप्त ही रखें तो कम-से-कम आज इस नाककटाई से तो मुक्त हो जाते हम?'<sup>12</sup>

व्यावहारिक जीवन में हमारे सिद्धांत शून्य बनकर रह जाते हैं, परंतु चित्रा जी की नारी इस विषमतामूलक छद्म समाज-व्यवस्था से अवधूत की भाँति लड़ती नज़र आती है। अनिता



का संघर्ष उन मध्यवर्गीय संस्कारों से है, जो लोकापवाद के भय से सामाजिक उत्थान में अपनी सहभागिता देने से कतराते हैं। वह उन तत्त्वों का प्रतिरोध करती है, जो सामाजिक परिवर्तन, वैचारिक क्रांति की आकांक्षा तो रखते हैं, किंतु इस उद्घोषणा का स्वर उनके कंठ से नहीं फूटता। इन विसंगतिपूर्ण स्थिति में चित्रा जी की नारी मध्यवर्गीय वर्जनाओं को दरकिनार कर आत्माभिमान के साथ आत्मसम्मान के रक्षार्थ स्त्री-चेतना को वाणी देती है। वह परिस्थितियों से दमित नहीं होती, बल्कि प्रतिकूलता के दमन के लिए संकल्पित होती है—‘वह एक से लड़ सकती है, पाँच से क्यों नहीं लड़ सकती? अब वह अकेली भी तो नहीं.....।’<sup>13</sup>

सौंदर्य-उद्योगों की प्रोडक्ट बनी नायिकाओं के लिए अनिता का चरित्र बेमिसाल है। दूसरी ओर लकड़बग्घा की पछांहवाली का प्रतिरोध लंबरदार के प्रति, सामंती मूल्य मानों के प्रति, परिवारिक-शोषण के विरुद्ध, सामाजिक कुप्रथाओं एवं अंधविश्वासों का प्रतिकार कर ग्रामीण-समाज में एक नवीन व्यवस्था का सूत्रपात करती है। जिस समाज-व्यवस्था में लड़कियों को उच्चशिक्षा देने का विधान नहीं है, छोटी उम्र में ही गृहस्थी की जिम्मेदारियों से त्रस्त बालिकाएँ पारिवारिक मान-मर्यादा के नाम पर अपने प्राणों की तिलांजलि दे रही हैं, ऐसे परिवेश में पछांहवाली की सुप्त चेतना क्रांति-चेतना में परिवर्तित हो रही है। वह सामंती सत्ताधारियों और उसके अनुयायियों को ललकारते हुए अपने स्वतंत्र अस्तित्व की घोषणा करती है। पैतृक संपत्ति में बराबर की अधिकारिणी बनने की माँग करती है। साथ ही अपनी भावी पीढ़ी पुनिया को सुशिक्षित कर उसे स्वावलंबी बनाने के लिए आवाज उठती है। पछांहवाली का क्रांतिकारी स्वर दरअसल, उस महिलावर्ग को संबोधित करता है, जो अशिक्षा, अज्ञानता, मूढ़ता और दकियानूसी परंपराओं का घूँघट ओढ़े आजीवन सामंती प्रथाओं की दास बनी रहती है। पछांहवाली द्वारा पुनिया की उच्चशिक्षा हेतु क्रांतिधार्मिता का संकल्प निश्चय ही स्त्री-शिक्षा के महत्त्व को मंडित करता है। पछांहवाली के शब्दों में—‘हमका पुनिया की पढ़ाई की बाबत पक्का प्रबंध चही लंबरदार।’<sup>14</sup>

आज भी अनेक ऐसे गाँव हैं, जहाँ स्त्री-शिक्षा की समुचित व्यवस्था नहीं है। मीडिया की सुर्खियों में इन पिछड़े गाँव-समाजों को स्थान नहीं मिल रहा है। ऐसी शर्मसार स्थिति में लकड़बग्घा प्रासंगिकता लिए हुए है। चित्रा मुद्गल की यथार्थपरक रचना है भुखमरी और फटेहाल दुरावस्था से लुंज-पुंज किशोर जीवन की दिशाहीनता की मार्मिक परिणति ही कहानी का मूल कथ्य है। सीताबाई द्वारा घर-घर भाँड़ी कटका करना, किसी तरह दो जून रोटी का संघर्ष करना वर्तमान विषमताग्रस्त पूँजीवादी व्यवस्था को उजागर करता है।

स्कूल जाने की उम्र में आठवर्षीय कमली को जोशीबाई के यहाँ तीस रुपए माहवार पर नियुक्त करना तथा उसके भाई द्वारा पढ़ाई-लिखाई छोड़ सिनेमाघरों के बाहर ब्लैक में टिकट बेचने का धंधा वास्तव में बाल-मजदूरी की लाचारी को अभिव्यक्ति देता है, जो शासन-व्यवस्था के समक्ष चुनौतीपूर्ण प्रश्न बनकर खड़ा है। बाल-मजदूरी की रोक-थाम के नारे तो लगाए जा रहे हैं, किंतु प्रशासन उन कारणों का निवारण क्यों नहीं करता, जहाँ माता-पिता न चाहते हुए भी अपने किशोर बालकों को मजदूरी में लगाने के लिए विवश हैं। बाजारवादी विसंगतियों को शब्दबद्ध करते हुए रेखा कस्तवार लिखती हैं—‘दूसरी ओर निम्न मध्यवर्ग, निम्नवर्ग की स्त्री है, जिसके लिए बाजार का अर्थ जीने के लिए अपरिहार्य सामान जुटाना सारे जीवन को संघर्ष में बदल देता है। बस्तर के जंगलों में अभी-भी बाजार की दृश्यमानता मीलों सफ़र के बाद

उपस्थित होती है, जहाँ स्त्रियाँ नमक जैसी चीजों के लिए हाट करने को मजबूर हैं।<sup>15</sup>

अर्थ-केंद्रित भौतिकवादी व्यवस्था में मानवीयता पंगु हो गई है। संवेदनशून्यता की खाई इतनी गहरी हो रही है कि मनुष्य के भीतर पशुता हाबी हो गई है। उच्चवर्गीय प्रभुओं के आदेशों पर नाचनेवाला मोट्या का विद्रोह वस्तुतः दलित समुदाय का पूँजीसत्ता के प्रति आक्रोश है। सक्सेना साहब द्वारा मोट्या की अस्वस्थता के कारण सात दिनों की पगार काट लेना, पूँजीपतियों की निर्दयता और संवेदनाशून्यता को ही संकेतित करता है। मोट्या को ठेस पहुँचती है, क्योंकि मेमसाहब ने उस पर हो रहे अत्याचार का प्रतिवाद नहीं किया। चित्रा जी स्पष्ट करना चाहती हैं कि महानगरीय संस्कृति की उपयोगितावादी दृष्टि बेहद अमानवीय भावविहीन संस्कारों और मानवीय मूल्यों का संकट पैदा कर रही है। मोट्या का कथन है—‘तुमने खाड़ा कटवा दिया न मेमसा’ब..... अपने सामने चाँट मारने कू दिया न!..... मैं .....मैं.....’<sup>16</sup>

नवपूँजीवाद ने भोगवाद संस्कृति को फलित किया है। सुविधाभोगी समाजतंत्र में आत्मीयता का संबंध तभी तक सुरक्षित है, जब तक वह हमारी स्वार्थपूर्ति का साधन है। जिनावर की सरवरी (घोड़ी) अपने मालिक असलम की दरिद्रता और बेबसी को समझती है। वह मरणासन्न अवस्था में भी नमक का मूल्य अदा कर जाती है। परंतु सरवरी का निरीह त्याग पाठकों से प्रश्न करता है कि यह तथाकथित सामाजिक उसकी ईमानदारी का क्या प्रतिफल देते हैं? जीवकोपार्जन में सक्रिय सरवरी की मृतप्रायः लावारिस देह सड़क पर नगरपालिका की गाड़ी का इंतजार कर रही थी—‘उसे तो वह वहीं सड़क पर मुर्दा, बेजान लावारिस छोड़ आया था! नगरपालिका की पशुओं की लाशें ढोनेवाली गाड़ी के भरोसे। कितनी तेज़ी से वह ताँगा लेकर भागा था घटनास्थल से...’<sup>17</sup>

बाजारीकरण की संस्कृति ने हारी संवेदनाओं को इतना गर्हित कर दिया है कि हम पैसे के लिए मुर्दा तक को बेच रहे हैं। राजनीतिक अराजकता, भ्रष्टाचार, पार्टीबाजियाँ, दलगत, षड्यंत्र, सत्ताधारियों के प्रलोभन तथा प्रशासनिक मिलीभगत का यथार्थ दस्तावेज़ है। चित्रा मुद्गल की विशिष्ट कहानी है—‘जगदंबा बाबू गाँव आ रहे हैं।’ कहानी का मूल संवाद चुनावी प्रणाली पर केंद्रित है। यह राजनीतिज्ञों द्वारा आम जनता के साथ आँख-मिचौली का खेल तथाकथित समाजसेवियों, राजनीतिकर्मियों तथा समाज-कल्याण संस्थाओं पर व्यंग्याक्षेप प्रस्तुत करती है। समाज-कल्याण संस्थान के नाम पर स्वयं को कुशल समाजसेवी घोषित करने की प्रतिस्पर्धा बेहद अमानवीय एवं पतित मूल्यों को प्रश्रय दे रही है। लाचार, विवश, शक्तिहीन (मूक) अभावग्रस्त जनता के मनोभावों का मखौल उड़ाना, दरअसल, चुनावी-तंत्र है। ठाकुर सुमेरसिंह और भूतपूर्व स्वास्थ्य मंत्री जगदंबाबाबू की मिलीभगत संस्था विकलांग उद्धार समिति सुकखन भौजी और उसके विकलांग पुत्र ललौना के स्वावलंबी बनने की महत्वाकांक्षा को ध्वस्त कर देता है। जनसभा एवं मीडिया के समक्ष ललौना को स्वावलंबी बनाने के लिए गाड़ी तो दी जाती है पर अँधेरी रात गए उसकी गाड़ी वापस माँग भी ली जाती है। सुमेरसिंह का यह निर्देश कि—‘पूछा-पाछी होने पर कह देन... गाड़ी चोरी चली गई।’<sup>18</sup>

चित्रा मुद्गल बड़ी यथार्थ-दृष्टि के साथ इन राजनेताओं के छद्म चरित्रों से पाठकों का साक्षात्कार करवाती हैं। पाली का आदमी आधुनिकता लिए हुए है। आधुनिकतावादी स्वच्छंदता, आत्मबोध, तनाव, कुंठा, अनिश्चितता, जिज्ञासा, एकाकीपन तथा वैयक्तिकता से संचालित यांत्रिक

मनुष्य की वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षाओं को संप्रेषित करती है प्रस्तुत कहानी। केंद्रीय पात्र रवि को सोनू (बेटी) द्वारा अपनी गुड़िया की शादी में उपस्थिति का आग्रह, वास्तव में महानगरीय व्यस्तताओं में आबद्ध यंत्रवत् मनुष्य को पारिवारिक संबंधों एवं दायित्वों के प्रति आकर्षित करना है, जिनके अभाव में पारिवारिक बंधन ढीले पड़ रहे हैं। रवि द्वारा कैशोर्यकालीन पत्नी तथा अबोधता से जन्मी बेटी लल्ली के प्रति विमुखता का कारण वस्तुतः युवावर्ग के लिए स्वछंद जीवनशैली और आत्मनिर्णय के विकल्प की माँग करती है। रवि का स्वगतकथन—‘देह संबंधों के प्रति किशोरीय कौतुहल के चलते अनायास हो गए समागम से पैदा बच्ची उसकी औलाद? आसमान को ललकते, पीगे भरते उसके मन में अपनी स्त्री के लिए एक अदद सपना है।’<sup>19</sup>

अंततः बाजारवादी नीतियों, उपभोक्तावादी मानसिकता, पूँजीवादी समीकरण के नैतिक अनैतिक प्रभावों का गहनतम यथार्थ प्रस्तुत करती हैं चित्रा मुद्गल की कहानियाँ। चित्रा जी बाजारवादी एवं उपभोक्तावादी नीतियों पर अंकुश लगाने की माँग करती हैं। औपनिवेशिक शक्तियों का लकड़बग्घा आज भी हमारा शिकार कर रहा है। दुल्हन अब भी सामंती बंधनों में आबद्ध है। विवेकशून्यता की भीड़ में प्रेतयोनि भटक रही है। स्त्री एवं दलित-शोषण का मामला आगे बढ़ ही रहा है। जब तक साम, दाम, दंड, भेद की राजनीति आबाद है, जगदंबाबाबू गाँव आते रहेंगे। निम्न मध्यवर्ग व्यवस्था का दास बनकर त्रिशंकु की त्रासदी झेलता रहेगा। विसंगतिपूर्ण बाजारवादी मूल्यों से आक्रांत उपेक्षित जनसमूह में प्रेम, समानता और न्याय की भूख बनी ही रहेगी।

#### संदर्भ

1. आधुनिक हिंदी-कविता : युगीन संदर्भ, अरुण होता, पृ० 82
2. मीडिया और बाजारवाद, संपादक रामशरण जोशी, पृ० 122
3. परिंदे का अंतिम अरण्य, निर्मल वर्मा, पृ० 167
4. वही, पृ० 167
5. मीडिया और बाजारवाद, संपादक रामशरण जोशी, पृ० 137
6. वही, पृ० 57
7. चर्चित कहानियाँ, चित्रा मुद्गल, पृ० 7
8. वही, पृ० 27
9. आधुनिक हिंदी कविता : युगीन संदर्भ, अरुण होता, पृ० 67
10. चर्चित कहानियाँ, चित्रा मुद्गल, पृ० 23
11. स्त्री-चिंतन की चुनौतियाँ, रेखा कस्तवार, पृ० 130
12. चर्चित कहानियाँ, चित्रा मुद्गल, पृ० 56
13. वही, पृ० 65
14. वही, पृ० 101
15. स्त्री-चिंतन की चुनौतियाँ, रेखा कस्तवार, पृ० 131
16. चर्चित कहानियाँ, चित्रा मुद्गल, पृ० 125
17. वही, पृ० 80
18. वही, पृ० 21
19. वही, पृ० 108

## मातृसत्तात्मक एवं पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष की भूमिका संतोषकुमारी

‘पुरुष बड़े ही पुरजोर हैं, या तो  
बड़े कोमल हैं अथवा कठोर हैं।  
क्रोध में कभी जो नर-नाहर ये बोलते हैं,  
भूमि काँपती है, कोल-कमठ कलमल होते,  
दिग्गज दहाड़ते, समस्त शैल डोलते हैं।’<sup>1</sup>

ऋग्वेद के अनुसार व्यक्ति के भीतर पुरुष ईश्वर ही है।<sup>2</sup> पुरुष कठोरता, शक्ति एवं शौर्य का प्रतीक है<sup>3</sup>, यही कारण है कि पुरुष किसी न किसी रूप में समाज में आगे ही रहते हैं। हालाँकि पुरुष और स्त्री एक सिक्के के दो पहलू हैं जो पारिवारिक और सामाजिक संगठन के लिए अति आवश्यक हैं जिसके बिना भौतिक और आध्यात्मिक विकास की ओर अग्रसर होना असंभव है। ‘प्राचीन काल में सभी पितृ मूलक परिवारों में कन्या का जन्म एक दुखद घटना होती थी। प्रायः सभी स्थानों में पुत्री की अपेक्षा पुत्रों का अधिक आदर होता था। पुरुष कुटुंब की स्थाई संपत्ति समझे जाते थे तथा आजन्म अपने ही कुटुंब में वृद्ध माता-पिता के साथ रहते थे जबकि पुत्रियाँ विवाह के पश्चात् दूसरे कुटुंब में चली जाती थी।’<sup>4</sup> पुरुष को शारीरिक रूप से बलशाली दिखाया गया है कि वह असंभव कार्य को भी संभव बना सकता है :

‘चढ़ा लेता हूँ बाण अगर, प्रत्यंचा पर,  
समुद्र ‘मनुष्य’ होकर माँगने लगता है माफी...’<sup>5</sup>

### पुरुष एवं स्त्री का जैविक आधार :

मनुष्य में लिंग निर्धारण-लिंग निर्धारण की व्यवस्था हमेशा जेनेटिकविदों के लिए एक पहेली बनी रही। ‘आदमी सहित स्तनधारियों में लिंग निर्धारण को XY प्रकार से देखा जाता है। पुरुष और महिला दोनों में गुणसूत्रों की संख्या बराबर होती है। मौजूद क्रोमोसोम के 23 जोड़े में से पुरुष और महिला दोनों में 22 जोड़े बिल्कुल बराबर ही हैं, इन्हें autosomes कहते हैं।’<sup>6</sup> एक्स गुणसूत्रों की एक जोड़ी महिला में मौजूद होती है जबकि एक एक्स और वाई क्रोमोसोम की उपस्थिति विशेषता पुरुष निर्धारक होते हैं। पुरुषों के बीच शुक्राणुजनन वे दौरान दो प्रकार के gametes उत्पादन होते हैं। इस प्रकार कुल शुक्राणु की 50 फीसदी एक्स गुणसूत्र होते हैं और बाकी 50 फीसदी autosomes के अलावा वाई गुणसूत्र लेकर उत्पादन करते हैं। मादा यद्यपि केवल एक एक्स गुणसूत्र के साथ एक डिंब पैदा करती है। एक्स या वाई गुणसूत्र लेकर

शुक्राणु के साथ डिंब को पैदा करने में दो संभावनाएँ होती हैं। ऐसे मामले में डिंब एकस गुण सूत्र एक महिला (XX) विकसित होती है और डिंब के वाई गुणसूत्र से एक पुरुष वंश में शुक्राणु परिणाम (XY) पुरुष विकसित होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यह शुक्राणु बच्चे के लिंग को निर्धारित करता है जो कि आनुवंशिक होता है। यह भी स्पष्ट है कि प्रत्येक गर्भावस्था में वहाँ हमेशा या तो एक नर या एक मादा बच्चे की 50 प्रतिशत संभावना होती है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि हमारे समाज में महिलाओं को मादा बच्चों के उत्पादन के लिए दोषी ठहराया जाता है और वहिष्कृत किया जाता है। इस गलत धारणा की वजह से महिला को इस बीमारी की वजह माना जाता है और उसे प्रताड़ित किया जाता है।

‘प्राणी-शास्त्र की दृष्टि से जीवों के विकास की प्रक्रिया जीवाणुओं के विकास से शुरू होती है। एक जीवाणु जब अपने से भिन्न जीवाणु के प्रति आकर्षण की अनुभूति करने में समर्थ हुआ तब भी प्रेम नाम के मनोभाव उत्पन्न होने की अवस्था नहीं आई थी। आज भी वनस्पति जगत् में इस तरह के अयौनिक स्तर वाले प्रजनन को देखा जा सकता है। जहाँ पराग मकरंद अथवा दूसरे रसों के अनायास मिलन से फूल-फल और फिर नई वनस्पति की उत्पत्ति होती है। बैक्टीरिया जैसे जीवों की उत्पत्ति अयौनिक स्तर पर ही होती है। क्योंकि एक ही बैक्टीरिया सीधे दो भागों में विभक्त होकर अलग-अलग व्यक्तित्वों में विकसित हो जाता है उत्पत्ति की यह अयौनिक स्थिति एक जीवाणु वाले जीवों तक ही सीमित नहीं है बल्कि अनेक जीवाणु वाले जीवों में पाई जाती है।’ उदाहरण के लिए कुछ समुद्री जीव-जंतु अपने शरीर का कोई हिस्सा अलग कर देते हैं जो नए जीव के रूप में विकसित हो जाता है। मछलियों की उत्पत्ति इसी स्तर पर होती है। मादा मछली अपने अंडे जल में किसी सुरक्षित कोने में विसर्जित करती है। इसी तरह नर मछली अपने शुक्राणु के सहसंयोग से प्रजनन संभव होता है। घोंघे आदि में भी प्रजनन की यही प्रक्रिया उपलब्ध होती है। प्राणी वैज्ञानिकों का कहना है कि सृष्टि विकास की इस आरंभिक अवस्था में जहाँ दो जीवाणुओं के मिलन से तीसरे जीवणु में से एक नर हो और दूसरा मादा हो। ‘नर और मादा जीवाणुओं के मिलन की अनिवार्यता तब उत्पन्न हुई जब प्रजनन यौनिक स्तर पर आया। दूसरे शब्दों में अयौनिक स्तर पर होने वाले प्रजनन में नर-नारी संबंध की कोई संभावना नहीं थी।’<sup>78</sup>

विकास के इसी स्तर पर पहुँच कर शुद्ध यौनाकर्षण के रूप में शरीरिक आकर्षण का जन्म हुआ और नर जीवाणु ही नहीं पूरा नर शरीर मादा-शरीर के प्रति तथा मादा शरीर नर शरीर के प्रति आकर्षण अनुभव करने लगा। आगे चलकर शरीर के आकर्षण ने मस्तिष्क और मन को भी उसी अनुपात में प्रभावित किया। संवेगों का जन्म इसी क्रम में हुआ और फिर धीरे-धीरे शरीरिक संबंधों का विस्तार प्रेम संबंध तक हो सका। विकास की इसी अवस्था में पहुँचकर प्रेम में संलग्न दो व्यक्तियों के यौन जीवन उनके शरीर को नहीं मन को भी प्रभावित करने लगे। इस प्रकार शरीर का अकर्षण शरीर तक ही सीमित न रहकर मन का भी आकर्षण बन गया। यह शरीर और मन दोनों का आकर्षण ही प्रेम है। मन शरीर के अनुकूल चलता है और शरीर मन के अनुकूल चलता है। अतः यौन-संबंध तथा प्रेम संबंध एक एक दूसरे के पूरक के रूप में विकास हुआ। साइमन दे ब्यूवोय ने अपनी विश्वप्रसिद्ध कृति द सेकंड सेक्स, में बड़ी गहराई से नर-नारी संबंध का विश्लेषण किया है। स्नायुओं तथा अंगों में अपेक्षित तनाव का

अनुभव यौनभाव है, जोकि धीरे-धीरे संवेगों तथा सीआई भावों का रूप ले लेता है और इस प्रकार उस अनुभव को जन्म देता है जिसे प्रेम कहते हैं। जीवाणुओं की शरीर और मन को प्रभावित करने की क्षमता ने उन संवेगों को जन्म दिया जो यौन जीवन को प्रभावित करते हैं। नर जाति तथा नारी जाति के जीवाणुओं के विभाजन के बाद जब दोनों की शरीरिक तथा मानसिक बनावट भिन्न होने लगी, नारी जाति को प्रकृति ने जटिल संरचना का माध्यम बनाया।<sup>9</sup>

#### मातृसत्तात्मक समाज में पुरुष की भूमिका :

‘माँ संवेदना है, भावना है, अहसास है माँ  
माँ जीवन के फूलों में खुशबू का वास है माँ’<sup>10</sup>

Maciever के अनुसार ‘मातृ परिवार मातृसत्तात्मक परिवार होता है। एक मातृसत्तात्मक परिवार में पुरुष स्त्री के अधीन होते हैं और परिवार की महिला को सभी अधिकार निहित होते हैं। वह संपत्ति और परिवार के साथ नियमों की मालकिन होती है।’<sup>11</sup> हालांकि एल० एच० मॉर्गन, मैकलेनन और बचोपेन ने इस परिवार को पुरातन प्रकार का माना है। इनके अनुसार ‘पहले मनुष्य संकीर्णता के एक राज्य में रहते थे और परिवार मातृसत्तात्मक होता था।’<sup>12</sup> मॉर्गन ‘अमरिकी नृविज्ञान के पिता’ ने माना कि परिवार का विकास न्यूनतम संकीर्णता से उच्चतम एकपत्नीत्व रूप में हुआ है।

पुरुष विवाह के पश्चात पत्नी के साथ पत्नी के माता-पिता के साथ घर जमाई बनकर रहता है। ‘विवाह, महिलाओं की सदस्यता में कोई परिवर्तन नहीं लाता। इसके अतिरिक्त पितृवंश व्यवस्था में विवाहिता लड़की को जो कुछ भी दिया जाता है, वह दूसरे घर (लड़की की ससुराल) चला जाता है। जबकि लक्षद्वीप में यह विश्वास किया जाता है कि पुरुष के द्वारा अपने बच्चों को संपत्ति का उपहार देना, संपत्ति के विभाजन को प्रेरित करता है।’<sup>13</sup> के० सारदामोनी ने जब अपने परिवार के संबंध और प्रतिस्पर्धा का वर्णन किया तो उन्होंने अपनी माँ का उल्लेख किया। सारदामोनी के अनुसार, ‘जिस घर में हम बड़े हुए वह मेरी माँ को उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ। उन्हें और हम बच्चों को अपने पिता द्वारा बनाई संपत्ति वंशानुगत रूप से प्राप्त हुई।’<sup>14</sup> विवाह के विषय में यह उल्लेखनीय है कि विवाह के बाद महिला अपने पति के घर नहीं जाती, अतः स्वाभाविक रूप से पति, पत्नी के घर जाता है जिसमें उसकी पत्नी अपने परिवार की अन्य महिलाओं, संबंधी और उनके पतियों के साथ रहती है। अगर महिला अपनी स्वयं अर्जित संपत्ति के अधिकार का निर्धारण किए बिना मर जाती है तो उसकी मृत्यु के बाद संपत्ति परिवार की छोटी बेटी को मिलती है।<sup>15</sup> खासी परिवार की संरचना की एक विशिष्ट विशेषता यह होती है कि महिला संपूर्ण पारिवारिक संपत्ति पर अधिकार रखती है और छोटी बेटी सभी अनुष्ठानों को संपन्न कर अधिकार करती है, उसके बावजूद भी बाहरी दुनिया में पुरुषों का प्रभुत्व होता है। इस प्रकार मातृसत्तात्मक परिवारों की यह निश्चित विशेषता होती है जिसमें महिला के अधिकार और समाज में उनकी भूमिका पर ध्यान दिया जाता है।<sup>16</sup>

आधुनिक मातृसत्तात्मक समाज में पुरुष की स्थिति

आधुनिक समाज में मातृसत्तात्मक परिवारों के संदर्भ में एक आश्चर्यजनक वास्तविकता यह कि महिलाओं की प्रधानता वाले परिवारों की संख्या बढ़ रही है, विशेषकर तब, जब नौकरी

के लिए पुरुष का कार्यस्थान किसी अन्य स्थान पर हो या जब पुरुष काम नहीं करता हो और महिला के द्वारा परिवार की देख-रेख एवं व्यवस्था की जाती हो। यह अनुमान किया जाता है कि 'भारत में तीन पीढ़ियों तक के एक परिवार में महिला ही प्रधान होती है।<sup>17</sup> 'अधिकतर महिला जब काम करने के लिए गाँव या शहर से बाहर जाती हैं तो परिस्थिति बिल्कुल विपरीत होती है और परिवार पृथक् हो जाता है। नौकरी के लिए पुरुष या स्त्री द्वारा खाड़ी देशों में जाने का उदाहरण सामान्य है। इस तरह से परिवार में सदस्यों की संख्या का समाकृति उल्लेखनीय है।<sup>18</sup>

#### पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष की भूमिका :

‘पिता जीवन है, संबल है, शक्ति है  
पिता सृष्टि के निर्माण की अभिव्यक्ति है।<sup>19</sup>

पितृसत्तात्मक परिवार में पुरुष को सभी शक्तियाँ निहित होती हैं और वह परिवार की संपत्ति का मालिक और व्यवस्थापक होता है। वह परिवार में रहने वाले सभी व्यक्तियों और परिवार में धार्मिक संस्कारों की अध्यक्षता और परिवार के देवताओं के पवित्र चूल्हे का संरक्षक भी होता है। संक्षेप में परिवार में पिता या ज्येष्ठ पुरुष वंशज का रक्षक होता है और वह परिवार के सदस्यों की खुशियों के लिए उनका जिम्मेदार होता है।<sup>20</sup>

‘व्यसन से रहता दूर, सदाचारी बनकर,  
विपत्ति-काल में धैर्य रखता है बराबर।<sup>21</sup>

पितृसत्तात्मक समाज में लड़के और लड़की दोनों की सामाजिक पहचान अपने पिता से होती है और कुटुंब में दोनों समान स्थान पाते हैं। दक्षिण भारत में हिंदूसमुदायों में मातृवंश के मामा और भांजी के मध्य या ममेरे-फुफेरे, भाई-बहन में विवाह अपवाद है, और मुस्लिमों में ममेरे भाई-बहन के मध्य विवाह भी बेटियों के परिवार में अस्थाई सदस्यता के विचार को प्रभावित नहीं करता।<sup>22</sup>

#### आधुनिक पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष की स्थिति :

आज पितृसत्तात्मक समाज की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि संपत्ति उत्तराधिकार के तरीके और संसाधनों के वितरण अलग प्रकार से है। शुरुआत से ही पुरुष, संपत्ति के उत्तराधिकारी होते हैं और पुरुषों के द्वारा संपत्ति को हस्तांतरित किया जा सकता है। 'पैतृक संपत्ति पर बेटियों का पूरा दावा होता है। आज पुत्र-पुत्री दोनों को पैतृक संपत्ति में किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं है। दोनों को समान अधिकार प्राप्त हैं।<sup>23</sup>

निष्कर्षतः आज समाज में चाहे परिवार पितृसत्तात्मक हो या मातृसत्तात्मक इसमें पुरुष और स्त्री दोनों की अहम् भूमिका है। दोनों एक सिक्के के दो पहलू हैं। समाज में दोनों को बराबर का हक चाहिए और तभी परिवार और समाज का उत्थान हो सकता है। साहित्यकार को अपमिश्रित भाषा भ्रष्ट कर सकती है। मूल्यहीनता उसे निरर्थक बना सकती है। इसलिए साहित्यकार को चाहिए कि साहित्य की गरिमा का आदर करते हुए और आपस के भेद-भाव को मिटा कर समाज को एकत्रित होकर उत्थान की ओर बढ़ना है। इसमें समाज की भलाई है।

#### संदर्भ

1. संतोषकुमारी, एम० ए०, एम० फिल० (हिंदी), शोधार्थी हिंदी विभाग कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र।

2. रामधारीसिंह दिनकर, शुद्ध कविता की खोज, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1987 पृ० 258 धर्म और दर्शन में परमेश्वर की अवधारणाएँ
3. उर्मिला श्रीवास्तव, हिंदी महाकाव्यों में नायिका की परिकल्पना, सरस्वती प्रकाशन, 38 बौद्ध नगर कानपुर 22 पृ० 52
4. वही, पृ० 53
5. रमेश चंद्र संपादक तथा नया ज्ञानोदय 'साधाना', पृ० 127
6. शशि चट्टा, बायोलोजी टैक्सट बुक कक्षा 12वीं, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, पृ० 86
7. सिमोलीड बिबीयोर, द सैकंड सैक्स, पृ० 23, श्याम लाल हिंदी लेखिकाओं के उपन्यास साहित्य में चित्रित पुरुष पात्र, पृ० 4
8. वही।
9. वही।
10. औम व्यास औम, गीता-कविता भारतीयता का अहसास 'माँ', एवं वैब साइट Geeta-Kavita.com
11. विद्या भूषण एवं डी० आर० सचदेवा एन एंट्रोडक्शन टू सोशीयोलोजी, 41वाँ संस्करण, पृ० 300
12. वही।
13. लीला दूबे, 'एंथोपालॉजिकल एक्सप्लोरेशन इन जेंडर, इंटरसेक्टिंग फील्ड, पृ० 226
14. के सारदामोनी, मैट्रिलिनी ट्रांसफामर्ड : फैमिली लॉ एंड आइडियोलॉजी इन 20वीं संचुरी, ट्रावनकोर, 1997, पृ० 10
15. तिलपुट, नागंबरी, जेडर एंड खासी फैमिली स्ट्रक्चर इन ओबराय पैट्रिशिया, संपा, फैमिली, किनशिप एंड मैरिज इन इंडिया, पृ० 177
16. नीरा देसाई, ऊषा ठक्कर, भारतीय समाज में महिलाएँ नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया नेहरू भवन-5, वसंतकुंज, इंडस्ट्रीयल ऐरिया, फेस -11, बसंत कुंज संस्करण 2008, पृ० 66
17. पैट्रिशिया ओबेराय, मिक्सड सिग्नल, सेमिनार इश्यू, वुमेन एंड एंजिंग इन इंडिया, वाचा, पृ० 385
18. नीरा देसाई, ऊषा ठक्कर, भारतीय समाज में महिलाएँ नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया नेहरू भवन-5, वसंतकुंज इंडस्ट्रीयल ऐरिया, फेस-11, बसंत कुंज, पृ० 66
19. ओम व्यास औम, गीता-कविता भारतीयता का अहसास 'पिता,
20. विद्या भूषण एवं डी० आर० सचदेवा एन इंट्रोडक्शन टू सोशीयोलोजी 41 वां संस्करण, 2007, किताब महल, इलाहाबाद, पृ० 298-299
21. सत्येंद्र प्रकाश नंदा 'आस', देवव्रत भीष्म, पृ० 223
22. नीरा देसाई, ऊषा ठक्कर, भारतीय समाज में महिलाएँ नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया नेहरू भवन-5, वसंत कुंज इंडस्ट्रीयल ऐरिया, फेस-11, बसंत कुंज, संस्करण-2008, पृ० 63
23. शर्मा बी० कुमार, हिंदू लॉ-हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम संशोधन, 2005 1956 सैक्शन 6

□ पत्नी डॉ० नरेश वत्स  
टीचर्स फ्लैट 25, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय  
कुरुक्षेत्र ( हरियाणा )  
मो० 09255529533



## दलित-चेतना के ऐतिहासिक विकासक्रम की पृष्ठभूमि

अनिलकुमार

आज चेतना के क्षेत्र में दलित-चेतना का मुद्दा सर्वाधिक महत्वपूर्ण मुद्दा बनकर उभरा है। इस दलित-चेतना का संबंध मोटे रूप में शिक्षा के प्रचार-प्रसार, आधुनिक मूल्यों के फलस्वरूप परिवर्तित सामाजिक एवं संवैधानिक मान्यताओं, सामाजिक न्याय और लोकतांत्रिक संरचनाओं से है। दलित-चेतना में धार्मिक जीवन की विकृतियों के विरुद्ध मानव की प्रतिष्ठा निहित है। आधुनिक दलित-चेतना का विकास अधिकांश विद्वान मराठी के दलित-साहित्य से मानते हैं, परंतु ऐतिहासिक रूप से दलित-चेतना का विकास तभी से माना जा सकता है, जब से भारत में वर्ण-व्यवस्था अस्तित्व में आई।

सर्वप्रथम चेतना शब्द को समझना जरूरी है। चेतना शब्द का अर्थ है—‘ज्ञानात्मक मनोवृत्ति’। इसका संबंध स्वाभाविक रूप से मानव-स्वभाव या मस्तिष्क से है। इससे मानव की विचारगत अवधारणाएँ यानी अनुभूति, विश्वास, श्रद्धा आदि रूपायित होती हैं। मनुष्य के मस्तिष्क में वस्तुजगत् के व्यापारों को देखकर या अनुभव करके जो स्थूल-सूक्ष्म प्रतिबिंब निर्मित होते हैं, उनसे ही मनुष्य की अवधारणाएँ बनती हैं, जो मनुष्य के अनुभव-संसार का निर्माण करती हैं। कोशगत परिभाषा में ‘चेतना शब्द वस्तुओं के स्वरूप का ज्ञान करानेवाली वह चित्तवृत्ति है, जो आंतरिक अनुभूतियों और बाह्य घटनाओं का भान कराती हैं।’ इस प्रकार चेतना व्यक्ति और समाज के मध्य सुनिश्चित सुदृढ़ और व्यापक सेतु-सृजन के कार्यव्यापार का नाम है।

सृष्टि की प्रकृति बड़ी विविधतामयी है, जिसके समक्ष अच्छे-अच्छे विद्वान निरुत्तर हो जाते हैं, परंतु सृष्टि की प्रकृति में कुछ विविधता मानव ने स्वयं निर्मित की है। इनमें से सर्वाधिक चौकानेवाला तथ्य है—मानव-मानव में परस्पर जाति, वंश, धर्म और कहीं-कहीं रंग के आधार पर होनेवाला भेदभाव। समय-समय पर अनेक जातियों ने आक्रमण कर यहाँ प्रवेश किया और यहाँ की मूल जाति को परास्त कर यहीं बस गई। विजयी जातियों ने यहाँ की पराजित जातियों को धन-संपत्तिहीन कर उन्हें गुलाम बना लिया। यह प्रक्रिया बार-बार दोहराई जाती रही धीरे-धीरे यहाँ की शूद्र जातियाँ ही आज का दलितवर्ग है। इस दलितवर्ग को समय-समय पर अनेक नाम दिए गए। जैसे-अंत्यज, चांडाल, शूद्र, अछूत, हरिजन, अस्पृश्य आदि, परंतु 1935 के एक अधिनियम के अनुसार इनकी एक अनुसूची बनाई गई, जिसके अनुसार इनका नामकरण अनुसूचित जातियों के रूप में किया गया। 1931 ई० की जनगणना में इन जातियों का नामकरण

दलित किया गया था, जो आज भी आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं राजनीतिक दृष्टि से पिछड़े होने के कारण प्रासंगिक है। वास्तव में 'दलित' भारतीय भाषाओं का एक बहुप्रचलित शब्द है। इसका अर्थ है गरीब और उत्पीड़ित, परंतु साहित्यिक एवं सामाजिक संदर्भों में दलित एक विशिष्ट अर्थ का वाचक शब्द बन गया है। यह विशिष्ट अर्थ है, जिसे तोड़ दिया गया है और जिसे उसके सामाजिक दर्जे से ऊपर बैठे लोगों ने जानबूझकर नियोजित रूप से कुचल डाला है। धन-संपत्ति से हीन कर दिया है। इस शब्द में छुआछूत, कर्मसिद्धांत और जातिगत श्रेणी का नकार निहित है।'

दलित-चेतना के केंद्र में दलित-समस्या एक राष्ट्रीय समस्या के रूप में है। इसके केंद्र में वे सारे सवाल हैं, जिनका संबंध भेदभाव से है, चाहे यह भेदभाव जाति के आधार पर हो, रंग के आधार पर हो, नस्ल के आधार पर हो, लिंग के आधार पर हो या फिर धर्म के ही आधार पर क्यों न हो।'

आधुनिक दलित-चेतना का मूलाधार बुद्ध-फुले और अंबेडकर के विचार हैं। इन्होंने परंपरागत धर्म और समाज की खामियों को जगजाहिर किया और दलितवर्ग की जातियों की दीन-हीन दशा का कारण स्वार्थी लोगों द्वारा धर्म और समाज की ग़लत व्याख्या को बताया। इससे दलितवर्ग में अपनी दीन-हीन दशा में उभरने की चेतना जाग्रत हुई। सामाजिक परिवर्तनार्थ अंबेडकर के विचार 'शिक्षित बनो, संगठित होओ और संघर्ष करो' दलित-चेतना की प्रेरणा हैं दलित-चेतना समानता और समता की ही नहीं, बल्कि सम्मान तथा सामाजिक प्रतिष्ठा की आग्रही है। इसके स्वर हैं—वेदना, विद्रोह और परिवर्तन। डॉ० तेजसिंह के शब्दों में दलित समाज के लोगों की आशाओं, आकांक्षाओं और दुख-दर्द की यथार्थ अभिव्यक्ति के साथ-साथ सामाजिक आर्थिक विषमताओं से मुक्ति, शोषण, उत्पीड़न के विरुद्ध विद्रोह की चेतना, आत्मसम्मान से जीने की प्रबल इच्छाशक्ति तथा एकजुट होकर अपनी अस्मिता की पहचान के लिए संघर्ष का चेतना जाग्रत करना, दलित-चेतना है, यानी यह अंबेडकरवादी चेतना है।<sup>2</sup>

दलित-चेतना को स्वरूप या रूप आकार देने में साहित्य की प्रमुख भूमिका रही है। आधुनिककाल में डॉ० अंबेडकर ने 1920 में 'मूकनायक' पत्र मराठी में शुरू करके दलित साहित्य आंदोलन की आधारशिला रखी, जिस पर आज के दलित साहित्य आंदोलन का भव्य महल खड़ा हो चुका है। औरंगाबाद के श्री गंगाधर पातांवणे द्वारा संपादित प्रकाशित पत्रिका 'अस्मिता दर्श' ने दलित-साहित्य को विकास प्रदान किया। आज दलित-साहित्य-लेखन के साथ-साथ उसके मूल्यांकन और विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में इसे शामिल करने की बात को लेकर चारों ओर गर्मजोशी का वातावरण बना हुआ है। दलित-साहित्य की वर्तमान प्रासंगिकता इसी तथ्य से आँकी जा सकती है कि जितनी भी साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं, उन सबमें दलित-साहित्य को स्थान दिया जा रहा है। इन पत्रिकाओं में दलित-साहित्य को उचित स्थान ही नहीं, बल्कि दलित विशेषांक भी खूब निकाले जा रहे हैं। देश के विश्वविद्यालयों एवं शोध-संस्थानों में दलित-चिंतन और दलित-अस्मिता पर अनेक शोधकार्य हो रहे हैं। ऐसे में दलित-चेतना के ऐतिहासिक विकासक्रम की पृष्ठभूमि पर ध्यान जाना स्वाभाविक है।

भारतवर्ष में यहाँ के मूल निवासियों के साथ अमानवीय व्यवहार, अंधे कानून,

अपमानपूर्ण उत्पीड़न के विरुद्ध मानव-मुक्ति के संघर्ष का सिलसिला आर्यों के आगमन के साथ शुरू होता है। आर्यों या ब्राह्मणों ने अपने धार्मिक ग्रंथों में शूद्रों के विरुद्ध अत्यधिक विषवमन किया। आर्यों ने शूद्रों के मानवीय अधिकारों पर प्रतिबंध लगाकर उन्हें मानव की श्रेणी से ही च्युत कर दिया। उन्हें विद्या, धन धर्म और सामाजिक-राजनीतिक अधिकारों से वंचित कर वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत बेघर, संपत्तिहीन, अशिक्षित, अज्ञानी और पशु से ही अधिक निम्न श्रेणी का जीवन व्यतीत करने को बाध्य किया। इस व्यवस्था के खिलाफ उसी दिन से विरोध उत्पन्न हो गया था, जिस दिन इसे अमली जामा पहनाया गया था, परंतु समाज के सवर्ण प्रभुवर्ग ने इसका कहीं उल्लेख नहीं किया। संभवतः ब्राह्मणधर्म ने ब्रह्मणेतर धर्म-ग्रंथों और स्रोतों को योजनाबद्ध रूप से नष्ट कर दिया। इस संबंध में एक विद्वान का मत है कि 'आठवीं' सदी ई. पू. से लेकर उन्नीसवीं सदी तक लगातार लिखे जाते हिंदूधर्म ग्रंथों का विरोध भी लगातार होता रहा, पर यह दुर्भाग्य है कि कौरस, कपिल, कवज और एलुष से लेकर कबीर और फुले तक का विरोधी विचारधारा का इतिहास कभी नहीं लिखा गया। न कौरस आदि के बारे में हमारे पास कोई इतिहास ज़िदा बचा है, न उन जनप्रतिनिधियों की कोई सूचना बच पाई है, जिन्होंने यास्क और भरतमुनि द्वारा ब्राह्मणपथ के अभियान के विरुद्ध आवाज़ उठाई होगी। दुर्भाग्य की बात है कि मार्क्सवादी होकर भी ब्राह्मण रामविलास शर्मा या ब्राह्मणत्व के सहयोगी क्षत्रिय भगवान सिंह जैसे लोग इन विरोधियों को दस्यु, पिशाच और राक्षस बताते रहे।'

ब्राह्मणवादी व्यवस्था के खिलाफ पहला प्रतिरोध हम 'रामायण' में 'शंबूक' प्रसंग में पाते हैं, जो शूद्र होकर ब्राह्मणों के तपस्या के एकाधिकार को चुनौती देते हुए वृक्ष पर उल्टा लटककर तपस्या करता है। यह बात और है कि तथाकथित ईश्वर 'राम' ने उसका वध कर दिया। इस वर्ण-व्यवस्था को चुनौती का एक और उदाहरण हम महाभारत में पाते हैं, जहाँ भील बालक 'एकलव्य' शूद्र होते हुए क्षत्रियों के एकाधिकार 'धनुर्विद्या' को सीखकर पारंगत हो जाता है। यहाँ भी वर्ण-व्यवस्था के उल्लंघन के अपराध में गुरु द्रोणाचार्य छल-बल से उसके दाएँ हाथ का अँगूठा कटवा देते हैं, ताकि वह भविष्य में धनुष ही न चला सके। आज वर्ण-व्यवस्था के पुजारी गुरु के इस जघन्य अपराध को गुरु-भक्ति की महिमा के रूप में प्रस्तुत करते हैं। ऐसा नहीं है कि इस वर्ण-व्यवस्था विरोधी विचारधारा को केवल दलितों ने ही चुनौती दी, जब समाज का यह वर्ण-व्यवस्थावादी अत्याचार चर्म पर पहुँच गया, तब दो क्षत्रिय राजकुमारों 'महात्मा गौतमबुद्ध' और 'महावीर स्वामी' इसके प्रतिरोध में आए। इन्होंने यज्ञों में पशु एवं नरबलि की मान्यता वैदिकी हिंसा न भवति के विरुद्ध अहिंसा परमो धर्म: का नारा देते हुए जात-पात ऊँच-नीच और वर्ण-व्यवस्था के आधार पर बरते जानेवाले भेदभाव के विरुद्ध जेहाद छेड़ा। उस समय आर्यों के चंगुल से निकलकर शूद्रजाति के अनेक लोगों ने बुद्ध की शरण ली और बौद्धधर्म अपना लिया। कुछ वेश्य और पिछड़ी जातियाँ महावीर स्वामी के जैनधर्म में शामिल हो गईं। यह बात अलग है कि इन जातियों पर होनेवाले अमानुषिक अत्याचार अभी भी पूर्णतः रुके नहीं थे। लेकिन फिर भी बौद्ध और जैनधर्म दलित और पिछड़ी जातियों के लिए जेट की तपती धूप में बरसात की शीतल फुहारें बनकर आए। इन धर्मों ने वर्ण-व्यवस्था को सिरे से खारिज करते हुए शिक्षा के द्वार सभी अछूतों के लिए खोल दिए। जन्म के आधार पर सभी प्रकार के भेदभावों को नकार दिया। इससे दलितों-पिछड़ों को थोड़ी-सी राहत मिली और

समाज में उन्हें समता और सम्मान मिला। इस काल में जनभाषा पालि में झूठी वर्ण-व्यवस्था और ब्राह्मणवाद की सर्वोच्चता को चुनौती देनेवाला अपार साहित्य रचा गया, जिसने मनुस्मृति पर आधारित वैदिक ब्राह्मण धर्म की चूलें हिलाकर रख दीं।

स्मरणीय है कि बौद्ध और जैनधर्म वर्ण-व्यवस्था की चूलें ही हिला पाए, उसे गिराकर समाप्त नहीं कर पाए। जिस तरह साँप को जख्मी करके छोड़ देने पर वह और अधिक प्राणघातक हो जाता है, उसी तरह वर्ण-व्यवस्थावादी ब्राह्मण और अधिक क्रूर हो गए। यही कारण है कि अंतिम बौद्ध सम्राट वृहद्रथ की हत्या 185 ई०पू० उसी के ब्राह्मण सेनापति पुष्पमित्र शुंग ने की और साम-दाम-दंड-भेद सभी का सहारा लेकर बौद्धधर्म के स्थान पर ब्राह्मणधर्म की स्थापना का हरसंभव प्रयास किया। इसी काल में जड़तामूलक हिंदू संविधान मनुस्मृति की रचना की गई। यहीं से ब्राह्मणों को असीम अधिकार दिए गए और दलितों-स्त्रियों का जीवन पशु से भी बदतर हो गया। बौद्धकाल में शूद्र ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त किए जा सकते थे यहाँ तक कि वे राजा भी हो सकते थे, परंतु पतंजलि, पुष्पमित्र शुंग और मनु ने इस समतामूलक व्यवस्था को इसलिए पलट दिया, क्योंकि इसमें ब्राह्मणों को सर्वोपरि स्थान प्राप्त नहीं था। हिंदू विधि संहिता मनुस्मृति में एक ओर शूद्रों को कदम-कदम अपमानित और दंडित करने की व्यवस्था की गई तो दूसरी ओर ब्राह्मणों को तीनों में सर्वश्रेष्ठ बताया गया। शूद्रों और स्त्रियों को उनके छोटे-छोटे अपराध या भूल-चूक तक के लिए मरणांतक व्यवस्था की गई, लेकिन ब्राह्मण केवल स्नान या वेद-पाठ करने मात्र से सभी प्रकार के अपराधों से मुक्ति पा सकता था। इस तरह सारे भारतवर्ष में अन्याय पर आधारित ब्राह्मणी व्यवस्था काबिज हो गई।

इस मनुवादी ब्राह्मणी व्यवस्था को सतत् रूप से चुनौती दी जाती रही, क्योंकि यह मानव का स्वभाव है कि वह गुलामी में जी ही नहीं सकता। शूद्रों और स्त्रियों पर जो-जो प्रतिबंध लगाए गए हैं, उनका सीधा मतलब निकलता है कि वे उन क्षेत्रों में ब्राह्मणों को कड़ी शिकस्त दे रहे थे। लेकिन ब्राह्मणी व्यवस्था को दी जानेवाली चुनौतियों को किसी ने लिपिबद्ध नहीं किया और यदि यत्र-तत्र लिपिबद्ध कर भी दिया होगा तो ब्राह्मणों ने उसे सुनियोजित रूप से नष्ट कर दिया होगा। मनुस्मृति में व्यवस्था की गई कि यदि कोई शूद्र पढ़ता या कोई साधना करता पाया जाए तो उसे जान से मार दिया जाए या फिर उसके कानों में कुछ गर्म द्रव्य डाला जाए, जीभ काट दी जाए, आँखें फोड़ दी जाएँ। फिर भी ब्राह्मणी वर्ण-व्यवस्था को चुनौती दी जाती रही। आठवीं से सोलहवीं सदी के मध्य 800 वर्षों में बौद्धधर्म से निकले सिद्धों और नाथ योगियों ने वर्ण-व्यवस्था को नकारा और वर्ण-व्यवस्था के पोषक सिद्धांतों तथा आचार-विचारों को नकारा। इन्होंने अपनी बानियों, दोहों और साखियों से ब्राह्मणी-व्यवस्था के षड्यंत्र का भंडाफोड़ कर जन-जन को चेतया और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास करने का प्रयत्न किया। परंतु ब्राह्मणों और ब्राह्मण धर्मग्रंथों ने सिद्धों को वाममार्गी पंचमकारों में (मांस, मछली, मदिरा, मैथुन आदि) लिप्त रहनेवाले और नाथयोगियों को नारी-निंदक तथा योगाभ्यास करनेवाले हठयोगी कहकर प्रचारित किया।

सिद्धों-नाथों ने पूजा-पाठ, जाति-भेद, मूर्ति-पूजा और मंदिर-मस्जिद की आस्था पर करारे प्रहार किए। वस्तुतः जिन सिद्ध-नाथ कवियों को हिंदी साहित्य स्वीकार करता है, वे सब दलित-चेतना के विमर्शकार हैं, यद्यपि उनका चिंतन आज के दलित-चिंतकों से बहुत कुछ

भिन्न है। इसका कारण है आज के जीवन और परिस्थितियों में युगांतर का आना, अन्यथा इसमें कोई संदेह नहीं कि सभी नाथ-सिद्ध दलित-चेतना के प्रचारक-प्रसारक थे, इन्होंने मानव मानव की समानता पर बल दिया। कालक्रम की दृष्टि से सिद्धों-नाथों का काल दलित-चेतना का आदिकाल कहा जा सकता है।

नाथों-सिद्धों से होती हुई यह दलित-चेतना भक्तिकाल में बड़े व्यापक रूप में प्रकट होती है। जैसे तो भक्तिकाल के सभी भक्तों सूफियों और निर्गुण संतों ने शुद्ध-बुद्ध मानव की प्रस्थापना का प्रयास किया, परंतु जिस तरह से निर्गुण संतों ने सामाजिक असमानता, ऊँच-नीच, जात-पाँत और कर्मकांड के मूल ब्राह्मणवाद तथा रोज़े-नमाज मस्जिद आदि के पैरोकार इस्लाम पर प्रहार किया, वैसा अभी तक किसी ने नहीं किया। इन संतों ने 'न हिंदू न मुसलमान' की भावना पर जोर देते हुए मानव-मानव के बीच परस्पर समानता, सद्भावना और भाईचारे के विकास पर जोर दिया। यही कारण है कि इन निर्गुण संतों का प्रभाव अखिल भारतीय था। महाराष्ट्र के संत नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, समर्थ, रामदास, चोखा मेला और उत्तर भारत में कबीर, रविदास, नानक, पीपा, मलूकदास, सुंदरदास, रज्जब आदि ने जनभाषा में मूर्तिपूजा, अवतारवाद और धर्म के बाह्याडंबरों की खुलकर आलोचना की। इन संतों के विचारों से दलित जातियों को प्रेरणा मिली और उनमें संघर्ष और आत्मविश्वास का भाव जाग्रत हुआ। राजनीति, समाज और धर्म के क्षेत्र में जो तत्कालिक समस्याएँ एवं अवरोध उत्पन्न हो गए थे, उन्हें दूर करने का प्रयास इन संतों ने किया। दूसरे शब्दों में इन्होंने अपने युग-परिवेश को समझ समाज की नब्ज को पकड़ रोग का पता लगाया और वर्ण-व्यवस्था की महामारी से समाज को बचाया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इस मत में पर्याप्त सत्य निहित है कि भक्ति-आंदोलन का एक मूल कारण जनता का कष्ट है। यानी भक्ति-आंदोलन के मूल में जनता के दुख की भयानक स्थिति थी। इसीलिए मुक्तिबोध टिप्पणी करते हैं कि 'भक्ति-आंदोलन का अविर्भाव, एक ऐतिहासिक-सामाजिक शक्ति के रूप में जनता के दुःखों और कष्टों से हुआ, यह निर्विवाद है।'

दलित-चेतना के विरोध विकृति और समाहार का ही परिणाम है कि भक्तिकाल के पश्चात् रीतिकालीन निर्गुण संत साहित्य में उतनी आग या तेज नहीं है, जितनी कि भक्तिकालीन निर्गुण संत साहित्य में है। भक्तिकाल के बाद आधुनिककाल में सन् 1960 के दशक में मराठी में वही दलित-चेतना रूप-आकार लेती है और देखते-देखते सारे भारत और सारी भारतीय भाषाओं में अपनी स्थिति का एहसास कराती है।

आधुनिक काल में दलित चेतना का विकास महात्मा ज्योतिबा फुले और डॉ० अंबेडकर से शुरू होता है। महात्मा फुले का मत है कि 'ब्राह्मण का शूद्रों के साथ जो व्यवहार होता है, उससे सिद्ध होता है कि ब्राह्मणों का इस देश से कुछ भी संबंध नहीं है। इन्होंने केवल स्वार्थ की वजह से इस देश पर एकाएक लगातार हमले किए और जिस-जिस समय जो लोग यहाँ हमलों की चपेट में आएँ उनको बंदी बनाकर दास बनाया गया। और यही दास आज दलित वर्ग की श्रेणी में आते हैं। महात्मा फुले ने दलितों और स्त्रियों की दुर्दशा का एक मात्र कारण इनका निरक्षर होना माना है। इसलिए उन्होंने दलितों और स्त्रियों की शिक्षा पर जोर दिया। इनकी शिक्षा के लिए पाठशालाएँ प्रारंभ की। इनकी 'गुलामगिरी' पुस्तक ने दलित चेतना में पुनः प्राणों का संचार किया। ज्योतिबा फुले की रचनाधर्मिता व आंदोलनों ने महाराष्ट्र में जो जनजागरण

किया उसका प्रभाव सारे देश में फैला। फुले द्वारा उठाए गए मुद्दे सामाजिक परिवर्तन के एजेंडे में आज सबसे ऊपर हैं।

महात्मा फुले के बाद डॉ॰ अंबेडकर ने दलित चेतना को एक आंदोलन के रूप में परिवर्तित कर दिया। अंबेडकर जी राजनीतिक क्रांति से पहले सामाजिक क्रांति का समर्थन करते थे। वे भारतीय समाज की जड़ ताकतों पर हमला करके धर्म के नाम पर स्वतंत्रता एवं बंधुता के हनन की वर्णवादी गाथाओं का अंत करके ऐसा समतामूलक समाज चाहते थे जहाँ किसी के प्रति जाति, वर्ण, धर्म और लिंग के आधार पर भेदभाव न हो। अंबेडकर जी का शक आज सही साबित हो रहा है—राजनीतिक रूप से हम सब समान हैं लेकिन सामाजिक रूप से कदम-कदम पर दलितों और स्त्रियों को अपमान का सामना करना पड़ रहा है। इसका मूल कारण है वर्ण-व्यवस्था के कारण सवर्णों का हजारों वर्षों का जातीय श्रेष्ठता का दंभ ब्राह्मणों ने भार में इस कद्र अपना जातीय साम्राज्य स्थापित किया कि 'ब्राह्मण की तुलना में ईश्वर की शक्तियों और अधिकारों की कल्पना भी छोटी रह गई है। वर्ण-व्यवस्था में अपार शक्तियाँ प्राप्त करने के बाद उन्हें यह आदत नहीं रह गई थी कि वे किसी शर्त वाले सत्य को स्वीकार करते। समाज में उनकी सर्वोच्चता बिना शर्तों की थी। इसलिए उनके ईश्वर को भी उनकी मर्जी का होना था। उन्होंने यह देखने का प्रयत्न नहीं किया कि सत्य स्वयं में कैसा है बल्कि उनकी जिद थी कि सत्य को जैसा वे चाहेंगे, वैसा होना पड़ेगा' परंतु सदियों से जातीय अपमान व घृणा से उत्पीड़ित लोग आज मान-सम्मान चाहते हैं। डॉ॰ अंबेडकर ने निरंतर दलितमुक्ति और मानवाधिकार के मामले उठा-उठाकर न केवल सरकार, बल्कि सारे देश का ध्यान इस समस्या की ओर खींचा। अंबेडकर के आत्म-सम्मान आंदोलन ने दलित-वंचित समाज में राजनीतिक चेतना जाग्रत करनेवाली चिंगारी का काम किया।

दलित-चेतना के प्रचार-प्रसार के विषय में डॉ॰ अंबेडकर ने 1 मई, 1954 को नागपुर में 'विदर्भ साहित्य संघ' को संबोधन करते हुए कहा था—'मैं साहित्यकारों से अनुरोध करता हूँ कि आप उदात्त जीवनमूल्यों और सांस्कृतिक मूल्यों का अपनी रचनाओं में सृजन कीजिए। अपनी दृष्टि का विस्तार कीजिए, इसे संकुचित व मर्यादित मत कीजिए, उसे विशाल बनाइए। अपनी वाणी को चाहरदीवारी तक ही सीमित मत कीजिए। उसके तेज को देहातों का अँधेरा दूर करने के लिए फैलाइए। अपने देश में उपेक्षितों का, दलितों का बहुत बड़ा विश्व है। इसे मत भूलिए, उनका दुख, उनकी व्यथा ठीक तरह से समझकर, अपने साहित्य के द्वारा उनके जीवन को उन्नत करने का प्रयास कीजिए, उसी में सच्ची मानवता है। साहित्यकारों पर डॉ॰ अंबेडकर के इन विचारों के प्रभाव का ही परिणाम है कि जिस प्रकार से हिंदी का विपुल साहित्य ईश्वर व धर्मग्रंथों के इर्द-गिर्द लिखा गया, ठीक उसी तरह अब दलित-साहित्य आम आदमी के जीवन-संघर्षों और धर्म के विरोधी पक्षों को चित्रित करके सामाजिक जागरण का कार्य कर रहा है।

भारत की वर्णवादी व्यवस्था ने शूद्र और स्त्रीवर्ग का जीवन पशु से भी बदतर कर दिया था। भारतीय समाज की नस-नस में व्याप्त वर्ण-व्यवस्था का ही परिणाम है कि स्वतंत्रता के 60 वर्ष से अधिक बीत जाने और संविधान में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों और महिलाओं को अनेक अधिकार और आरक्षण दिए जाने के बावजूद इन जातियों एवं स्त्रियों की

बदहाली सुरसा के मुख के समान लगातार बढ़ती जा रही है। वर्ण-व्यवस्था ने सामाजिक धार्मिक नियमों को धर्मग्रंथों का सहारा लेकर इस तरह व्याख्यायित किया कि शूद्रवर्ग और स्त्रियाँ सदैव ऊपर के तीनों वर्गों की गुलामी में फँसे रहे। वर्ण-व्यवस्था ब्राह्मण को हर तरफ़ से सुरक्षित करके मुँह खोलती है। इस व्यवस्था में असमानता का ऐसा शास्त्र है, जो ज़्यादाती, शोषण, भ्रष्टाचार, जारकर्म, बलात्कार, हिंसा और छुआछूत आदि अपराधों का सिद्धांतकार और पक्षधर है।

डॉ० अंबेडकर के बाद साहित्य में दलित-चेतना को कालक्रम की दृष्टि से दो कालों में बाँट सकते हैं। प्रथम काल 1950 से 1975 तक और दूसरा काल 1975 के बाद का है दलित-चेतना की दृष्टि से 1975 के बादवाला काल बहुत विशिष्ट है, क्योंकि इसी काल के पश्चात दलित-चेतना ने हिंदीभाषा जगत् ही नहीं, बल्कि विश्वपटल पर अपनी विशिष्ट पहचान बनाई। वर्तमान दलित-चेतना को ही इस बात का श्रेय जाता है कि दलित-वंचित वर्ग को भाग्य, भगवान और भविष्य के शिकंजे से निकालकर उनमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हो रहा है।

#### संदर्भ

1. संतसाहित्य और समाज, रमेशचंद्र मिश्र, पृ० 27
2. दलित-विमर्श की भूमिका, कैवल भारती, पृ० 17
3. अंबेडकरवादी साहित्य का समाजशास्त्र, डॉ० तेजसिंह, पृ० 85-86
4. संधान पत्रिका, सं० लालबहादुर वर्मा पृ० 32 (मुद्राराक्षस का लेख, उद्धृत सत्ता संस्कृति और दलित सौंदर्यशास्त्र, सूरज बड़जात्या, पृ० 56
5. मध्यकालीन साहित्य विमर्श, सं० सुधा सिंह, पृ० 44,
6. वही, पृ० 43
7. भक्ति-आंदोलन और सूरदास का काव्य, मैनेजर पांडेय, पृ० 26
8. संत रैदास का निर्वाण संप्रदाय, डॉ० धर्मवीर, पृ० 75

□ 65, गाँव मोहम्मदपुर

पो०ऑ० अलीपुर, दिल्ली 110036

मो० 09213462625

## हरिवंशराय बच्चन के काव्य में वैयक्तिकता

डॉ० किरण वालिया

प्राचार्या, ऐपीजे सरस्वती कन्या महाविद्यालय,  
चरखी दादरी (हरियाणा)

स्वच्छंदतावाद की मान्यता है कि काव्य का विवेचन बाह्य नियमों के अनुसार न होकर आन्तरिक नियमों के अनुरूप होना चाहिए। विश्व के महान् स्वच्छंदतावादी विचारकों में 'गेटे' 'शेलिंग', 'कॉलरिज', 'शैली', 'कीटस', 'वर्डस्वर्थ' तथा 'प्रसाद, 'निराला' एवं 'महादेवी' आदि ने भावपक्ष के अध्ययन के लिए एक विशेष आलोचनात्मक दृष्टिबोध का सृजन किया है। परंपरावादी काव्यरचना में यह सिद्धांत अत्यंत महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना जाता है, जबकि स्वच्छंदतावादी काव्य आत्मप्रधान होने के कारण वैयक्तिक अनुभूति को सर्वोपरि मानता है। वह अपनी अनुभूतियों, भावनाओं और कल्पनाओं को दूसरों तक इस प्रकार से पहुँचाता है कि वे उनको यथावत ग्रहण कर सकें।

महादेवी के अनुसार, 'आधुनिक युग में हमारा हृदय ही हमारा संसार है तथा हम हृदय की धड़कन, सिहरन की भावना को अंकित करने के लिए उत्सुक हैं। इतना ही नहीं अपनी प्रत्येक कल्पना स्वप्न को साकार बनाने में किल हैं। ये सब उस युग की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ही है। जहाँ कवि का आदर्श अपने विषय में मौन रहकर संसार भर का इतिहास अंकित करता है और हृदय की उपेक्षा कर शरीर को आदृत करता था।'<sup>1</sup>

वर्तमान युग के प्रारंभ तथा विकास में कवि का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण प्रधान रहा है। युगों-युगों से भारतीय कवि पर व्यक्तिगत संवेदनाओं को व्यक्त करने के क्षेत्र में प्रतिबंध रहा है, ऐसा इसलिए रहा होगा कि समाजीकृत तथा साधारणीकृत की शर्त उसके सामने रही थी। आधुनिक युग के पूर्वार्द्ध में ही ये बंधन ढीले पड़ने लगे थे, सीमाएँ मिटने लगी थीं, पर वर्तमान युग के कवि ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता का मुक्त उद्घोष किया।<sup>2</sup>

इस काल के कवियों ने जीवन संघर्ष से अलग होकर निजी व्यक्तित्व को ही महत्ता प्रदान की है। कवि का निजी व्यक्तित्व जब उसके साहित्य का आधार बन जाता है तब उसकी काव्य दृष्टि का आधार उसके अलंकार की संकुचित सीमा ही बनती है। इन कवियों ने परम्पराओं एवं मर्यादाओं से स्वतंत्र होकर अपने शारीरिक, भौतिक जीवन की वैयक्तिक अनुभूतियों को ही अपने काव्य का आधार बनाया। इन कवियों में सबसे अधिक उभरकर सामने आते हैं बच्चन जी। बच्चन ने अपने व्यक्तिगत अनुभूतियों को बहुत महत्त्व दिया है। वे अपने आपको केंद्रित रखकर ही अपने काव्य की रचना करते हैं। अतः उनका व्यक्तिवादी स्वर उनके काव्य में स्वाभाविक रूप से दिखाई पड़ता है।



बच्चन की काव्यगत वैयक्तिकता के विस्फोट ने पाठकों और श्रोताओं को प्रयोगवादियों की भांति चौंकाया नहीं है, बल्कि अनुभूत्यात्मक भाव-लहरियों से उनक हृदयों को भी भावनाओं के आनुकूल्य में बहाया है—

कब भला संसार से उरता रहा मैं,  
मौज में आया वही करता रहा मैं  
बावरी, किसको बरजना चाहती है  
प्राण की यह बीन बजना चाहती है।<sup>3</sup>

कवि स्वयं को विश्व रंगमंच का मुख्य नायक मानता है, जो उनके अंतस में अवस्थित आत्म-विश्वास और दिवानेपन की प्रवृत्ति का द्योतक है तथा जिसके पैदा होने पर ऐसी कोई बाधा नहीं है जिसे लांघा न जा सके—

किंतु जब परदा गिरेगा  
मुख्य नायक-सा उभरता मैं दिखूँगा।<sup>4</sup>

कवि ने प्रायः सर्वत्र अपनी अनुभूतियों का व्यक्तिकरण करते हुए प्रकाशित किया है। उन्होंने अपने व्यक्तिगत विवेक बोध को कुठित और म्लान नहीं होने दिया है। उनकी गंभीर एवं सशक्त चेतना जीवन यात्रा में अपना रक्षण स्वयं करती हुई जगत के निर्णयों की चिंता न करती हुई गोचर होती है—

जग दे मुझ पर फैसला उसे जैसा भाए  
लेकिन मैं तो बेरोक सफ़र में जीवन के  
इस एक और पहलू से होकर निकल गया।

जीवन-दृष्टि की बहुमुखता उनकी वैयक्तिकता का प्रमाण है। कवि में वैयक्तिक-धरातल पर नवीनता के प्रति आकर्षण की प्रवृत्ति अधिक मुखरित है, जिसमें नया उत्साह और नई रूति दृष्टिगोचर होती है—

मैं दुनिया का हूँ एक नया दिवाना  
मैं दिवानों का वंश लिए फिरता हूँ  
मैं मादकता का निःशेष लिए फिरता हूँ  
जिसको सुनकर जग झूम-झूम कर लहराए  
मैं मस्ती का संदेश लिए फिरता हूँ।<sup>5</sup>

जीवन-प्रसंग की पार्श्वभूमि पर रहते हुए कवि ने अपने आपको जग-जीवन से भिन्न नहीं माना है। उनमें स्वस्थ अकृत्रिम अकलुषित जनजीवन के प्रति जितना अनुराग है, उतना ही उसकी असामाजिक, असंतुलित और अवांछित विकृतियों के प्रति विद्रोह का भाव है। अतः उन्होंने कहा है—

जिन्हें जगजीवन में संतोष, उन्हें क्यों भाए इसका ज्ञान  
जिन्हें जगजीवन से वैराग्य, उन्हें क्यों भाए इसकी तान  
हमें जगजीवन से अनुराग, हमें जगजीवन से विद्रोह  
इसे क्या समझेंगे वे लोग, जिन्हें सीमा व धन का मोह।<sup>6</sup>

उनकी भाव-गीतियों का संबंध उनके व्यक्तिगत जीवन से है। कदाचित् इसीलिए

उन्होंने राजनीतिक तथा साहित्यिक दलबंदियों और सांप्रदायिक संकीर्णताओं को निषेधात्मक दृष्टि से देखा है—

मैं स्नेह सुरा का पान किया करता हूँ,  
मैं कभी न जग का ध्यान किया करता हूँ,  
जग पूछ रहा उनको, जो जग की गाते,  
मैं अपने मन का गान किया करता हूँ।<sup>7</sup>

कवि ने आत्माभिव्यंजना में स्पष्टवादिता और अकृत्रिमता को ही प्रायः प्रश्रय दिया है—  
मैं छिपाना जानता तो जग मुझे साधु समझता  
शत्रु मेरा बन गया है छल-रहित व्यवहार मेरा।<sup>8</sup>

नगेन्द्र ने बच्चन की कविता को पूर्ण रूप से व्यक्तिवादी कविता ही कहा है। जब यह धूमिल संसार और जीवन अधिक मूर्त अनुभूत होने लगा और छायावाद का अप्रत्यक्ष एवं सूक्ष्म व्यक्तिवाद प्रत्यक्ष और स्थूल की महत्व स्वीकृति का आग्रह करने लगा, तब धर्म, राजा, समाज, देश की भावना के नीचे दबा हुआ व्यक्ति का अहं जागरूक होकर अपने सुख-दुख को अपनी कुंठा और प्रसादन को सबसे अधिक महत्त्व देने लगा और साहित्य में उनकी अभिव्यक्ति की मांग करने लगा। इस मांग को सबसे साहस पूर्वक बच्चन ने पूरा किया, और हमारी पीढ़ी का तरुण समाज अपने हर्ष-विषाद को इस समव्यस्क कवि के गीतों में तलाश करता है। बुद्धि से लिखी जाने वाली रचनाएँ कभी श्रेष्ठ साहित्य के अन्तर्गत वर्गीकृत नहीं की जा सकती।<sup>9</sup>

सामाजिक और आर्थिक वैषम्य के जिस क्रोड़ में बच्चन का विकास हुआ, उसमें स्वाभाविक रूप से विद्रोह का उत्स फूटता हुआ दिखाई देता है। शिक्षित युवक भावी जीवन को जिस ललक से उच्चतम शिखर तक ले जाने को आतुर-उत्सुक हुआ उसे परिस्थितियों ने झकझोर दिया। अतः उसके अंतर्मन में बाह्य जीवन-संघर्ष की टकराहट से जो उद्दाम भावराशि प्रवाहित हुई वह 'एकांत संगीत' में अभिव्यक्त हुई।

संस्थाओं के प्रति विद्रोह करते हुए वे व्यक्ति को अधिक महत्त्व देते हैं। संस्थाओं को तोड़कर व्यक्ति आज अकेला खड़ा है—

धर्म-संस्थाओं के बंधन, तोड़ गया है वह विमुक्त मन,  
संवेदना-स्नेह-संबल भी खोना उसे पड़ा है,  
अकेला मानव आज खड़ा है।<sup>10</sup>

सिर कट जाए पर झुकना नहीं चाहिए, बच्चन इस बात को लेकर कहते हैं -  
क्षत शीश मगर नत-शीश नहीं  
बनकर अदृश्य मेरा दुश्मन,  
करता है मुझ पर वार सघन, लड़ लेने को मेरी हबसैं,  
मेरे डर के ही बीच रही। क्षत शीश मगर नत शीश नहीं।<sup>11</sup>

यहाँ तक कि ईश्वर के सामने झुकने को भी बच्चन कायरता मानते हैं। वे मठ, मन्दिर आदि को मनुष्य की हार के प्रतीक मानते हुए कहते हैं—'मुखरित पाकर आत्मभिव्यक्ति के सुख से झूम उठा।'<sup>12</sup>

बच्चन ने निर्भीक होकर बिना किसी प्रकार के दबाव-छिपाव के अपनी कविता को प्रत्यक्ष आत्मभिव्यक्ति का साधन बनाया—

मैं तो बस इतना कहता हूँ, वह एक दीप लौटा लाओ,  
जिसके लघु बाड़ व ज्वाला से, घबरा उठता तम का सागर।<sup>13</sup>

या

एक चिड़िया चोंच में तिनका लिए जो जा रही है  
वह सहज में ही पवन उनचास, को नीचा दिखाती है।<sup>14</sup>

बच्चन के प्रारंभिक जीवन में संघर्षरत युवक की करूण व्यथा 'मधुशाला', 'मधुबाला' और 'मधुकलश' में मिलती है। बच्चन का व्यक्तिवाद, आध्यात्मिक नहीं भौतिक है। बच्चन अपने अनुभवों को तत्त्वगत अनुभूति तक ही सीमित नहीं करता परंतु उन्हें प्रकृति की विराटता के साथ विश्वव्यापी रूप देता है। उनका नियतिवाद, निराशावाद दूर होता हुआ आशावाद से संयुक्त कर्मवाद का संदेश देता है।

जो बीत गई सो बात गई। जीवन में एक सितारा था,  
माना, वह बेहद प्यारा था, पर वह डूब गया तो डूब गया।  
अंबर के आनन को देखो कितने इसके तारे टूटे,  
कितने इसके प्यारे छूटे, जो छूट गए फिर कहाँ मिले,  
पर बोलो टूटे तारों पर कब अंबर शोक मनाता है।<sup>15</sup>

स्वयं बच्चन का विचार है, 'बौद्धिक रचनाएँ सृजनात्मक नहीं होती, सृजन का तो अर्थ ही है आत्मदान। जिन रचनाओं में आत्मदान का अंश जितना अधिक रहता है वे उतनी ही संप्रेषणीय बन मानव-मन को कचोटती हैं। बच्चन ने बार-बार ईश्वर की सत्ता को भी चुनौती दी है और धार्मिक स्थलों को मनुष्य की पराजय के स्मारक तक कह डाला है—

प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर

युद्ध क्षेत्र में दिखला भुजबल,

रहकर अजीवित, अविचल, प्रतिपल,

मनुज-पराजय के स्मारक हैं, मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर।<sup>16</sup>

जीवन की मौलिक भावनाओं का व्यक्तिगत रूप में प्रबल संवेदन करते हुए उन्हीं के अनुरूप प्रकृति अथवा जीवन के व्यापक सरल सत्यों द्वारा उनका साधारणीकरण करना बच्चन की काव्य की सबसे प्रमुख विशेषता है, और यही उनके व्यापक प्रभाव का मूल कारण है।

इस प्रकार बच्चन की कविता एकांत आत्मगत कविता है और उसका मुख्य विषय है मध्यमवर्गीय जीवन के घात-प्रतिघात। यह तो सर्वमान्य है कि व्यक्तिवादी कविता की जिस भावभूमि को बच्चन ने छुआ है वह अपने असामयिक अन्य कृतिकारों की अपेक्षा अधिक तलस्पर्शी एवं रागारूण है। यही कारण है कि बच्चन की लोकप्रियता व्यक्तिवादी कवियों में सर्वाधिक है और इसलिए बच्चन अपने समय की आवाज़ में बहुत ऊँचे रहे हैं। इनका व्यक्ति विद्रोही है और पराजय को स्वीकार नहीं करता है। अपने को कमज़ोर मानते हुए बच्चन को एहसास होता है—'तेरी गोदी में चिड़िया के बच्चे-सा, छिपकर सोया था।'<sup>17</sup>

और दूसरे ही क्षण कवि का अहं फिर गा उठता है—'मैं कल रात नहीं रोया था।'<sup>18</sup>

आत्मपराजय और आत्मग्लानि की अनुभूति जीवन की गति को अवरुद्ध कर देती है। व्यक्तिवादी स्वयं का गायक अपने स्वयं पर स्वयं भी अधिकार न रख पाया। उन्हें वह अंतिम उपहार के रूप में विश्व को समर्पित कर देना चाहता है। कवि संसार से विदा होते हुए पश्चाताप, विवाद और आत्मसन्देह की भावनाएँ लिए हुए मृत्यु की ओर उन्मुख होता है—

मेरा भार स्वयं लेकर के,  
मेरी नाव स्वयं खे करके,  
दूर मुझे रखते थे, श्रम से वे तो दूर सिधारे  
अब तो दुख के दिवस हमारे।<sup>19</sup>

कवि वयष्टि और समष्टि के संघर्ष से पीड़ित होकर अपने अंदर इतनी शक्ति एकत्र करता है, जिससे वह अपने हृदय से पुराना पृष्ठ पलटकर अपने एकाकीपन को गुनहगारी घोषित कर सके। स्वयं से निकलकर समाज के आर्लिगन में बँध जाने के लिए प्रेरित कर सके—

तू एकाकी तो गुनहगार तू अपने में ही हुआ लीन,  
बस इसलिए तू दृष्टिहीन, इससे ही एकाकी मलीन  
इससे ही जीवन ज्योति क्षीण, अपने से बाहर निकल देख  
है खड़ा विश्व बाहें पसार, तू एकाकी तो गुनहगार।<sup>20</sup>

अब स्वयं में वह इतना आत्मविश्वास अर्जित कर चुका है कि लौकिक व्यवहार की भी वह अपेक्षा नहीं करता। उसके लिए दूसरों द्वारा ग्रहण की हुई संवेदना का भार भी भारी हो उठा है—

क्या करूँ संवेदना लेकर तुम्हारी क्या करूँ?  
दूसरों की वेदना में वेदना जो है दिखाता  
वेदना से मुक्ति का निज, हर्ष केवल वह छिपाता  
तुम दुखी हो तो सुखी मैं, विश्व का अभिशाप भारी।<sup>21</sup>

बच्चन का जीवन-दर्शन सुस्थिर न रहकर गत्यात्मक अधिक है। उन्हीं के शब्दों में 'स्वयं को ही कांट्राडिक्ट' कर देने में मुझे कोई बुराई नहीं दिखती। पोएटिक माइन्ड केवल अनुभव करता है और अपने अनुभवों को शब्द के माध्यम से व्यक्त कर देता है।<sup>22</sup>

अतः बच्चन व्यक्तिवादी कवियों की कोटि में अपना नाम शीर्षस्थ रखने में फल हुए हैं। बच्चन ने अपने व्यक्तित्व के प्रत्येक पहलू पर अपनी कलम चलाई है। चाहे वह सुख का क्षण है या दुःख के, चाहे वह हार है या जीत, चाहे वह प्रेम है या विरह। बच्चन जीवन के हर पहलू को आधार बनाते हैं। सभी पर समानरूप से एवं उतने ही महत्व के साथ लिखते रहे हैं।

स्वच्छंदतावादोत्तर युग में निश्चित रूप से बच्चन ने अपने आपको एक व्यक्तिवादी कवि के रूप में स्थापित किया है। प्रत्येक कवि अपने पूर्व से कुछ न कुछ अर्जित करता है और भविष्य के लिए बीज रूप में कुछ न कुछ छोड़ता भी है। बच्चन ने यदि छायावादी कवियों की भावप्रवणता ग्रहण की तो अपनी स्पष्ट-सपाट भाषा में अपने भावों को वाणी देकर निश्चित रूप से प्रयोगवादी कवियों के लिए भूमि तैयार की। छायावादी कवियों की भाषा उन्हीं तक समाप्त हो गई लेकिन उनके भाव आनेवाले कवियों की आधार भूमि बने। बच्चन ने अपने भाव

और भाषा दोनों से प्रयोगवादी कवियों को प्रभावित किया। वैयक्तिकता यदि छायावादी कवियों की विशेषत थी वही वह बच्चन की प्राण बनी। व्यक्ति के सुख-दुःख, हार-जीत, प्रेम-विरह आदि को अपने अंदर टटोलते हुए बच्चन अपने निज को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि वे समाज के निजी हो जाते हैं। इसलिए बच्चन के काव्य को सफलता भी मिली है और लोकप्रियता भी।

### संदर्भ

1. रघुवंश (सं०) हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1858, पृ० 1
2. बच्चन, मिलन-यामिनी, पृ० 32
3. बच्चन, त्रिभंगिमा, पृ० 64
4. बच्चन, मिलन-यामिनी, पृ० 193
5. बच्चन, मधुशाला, पृ० 125
6. वही, पृ० 92-93
7. वही, पृ० 122
8. बच्चन, सोपान
9. जयप्रकाश भाटी, बच्चन का साहित्य : कथ्य और शिल्प, पृ० 147
10. बच्चन, एकांत संगीत, पृ० 125
11. वही, पृ० 80
12. नगेंद्र, आधुनिक हिंदी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० 82
13. बच्चन, सतरागिणी, पृ० 158
14. वही, पृ० 115
15. वही, पृ० 92
16. वही, पृ० 118
17. बच्चन, निशानिमंत्रण, पृ० 104
18. वही, पृ० 104
19. बच्चन, एकांत संगीत, पृ० 33
20. बच्चन, आकुल अंतर, पृ० 109
21. वही, पृ० 75
22. बच्चन, (सं० बाकेबिहारी भटनागर), बच्चन : व्यक्ति और कवि, पृ० 66

## ‘यह भी नहीं’ में चित्रित परिवार

अनुराधा गोस्वामी

शोधछात्रा (हिंदी) दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

किसी भी मानव समाज की सबसे महत्वपूर्ण आधारशिला परिवार है। यह समाज के अस्तित्व एवं उसकी निरंतरता के लिए अनिवार्य है। इसके माध्यम से समाज संतति द्वारा अपनी वंश-परंपरा को सुरक्षित रखता है। परिवार का महत्व सार्वभौमिक है। परिवार का प्रारंभ स्त्री-पुरुष के आपसी संबंधों से होता है, जिसका उद्देश्य अपनी वंश-परंपरा को सुरक्षित रखना है। इसके अतिरिक्त परिवार भावनात्मक संबंधों पर आधारित समाज की एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्राथमिक संस्था है।

परिवार को समाजशास्त्रियों एवं मनोवैज्ञानिकों ने विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया है। मेकाइवर और पेज के अनुसार—“परिवार एक ऐसा समूह है, जो सुनिश्चित और स्थायी यौन-संबंधों द्वारा परिभाषित किया जाता है, जो बच्चों के प्रजनन और पालन-पोषण के लिए अवसर प्रदान करता है। इसमें समपार्श्विक अथवा सहायक संबंधी भी हो सकते हैं, लेकिन इसका निर्माण पति-पत्नी के एक साथ रहने और बच्चों के साथ मिलकर एक विशिष्ट इकाई बनने से होता है।”

बर्गस एवं लाक ने ‘द फेमिली’ में लिखा है कि ‘परिवार ऐसे व्यक्तियों के समूह को कहा जा सकता है, जो विवाह, रक्त अथवा गोद लेने के संबंधों द्वारा सुसंगठित है।’ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि ‘पाँच वर्ष की अवस्था से पूर्व ही बालक अपने व्यक्तित्व और चरित्र को प्रमुख विशेषताएँ प्राप्त कर लेता है। किसी व्यक्ति के नैतिक दृष्टिकोण पर भी परिवार का ही सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। पारिवारिक जीवन में ही व्यक्ति को सहयोग, आत्मत्याग, मानव सेवा, विश्व बंधुत्व प्राणिमात्र से प्रेम आदि की शिक्षा मिलती है।’

इन परिभाषाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि परिवार मनुष्यों का वह समूह है, जिनमें स्त्री-पुरुष का यौन-संबंध समाज द्वारा विधिपूर्वक स्वीकार किया जाता है, जिनके द्वारा संतानोत्पत्ति होती है और जिन पर उनके लालन-पालन की जिम्मेदारी भी होती है। इस प्रकार परिवार सामाजिक संस्थाओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

### वैवाहिक जीवन में तृप्ति

वैवाहिक जीवन में सफलता पति-पत्नी के पारस्परिक प्रेम पर निर्भर है। प्रायः वैवाहिक जोड़े अपने विवाह से असंतुष्ट दिखते हैं। कोई भी विवाह एकबारगी सफल नहीं होता। धीरे-धीरे दंपतियों के बीच में प्रगाढ़ संबंध स्थापित होते हैं। और ऐसा भी हो सकता है कि समय बीतने के साथ-साथ उनके संबंध कमजोर हो जाएँ या टूट जाएँ। मनोवैज्ञानिकों ने विवाह

के तीन पक्ष बतलाए हैं : 1. शारीरिक संबंध 2. मानसिक संबंध 3. साहचर्य संबंध।

विवाह के लिए जोड़े में स्वभाव का सामंजस्य अपेक्षित है। स्वभाव के सामंजस्य का यह अर्थ कदापि नहीं होता कि दोनों के स्वभाव में एकरूपता हो, स्वभाव-भिन्नता हो सकती है। आवश्यकता यह है कि भावी दंपती की रुचि और स्वभाव में भिन्नता के बावजूद तालमेल बिठाना संभव हो ताकि बात-बात में टकराव की स्थिति उत्पन्न न हो। पति-पत्नी में अंतरंगता का तात्पर्य यह है कि उनके रुचि एवं स्वभाव में सामंजस्य हो, जहाँ स्वभाव की भिन्नता हो वहाँ वे एक-दूसरे के प्रतिद्वंद्वी नहीं, बल्कि एक-दूसरे के पूरक बनें।

यदि पति-पत्नी में कोई एक अंतर्मुखी प्रवृत्ति का हो, दूसरा बहिर्मुखी प्रवृत्ति का हो तो वे दोनों एक-दूसरे से टकराव की स्थिति में नहीं, अपितु एक-दूसरे के पूरक बन सकते हैं। अंतरंगता की मात्रा जितनी अधिक दंपती के बीच में बढ़ती जाती है, उतनी ही उनमें विवाह की सार्थकता बढ़ती जाती है। ठीक इसके विपरीत जब अंतरंगता की मात्रा घटने लगती है तो उसी अनुपात उनमें विवाह की निर्यकता का बोध बढ़ता जाता है। आज से पूर्व विवाह की सफलता वैयक्तिक रुचि एवं स्वभाव के सामंजस्य तक ही सीमित था, परंतु परिवर्तित सामाजिक एवं सांस्कृतिक वातावरण में सामंजस्य के आयाम भी विस्तृत हो गए हैं। आज सफल वैवाहिक जीवन के लिए यह भी आवश्यक है कि पति-पत्नी के वैश्विक दृष्टिकोण एक-दूसरे के विरोध में न हों अथवा उनमें एक-दूसरे के दृष्टिकोण के लिए अपेक्षित आदर व सम्मान हो। विशेषकर स्त्रीवादी युग में शिक्षित दंपतियों पर यह अवश्य लागू होता है। इसी स्थिति को मनोवैज्ञानिकों ने मनोवैज्ञानिक विवाह की संज्ञा दी है। इसलिए वैधानिक विवाह तथा मनोवैज्ञानिक विवाह में भारी अंतर होता है।

### ‘यह भी नहीं’ में चित्रित परिवार : एक विश्लेषण

#### सोहन का परिवार :

यह उपन्यास का प्रमुख परिवार है, जो समस्त उपन्यास में आरंभ से अंत तक होकर भी ‘नहीं’ है। शांता दिल्ली के एक कॉलेज में बी०ए० की छात्रा है जो अपने अँग्रेजी के अध्यापक सोहन के प्रति शारीरिक रूप से आकर्षित होती है और उसे अपने प्रेमजाल में फँसा लेती है तथा दोनों भागकर बंबई आ जाते हैं और वहाँ प्रेम-विवाह कर लेते हैं। उन दोनों के स्वभाव एवं विचार में गहरी असमानता है।

बंबई आने पर उनके परिवार के विघटन की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। उपयुक्त रोजगार न मिल पाना और हर समय रोजगार के लिए दमतोड़ मेहनत व तनाव सोहन को शारीरिक रूप से असुंदर बना देते हैं।

दूसरी ओर शांता परपुरुषों की ओर आकर्षित होने लगती है। जीत खोसला, दर्शन, विकास, मधु, प्रभाकर राय, प्रीतमलाल आदि पुरुषों के प्रलोभन में आ जाती है और निरंतर साहन की उपेक्षा एवं अवमानना करती है। शांता की इच्छाएँ सोहन की आर्थिक सीमाओं से परे होती हैं। पहले वे दोनों बोरावली की एक चाल में रहते हैं। शांता को वहाँ का वातावरण अप्रिय लगता है, क्योंकि चाल में गरीब लोग रहते हैं। शांता के दबाव में आकर सोहन उसे लेकर होटल ग्रीन के कमरा नं. 20 में रहने लगता है। उनको एक संतान का सुख टोनी उर्फ अनिल

अरोड़ा के रूप में मिलता है।

टोनी के थोड़ा बड़े होने पर शांता एक ट्रेवल एजेंसी में नौकरी करने लगती है, जिसके कारण वह अपने परिवार को पर्याप्त समय नहीं दे पाती है। वे खाना भी होटल का बना हुआ खाते हैं। पति-पत्नी में परस्पर संवाद भी निरंतर घटता जाता है। पारिवारिक खर्चों को लेकर उनमें लगातार खींचातानी रहती है। नियमित आमदनी न होने के कारण सोहन अपने पारिवारिक खर्चों को उठाने में असमर्थ है। “तुम्हारे जैसे निकम्मे आदमी के साथ रहकर औरत क्या एक चुहिया भी खुश नहीं रह सकती।”

शांता अपनी आर्थिक स्वतंत्रता का दुरुपयोग भी करती है और अपने अनेकानेक पुरुष मित्रों के साथ समय बिताती है। उन्हें अपना सेक्स-पार्टनर बनाती है। दूसरी ओर शांता सोहन से बच्चों की फीस, होटल के बिल, सिनेमा के टिकट, फ्लैट का किराया आदि पारिवारिक खर्चों को लेकर एवं टोनी की जिम्मेदारी को लेकर लड़ती-झगड़ती है। परिणामस्वरूप परिवार में कलह आरम्भ हो जाती है। शांता सोहन को ताना मारने लगती है। “तुम अच्छे पति हो, एक छोटी-सी गिरस्ती का बोझ नहीं उठा सकते। एक मैं और टोनी ही तो हैं। ऐसे लोग भी हैं, जो दस-दस बच्चों, बीवी, भाई, बहन और माँ-बाप का भी बोझ उठाते हैं।... और एक तुम हो जो मुझसे धेले-धेले का हिसाब करते हो। मेरी ही बारी सही, पर आज तुम्हीं टिकट ले आते तो क्या आसमान फट जाता?”

शीघ्र ही वे दोनों पति-पत्नी से रूम-पार्टनर बन जाते हैं। कालांतर में रूम पार्टनर से दो अजनबी बन जाते हैं। ऐसे में उनके बीच सेक्स संबंध भी समाप्त हो जाता है। इस प्रकार शांता सोहन से शारीरिक एवं मानसिक दोनों प्रकार के संबंध तोड़ लेती है। पारिवारिक कलह और तनाव से आजिज़ होकर सोहन शांता से अलग रहने का निर्णय करता है और फोन के द्वारा शांता को सूचित करता है। “आता तो तब, जब कहीं जाता” वह बोला था—“खैर, मैंने तुम्हें सिर्फ यह बताने के लिए फोन किया है कि मैंने अपने रहने का अलग इंतजाम कर लिया है। रोज़-रोज़ की किचकिच से मैं तंग आ गया हूँ और शायद तुम भी बहुत तंग हो। मैंने यह बेहतर समझा कि मैं तुम से दूर हो जाऊँ... हाँ, टोनी की फीस मैं उसके स्कूल पहुँचाता रहूँगा...।” घोर मानसिक व शारीरिक रूप से अतृप्ति का शिकार सोहन पहले मिस बिजलानी के प्रति आकर्षित होता है। उससे संपर्क साधना चाहता है, परंतु एकतरफ़ा प्रयास होने के कारण वह असफल होता है। तत्पश्चात् उसका अपने क्लाइंट हीरालाल की नाबालिग पुत्री से, जिसे वह ट्यूशन पढ़ाता था, प्रेम-संबंध स्थापित हो जाता है। क्योंकि मालती के पिता उसका विवाह आठवीं पास एक दूधिया से करना चाहते हैं, जिससे बचने के लिए अंततः वे दोनों भाग जाते हैं। इस प्रकार शांत सोहन का परिवार पूर्णतः बिखर जाता है।

### **पंकज का परिवार :**

पंकज और संतोष उपन्यास का दूसरा प्रमुख परिवार है। पंकज उत्तर प्रदेश का निवासी है। वह बंबई के जी०एन०के० कॉलेज में इतिहास का प्राध्यापक है। संयोग से वह उसी होटल के कमरा नं. 21 में रहता है जिसके बगल वाला कमरा शांता सोहन का है। शांता से अपने बड़े कुनबे का परिचय देते हुए कहता है। “वैसे बाकी परिवार काफी बड़ा है—माता-पिता, भाई,



ताऊ-चाचा, भतीजे-भतीजियाँ, भाँजे-भाँजियाँ... इतने कि हिसाब रखना मुश्किल है।”

शीघ्र ही पंकज को कॉलेज के सेक्रेटरी की सहायता से कपूर साहब के मकान में एक कमरा किराये पर मिल जाता है। वह अपनी पत्नी संतोष को गाँव से बंबई लाना चाहता है, परंतु पंकज के माता-पिता उसे भेजने को राजी नहीं होते हैं। पंकज नवविवाहित युवक है। उसका विवाह छः माह पूर्व ही हुआ था। गर्मियों की छुट्टियों में पंकज अपने माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध संतोष को बंबई ले आता है। “आखिर तुम बंबई आ ही गई।” “जब आप साथ लाने पर उतारू थे तो भला मैं कैसे न आती।” “क्यों...? तुम नहीं आना चाहती थीं क्या?” संतोष की आँखों में आँसू उमड़ आए—“मैं क्यों नहीं आना चाहती थी...।” इससे सिद्ध होता है कि पंकज व संतोष में पूर्ण सामंजस्य है और उनके बीच मनोवैज्ञानिक विवाह हुआ है।

संतोष कम पढ़ी-लिखी घरेलू महिला है। पंकज का व्यवहार संतोष के प्रति प्रेमपूर्ण रहता है। वह उसे यह आभास नहीं होने देता कि वह एक कम पढ़ी-लिखी ग्रामीण महिला है। वह संतोष को बंबई घुमाता है, अपना कॉलेज दिखाता है और अपने मित्रों, छात्रों से उसका परिचय कराता है। शीघ्र ही संतोष बंबई के वातावरण के अनुकूल ढल जाती है। संतोष शांता-सोहन के घर आती-जाती है। वे दोनों प्रायः उनके पारिवारिक तनाव को कम करने की कोशिश करते हैं, परंतु असफल रहते हैं। संतोष गर्भवती होने पर गाँव लौट जाती है। वह गाँव से ही अपने पति को प्रेमपूर्ण पत्र लिखती है। पंकज भी उन पत्रों को पढ़कर भावुक हो जाता है। अभी पंकज ने अपने पुत्र रानू को देखा नहीं है। लेकिन वह अपनी पत्नी संतोष का पत्र पाकर रानू की कल्पना की आँखें से देख लेता है। इससे एक भावुक पिता के दर्शन होते हैं। “रानू कैसा होगा? उसकी कल्पना में उसकी छोटी-छोटी आँखें, छोटी-सी नाक, पतले-पतले होंठ, छोटे-छोटे हाथ-पैर घूमने लगे।

इस प्रकार वह अपने पुत्र से भी भावनात्मक संबंध रखता है। “स्पष्ट है कि पति-पत्नी में पूर्ण अंतरंगता हो तो बौद्धिक स्तर का अंतर भी पति-पत्नी के बीच कटुता का कारण नहीं बनता है। “मेरा ख्याल है कि जीवन में संतुष्ट हुआ नहीं जाता, संतोष तलाशा जाता है। और तलाश सारी जिंदगी चलती रहती है। ” उक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है। पंकज अपनी पत्नी के प्रति प्रगाढ़ भावनात्मक संबंध रखता है।

### **भोलानाथ पाठक का परिवार :**

भोलानाथ पाठक उसी कॉलेज में इतिहास का प्राध्यापक है जहाँ पंकज पढ़ता है। वह भी उत्तर प्रदेश का निवासी है। उसका सम्पूर्ण परिवार गाँव में ही रहता है और वह बंबई के सांताक्रूज के एक लॉज में रहता है। वह विवाहित है। बारह वर्ष की अवस्था में उसका विवाह और 18 वर्ष की अवस्था में गौना हुआ था। विवाहोपरांत पाठक की शिक्षा निरंतर जारी रहती है। किंतु उसकी पत्नी की शिक्षा पारिवारिक दायित्वों के कारण तीसरी कक्षा के आगे नहीं होती है। बी०ए० के दिनों में ही वह दो बच्चों का पिता बन जाता है। वह प्राइवेट एम०ए० करता है और बंबई के जी०एन० के कॉलेज में प्राध्यापक नियुक्त हो जाता है। आर्थिक कठिनाइयों के कारण वह अपने परिवार को बंबई नहीं ला पाता है और इस प्रकार वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वैवाहिक जीवन में यौन-अतृप्ति से ग्रस्त हो जाता है। ‘डेढ़ साल के बंबई-निवास ने मेरे अंदर

एक अजीब-सा कांप्लेक्स भर दिया है। इस बीच छुट्टियों में कई बार घर गया हूँ और हर बार यह अनुभव किया है कि मुझमें और मेरी पत्नी में, मेरे बच्चों में एक खाई है, जो लगातार बढ़ती जा रही है।” पाठक का अपनी पत्नी व बच्चों के प्रति जो विकर्षण के जो कारण हैं, वे यथार्थ हैं, क्योंकि उसका विवाह बाल्यावस्था में हुआ है। विवाह दो बालकों के बीच में नहीं, वरन् दो वयस्कों में होता है। निस्संदेह अगर वयस्क होने पर पाठक विवाह करता तो अपनी रुचि के अनुसार ही करता। उसकी यह कामना अस्वाभाविक नहीं है।

पाठक गाँव/कस्बे का आदमी है, जो पढ़-लिखकर बंबई महानगर में नौकरी प्राप्त कर लेता है और उसका दिमाग सातवें आसमान पर पहुँच जाता है। उसे अपनी पत्नी और बच्चे लोमड़ी और छछूंदर लगते हैं। वह न पतिधर्म का पालन करता है और न पिता-धर्म का। अपने सहयोगी पंकज के यह कहने पर कि वह अपनी बीवी, बच्चों को भी बंबई शहर ले आए ताकि परिवार में स्नेह बना रहे तो पाठक कहता है कि ‘आपका मतलब है उस लोमड़ी को और उन छछूंदरों को यहाँ बुला लूँ?’ ऐसे में वह वेश्यागमन भी करता है और कॉलेज की छात्राओं की ओर लालसापूर्ण दृष्टि रखता है। इन्हीं छात्राओं में से एक एम०ए० की पूर्व छात्रा लक्ष्मी अय्यर उसके निकट आती है। वह एक समझदार एवं कलात्मक अभिरुचि वाली सुशील लड़की है। उसका यही गुण पाठक को आकर्षित करता है। पाठक की पत्नी सुंदर हो है, परंतु उसका बौद्धिक स्तर उससे निम्न है। वह लक्ष्मी की सुंदरता से नहीं, अपितु उसके गुणों से प्रभावित है। इस प्रकार उसे धीरे-धीरे अपनी पत्नी से घोर विकर्षण हो जाता है। अब वह छुट्टियों में भी घर जाना पसंद नहीं करता है। गर्मियों की छुट्टियों में वह लक्ष्मी के साथ दक्षिण भारत की सैर पर जाता है। इस प्रकार महानगरीय चमक-दमक उस पर पूर्णतः हावी हो चुकी है। अब वह अपने परिवार से मिलने से परहेज करता है। ‘मेरा बस चले तो मैं गर्मी की छुट्टियों में भी न जाऊँ।’ कॉलेज-प्रशासन पाठक के इस कृत्य को शिक्षक की चरित्रहीनता मानते हुए उसे सस्पेंड कर देता है। इसी बीच पाठक लक्ष्मी के साथ विवाह कर लेता है तथा उन्हें नाइजीरिया के एक कॉलेज में नौकरी मिल जाती है। वे दोनों वहीं चले जाते हैं। इस प्रकार वह अपनी पत्नी और बच्चों से पूर्णतः विलग हो जाता है। वह अपनी पत्नी को तलाक तो नहीं देता है, पर उसके भरण-पोषण का दायित्व निभाने की बात कहता है। लेकिन अपने मानसिक प्रेम से वंचित कर देता है। निष्कर्षतः, वह एक हृदयहीन पिता व पति होने का प्रमाण प्रस्तुत करता है।

### सुमी का परिवार :

सुमी जी०एन०के० कॉलेज में बी०ए० की छात्रा है, जहाँ पंकज प्राध्यापक है। उसका परिवार बंबई में रहता है। वह सुंदर एवं सुशील युवती है। उसका परिवार अत्यंत अभावग्रस्त है। अपने परिवार की दुर्दशा के बारे में वह पंकज को बताती है, ‘मेरे पिता जी पिछले दस सालों से थाना के मेंटल हास्पिटल में हैं।’

उसकी माँ पारिवारिक जिम्मेदारियों को वहन करती है तथा अपनी दो बेटियों को पाल रही है। इन्हीं परिस्थितियों में उसकी माँ एक अयोग्य पात्र से उसका विवाह तय कर देती है। जो दसवीं पास है और भोपाल के किसी फैक्ट्री में काम करता है। सुमी की माँ पंकज से अपनी पारिवारिक समस्याओं पर बात करती है। वह पंकज को बतलाती है कि ‘शादी तो इसकी

तभी पक्की कर दी थी, जब यह दसवीं में पढ़ती थी। पर सुमी ने आपको इस घर की सारी हालत तो बताई ही है।’ उसकी आँखें छलछला आई—‘मुश्किल से घर का गुजारा होता है।.. शादी के लिए रुपया कहाँ से लाऊँ? लड़केवाले पीछे पड़े हैं... जल्दी शादी करो।’

इस प्रकार सुमी के परिवार से पंकज की निकटता बढ़ती है। कॉलेज के दिनों में सुमी अपने अध्यापक पंकज की ओर आकर्षित होती है। पंकज भी बंबई महानगर में अकेला होता है। वह भी सुमी की ओर आकर्षित होता है। उनमें निरंतर हास-परिहास चलता रहता है। पंकज सुमी के घर आता रहता है। सुमी भी पंकज के घर जाती है। ‘मैं नहीं जानती कि मैं आपसे इतनी आत्मीयता क्यों अनुभव करती हूँ।’ उसकी आँखें सूख गई थीं और वह उनमें मुस्कराहट भरने की कोशिश कर रही थी—‘मैं आपको कितना तंग करती हूँ... आपसे लड़ती हूँ, पर आप सदा हँसते हुए मेरी बातें सह लेते हैं...। सर, आप मुझसे नाराज़ क्यों नहीं होते?’ ‘इसलिए... “वह हँसा—‘कि तुम एक अच्छी लड़की हो। तुम्हारा मन शीशे की तरह साफ़ है।’ पंकज-सुमी का यह आकर्षण मानसिक संबंध से आगे नहीं जाता है। ‘सर, कभी-कभी मैं अपने को बहुत बेसहारा महसूस करती हूँ... लगता है जैसे दुनिया में मेरा कोई भी नहीं है। परंतु जबसे आपके सम्पर्क में आई हूँ, लगता है, जीवन में बहुत दूर तक मुझे आपके सहारे की ज़रूरत पड़ेगी.. आप सहारा देंगे ना, सर!’ ‘हम सब बहुत अकेले हैं सुमी, और हम सब एक-दूसरे के सहारे की तलाश में हैं।’ सुमी पंकज से मानसिक प्रेम करने लगती है। यही कारण है कि बी०ए० पास कर जाने के बाद केवल इसलिए एम०ए० करना चाहती है ताकि उसका संपर्क पंकज से बना रहे। यह बात वह स्वयं पंकज के सामने व्यक्त भी करती है। ‘माँ चाहती है कि कहीं नौकरी कर लूँ। पर मैं आगे पढ़ना चाहती हूँ।’ ‘आगे क्यों पढ़ना चाहती हो?’ सुमी ने एक बार भरपूर नज़र से उसे देखा, फिर उसकी आँखें झुक गईं। उसके चेहर पर हल्की-सी मुस्कराहट आई—‘इसलिए कि आपसे संपर्क बना रहे।’ वह हँसा—‘यू सिली गर्ल, तुम आगे न भी पढ़ो तो भी सम्पर्क बना ही रह सकता है।’

### डॉ. प्रभातकुमार पांड्या का परिवार :

डॉ० प्रभातकुमार पांड्या गुजरात विश्वविद्यालय के प्रोफेसर हैं। वे ब्लड कैंसर के मरीज हैं और बंबई अस्तपाल में भर्ती हैं। उनकी पत्नी श्रीमती संध्या उनके साथ है। वही उनकी देखभाल करती है। डॉ. पांड्या एक प्रखर बुद्धिजीवी एवं एक प्रेमी पति हैं। संध्या भी एक अत्यंत समझदार एवं समर्पिता पत्नी है। उनमें परस्पर हास-परिहास चलता रहता है। श्रीमती पांड्या ने चाय के प्याले बीच की मेज़ पर रख दिए— ‘इस समय मैं दूध, चीनी, चाय और पानी का समन्वय करके लाई हूँ।’ ‘मेरा तुम्हारा भी तो समन्वय है।’ डॉक्टर पांड्या बोले—‘मैं हूँ प्रभात, तुम हो संध्या। पर भई, समन्वय का मतलब होता है समझौता।’ उपर्युक्त उद्धरण बतलाता है कि उक्त दंपती के मन में कहीं तनाव नहीं है।

संध्या उनकी बीमारी को लेकर पूर्ण सचेत है एवं उनसे मिलने-जुलने वालों का खुले हृदय से अतिथि सत्कार करती है। वह पंकज से बातचीत करती हुई कहती है कि जितने दिन जिएँ, जीवन का भरपूर आनंद उठाएँ। ‘तुम आ जाते हो तो उनका मन बहल जाता है। नहीं तो उनकी बीमारी की काली छाया चौबीस घंटे हम दोनों के बीच मँडराया करती है। मैं उनकी

यह बौद्धिक भूख शांत नहीं कर पाती, जिसकी उन्हें तलब रहती है।’

अपने पति की असाध्य बीमारी के बावजूद वह पारिवारिक वातावरण को गंभीर एवं अवसादपूर्ण नहीं होने देती है। पांड्या दंपती में पूर्ण सामंजस्य है। वे दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों में यह संबंध अंत तक बना रहता है। यही कारण है कि अस्पताल भी घर जैसा प्रतीत होता है। अंत में डॉ० पांड्या का देहांत हो जाता है और संध्या गुजरात वापस लौट जाती है।

### मालती का परिवार :

मालती सोहन के क्लाइंट हीरालाल की पुत्री है। हीरालाल बंबई में दूध का व्यापार करते हैं। मालती एस०एस-सी० पास किया है और वह आगे पढ़ना चाहती है। उसके पिता पुराने विचारों के व्यक्ति हैं और लड़कियों को ज्यादा पढ़ाने के पक्ष में नहीं हैं। सोहन के जोर देने पर वे मालती को पढ़ाने के लिए मान जाते हैं।

सोहन मालती को कॉलेज में दाखिला दिलाने के लिए पंकज के घर जाता है। अगस्त निकल जाने के कारण उसका दाखिला इस साल कॉलेज में नहीं हो पाता है। पंकज मालती को अंग्रेजी इम्प्रूव करन की सलाह देता है तथा अगले वर्ष कॉलेज में दाखिला दिलाने की बात भी कहता है। मालती के जोर देने पर सोहन उसे अंग्रेजी पढ़ाता है। सोहन को यह पता चलता है कि मालती के पिता ग्रामीण पृष्ठभूमि से जुड़े हैं। वे वर्षों बंबई महानगर में रहकर भी अपने आपको बदल नहीं पाए हैं। ‘मैं आगे पढ़ना चाहती हूँ, पर मेरे पिता जी को मेरी शादी की जल्दी पड़ी हुई है। आप जानते हैं, हमारे यहाँ लड़कियों को रामायण बाँचना आ जाए तो लोग समझते हैं। बस और पढ़ने की जरूरत नहीं है। मेरे पिताजी को बंबई में काम-रोजगार करते बीस बरस गुजर गए हैं। अम्माँ और हम भाई-बहन ज्यादातर गाँव में ही रहे। हमें गाँव से यहाँ आए भी पाँच-छह साल गुजर गए हैं। पर पिताजी रत्ती-भर नहीं बदले। धन उन्होंने काफ़ी कमा लिया है। हमें किसी तरह की तकलीफ़ भी नहीं है, पर ऐसा लगता है कि जैसे हम सब लोग अभी गाँव में ही रहते हैं— वही खाना-पीना, वही बातचीत, वही सोचना-विचारना।’

वे मालती का विवाह गाँव में ही एक आठवीं पास अयोग्य युवक से तय कर देते हैं। शहरी परिवेश से पली-बढ़ी मालती गाँव के एक अल्प-शिक्षित व्यक्ति से विवाह करना नहीं चाहती है ‘पिछले साल पिता जी गाँव गए और कोई लड़का देख आए थे। लड़का आठवीं तक पढ़ा है पर पिता जी के लिए सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि उसके बाप के पास पचास भैंसे हैं और गाँव में पक्का मकान है।’ और वह सोहन की ओर आकर्षित होती है। दोनों में प्रेम-संबंध स्थापित होता है। मालती अनमेल विवाह से बचना चाहती है तथा सोहन भी अपना पुनः घर बसाना चाहता है। अतः एक दिन वे घर से भाग जाते हैं।

### ‘यह भी नहीं’ में चित्रित परिवार : समस्याएँ

जहाँ तक परिवार के प्रकार्य का संबंध है ‘यह भी नहीं’ में राजनीतिक प्रकार्य को छोड़कर जैवकीय, मनोवैज्ञानिक सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक प्रकार्यों का चित्रण किसी न किसी रूप में हुआ है। मनोवैज्ञानिक प्रकार्य की दृष्टि से सोहन के परिवार में स्नेह, वात्सल्य, मनोभावनाओं की पूर्ति सुचारु रूप से नहीं हो पा रही है। जबकि पांड्या के परिवार में यह पूर्णतः कार्य कर रहा है। जहाँ तक आर्थिक प्रकार्य का संबंध है। सोहन की अनियमित

तथा अपर्याप्त आय परिवार में तनाव का प्रमुख कारक है। सोहन का परिवार सामाजिक गुणों के विकास की दृष्टि से अक्षम है। जैवकीय प्रकार्य के अंतर्गत आलोच्य परिवार में यौनसंतुष्टि संतान के लालन-पालन व मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति संतोषजनक ढंग से नहीं हो पा रही है।

समाजशास्त्रियों द्वारा वर्णित पारिवारिक विघटन के कारकों में राजनीतिक कारक को छोड़कर के अन्य कारकों का चित्रण-उपन्यासकार ने आलोच्य उपन्यास में किया है। किसी कानूनी प्रक्रिया द्वारा पति-पत्नी के बीच वैधानिक तलाक का कोई उल्लेख इस उपन्यास में नहीं मिलता है। सामाजिक कारक के अंतर्गत उपन्यासकार ने यह दिखलाया है कि आधुनिक मध्यवर्गीय परिवारों में यौन-नैतिकता के दोहरे मापदंड हैं। जीवनसाथी के चयन की स्वतंत्रता ने समाज में प्रेम-विवाह को बढ़ावा दिया है, लेकिन विचारों के असामंजस्य ने परिवार में तनाव की स्थिति उत्पन्न कर दिया है। आधुनिक कामकाजी स्त्रियाँ घर की चौखट में कैद रहकर बच्चों के लालन-पालन के दायित्व उठाना नहीं चाहती हैं। स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता ने उन्हें पुरुषों के समकक्ष खड़ा किया है लेकिन उनमें निरंकुशता भी आई है। उन्होंने इस नवअर्जित स्वतंत्रता का दुरुपयोग विवाहेतर संबंध स्थापित करने के लिए किया है। परिणामतः आज परिवार टूटने लगे हैं। दार्शनिक कारकों के अंतर्गत लेखक ने यह भी दिखलाया है कि व्यक्तिवादी, भौतिकवादी भोगवादी जीवन-दर्शन ने आज परिवार को विघटन के कगार पर ला खड़ा कर दिया है।

महज प्रेमविवाह/पारंपरिक विवाह पारिवारिक जीवन की सफलता की गारंटी नहीं है। यदि विवाहोपरांत पति-पत्नी अपने पारस्परिक संबंधों में सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाते हैं तो प्रेम विवाह भी टूट सकता है, और पारम्परिक विवाह भी। सोहन का प्रेम-विवाह टूटता है तो पाठक का पारंपरिक विवाह। दूसरी ओर पांड्या और पंकज का पारंपरिक विवाह कायम रहता है। यदि मालती तथा सुमी अपने मंगेतरों से विवाह करती तो संभावित जोड़े के बीच मतैक्य का अभाव उसके परिवार को विघटनगामी बना देता। वैवाहिक जीवन में संतोष उसी को मिलता है जो उसकी सार्थक चेष्टा करता है। उपन्यासकार ने अपने एक पात्र पंकज के मुख से कहलवाया है कि जीवन में संतुष्ट नहीं हुआ जाता है, संतोष तलाशा जाता है।

परिवार की सफलता के लिए पति-पत्नी के स्वभाव में सामंजस्य अपेक्षित है। यदि इनमें स्वभाव की भिन्नता हो तो भी वे परस्पर प्रतिद्वंद्वी न होकर पूरक बने। सोहन अंतर्मुखी प्रवृत्ति का है, और शांता का स्वभाव बहिर्मुखी है। लेकिन दोनों आपस में सामंजस्य नहीं बिठा पाते हैं। परिणामस्वरूप सोहन मौन की चादर ओढ़कर अपने दर्द को छिपाता है और शांता खुश-मिजाजी की हँसी का रंगीन आवरण डाल लेती है। अंतर क्या पड़ता है? कफ़न सफ़ेद हो या रंगीन लाश तो लाश ही रहती है। दोनों का पारिवारिक जीवन आनंदविहीन है और उनमें विवाह की निरर्थकता का बोध निरंतर बढ़ता ही जाता है। पांड्या दंपती में पति का बौद्धिक स्तर ऊँचा है, पत्नी का सामान्य। लेकिन उनमें पूर्ण अंतरंगता है। यही कारण है कि उन्हें पारिवारिक जीवन में परमानंद की प्राप्ति होती है। उनके पारस्परिक प्रेमपूर्ण व्यवहार से तो अस्पताल भी घर बन जाता है।

महानगरों में ऐसे मध्यवर्गीय परिवार हैं, जिनमें शांता जैसी कामकाजी स्त्रियाँ हैं, जो नौकरी से पैसा और प्रेमियों से प्रीति प्राप्त करके अपने प्रेमी-पतियों की निरंतर उपेक्षा एवं अवमानना करती हैं। उनके लिए पति उनकी जीवन-यात्रा में सीधी गाड़ी है और प्रेमीगण यात्रा

के बीच में बदलनेवाली गाड़ी है। संतान के प्रति पति का वात्सल्य भाव होते हुए भी पत्नी उसे घर से पलायन करने पर मजबूर कर देती है। शांता स्वच्छंद सेक्स एवं ग्लैमरयुक्त जीवन की अमित आकांक्षा रखती है। 'आमदनी अठन्नी और खर्चा रुपया' की मनोवृत्ति से ग्रस्त होते हुए भी वह सोहन से परिवार के समस्त खर्च उठाने वाले एक परंपरागत पति की अपेक्षा करती है। न तो उसके प्रेमीगण उसे अपनाते हैं और न वह किसी प्रेमी की हो पाती है। वह स्वयं को तथा अन्य पारिवारिक सदस्यों को तनाव एवं कुंठाग्रस्त कर देती है। बेबसी, निराशा, प्रवंचना, असहायता, क्षोभ, करुणा, विद्रोह की असंख्य मनोवृत्तियाँ उभरती हैं। अनियमित व अपर्याप्त आयवाला पति दबू बना रहता है और अपनी पत्नी के विवाहेतर संबंधों की अनदेखी करने पर मजबूर हो जाता है। परिवार में माता-पिता के बीच बढ़ती हुई दूरियों के साथ बालक टोनी बचपन में ही बड़ा हो जाता है। लेकिन वह अंदर ही अंदर सिमटता जाता है। जो यह पूछने पर कि 'क्या हाल है टोनी साहब' उत्तर में कहता है कि 'जी रहे हैं अंकल'। बालक टोनी हमें मन्नू भंडारी के 'आपका बंटी' की स्मृति करा देता है। पारिवारिक तनाव के औपन्यासिक विन्यास हेतु यह उपन्यास अविस्मरणीय है।

आज भी ऐसे परिवार हैं, जिनके परिवार के मुखिया अपने पुत्र-पुत्रियों का विवाह अवयस्क अवस्था में कर देते हैं, परंतु अपनी नवविवाहित बहुओं को प्रवास में भेजने को राजी नहीं होते और पंकज जैसे पुत्र मजबूरन अपने परिवारवालों को नाराज करके अपनी नौकरी की जगह ले जाता है। तभी तो पुत्र पंकज ने कहा है कि परंपरागत विवाह में लड़की का विवाह एक व्यक्ति से नहीं, बल्कि पूरे परिवार से होता है। महानगर में पंकज जैसा पति वैवाहिक जीवन में यौन-अतृप्ति का शिकार होता है। अगर उसका बायाँ पैर गाँव की पत्नी संतोष की ओर है तो दायाँ पैर महानगर की प्रेमिका शिष्या सुमी की ओर। फिर भी उसमें इतनी समझदारी है कि वह घर, गाँव, परंपरा मर्यादा का ध्यान रखता है। वह अपनी पत्नी का परित्याग करके प्रेमिका की ओर नहीं बढ़ता है; अपने परिवार को टूटने नहीं देता; पतिधर्म के साथ-साथ पिताधर्म का भी पालन करता है और अपने पुत्र के प्रति प्रगाढ़ वात्सल्य का भाव रखता है।

हमारे समाज में भोलानाथ पाठक जैसे गाँव कस्बे के आदमी हैं, जो पढ़-लिखकर किसी महानगर में नौकरी प्राप्त कर लेते हैं तो उनका दिमाग सातवें आसमान पर पहुँच जाता है और उन्हें अपने ही बच्चे लोमड़ी और छछूंदर लगते हैं, जो न पिता के धर्म का पालन करते हैं और न पति-धर्म का। वे शहरी संस्कृति की पृष्ठभूमि वाली लड़की की ओर आकर्षित होते हैं और उससे विवाह रचा लेते हैं। इसमें दोष माता-पिता का भी है, जो अपने बच्चे-बच्चियों के विवाह बालिग होने से पूर्व कर देते हैं और इस बात से अनभिज्ञ होते हैं कि इसके कितने घातक परिणाम उनकी अगली पीढ़ी यानी पोते-पोतियों एवं बहुओं को उठाने पड़ेंगे। आखिर उस परित्यक्ता बहुओं और बच्चों का दोष? इसमें सर्वाधिक दोष तो बालविवाह जैसी सामाजिक कुरीति का है, जो आज भी हमारे समाज में विद्यमान है। दुखी तो पाठक जैसे पुत्र भी हैं, जिनकी शादियाँ अबोध अवस्था में कर दी गई थीं। वे उन ग्लतियों का दंड सारे जीवन क्यों भुगतें, जो उनके माता-पिता ने किए हैं? वह ग्रामीण पृष्ठभूमि की पत्नी के साथ सामंजस्य बिटाने में स्वयं को असमर्थ पाता है और किसी शहरी पृष्ठभूमि वाली लड़की के साथ भरपूर जीने की लालसा रखता है। उसकी इस लालसा को अस्वाभाविक और अमनोवैज्ञानिक कदापि नहीं कहा जा सकता,

लेकिन यह भी सत्य है कि इनके बीच पिसती है निर्दोष पत्नी और उसके बच्चे।

तस्वीर का दूसरा रुख भी है। आज भी हमारे समाज में पांड्या जैसे परिवार भी हैं, जिनमें पति प्रखर बुद्धिजीवी हैं और पत्नी सामान्य ज्ञान रखने वाली। लेकिन उनमें पूर्ण सामंजस्य है। पति के असाध्य रोग से ग्रस्त होने के बावजूद उनके संबंधों में कहीं कोई तनाव नहीं है। मृत्यु ही केवल उनको अलग कर सकती है ऐसे पति-पत्नियों में पूर्ण अंतरंगता होती है।

आज भी महानगरों में भी मालती के पिता जैसे दकियानूसी लोग हैं, जो अपनी नाबालिग बेटियों को बारहवीं से ऊपर पढ़ने की अनुमति ही नहीं देते और धन-दौलत देखकर अपनी शहरी पृष्ठभूमि वाली पुत्री का विवाह ग्रामीण पृष्ठभूमि वाले अल्पशिक्षित युवक से कर देने पर उतारु हैं और अपनी नाबालिग बेटी को इस बलात्-विवाह से बचने के लिए अपने प्रेमियों के साथ घर से पलायन करने पर मजबूर कर देते हैं। संकट के समय थोड़ी-सी सहायता करने वाला उन्हें परम स्नेही जान पड़ता है चाहे उम्र में उनसे दुगना ही क्यों न हो। उनका यह कृत्य अत्यंत स्वाभाविक और मनोविज्ञान के सर्वथा अनुकूल है।

आज भी महानगरों में सुमी जैसी शिक्षित पीड़ित पुत्रियाँ हैं, जिनके माता-पिता नाबालिग अवस्था में ही (दसवीं पढ़ते समय) उनके जोड़े तय कर देते हैं और उनके बड़े होने पर आर्थिक तंगी के कारण उनका विवाह किसी कुपात्र के साथ कर देने को आमादा होते हैं। मजबूरन जो भी उनसे थोड़ी-सी भी हमदर्दी रखता है, चाहे उनके विवाहित शिक्षक ही क्यों न हों, उन्हें अपनी निजी समस्याएँ बताती हैं; अपना दिल दे बैठती हैं और अनुकूल प्रतिक्रिया न मिलने पर उनका भविष्य अधर में लटका होता है। इस प्रकार उपन्यासकार ने सुमी और मालती के माध्यम से शिक्षित लड़कियों के विवाह की समस्या का मार्मिक चित्रण किया है।

प्रस्तुत उपन्यास में वर्णित पारिवारिक जीवन अत्यंत सजीव एवं यथार्थ है। पाठक को ऐसा लगता है कि ऐसे परिवार हमने अपने आस-पड़ोस में, मोहल्ले में, शहर में देखे हैं, सुने हैं या हमने अपने परिवार में भोगा भी है। आलोचकों ने “यह भी नहीं” उपन्यास को महानगरीय परिवेश में मानवीय संबंध एवं मध्यवर्गीय मनोवृत्ति के संदर्भ में देखा है। यदि इसे पारिवारिक जीवन के संदर्भ में देखा जाता तो मेरा पूर्ण विश्वास है कि इसका मूल्यांकन कुछ और होता।

### संदर्भ

1. ग्रामीण तथा नगरीय समाजशास्त्र, पृ. 73
2. भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, पृ. 127
3. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, पृ. 175
4. भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, पृ. 118
5. सामाजिक संस्थाएँ, पृ. 122
6. भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, पृ. 179
7. भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, पृ. 111
8. भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, पृ. 111
9. सामाजिक विघटन, पृ. 99
10. सामाजिक विघटन, पृ. 99

11. यौन मनोविज्ञान, पृ. 220
12. डॉ. महीप सिंह : यह भी नहीं, पृ. 70
13. डॉ. महीप सिंह : यह भी नहीं, पृ. 14
14. डॉ. महीप सिंह : यह भी नहीं, पृ. 72
15. डॉ. महीप सिंह : यह भी नहीं, पृ. 41
16. डॉ. महीप सिंह : यह भी नहीं, पृ. 149
17. डॉ. महीप सिंह : यह भी नहीं, पृ. 98
18. डॉ. महीप सिंह : यह भी नहीं, पृ. 56
19. डॉ. महीप सिंह : यह भी नहीं, पृ. 56
20. डॉ. महीप सिंह : यह भी नहीं, पृ. 126
21. डॉ. महीप सिंह : यह भी नहीं, पृ. 165
22. डॉ. महीप सिंह : यह भी नहीं, पृ. 244
23. डॉ. महीप सिंह : यह भी नहीं, पृ. 164
24. डॉ. महीप सिंह : यह भी नहीं, पृ. 225
25. डॉ. महीप सिंह : यह भी नहीं, पृ. 225
26. डॉ. महीप सिंह : यह भी नहीं, पृ. 276
27. डॉ. महीप सिंह : यह भी नहीं, पृ. 276
28. डॉ. महीप सिंह : यह भी नहीं, पृ. 210
29. डॉ. महीप सिंह : यह भी नहीं, पृ. 211

□ सी-144, सौरभ विहार,  
दिल्ली 110044



## डॉ० रामकुमार वर्मा के नाट्य-साहित्य में सांस्कृतिक विचार

डॉ० सतीशकुमार चौहान

प्रवक्ता-हिंदी विभाग

आर०एन०कालेज, मुरादाबाद (उ०प्र०)

सामान्यतः व्यक्ति, परिवार, समाज एवं राष्ट्र के आत्मिक सदगुणों का आलोक, जिससे सबका विकास-पथ प्रशस्त होता है, संस्कृति है। इसी प्रकार मानव के वह आंतरिक गुण, भावना अथवा विचार-पद्धति संस्कृति है, जो मानव-समाज के प्रत्येक क्रियाकलाप तथा आचार-विचार को प्रभावित करती है। सम्यक् दृष्टि रूप में संस्कृति के बारे में कुछ निश्चित कहना असंभव सा है। अर्थात् परिभाषा के दृष्टिकोण से यह शब्द परिवेश के कारण विभिन्न देशों, कालों में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

‘संस्कृति’ शब्द संस्कृत भाषा का है। इसकी निष्पत्ति संस्कृत व्याकरणानुसार ‘सम’ उपसर्ग पूर्वक ‘डुकृ’ करणे धातु से वित्तन प्रत्यय करने पर हुई। अतः सम-कृति सम्यक् कृतिया ही संस्कृति है।

‘संस्कृति’ शब्द का संबंध ‘संस्कार’ शब्द से माना जाता है।

‘संस्कृति’ शब्द का अर्थ है—मलापनयन। जबकि ‘संस्कृति’ का अर्थ है—संस्कृत-शुद्ध करने की क्रिया।

आंग्ल भाषा में संस्कृति के लिए ‘कल्चर’ शब्द का प्रयोग किया जाता है। ‘कल्चर’ शब्द ‘एग्रीकल्चर’ अथवा ‘हॉर्टीकल्चर’ शब्द का एक अंश है। ‘कल्चर’ शब्द की सिद्धि लैटिन भाषा के ‘कोलरे’ धातु से हुई है। इस प्रकार आत्मिक शक्तियों का सर्वांगीण विकास करनेवाली प्रक्रिया विशेष का नाम ‘संस्कृति’ है।

संस्कृति के उपर्युक्त निष्पत्ति विषयक विवेचन के अतिरिक्त अनेक विद्वानों ने संस्कृति को व्याख्यायित एवं परिभाषित किया है। बृहत् हिंदी कोशकार का कथन है कि ‘संस्कृति सभ्यता का वह स्वरूप, जो आध्यात्मिक एवं मानसिक वैशिष्ट्य का द्योतक होता है।’<sup>2</sup> डॉ० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना का मत है कि ‘संस्कृति’ शब्द ‘कृ’ धातु से भूषण अर्थ में ‘सूट्’ का आगम करने पर बना है, जिसका अर्थ है—भूषणभूत सम्यक् कृति या चेष्टा। अतः जिन चेष्टाओं द्वारा मानव अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उन्नति करता हुआ लौकिक, परलौकिक धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनीतिक अभ्युदय के उपर्युक्त देहेद्रिय, मन, बुद्धि

अहंकारादि की भूषणभूत, सम्यक् चेष्टाओं एवं हलचलों को संस्कृति कहते हैं।<sup>13</sup>

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है—‘संस्कृति और सभ्यता में अंतर इतना है कि सभ्यता समाज की वाह्य व्यवस्थाओं का नाम है जबकि संस्कृति व्यक्ति के अंतर के विकास को कहते हैं।<sup>14</sup> डॉ० गुलाबराय संस्कृति के संबंध में कहते हैं—‘संस्कृति का संबंध संस्कार से है। जिसका अर्थ है—संशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना। संस्कार व्यक्ति के भी होते हैं और जाति के भी। किंतु जातीय संस्कारों को ही संस्कृति कहते हैं।<sup>15</sup>

राष्ट्रकवि दिनकर संस्कृति के विषय में अपने विचारों को इसप्रकार अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं—‘संस्कृति हमारी जिंदगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं। इसलिए जिस समाज में हम पैदा हुए हैं अथवा जिस समाज से मिलकर हम जी रहे हैं। यद्यपि अपने जीवन में हम जो संस्कार जमा करते हैं, वह हमारी संस्कृति का अंग बन जाता है और मरने के बाद हम अन्य वस्तुओं के साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी अपनी संतानों के लिए छोड़ जाते हैं। इसलिए संस्कृति वह चीज मानी जाती है, जो हमारे सारे जीवन को व्यापे हुए है तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभवों का हाथ है। यही नहीं बल्कि संस्कृति हमारा पीछा जन्म-जन्मांतर तक करती है।<sup>16</sup> पुनः दिवाकर जी संस्कृति की व्याख्या करते हुए कहते हैं—‘संस्कृति ऐसी चीज है, जिसे लक्षणों से हम जान सकते हैं परंतु उसकी परिभाषा नहीं दे सकते, कुछ अंशों में वह सभ्यता के भिन्न गुण है, अंग्रेजी में एक कहावत है कि सभ्यता वह चीज है, जो हमारे पास है, संस्कृति वह गुण है जो हमसे व्याप्त है।<sup>17</sup>

महर्षि अरविद संस्कृति-रूपों पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट करते हैं कि ‘ किसी जाति की संस्कृति उसकी जीवनविषयक चेतना की अभिव्यक्ति करती है। उसका एक रूप होता है विचार आदर्श, उर्ध्वमुख संकल्प और आत्मिक अभीष्टा दूसरा रूप है। सर्जनशील आत्म-अभिव्यंजना की शक्ति और गुणग्राही सौंदर्यबोध का, मेघा और कल्पना का, तीसरा होता है—गुणग्राही सौंदर्य रूप संघटन का।<sup>18</sup> संस्कृति व्यक्ति समाज को आपस में जोड़ती है। न कि तोड़ती है। यह किसी के ऊपर जबरदस्ती नहीं लादी जा सकती। श्रीमती इंदिरा गांधी का कथन है—‘संस्कृति ऐसी वस्तु नहीं, जो बाहर से थोपी जा सके, वरन् यह तो स्वतः जनमानस से ही उपजनी चाहिए।<sup>19</sup>

डॉ० भीष्म मखोजा संस्कृति को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं—‘सम’ उपसर्ग के सथ संस्कृत की ‘कृ’ धातु से निष्पन्न संस्कृति शब्द का अर्थ है, परिष्कार, संस्कार अथवा परिमार्जन संस्कृति जीवन की एक ऐसी विकासशील प्रक्रिया है, जो मानव-जीवन को सुंदर, स्वस्थ, संतुलित तथा उन्नत बनाती है यह सूक्ष्म जीवनबोध है। यह मानव-जीवन की आचार संहिता है, जो मनुष्य को इहलोक-परलोक के लिए परिष्कृत करती है।<sup>20</sup>

डॉ० रामकुमार वर्मा का संस्कृति के विषय में अभिमत है—‘मैं संस्कृति को किसी देश विशेष या जाति विशेष की अपनी मौलिकता नहीं मानता। मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों की एक ही सामान्य मानव-संस्कृति हो सकती है।<sup>21</sup> एकांकीकार डॉ० वर्मा संस्कृति को किसी परिभाषा में बाँधना नहीं चाहते। अपितु वे मानव-संस्कृति के पोषक प्रतीत होते हैं, जिसको वे अपनी रचना ‘साहित्य-चिंतन’ में इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं—‘मानव-संस्कृति का विकास शताब्दियों से दो शक्तियों में प्रेरित होता रहा है। बुद्धितत्त्व और भावना-तत्त्व ... भावना तत्त्व

मानव को सहृदयता प्रदान करती। इस सहृदयता से उसने काव्य, संगीत, नृत्य, नाटक, चित्र और मूर्ति तथा अनेकानेक भावना-प्रवण शिल्पों का निर्माण किया।<sup>12</sup>

उपर्युक्त संस्कृति संबंधी व्याख्याओं एवं परिभाषाओं के निष्कर्ष में कहा जाता है कि प्रत्येक देश की अपनी संस्कृति होती है। अपनी सांस्कृतिक विरासत होती है। वहाँ के निवासियों की अपनी चिंतन प्रणाली होती है आध्यात्मवाद, जन्म-जन्मांतरवाद, अनेकता में एकता, कर्मफल, परोपकार, अहिंसा, सर्वात्मवाद आदि भारतीय संस्कृति के कतिपय मूल सिद्धांत हैं। किसी भी देश का साहित्य वहाँ की सांस्कृतिक-चेतना का दर्पण होता है। पद्मभूषण डॉ० वर्मा के नाटक भी इस तथ्य के अपवाद नहीं हैं।

प्रख्यात एकांकीकार डॉ० वर्मा के भारतीय वाङ्मय के गहन अध्ययन का प्रतिफल है कि उनका संपूर्ण नाट्य-साहित्य भारतीय इतिहास और संस्कृति को उजागर करता है। वर्मा जी भारतीय संस्कृति के रक्षक, भारतीय जीवन के अमर गायक और व्याख्याता हैं। उनके शब्दों की टंकार में सत्य, अहिंसा का उद्घोष है। अभिव्यक्ति में देवत्व पर मानवत्व की विजय, वर्ग-भेद और जाति-भेद को मानवत्व की वेदी पर न्योछावर करनेवाले डॉ० वर्मा 'जय वर्धमान' में कहते हैं—'महावीर वर्धमान वास्तव में इतने कष्ट-सहिष्णु और लोक-कल्याण के क्रियाशील क्रांतिकारी थे कि उनसे किसी भी महापुरुष की तुलना अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिगृह और ब्रह्मचर्य जैसे महान व्रतों से उन्होंने मानव-जीवन को वास्तविक संबोधि प्रदान की। एक ओर संसार के चरम आकर्षणों से विरक्ति और दूसरी ओर सत्य और अहिंसा के लिए कठोरतम कष्ट सहन करने की क्षमता अन्य किसी साधक में संभव हो सकती है। मानवतावादी दृष्टिकोण उनके समक्ष इतना प्रखर था कि उसमें वर्गवाद और जातिवाद के लिए कोई स्थान नहीं था।

डॉ० वर्मा के उक्त सांस्कृतिक विचार का कथन प्रस्तुत है—'विजय... वृक्षों में चेतना है, जीवन है, वे फूलते हैं, उन पर प्रहार करोगे तो हिंसा होगी। यदि लक्ष्य-बेध करना है तो जड़ पदार्थों पर करो, जिनमें चेतना नहीं है।'<sup>13</sup>

इसी प्रकार आत्मविश्वास जिसके रोम-रोम में दृढ़तापूर्वक झलकता है यह भारतीय ज्ञान का अक्षय स्रोत तथा मानवता का प्रतीक है। डॉ० वर्मा मानव-संस्कृति को समर्थन देते हैं। देखिए उनके तत्संबंधी विचारों की एक झलक, जिसमें भारतीय संस्कृति की वाणी काश्रृंगार है।

'वर्धमान : पिताजी! इसे मैं अपनी विजय नहीं मानता। यदि इंद्रगज के स्थान पर आसव-रहित गज पर विजय हो तो मैं अपनी विजय मानूँगा। शील, अहिंसा, त्याग और जागरूकता उस गज के पैर हों, श्रद्धा उसकी सूँड हो, अपेक्षा उसके दाँत हों, स्मृति ग्रीवा हो, प्रज्ञा सिर हो और विवेक उसकी पूँछ हो। ऐसे गज पर विजय प्राप्त कर सकूँ तो मेरी वास्तविक विजय हो।'

इस प्रकार 'जय वर्धमान' की आधारशिला भारतीय चेतनावादी है, जिससे अध्यात्मिक और मानवीय संस्कृति का अपूर्व सामजस्य उभरकर आया है।

डॉ० वर्मा के शब्दों के अर्थ परिवर्तन से भारतीय सांस्कृतिक चेतना को एक नवीन परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। वर्मा जी ने भारतीय संस्कृति अहिंसा को साकार रूप में ढालने के लिए स्व-विचारों को कुछ इस रूप में शब्ददान दिए हैं—'वे तो सिद्धार्थ यह

खोजते हैं कि किस लता में सबसे सुंदर फूल खिलते हैं, किस पंछी की बोली सबसे मीठी है और किस सरोवर में कितने रंगों के फूल खिलते हैं। यह आखेट है।<sup>14</sup>

डॉ० वर्मा रूढ़िवादी परंपराओं को मानव विकास में बाधक मानते हैं। इनसे मानवतावाद धराशायी होता है। इस प्रकार की रूढ़ियों का विरोध करते हैं। यथार्थ संस्कृति अथवा संस्कार की स्थापना करना चाहते हैं। यथा—‘हुसैनी हाय! हाय! अगर लड़का बुरी साइत में पैदा हुआ तो इसमें बेचारे लड़के का कौन दोष?’<sup>15</sup>

इस स्थल पर वर्माजी उस रूढ़ि का विरोध प्रकट करना चाहते हैं जिससे संत तुलसीदास के अभुक्तमूल नक्षत्र में पैदा होने पर बालक रामबोला को अभागा घोषित कर दिया जाता है।

भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है—मुक्ति। अर्थात् आनंद की खोज। इससे संबंधित विचार डॉ० वर्मा अपनी नाट्य रचना ‘कला और कृपाण’ में उदयन के द्वारा इस प्रकार व्यक्त करते हैं—‘और यौगंधरायण! इस वृक्ष पर कितने पक्षी निवास करते हैं। वायुमंडल की असंख्य प्रजा। कितने मधुर कंठ से कलरव करते हैं, जैसे मेरी हस्तिस्कंद वीणा एक-एक पक्षी के कंठ में निवास कर रही है। इस विशाल परिवार के जीवन में कितनी स्वच्छंदता है। ऊपर मुक्त आकाश है, जो स्वयं वटवृक्ष सा है, जिस पर संध्या समय राशि-राशि तारक समूह अपना नीड़ बनाकर विश्राम करते हैं। मैं भी इन्हीं पक्षियों में से कोई पक्षी होता, किसी भी शाखा पर नीड़ बनाकर रहता, कंठ की वीणा पर हृदय का आनंद गुंजरित करता और मुक्त आकाश के हृदय में आकाश-गंगा की भाँति अपनी स्वर-लहरी प्रवाहित कर देता।’<sup>16</sup>

‘कला और कृपाण’ नाटक में इस प्रकार नाटककार ने यह दर्शाया है कि उदयन जिस आनंद की खोज करता है वही भारतीय संस्कृति का मूल-मंत्र है। ‘संघम् शरणं गच्छामि, बुद्धं शरणं गच्छामि’ में भारतीय संस्कृति का मूल उद्घोष भरकर नाटककार ने हिंसा को अहिंसा की वेदी पर न्योछावर कर दिया।

भारतीय संस्कृति में हृदय-परिवर्तन एक आदर्श रहा है। वशिष्ठ के द्वारा विश्वामित्र का हृदय-परिवर्तन और बुद्ध के द्वारा अंगुलिमाल का हृदय-परिवर्तन, इस प्रकार के अनेक उदाहरण भारतीय इतिहास एवं जीवन में देखने को मिलते हैं।<sup>17</sup> यही है भारतीय संस्कृति का उच्चादर्श। इसी उच्चादर्श संबंधी डॉ० वर्मा के विचारों पर एक दृष्टि डालें—

‘तथागत : नहीं, अंगुलिमाल। यह अवर्तनी विद्या नहीं है। मुझे सम्यक् दृष्टि प्राप्त हुई है, मेरे मन में शुद्ध संकल्प है, मेरे मन में विश्वमैत्री है, मैं मित्भाषी हूँ। अपनी काया का नाश करता हूँ। विवेक जाग्रत करता हूँ। सम्यक् समाधि में शांति अनुभव करता हूँ। ... मैत्री, करुणा आदि मनोवृत्तियों से चित्त एकाग्र करो, अंगुलिमाल। चित्त एकाग्र होने से तुम्हें शांति प्राप्त होगी।

18

यही है भारतीय जीवन का आदर्श और भारतीय संस्कृति का मूल-मंत्र।

डॉ० वर्मा की नाट्य-रचना ‘संत तुलसीदास’ में प्रत्येक स्थल पर मानवीय संस्कृति का उत्थान-पतन देखा जा सकता है। वर्मा जी ने भारतीय संस्कारों के संस्कृति-रूपी विचारों को नरहरिदास के शब्दों में इस प्रकार प्रकट किया है—‘... सब बच्चे एक ही धर्म के हैं। भगवान के रूप हैं। फिर मैं इसका विधिवत् संस्कार करूँगा, इसको लिखाऊँगा, फिर इसे आचार्य शेष

संतान को सौंप दूँगा। इस बालक में विशेष प्रतिभा है। इसलिए यह पुराण, आगम और निगम जल्दी पढ़ जाएगा। श्री रामायण की शिक्षा तो इसे मैं स्वयं दूँगा।<sup>19</sup>

भारतीय संस्कृति का प्रधान अंग रहा है—नारियों का आदर्श, त्यागपूर्ण बलिदान और सतीत्व की रक्षा इसकी एक झलक दृष्टिगत है—‘प्रताप...नारियों ने जौहरवृत में अपने शरीर को अग्निकुंड में होम कर दिया और अपने सम्मान को सुरक्षित रखा।<sup>20</sup>

भारतीय संस्कृति का यह उच्चादर्श रहा है कि माता और मातृभूमि को समान आसन प्रदान किया है। भारतीय संस्कृति का अमर वाक्य है— ‘जननी जन्मभूमिश्चस्वर्गादपि गरीयसि’।

देश सीमा में रहनेवाला एवं सच्चा राष्ट्रवादी राष्ट्र-प्रेमी, चाहे वह छोटा हो अथवा बड़ा, अमीर हो या गरीब जन्मभूमि के लिए अपने प्राणों की आहूति देने को सदैव तत्पर रहता है। यही रूप रहा है हमारी संस्कृति का। वर्माजी इस संबंध में अपने विचारों को विस्तार देते हुए भील सरदार राणाप्रताप के द्वारा कहलवाते हैं—‘मैं भील सरदार हूँ। मेवाड़ हमारी मातृभूमि है। मैं आज इस बात की प्रतिज्ञा करता हूँ कि हम सब भील मिलकर अकबर बादशाह के किसी भी प्रकार के आक्रमण का सामना करेंगे। प्राण रहते मेवाड़ का छत्र किसी भी प्रकार झुकने न देंगे।<sup>21</sup>

डॉ० वर्मा के गंगा-जमुनी संस्कृति के पोषक-संबंधी विचारों की बानगी तब तक दृष्टिगत होती है जब तक अँग्रेज़ भारतीय सैनिकों को सूअर और भैंस की चर्बी-युक्त कारतूस देते हैं और युद्ध के समय जिनका प्रयोग करने के लिए उनको खोलने के लिए दाँतों की सहायता लेनी पड़ती है।

‘भोलाराम : ... इज्जत सही-सलामत नहीं रही। धर्म-पालन के लिए जिस सेना को जलील किया गया, वह हमारा ही धर्म है। अगर धर्म के पीछे उनका अपमान हुआ है तो हम समझेंगे कि हमारा ही अपमान हुआ... स्वधर्म पर तो वह अपना बलिदान कर सकता है।<sup>22</sup>

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि पद्मभूषण डॉ० रामकुमार वर्मा ने अपने संस्कृति-संबंधी विचारों के माध्यम से निद्रालस भारतीय संस्कृति को जगाकर भारतीयों में नवीन प्राण-संचरण करने का अभिनव प्रयास किया है। एक नूतन उद्बोधन दिया है। उनके संस्कृति विचार-पुष्प हमारी संस्कृति के लिए गौरव ही नहीं, वरदान भी हैं।

### संदर्भ

1. दिव्यावदान में संस्कृति का स्वरूप, पृ० 15
2. वृहत हिंदी कोश, पृ० 1178
3. ध्रुवस्वामिनी में कला संस्कृति-दर्शन, पृ० 117
4. विचार और वितर्क, पृ० 181
5. संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 653
6. हमारी सांस्कृतिक एकता, पृ० 1
7. अरविंद ने कहा था, पृ० 156
8. इंदिरा गांधी ने कहा, पृ० 170
9. वृंदावनलाल वर्मा के उपन्यास और लोकचेतना, पृ० 76
10. डॉ० वर्मा की साहित्य-साधना, पृ० 178

11. साहित्य-चिंतन, पृ० 24
12. जय वर्धमान, पृ० 67-68
13. भगवान बुद्ध, पृ० 6
14. संत तुलसीदास, पृ० 15
15. कला और कृपाण, पृ० 250
16. दृष्टव्य-नाटककार डॉ० रामकुमार वर्मा, पृ० 30
17. वही
18. डॉ० रामकुमार वर्मा नाट्य रचनावली, खंड-2
19. संत तुलसीदास, पृ० 32
20. महाराणा प्रताप, पृ० 25
21. वही, पृ० 25
22. जयभारत, पृ० 53

## क्षेत्रीय असमानता एवं भारतीय अर्थव्यवस्था

सीमा गोयल, अर्थशास्त्र प्रवक्ता

ए०पी०जे० कन्या महाविद्यालय, चरखी दादरी (भिवानी)

प्रस्तुत शोधपत्र भारत की प्रमुख समस्या क्षेत्रीय असमानता पर प्रकाश डालता है। भारतीय अर्थव्यवस्था एक विकासशील अर्थव्यवस्था है। जो अपने विकास के लिए निरंतर प्रयत्नशील है। बेरोज़गारी, निर्धनता, सामाजिक अन्याय, क्षेत्रीय असंतुलन आदि भारत के विकास से संबंधित महत्वपूर्ण समस्याएँ हैं। भारत जैसे अविकसित देश के लिए असंतुलित क्षेत्रीय विकास आर्थिक प्रगति के मार्ग में मुख्य बाधक है। भारत के कुछ क्षेत्र तो अधिक विकसित हैं तथा कुछ क्षेत्र पिछड़े हुए हैं। विकसित राज्यों तथा गरीब या पिछड़े राज्यों में बढ़ता आय का स्तर चिंता का विषय है।

भारतीय अर्थव्यवस्था एक संघात्मक अर्थव्यवस्था है, जिसमें 28 राज्य व 7 केंद्र शासित प्रदेश हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था के संतुलित आर्थिक विकास के लिए इन सभी प्रदेशों का आर्थिक विकास आवश्यक है, लेकिन आर्थिक नियोजन के 59 वर्षों के बाद भी भारतीय अर्थव्यवस्था का संतुलित क्षेत्रीय विकास नहीं हो पाया है।

### भारत में क्षेत्रीय असमानता की स्थिति :

भारत में क्षेत्रीय असमानता कई पहलुओं से देखी जा सकती है।

### प्रति व्यक्ति आय :

भारत के विभिन्न राज्यों की प्रति व्यक्ति आय की स्थिति देखने से स्पष्ट है कि भारत में क्षेत्रीय असमानता बनी हुई है। जैसा कि तालिका से स्पष्ट है।

### विभिन्न राज्यों की प्रति व्यक्ति आय

राज्य	प्रति व्यक्ति आय (रुपये प्रतिवर्ष)
गोआ	1,05,582
हरियाणा	58,531
पंजाब	44,923
बिहार	11,135
मध्य प्रदेश	18,051
उत्तर प्रदेश	16,060

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण (2009-10)

तालिका से स्पष्ट है कि कुछ राज्यों में प्रति व्यक्ति आय बहुत अधिक है व कुछ में बहुत

कम। बिहार, मध्यप्रदेश आदि राज्यों की प्रति व्यक्ति आय गोआ, पंजाब, हरियाणा आदि राज्यों की तुलना में काफी कम है।

#### कृषि :

भारत में विभिन्न प्रदेशों का कृषि उत्पादन के विकास में भी अलग-अलग योगदान है।

#### खाद्यान्नों के उत्पादन का प्रादेशिक स्वरूप

राज्य	खाद्यान्नों का उत्पादन (लाख टन में)
उत्तर प्रदेश	421.0
पंजाब	268.2
हरियाणा	183.3
केरल	15
गुजरात	55.6
उड़ीसा	68.3
तमिलनाडु	108.5

स्रोत: आर्थिक सर्वेक्षण 2008-09

तालिका से स्पष्ट है कि कुल अनाज में सबसे अधिक योगदान उत्तरप्रदेश का है। इसके बाद दूसरा स्थान पंजाब का है तथा हरियाणा का योगदान भी भारत के कई बड़े राज्यों से अधिक है।

#### औद्योगिक विकास :

भारत में औद्योगिक विकास में सबसे अधिक योगदान महाराष्ट्र का है। देश की 13.3: फैक्ट्रियाँ महाराष्ट्र में हैं। देश की फैक्ट्री उत्पादन का 19.6: भाग महाराष्ट्र में है। भारत के पाँच राज्यों—महाराष्ट्र, गुजरात, तमिलनाडु, पश्चिमी बंगाल और आंध्रप्रदेश में औद्योगिक विकास सबसे अधिक रहा है तथा औद्योगिक विकास की दृष्टि से बिहार का भाग सबसे कम है।

#### साक्षरता दर :

भारत के कुछ राज्यों की तुलना में साक्षरता दर भी अधिक है। साक्षरता दर से मानवीय साधनों के गुणों का पता चलता है तथा मानवीय साधनों के गुण आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। कुछ चुने हुए राज्यों की साक्षरता दर तालिका से स्पष्ट है।

#### राज्यों की साक्षरता दर (प्रतिशत में)

राज्य	साक्षरता दर
केरल	90.9
बिहार	47.0
मिजोरम	88.8
उत्तर प्रदेश	56.3
गोआ	82.0
उड़ीसा	63.1

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण 2006-07

तालिका से स्पष्ट है कि केरल, मिजोरम, गोवा में साक्षरता दर अधिक है तथा बिहार,



उत्तर प्रदेश, झारखंड में कम है।

भारत में प्रादेशिक विकास का स्वरूप काफी असमान है। एक ओर कुछ प्रदेश जैसे पंजाब, महाराष्ट्र, गुजरात, हरियाणा, तमिलनाडु व आंध्रप्रदेश हैं, जो निरंतर विकसित हो रहे हैं इसके विपरीत कुछ प्रदेश जैसे बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश हैं, जो औद्योगिक व कृषि उत्पादन की दृष्टि से पिछड़े हैं।

अतः स्पष्ट है कि भारत के आर्थिक विकास में क्षेत्रीय असमानता एक गंभीर समस्या है। इस समस्या के कारणों पर विचार करने पर कई पहलू हमारे सामने आते हैं जैसे स्वतंत्रता से पूर्व अंग्रेजी सरकार ने उन्हीं राज्यों के विकास पर जोर दिया जिनका विकास उनके व्यापार के लिए जरूरी था। उन्होंने महाराष्ट्र, पश्चिमी बंगाल, कलकत्ता, बंबई व मद्रास में ही औद्योगिक इकाइयों की स्थापना की तथा अन्य राज्यों के विकास की तरफ ध्यान नहीं दिया। स्वतंत्रता के बाद पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत वित्तीय साधनों का आबंटन विभिन्न राज्यों की आवश्यकताओं के अनुसार नहीं किया गया। बिहार, उड़ीसा, उत्तरप्रदेश, राजस्थान आदि राज्यों को कम वित्तीय साधन मिले, जबकि दूसरी तरफ पहले से विकसित राज्यों को प्रति व्यक्ति अधिक वित्तीय साधन मिले तथा इसके कारण भी क्षेत्रीय असमानता को बढ़ावा मिला। इसके अतिरिक्त कुछ प्राकृतिक कारण भी इसके लिए उत्तरदायी हैं। हरियाणा, पंजाब की अनुकूल भौगोलिक व भौतिक स्थितियों के कारण ये राज्य आज विकसित राज्यों में आते हैं, जबकि राजस्थान, मध्यप्रदेश जैसे सूखाग्रस्त राज्य कम विकसित राज्यों की श्रेणी में आते हैं। पिछड़े राज्यों की सरकारें भी अपने राज्यों के विकास की तरफ ध्यान नहीं दे रही हैं। दूसरी तरफ महाराष्ट्र, पंजाब, हरियाणा, गुजरात, कर्नाटक की राज्य सरकारें अपने राज्यों के विकास की ओर पूरा ध्यान दे रही हैं।

इन सब कारणों पर गौर करने के बाद आवश्यकता है—क्षेत्रीय असमानता को दूर करके देश का विकास करने की। इसके लिए सरकार को चाहिए कि पिछड़े क्षेत्रों के विकास के लिए अलग से रणनीति बनाए तथा पिछड़े राज्यों में लघु व कुटीर उद्योगों के विकास पर विशेष ध्यान दें। पिछड़े क्षेत्रों में कृषि के विकास के लिए इन क्षेत्रों को अच्छी किस्म के बीज व खादें रियायती दर पर उपलब्ध कराई जाएँ। पिछड़े क्षेत्रों में निवेश करने के लिए वित्तीय संस्थाओं व बैंकों द्वारा रियायती दरों पर ऋण उपलब्ध करवाए जाने चाहिए।

सरकार द्वारा क्षेत्रीय असमानता को दूर करने के लिए अनेक प्रयास किए भी जा रहे हैं जैसे सार्वजनिक क्षेत्र के वित्तीय संस्थान जैसे भारतीय लघु औद्योगिक विकास बैंक, भारतीय औद्योगिक वित्त निगम, राज्य वित्त निगम आदि ने पिछड़े क्षेत्र के उद्यमियों को रियायती दर पर ऋण उपलब्ध करवाए हैं। केंद्र सरकार ने पहाड़ी इलाकों व सूखा क्षेत्रों के विकास के लिए विशेष योजनाएँ भी बनाई हैं।

सरकार ने ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना में 25711 करोड़ रुपए अधोसंरचना के विकास के लिए खर्च करने की योजना बनाई है।

सरकार के अनेक प्रयासों व उपायों के बावजूद भारत में क्षेत्रीय असमानता बहुत अधिक है, जो प्रदेश पहली पंचवर्षीय योजना में पिछड़े थे, वे दसवीं पंचवर्षीय योजना के बाद भी पिछड़े हुए हैं। जैसे बिहार, उड़ीसा, राजस्थान, झारखंड अब भी पंजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र, गुजरात की तुलना में पिछड़े हैं।

अतः देश का औद्योगिक विकास व प्रादेशिक विकास असंतुलित तथा असमान है।

#### संदर्भ

1. रुद्रदत्त एवं सुंदरम्, के.पी.एम., भारतीय अर्थव्यवस्था
2. बी०सी० सिन्हा, आर्थिक संवृद्धि और विकास
3. एस०के० मिश्र, बी०के० पुरी, भारतीय अर्थव्यवस्था
4. कोठारी, मिश्रा एवं साहू: उद्यमिता विकास
5. आर्थिक सर्वेक्षण 2009-10, वित्त मंत्रालय भारत सरकार, नई दिल्ली
6. आर्थिक सर्वेक्षण 2008-09, वित्त मंत्रालय भारत सरकार, नई दिल्ली
7. आर्थिक सर्वेक्षण 2006-07, वित्त मंत्रालय भारत सरकार, नई दिल्ली
8. प्रो० मंगल, प्रो० गुप्ता एवं प्रो० नंदिनी भारत : व्यावसायिक वातावरण

## भारत में भ्रष्टाचार : कारण एवं निवारण

मनजीता

प्रवक्ता राजनीति विज्ञान

ए०पी०जे० कन्या महाविद्यालय, चरखी दादरी

भारत में भ्रष्टाचार आज की समस्या नहीं है बल्कि प्राचीनकाल से चली आ रही प्रथा है, जो कि मानव सभ्यता के साथ-साथ विकसित हुई है। भारत के इतिहास में भ्रष्टाचार शब्द सबसे पहले हमें मौर्यकाल के आचार्य चाणक्य के ग्रंथ में मिलता है। कौटिल्य ने अपने ग्रंथ 'अर्थशास्त्र' में भ्रष्टाचार के 40 प्रकारों का उल्लेख किया है। उसके शब्दों में, 'जिस प्रकार जिह्वा पर रखे हुए शहद का स्वाद न लेना असंभव है उसी प्रकार शासकीय अधिकारी के लिए राज्य के राजस्व के एक अंश का भक्षण न करना असंभव है।' सामंतवादी प्रथा में भी राजा-महाराजाओं के द्वारा अपनी प्रजा को उपहार या भेंट दी जाती थी जैसे नजराना, शुकुराना, मेहनताना, जबराना आदि।

भ्रष्टाचार पर चर्चा करने से पूर्व यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि भ्रष्टाचार का आशय क्या है? भ्रष्टाचार का शाब्दिक अर्थ 'भ्रष्ट' अथवा बिगड़े हुए आचरण से लिया जाता है। भ्रष्टाचार की परिभाषा भारतीय दंड संहिता की धारा 161 में इस प्रकार की गई है कि, 'जो व्यक्ति शासकीय कर्मचारी होते हुए या होने की आशा में अपने या अन्य किसी व्यक्ति के लिए विधिक पारिश्रमिक से अधिक कोई घूस लेता है या स्वीकार करता है अथवा लेने के लिए तैयार हो जाता है या लेने का प्रयत्न करता है या किसी के प्रति पक्षपात या उपेक्षा या किसी व्यक्ति की कोई सेवा या कुसेवा का प्रयास केंद्रीय या अन्य राज्य सरकार या संसद या विधानमंडल या किसी लोकसेवक के संदर्भ में करता है तो उसे तीन वर्ष तक के कारावास का दंड या अर्थदंड या दोनों दिए जा सकेंगे।'

भ्रष्टाचार के संबंध में सन् 1948 में महात्मा गांधी द्वारा की गई टिप्पणी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है कि, 'भ्रष्टाचार के मामलों के प्रति उदासीन रहना अपराध है।' महात्मा गांधी का उक्त कथन भ्रष्टाचार के प्रति उनके गंभीर दृष्टिकोण एवं हृदय की वेदना को अभिव्यक्त करता है। अनुभव से यह परिलक्षित होता है कि सार्वजनिक जीवन का कोई भी क्षेत्र भ्रष्टाचार से अछूता नहीं है।

भारत में किसी न किसी रूप में भ्रष्टाचार का राक्षस सदैव विद्यमान रहा है। परंतु स्वाधीनता के बाद भ्रष्टाचार रूपी इस राक्षस का फैलाव अधिक हुआ है। आज़ादी के बाद सरकारी कर्मचारियों के अलावा राजनेताओं के और मंत्रियों के जो गड़बड़ घोटाले प्रकाश में आए, उनकी सूची बहुत लंबी है। इस देश में अरबों-खरबों रुपयों की धनराशि के घोटाले हुए हैं। कांग्रेस नीत यू०पी०ए० सरकार में भ्रष्टाचार चरम सीमा पर है। घोटाले पर घोटाले हो रहे हैं। काँग्रेस और सहयोगी दलों के नेता भ्रष्टाचार में आकंठ डूबे हुए हैं। काँग्रेस के दो मुँहपन की बानगी देखिए, दिल्ली में आयोजित काँग्रेस के 83वें महाअधिवेशन में काँग्रेस अध्यक्ष श्रीमती सोनिया गांधी ने भ्रष्टाचार का उल्लेख करते हुए कहा कि काँग्रेस हमेशा पारदर्शिता और शुचिता के पक्ष में रही है। जबकि

वास्तविकता तो यह है कि काँग्रेस यू.पी.ए. सरकार अपने कार्यकाल में अब तक 2,50,000 करोड़ से अधिक के घोटाले कर चुकी है। वर्तमान समय में जो घोटाले सामने आए हैं। वे इस प्रकार हैं— आई.पी.एल. खेल घोटाला, राष्ट्रमंडल खेल घोटाला, आदर्श सोसायटी घोटाला, 2-जी स्पेक्ट्रम घोटाला आदि।

भ्रष्टाचार किस प्रकार देश को घुन की तरह खा रहा है, उसका सबसे बड़ा उदाहरण हमारे देश के विधायक और सांसद हैं। सभी जानते हैं कि उनको अपने कार्य के लिए कितना वेतन एवं भत्ता मिलता है, परंतु देखते ही देखते उनके महल खड़े हो जाते हैं, करोड़ों की अचल संपत्ति बन जाती है और विदेशी बैंकों में अच्छा-खासा बैलेंस जमा हो जाता है और आश्चर्य की बात तो यह है कि लोग इसके बारे में ऐसे बात करते हैं जैसे आम बात हो। दूसरी ओर सरकारी कर्मचारी जो बिना घूस लिए कोई काम ही नहीं करते हैं। एक गरीब व्यक्ति अपना राशनकार्ड भी बनवाने जाता है तो इन बाबूओं को घूस खिलानी ही पड़ती है और वह गरीब बेचारा यह सब इसलिए करता है कि यदि वह रिश्वत नहीं देगा तो इससे अधिक पैसे तो दफ्तर के चक्कर काटने में ही खर्च हो जाएँगे। अधिकारी तो अलग, राज्यों के मुख्यमंत्रियों तक का प्रत्येक विभाग से निश्चित कोटा होता है, जो कि नीचे के कर्मचारियों और जनता से वसूल जाता है।

इस प्रकार इस सत्य को नकारा नहीं जा सकता कि भारतीय शासन-व्यवस्था स्वयं ही भ्रष्टाचार की वृद्धि में सहायक सिद्ध हो रही है। व्यवस्थागत कमजोरियाँ प्रत्यक्ष अथवा प्ररोक्ष रूप में भ्रष्टाचार रूपी राक्षस को सशक्त बनाने के अनुकूल एवं उपयोगी माध्यम के रूप में स्थापित हो चुकी हैं। भारतीय राजनीतिज्ञ एवं प्रशासक इन कमजोरियों का अपने अनैतिक आर्थिक हितों के संवर्द्धन के लिए उपयोग करते हैं, ऊपर से ईमानदार बने रहने का ढोंग करते हैं और व्यवस्था उनका कोई अहित नहीं कर पाती।

वर्तमान समय में देश के सर्वोच्च पदों पर बैठे लोग (प्रधानमंत्री, सेनाध्यक्ष, मुख्य न्यायाधीश आदि) की सीधी लिप्तता दिखाई दे रही है। देश के जन-जीवन का कोई क्षेत्र (राजनीति, प्रशासन, न्यायपालिका, मीडिया, सेना, इसरो जैसे वैज्ञानिक संस्थान, खेल, शिक्षा, धर्म आदि) इस लूट, पतन और संडाध से नहीं बचा है।

#### **कारण :**

भ्रष्टाचार हमें अँग्रेजों से विरासत के रूप में मिला हुआ है, क्योंकि उस समय वायसराय अथवा गवर्नर अपने पद से अवकाश लेने से पूर्व राजाओं से विदाई लेने के नाम पर देशी रियासतों का दौरा करते थे तथा उनसे बहुमूल्य भेंट स्वीकार करते थे, जो कि भ्रष्टाचार का ही एक रूप था।

प्रसिद्ध फ्रांसिसी दार्शनिक वाल्टेयर या बंबई के गवर्नर रहे विद्वान अँग्रेज एल्फिन स्टन ने भी इसे नोट किया था कि हर बात में भारत यूरोप से श्रेष्ठ है, परंतु उसी भारत में एक घोर भ्रष्ट संस्कृति जम गई है। अब तो उच्च पदों पर नियुक्ति के लिए भ्रष्टाचारी होना मानो एक योग्यता में बन गया है। टॉलस्टाय ने भी लिखा है कि भारतीयों ने ही भारतीयों को गुलाम बना रखा है, अँग्रेजों ने नहीं; जो कि भ्रष्टाचार का एक कारण था। आर्थिक योजनाओं के कारण भी लाइसेंस, परमिट, कोटा-पद्धति आदि के कारण सामाजिक और नैतिक मूल्यों का हास होने लगा। जीवन में भौतिकवादी दृष्टिकोण पनप गया, जिसके कारण नैतिक मूल्यों में गिरावट आई। लोग अनैतिक साधनों से धन कमाने लगे। औद्योगिक और व्यापारीवर्ग में भ्रष्टाचार आम बात है। सटोरिए,

नवधनाध्य, तस्कर आदि लोग भ्रष्टाचार के भिन्न-भिन्न तरीकों से धन अर्जित करते हैं। व्यापारी लोग अपना काम निकलवाने के लिए सुरा एवं सुंदरी जैसे घृणित काम भी अपनाते हैं। भारत में चुनाव भी काफी महँगे होते जा रहे हैं चुनाव जीतने के लिए नेताओं और राजनीतिक दलों को कालेधन की आवश्यकता होती है। चुनाव में अधिक खर्च होने के कारण काला धन और भ्रष्ट राजनेताओं की जोड़ी बन गई है। भारत में भ्रष्टाचार का एक कारण यह भी है कि यहाँ सरकारी कर्मचारियों के वेतन में काफी अंतर है। अच्छे वेतनवाले उच्च अधिकारियों के ऐशोआराम के जीवन से नीचे के कर्मचारी तुलना करने लग जाते हैं तथा अनुचित साधनों से कमाई करने लगते हैं, जिसके कारण भ्रष्टाचार पनपता है। पंचवर्षीय योजनाओं के कारण भी भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिला है, क्योंकि इन योजनाओं की शुरुआत से कर्मचारियों को अपने विभाग में खर्च करने के विस्तृत अधिकार प्राप्त हुए हैं, जिसमें वे विकास के कार्यों पर लाखों-करोड़ों रुपये खर्च कर सकते हैं। स्थिति में यकायक परिवर्तन हो जाने से मनुष्य का मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है तथा वह भ्रष्टाचार के दल-दल में फँसता चला जाता है। प्रशासन के नियम इतने पेचीदा बनाए जा रहे हैं कि अशिक्षित व्यक्तियों का तो क्या कहना, शिक्षित व्यक्ति भी इनको ठीक प्रकार से समझ नहीं सकते, जिससे जनता को वकीलों तथा उनके क्लर्कों पर निर्भर रहना पड़ता, जो कि भ्रष्टाचार का एक मुख्य कारण है। पुलिस भी ईमानदार व्यक्तियों को सहयोग देने के स्थान पर उनको अधिक परेशान करती है तथा गुलत आदमियों को प्रोत्साहित करती है। जो व्यक्ति पुलिस की शिकायत करने का साहस करता है, उसकी हत्या तक कर दी जाती है। भ्रष्ट कर्मचारियों को संरक्षण देना भ्रष्टाचार का कारण है।

भारत में कर्मचारियों को पद से हटाना सरल कार्य नहीं है, क्योंकि संविधान तथा कानूनों में इतना संरक्षण प्रदान किया है कि बेईमान कर्मचारियों के विरुद्ध कोई कार्यवाही करने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं।

भ्रष्टाचार के इस रोग के कारण हमारे देश को कितना नुकसान हो रहा है, इसका अनुमान लगाना भी मुश्किल है। महिलाओं और गरीब तबके पर बढ़ते अपराध और अत्याचार प्रशासनिक स्तर पर वरिष्ठ आई०ए०एस० भ्रष्टाचारों का खुले-आम नज़र आना, यह सब मिलकर देश के एक मनोरम स्वप्न को एक डरावनी हकीकत का रूप देते हैं। प्रत्येक नागरिक भ्रष्टाचार के बीच जन्म लेता है। भ्रष्टाचार के बीच ही पलता है और बड़ा होता है। भ्रष्टाचार को भोगते हुए मर भी जाता है। लेकिन मरने के बाद भी भ्रष्टाचार से उसका मुक्ति नहीं मिलती। यह किसी दार्शनिक का चिंतन नहीं है, बल्कि देश के नागरिकों का भोगा हुआ यथार्थ है।

भारत की स्थिति उस वृक्ष जैसी हो गई है, जिसे लोहे की बाड़ से सुरक्षित किया गया हो, किंतु जिसकी जड़ों में दीमक लग रही हो। अभी समय है कि हम इस समस्या को गंभीरता से लें ताकि देश को भ्रष्टाचार से बचाया जा सके।

#### **निवारण :**

भारत देश में भ्रष्टाचार जीवन का एक अंग बन चुका है। इसका निवारण करना बहुत ही कठिन है। क्योंकि वर्तमान सामाजिक व राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में इसके समाधान के लक्षण दूर-दूर तक अंधकार के गर्भ में हैं, लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकला जाना चाहिए कि समस्या का समाधान हो ही नहीं सकता। हाँ, समस्या विकट अवश्य है। हल्की-फुलकी कोशिश

से देश को इस बुराई से मुक्त नहीं कराया जा सकता। इससे जूझने के लिए राष्ट्रव्यापी संकल्प, व्यापक जन-जागृति एवं आम जनता की सोच बदलने की आवश्यकता है।

भ्रष्टाचार को मिटाने के लिए चुनाव में सुधार लाना होगा। भ्रष्टाचार के विरुद्ध लोकमत तैयार किया जाना चाहिए, जिससे भ्रष्टाचार करने वालों का भांडाफोड़ हो सके। मंत्रियों तथा उच्च प्रशासनिक अधिकारियों के लिए एक निश्चित आचार-संहिता का निर्माण किया जाना चाहिए तथा उसका कठोरता से पालन करवाना चाहिए। सरकारी नौकरियों में नियुक्ति योग्यता एवं निष्पक्षता के आधार पर होनी चाहिए ताकि कुशल व ईमानदार कर्मचारियों की नियुक्ति हो सके। देश में एक सर्तकता आयोग का गठन किया जाना चाहिए, जो भ्रष्टाचार पर प्रभावी नियंत्रण रख सके। सरकारी पत्रों और फाइलों का निपटारा जल्दी से जल्दी निश्चित अवधि के भीतर किया जाना चाहिए। सभी लोकसेवकों, विधायकों तथा मंत्रियों को अपनी निजी संपत्ति की घोषणा करनी चाहिए। इसी प्रकार राजनीतिक दलों को व्यापारियों व उद्योगपतियों के द्वारा प्राप्त दान के धन की जानकारी और हिसाब का लेखा-जोखा जनता को देना चाहिए। भ्रष्टाचार के मामलों पर कार्यपालिका के प्रभाव से सर्वथा निष्पक्ष न्यायाधीशों द्वारा विचार करने और अपराधियों को कड़ा दंड देने की व्यवस्था होनी चाहिए।

भारत में समय-समय पर भ्रष्टाचार को मिटाने के लिए अनेक आयोग एवं समितियों का गठन किया गया ताकि भ्रष्टाचार से देश को मुक्ति दिलाई जा सके। जैसे-बक्सी टेकचंद समिति की नियुक्ति, प्रशासकीय विजिलेंस विभाग की नियुक्ति, संधानम समिति, कृपलानी पूछताछ समिति, केंद्रीय अन्वेषण ब्यूरो, केंद्रीय सतर्कता आयोग आदि। सार्वजनिक जीवन में से भ्रष्टाचार को मिटाने के लिए एक सशक्त लोकपाल विधेयक लाया जाना चाहिए, परंतु दुर्भाग्य की बात तो यह है कि लोकपाल विधेयक लंबे समय से टलता जा रहा है। देश में भ्रष्टाचार के स्तर और व्यापक क्षेत्र को दृष्टिगत रखते हुए, लोकपाल की नियुक्ति शीघ्रताशीघ्र की जानी चाहिए। भ्रष्टाचार के क्षेत्र में सार्वजनिक व निजी दोनों क्षेत्रों को शामिल किया जाना चाहिए। आज निजी क्षेत्र के भ्रष्टाचार को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता है, क्योंकि इसके लिए कानून में आवश्यक संशोधन करने होंगे।

केवल लोकपाल विधेयक से ही भ्रष्टाचार को दूर नहीं किया जा सकता, क्योंकि लोकपाल अधिकारी भी एक व्यक्ति ही होगा। इस बात की क्या गारंटी है कि लोकपाल बनने वाला अधिकारी ईमानदार होगा। लोकपाल की स्थिति भी वैसी ही हो जाएगी जैसे भेड़ों की रखवाली का काम भेड़ियों को दे दिया जाए। लोकपाल विधेयक के साथ-साथ जनता को भी जागरूक करना ज़रूरी है, क्योंकि जब तक जनता जागरूक नहीं होगी, तब तक देश को भ्रष्टाचार से मुक्ति नहीं दिलाई जा सकती। जिस प्रकार से अन्ना हजारे के द्वारा लोगों के दिलों में मशाल जलाने का कार्य किया गया है। भ्रष्ट सांसदों, विधायकों व अधिकारियों को जनता को वापस बुलाने का अधिकार होना चाहिए। भ्रष्टाचार का खात्मा जनभागीदारी से ही संभव है। 'सत्यार्थ प्रकाश' के छठे अध्याय में स्पष्ट लिखा गया है कि राजा प्रजा के अधीन होना चाहिए, नहीं तो वह प्रजा को उसी तरह खा जाएगा, जिस तरह शेर हिरण को खा जाता है।

### संदर्भ

जी०एस० भार्गव, करप्शन पॉलिटिक्स इन इण्डिया, पॉपुलर बुक सर्विसेज, नई दिल्ली

जी०आर० सिवाच, भारत की राजनीतिक व्यवस्था, प्रवक्ता कोम अभिव्यक्ति अपना मंच पत्रिका।

## नारी-शिक्षा : समस्याएँ तथा चुनौतियाँ

निधि जाखड़

प्रवक्ता, हिंदी विभाग

ए०पी०जे० कन्या महाविद्यालय, चरखी दादरी

चलना तो हमको ही होगा  
चलने में ही हम टूटें और अधूरों का  
शायद कुछ होगा नया गठन  
आश्रय देंगे हमको अपने  
जर्जर और अपराजेय चरण

युग बदले युग के प्रतिमान बदले, किंतु इस पुरुष-प्रधान समाज में नारी सदियों से दोगेय दर्जे की नागरिक बनी रही। सारे मूल्य, परंपराएँ, मान्यताएँ, संबंध और रिश्ते-नाते नारी के द्वारा सहे जाते रहे हैं। नारी में समर्पण की उदात्त भावना थी, जिसने पुरुष के अहं को उद्दीप्त किया और सारे आदर्श स्त्री के लिए बना दिए। अपने जीवन से जुड़े अनेक प्रश्नों को अनसुलझा पाकर वह स्वयं प्रश्नों के उत्तर खोजने निकल पड़ी है।

वह समाज, संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है। नारी इस सृष्टि में ईश्वर की अद्वितीय कृति है, जो साहित्य, कला और समाज का चिरंतन विषय है, परंतु फिर भी संस्कृति के निर्माण-कार्य में उसे हमेशा दोगेय दर्जे का नागरिक माना गया। मानव-इतिहास के लंबे समय में नारियों की स्थिति में कई उतार-चढ़ाव आए। इस लंबे इतिहास का निचोड़ यही रहा कि अधिकांश समय में स्त्रियों की स्थिति अंधकारमय रही, पर कभी चुप, तो कभी अशांत रही। वह शोषण का शिकार रही और उसकी स्थिति पुरुष के मुकाबले कमजोर रही। पूरे संसार में स्त्रियों की स्थिति, उसका इतिहास लगभग एक जैसी दशा प्रस्तुत करता है।

### महिला-शिक्षा :

आधुनिकयुग नारी का युग माना जाता रहा है, भारत का स्वाधीनता-संग्राम नारी-शिक्षा का एक नया सूरज लेकर आया है। देश की आधी जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करनेवाली नारी शिक्षा का हथियार हाथों में थामे निरंतर समाज व संस्कृति की गली-सड़ी परंपराओं तथा कुप्रथाओं, कुरीतियों से लड़ रही है। नारी-शिक्षा के कारण आज सामाजिक वातावरण में परिवर्तन हो रहा है। भारत में नारी-शिक्षा की नित नई उपलब्धियाँ केवल आधुनिक सभ्यता के परिणाम ही नहीं हैं, बल्कि इसके पीछे हमारी बेजोड़ परंपरा का हाथ रहा है। वैदिकयुग में बीस महिलाओं द्वारा वैदिक ऋचाओं का निर्माण हुआ था। गार्गी व मैत्रेयी उस समय विश्व के अग्रणी दर्शनशास्त्रियों

में अपना स्थान रखती थीं। लड़कियों को लड़कों के साथ गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था, परंतु मध्यकाल नारी की स्वतंत्रता, अस्मिता और शिक्षा के लिए 'काल' साबित हुआ तथा 'देवी सरस्वती' की संज्ञा में विभूषित होनेवाली नारी घर की चारदीवारी तक सीमित रह गई। मुसलमानों के आक्रमणों और अत्याचारों के फलस्वरूप उसकी दशा और भी शोचनीय हो गई। भारतीय नारी की सामाजिक स्थिति का इतिहास भी उसके विकृत से और अधिक विकृत होने की कहानी-मात्र है।

20वीं शताब्दी में नारी-संगठनों, अनेक समाज-सुधारकों व सरकार द्वारा नारी की स्थिति तथा शिक्षा में किए गए सुधार से नारी-समाज के अंतःसंबंध में पर्याप्त परिवर्तन लक्षित हुआ।

#### **आवश्यकता :**

शिक्षा वास्तव में वह बहुमूल्य उपहार है, जो माता-पिता अपनी बेटी को दे सकते हैं। अगर एक लड़की शिक्षित है तो वह जरूरत अनुसार नौकरी कर परिवार की आर्थिक स्थिति को सम्भालने में योगदान दे सकती है। महिला-शिक्षा द्वारा कन्याभ्रूण हत्या पर नियंत्रण किया जा सकता है। शिक्षित महिला परिवार-नियोजन के साधनों की सही जानकारी तथा उपयोग द्वारा परिवार पर नियंत्रण रख जनसंख्या-वृद्धि को रोकने में सहयोग दे सकती है। एक जागरूक व शिक्षित माँ अनपढ़ महिला की अपेक्षा अपने परिवार की स्वच्छता और सेहत का ज्यादा अच्छे तरीके से ध्यान रख सकती है। पढ़ी-लिखी माता द्वारा दिए गए संस्कार तथा नैतिक मूल्य उसकी संतान को देश का जिम्मेदार तथा उत्तरदायित्वपूर्ण नागरिक बनने में सहयोग करते हैं। अतः कहा जा सकता है कि महिला शिक्षा देश के सुदृढ़ आधार के लिए अति आवश्यक है।

#### **वर्तमान स्थिति :**

शिक्षा ही वह साधन है, जिसके द्वारा महिला सशक्तीकरण की कल्पना को सच किया जा सकता है। यद्यपि महिला-शिक्षा की दर बढ़ाने में केंद्र सरकार, राज्य सरकारें, न्यायविदों, नारीवादियों तथा सुधारकों द्वारा अथक् तथा अनन्य प्रयास किए गए हैं, तब भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्रदेश या केंद्र में महिला की स्थिति संतोषजनक है। आज़ादी के 64 साल बाद भी उनके योजनाएँ तथा प्रोत्साहन महिला साक्षरता को अपेक्षित मुकाम तक नहीं पहुँचा पाए हैं। सन् 2001 को संयुक्त राष्ट्र द्वारा महिला सशक्तीकरण वर्ष घोषित किया गया तथा सकल्प लिया गया कि विश्वभर में महिला-शिक्षा के माध्यम से स्त्रियों के सामाजिक स्तर में सुधार लाया जाएगा, परंतु भारत में स्थिति अभी भी दयनीय तथा शोचनीय है। इसी वर्ष जनवरी में कराए गए सर्वेक्षण से पता चला है कि हमारे देश में महिला-साक्षरता-दर केवल 54 प्रतिशत है। स्थिति अत्यंत निराशाजनक है कि हम अपनी औसत साक्षरता दर 65.38 के स्तर तक भी महिला-शिक्षा के स्तर को नहीं पहुँचा पाए हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में तो महिला-साक्षरता दर में वृद्धि की गति और भी धीमी है। अतः कहा जा सकता है कि भारत में अभी भी बहुत-सी महिलाएँ शिक्षा से वंचित हैं, जिसके कारण वे कमजोर हैं, शोषित हैं और पिछड़ी हुई हैं। इसके अतिरिक्त वर्तमान स्थिति यह भी है कि शिक्षा के लिए सबको समान अवसर उपलब्ध नहीं हैं। लैंगिक भेदभाव के कारण पुरुषों की शिक्षा पर बल ज्यादा दिया जा रहा है। इस तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि भारत में सन् 2001 में महिलाओं की साक्षरता दर केवल 54 प्रतिशत थी, जबकि पुरुष-साक्षरता की दर 76 प्रतिशत



रही। पुरुष पर आश्रित रहना नारी के अशिक्षित रहने का सबसे बड़ा कारण रहा है। एशिया महाद्वीप में सबसे कम महिला-साक्षरता की दर केवल भारत देश में है। कहा जा सकता है कि आज भी हमारे यहाँ लगभग 20 करोड़ महिलाएँ अशिक्षित हैं। साक्षरता का निम्न स्तर न केवल महिला के जीवन पर, अपितु उसके परिवार तथा देश के जीवन-स्तर पर गहरा नकारात्मक प्रभाव डालता है। अतः कहा जा सकता है कि भले ही आज महिलाएँ शिक्षा-जगत में नई उपलब्धियाँ हासिल कर रही हैं, किंतु यह संख्या मुट्ठी-भर है। हालात अभी भी चिंताजनक हैं।

### महिला शिक्षा : समस्याएँ और चुनौतियाँ

नारी के सशक्तीकरण और सुधारीकरण के लिए शिक्षा से बढ़कर कोई अन्य साधन नहीं है। किसी भी समाज में नारी दशा में गुणात्मक परिवर्तन लाने का सबसे बड़ा साधन है—शिक्षा। इस तथ्य में कोई संदेह नहीं है कि शिक्षा के द्वारा एक स्त्री न केवल विश्व की जानकारी प्राप्त करती है अपितु वह घर, परिवार तथा स्वास्थ्य, आत्मनिर्भरता, आत्मविश्वास तथा अपने अधिकारों के प्रति भी जागरूक होती है।

महिला-शिक्षा के विविध आयाम हैं। केवल एक तथ्य या एक कारण भारत में नारीशिक्षा के निम्न स्तर के लिए उत्तरदायी नहीं है। राजनीतिक, प्रशासनिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि अनेक ऐसे कारण हैं, जो सम्मिलित रूप से नारी-शिक्षा के लिए राह में रोड़े अटकाने का काम करते हैं।

कुछ प्रमुख तथ्य या कारण, जिनके कारण नारी-शिक्षा के क्षेत्र में समस्याओं तथा चुनौतियों का सामना कर रही है, इस प्रकार हैं :

1. लड़कियों का विद्यालयों में कम पंजीकरण महिला शिक्षा के निम्नस्तर के लिए मूलभूत कारण का काम करता है, परिणामतः महिला-सशक्तीकरण का लक्ष्य हासिल करने में समस्याओं का सामना करना पड़ता है।
2. विद्यालयों से पढ़ाई छोड़ने वाले विधार्थियों में ज़्यादा संख्या लड़कियों की होती है, जिस कारण महिला साक्षरता दर लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाती।
3. भारतीय परिवारों में बेटियों को दूसरी माता की ज़िम्मेवारी का निर्वाह करना पड़ता है, जो उसके शिक्षा ग्रहण न करने का कारण बनता है।
4. बंधुआ मज़दूरी आज भी हमारे समाज में कलंक के रूप में विद्यमान है, जिसके कारण बालिकाओं की शिक्षा सबसे ज़्यादा प्रभावित होती है। विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में यह प्रथा नारी-शिक्षा के लिए बहुत बड़ा अवरोधक बनकर आती है।
5. जाति-प्रथा की जड़ें अब भी हमारे समाज में बहुत गहराई तक विद्यमान हैं। आज भी पिछड़ी जातियों के बालकों, बालिकाओं को शिक्षा से वंचित रखा जाता है। विशेषकर बालिकाओं के लिए जाति-प्रथा का यह बंधन अनेक समस्याओं का कारण बनता है, जिनमें असाक्षरता प्रमुख है।
6. दहेज-प्रथा के दानव ने बदलते समय के साथ विकराल रूप धारण कर लिया है, जिस कारण माता पिता की सोच यह बन जाती है कि शिक्षा पर धन खर्च करने से कहीं ज़्यादा अच्छा है कि बेटे के लिए दहेज इकट्ठा किया जाए। यह सोच

बालिकाओं को शिक्षा से वंचित रखने का कारण बनती है।

7. भारत में बहुत बड़ी संख्या में बालक मज़दूरी का कार्य करते हैं, जिनमें से 50 प्रतिशत लड़कियाँ हैं। एक सर्वेक्षण के अनुसार भारत में पूरे विश्व की अपेक्षा सबसे ज़्यादा बाल मज़दूर हैं। अतः छोटी उम्र में ही मज़दूरी बालक-बालिकाओं को शिक्षा से वंचित कर देती है।

अन्य बहुत से कारण हैं, जो महिलाओं की शैक्षिक समस्याओं के लिए उत्तरदायी हैं। जैसे—

8. विवाह के समय स्त्री की तय सीमा आयु।
9. घरेलू परिस्थितियाँ।
10. लड़कियों की अपेक्षा लड़कों पर अधिक ध्यान देना।
11. परिवार का ग़रीबीरेखा से निम्न जीवनस्तर।
12. अभिभावकों की पिछड़ी मानसिकता।
13. राजनीतिक इच्छाशक्ति का अभाव।
14. प्रशासनिक स्तर पर योजनाओं के क्रियान्वयन में लापरवाही।
15. भौगोलिक परिस्थितियाँ।
16. सामाजिक वातावरण का अनुकूल न होना।
17. क़ानून तथा अधिकारों की जानकारी न होना।
18. महिला-अध्यापकों का अभाव।
19. विद्यालय में पर्याप्त सुविधाओं तथा सही वातावरण का अभाव।

बहुत से ऐसे कारण हैं, जो महिला-शिक्षा के लिए अवरोधक का कार्य करते हैं। दिन प्रतिदिन ख़र्चीली होती शिक्षा-प्रणाली ग़रीब परिवार की बालिकाओं को विद्या-प्राप्ति से दूर कर देती है। एक ग़रीब पिता महँगी शिक्षा का बोझ न उठा पाने के कारण अपनी बेटी को इच्छा होते हुए भी नहीं पढ़ा पाता। अभिभावकों का नारी के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण नारी को साक्षरता-दर के कम होने का एक अन्य कारण रहा है।

आज भी नारी वातावरण और सामाजिक कारणों के चलते अपने बुनियादी अधिकार 'शिक्षा का अधिकार' से वंचित है। भूमंडलीकरण के इस दौर में भी वह शिक्षा के लिए संघर्ष कर रही है।

#### निष्कर्ष :

ज्योतिबा फूले का विचार था कि जब तक नारी शिक्षित नहीं होगी, वह अपनी स्थिति समझ नहीं पाएगी और जब तक वह अपनी स्थिति स्वयं समझ नहीं पाएगी, तब तक आवाज़ नहीं उठा पाएगी और जब तक स्त्री स्वयं अपने लिए आवाज़ नहीं उठाएँगी, उसकी स्थिति बदलेगी नहीं। इन प्रयासों की यत्किंचित सफलता ही थी, जिसने आधुनिककाल में तमाम महिलाओं को पढ़ने-लिखने और बोलने के लिए प्रेरित किया।

शिक्षा ही वह साधन है, जिसमें मनुष्य का विकास निहित है, जिससे मनुष्य की शारीरिक, मानसिक, भौतिक व नैतिक शक्तियों का विकास होता है, वही शिक्षा है। महिला या

स्त्री-शिक्षा मानव-कल्याण तथा मानव-उत्थान हेतु अधिक महत्त्वपूर्ण व आवश्यक है। शिक्षा नारी में अज्ञानता को दूर कर उनमें ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित करने का प्रभावी अस्त्र है।

आधुनिककाल की जटिल होती परिस्थितियाँ नारी-शिक्षा की आवश्यकता पर और ज़्यादा ध्यान आकर्षित करती हैं। मात्र कुछ आँकड़ों तक सीमित हमारी साक्षरता-दर यह साबित करती है कि आज भी आदिम मनोवृत्ति हमारे समाज का अंग बनी हुई है और यही मनोवृत्ति नारी की शिक्षा के लिए चुनौती तथा समस्या बनी हुई है। अनेक ऐसे कारण हैं, जो यह बात साबित करते हैं कि भले ही देश आज़ाद है, लेकिन महिलाएँ शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार से आज भी वंचित हैं।

परंतु स्थितियाँ कभी एक-सी नहीं रहतीं। वैदिककाल से मध्यकाल और आधुनिककाल तक के नारी के सफ़र ने यह बात सिद्ध कर दी है कि वह संघर्ष करना जानती है, समस्याओं में जीतना जानती है और चुनौतियाँ उसके व्यक्तित्व की प्रखर अभिव्यक्ति को और मजबूत बनाती हैं। नारी शिक्षा की मशाल हाथ में ले चल पड़ी है और वह दिन दूर नहीं है, जब भारत की आधी आबादी शिक्षा का वरदान पाकर, अपने गरिमामय व्यक्तित्व के लिए, देश-दुनिया के लिए नए आयाम गढ़ेगी।

## जयप्रकाश नारायण के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य

राजीकुमार

सहायक अध्यापक

किसान इंटर कालेज, मढ़ी (मेरठ)

### जयप्रकाश नारायण : जीवन परिचय, पृष्ठभूमि :

जयप्रकाश नारायण का जीवन चरित्र भारतवासियों के लिए सदैव से प्रेरणास्रोत रहा है। उनके जीवन का अनुसरण करके अद्यतन, अगणित विद्वान, अपने जीवन को कृतार्थ कर चुके हैं।

### जन्म व पारिवारिक जीवन :

दो प्रांतों में फैले हुए, सरयू तथा जान्हवी (गंगा) के संगम पर अवस्थित सितवदियारा गाँव के बाईस टोलों में से एक प्रसिद्ध लाला टोले में 11 अक्टूबर, 1902 को दशहरे की बेला में जयप्रकाश का जन्म हुआ। इनके पिता का नाम हरसूदयाल तथा माता का नाम फूलारानी था। जयप्रकाश अपने माता-पिता की चौथी संतान थे। देश के सूदूर कोने में एक मध्यमवर्गीय परिवार में उत्पन्न यह बालक, भविष्य में स्वतंत्र भारत का प्रतीक बन गया, जो संघर्ष और क्रांति का जीता-जागता स्तंभ प्रमाणित हुआ। अन्य बालकों के सदृश जयप्रकाश में न तो बाल-सुलभ चपलता थी और न ही वाणी-सुलभ चटुता, बल्कि एकांत के प्रति एक अव्यक्त प्यार था। बालक जयप्रकाश अन्य बच्चों से अलग प्रकृति की अनबूझ एवं अजेय पहेली को हल करने में लीन रहता। सन् 1920 में 17 वर्ष की अवस्था में जयप्रकाश का विवाह बिहार के प्रतिष्ठित काँग्रेसी नेता ब्रजकिशोर प्रसाद की कन्या प्रभावती के साथ संपन्न हुआ। प्रभावती विवाह के उपरांत कस्तूरबा गांधी के साथ साबरमती आश्रम में भी रही ब्रजकिशोर प्रसाद उस समय बिहार की राजनीति के महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थे। इसके साथ ही राजेंद्रप्रसाद के साथ भी उनका प्रत्यक्ष संबंध स्थापित हो गया क्योंकि प्रभावती की छोटी बहन से राजेंद्रप्रसाद के बड़े लड़के मृत्युंजय प्रसाद का विवाह हुआ था। इस प्रकार देश की महान विभूतियों से जयप्रकाश प्रभावित होते चले गए और एक अविस्मरणीय स्तंभ के रूप में स्थापित हुए।

### शिक्षा :

पाँच वर्ष की अवस्था में जयप्रकाश ने अपनी प्रारंभिक शिक्षा गाँव के ही प्राइमरी स्कूल से पूर्ण की प्राइमरी शिक्षा पूर्ण करने के पश्चात् आगे अध्ययन के लिए जयप्रकाश पटना गए और वहाँ पटना कालेजिएट स्कूल से उन्होंने हाईस्कूल की परीक्षा पास की। इसके बाद जयप्रकाश ने बिहार विद्यापीठ में प्रवेश लिया तथा इंटरमीडिएट विज्ञान की परीक्षा वही से ससम्मान उत्तीर्ण की। जयप्रकाश ने अपनी आगामी शिक्षा अमेरिका के कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय

से करने का निश्चय किया। जयप्रकाश के मन में मार्क्सवाद के प्रति अधिक लगाव उत्पन्न हो गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि जयप्रकाश नारायण जी ने विज्ञान छोड़कर समाजशास्त्र का अध्ययन करने का निश्चय किया। 1992 से 1929 के बीच कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय बरकली, विकासन विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र का अध्ययन किया। पढ़ाई के मँहगे खर्च को वहन करने लिए उन्होंने खेतों, कंपनियों, रेस्टोरेंटों में काम किया। जो अप्रत्याशित कठिनाइयाँ अमेरिका में रहते उन्हें मिली, उनसे हृदय पर चोट लगी। अतः समस्या के समाधान के लिए समाज की संरचना तथा तत्कालीन प्रचलित स्वरूप का अध्ययन नितांत आवश्यक था, इसलिए समाजवाद का अध्ययन प्रारंभ किया। कुछ दिनों तक अध्ययन करने के पश्चात् लैंडी की प्रेरणा तथा मैनुअल गोमेज के प्रोत्साहन से जयप्रकाश ने रूस जाने तथा वहाँ मास्को स्थित पूर्वी विश्वविद्यालय में समाजवाद की शिक्षा प्राप्त करने का निश्चय किया। रूस जाने के लिए धन की आवश्यकता थी। एक तरफ उनकी आर्थिक स्थिति बिगड़ती जा रही थी दूसरी तरफ अधिक परिश्रम तथा सर्दी के कारण वे गंभीर रूप से बीमार पड़ गए। काफी धन खर्च होने की स्थिति में घर से धन मँगाया। तभी उनको रूस न जाने का निर्देश दिया गया। परिणामस्वरूप उन्होंने विसकोन्सिन लौटकर समाजशास्त्र का अध्ययन शुरू किया। कुछ समय बाद लैंडी की नियुक्ति ओहायो विश्वविद्यालय में हुई और लैंडी के साथ जयप्रकाश भी ओहायो चले गए। अतः उन्होंने ओहायो से बी०ए० व एम०ए० की उपाधि प्राप्त की। तत्पश्चात् जयप्रकाश ने स्वतंत्रता के साथ ही समानता और मातृत्व की मार्क्सवादी भावना के साथ 1929 से भारत भूमि पर पर्दापण किया। उनको स्वतंत्रता-प्राप्ति के उद्देश्य की पूर्ति, गाँधी जी के सविनय अवज्ञा आंदोलन की अपेक्षा मार्क्स के क्रांतिकारी मार्ग से तर्कसंगत तथा शीघ्रगामी होती प्रतीत हुई।

जयप्रकाश नारायण एक विचारक के रूप में भी जाने जाते हैं। विचारक के रूप में उन्होंने ऐसे अनेक प्रश्नों पर ध्यान केंद्रित किया था, जो आज के दिन तक मानव-जाति की चिंता का विषय बने हुए हैं। शिक्षा के क्षेत्र में उनके विचार संगत रूप से प्रगतिशील थे। इस संबंध में उनके विचारों में टकराव नहीं पाया जाता था। जो समाजवाद या आंतरिक नीतियों के विषय में पाया जाता था। एक विचारक और राजनेता के रूप में उन्होंने साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष में, विश्वशांति को सुनिश्चित बनाने के लिए तथा युद्ध के बाद विश्व के रंगमंच पर शक्तियों के संतुलन को राष्ट्रीय मुक्ति, प्रगति और समाजवाद के पक्ष में मोड़ने में जबरदस्त योगदान किया था। जयप्रकाश नारायण जी का समयानुशासन कहीं अधिक कठोर था।

जयप्रकाश नारायण ने समाज के समाजवादी रूपांतरण को विश्व के ऐतिहासिक विकास के स्वाभाविक परिणाम के रूप में स्वीकार किया था। उन्होंने जोर देकर कहा था कि 'पूँजीवाद अब वर्तमान युग में उपयुक्त नहीं रह गया है। उन्होंने कहा था 'इजारेदारी समाजवाद की शत्रु है पिछले कुछ वर्षों में उसका विकास जिस हद तक हुआ है, उसी हद तक हम लोग समाजवाद के लक्ष्य से पीछे की ओर गए हैं।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद जयप्रकाश और गाँधी जी एक-दूसरे के बहुत करीब आ गए थे। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और नैतिक समस्याओं पर दोनों के विचारों में निकटता थी। भारत में लोकतांत्रिक समाजवाद की धारणा, जो जयप्रकाश ने बनाई उसे गाँधी जी का सहयोग तथा समर्थन मिल गया।

जयप्रकाश नारायण जी इस सम्पूर्ण क्रांति को गांधी जी द्वारा दिखाए गए अहिंसा के मार्ग पर लाना चाहते थे। इसका कारण उनका वह विचार-दर्शन रहा होगा, जिसने उन्हें मार्क्सवाद की ओर से गांधीवाद की ओर उन्मुख किया और भारतीय परिस्थितियों में संपूर्ण क्रांति के लिए मार्क्स के मार्ग की अपेक्षा गांधी के मार्ग को उन्होंने अधिक उपयोगी पाया। इसीलिए उन्होंने अपनी संपूर्ण क्रांति को गांधी की क्रांति का पूरक बताया है।

भारत में कुछ ऐसे व्यक्ति हुए हैं, जो शिक्षक तो नहीं थे किंतु उन्होंने शिक्षक के रूप में महत्वपूर्ण विचार दिए। उनमें से जयप्रकाश नारायण भी एक हैं। जयप्रकाश नारायण के जीवन का शैक्षिक लक्ष्य मनुष्य को अच्छा और आत्मनिर्भर बनाना था। वे प्रयोजनवादी एवं व्यवहारवादी दार्शनिक के रूप में प्रतीत होते हैं, क्योंकि उनका मत था कि इसमें उन सभी बाह्य प्रभावों का स्वागत करना चाहिए, जोकि व्यक्ति को आत्मनिर्भर बना सकें।

जयप्रकाश नारायण प्रचलित प्रथाओं, परंपराओं, रीतिरिवाजों के सहसा विरोधी नहीं थे, वरन् वे नवीन विचारों एवं परंपराओं के प्रति उदार हैं। जयप्रकाश नारायण का मत था कि आज की समस्याएँ एक नई दुनिया की समस्याएँ हैं, जिन्हें पुरानी दुनिया के तरीकों से हल नहीं किया जा सकता कमरतोड़ गरीबी को, औद्योगिक विकास के बिना दूर नहीं किया जा सकता.....देश की समृद्धि तभी हो सकती है, जब शान्ति हो, सद्भाव एवं एक होने की भावना हो। जय प्रकाश नारायण के विचारों के आधार पर शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

#### **बौद्धिक विकास करना :**

जयप्रकाश नारायण के अनुसार भारत के पिछड़ेपन का सबसे बड़ा कारण उसका बौद्धिक पिछड़ापन है। इस कमी को दूर करने के लिए इस बात की आवश्यकता है कि शिक्षा द्वारा बालक का बौद्धिक विकास किया जाए, ताकि वह अपने पैरों पर खड़ा हो सके। जयप्रकाश नारायण आगे कहते हैं कि शिक्षा सिर्फ क्षमताओं में पर्याप्त प्रशिक्षण ही नहीं है और न ही ज्ञान का प्रशिक्षण है। बल्कि मनुष्य को बुद्धि और मानवता से पूर्ण बनाना है। इसमें जीवन के प्रति एकीकृत दृष्टिकोण शामिल है। एक ऐसा दृष्टिकोण, जो शरीर और मस्तिष्क के संतुलन को बनाए रखता है।

#### **शारीरिक विकास करना :**

जयप्रकाश नारायण का विश्वास था कि स्वस्थ मन के लिए स्वस्थ शरीर आवश्यक है। उन्होंने इस बात पर प्रमुख बल दिया कि बालक का शारीरिक विकास करना शिक्षा का प्रथम उद्देश्य है। वह कार्य की जीवन की मुख्य विशेषता के रूप में प्रशंसा करते हैं। वे इस विचार से घृणा करते थे कि कार्य महत्वहीन है और यह कि व्यक्ति जितना कम कार्य करेंगे, उतना ही ऊँचा समाज में स्थान होगा। इसलिए वे शिक्षा के पाठ्यक्रम में शारीरिक स्वस्थता को ऊँचा स्थान देते हैं।

#### **सांस्कृतिक विकास का उद्देश्य :**

जयप्रकाश नारायण के अनुसार शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जिससे व्यक्ति सुसंस्कृत, सभ्य एवं शिष्ट बन सके तथा उसमें उच्च विचारों, मानवीय गुणों तथा कलात्मक रुचियों का विकास हो। जयप्रकाश नारायण आगे कहते हैं कि अगर शिक्षा का अर्थ मस्तिष्क के दरवाजे

तथा खिड़कियां खोलना है, तो जय प्रकाश नारायण ने सामाजिक प्रतिक्रियाओं और बौद्धिक अस्पष्टता जैसी शक्तियों के बीच हमारे सोचने के तरीकों को बदल कर उन्नतिशील परिवर्तनशील और उदार दृष्टिकोणों को लाकर एक महत्वपूर्ण योगदान दिया। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि भारत की सांस्कृतिक प्रतिभा आवश्यक रूप से समन्वयकारी है, जो नए तत्वों को मिलाती है और उन्हें एक अति उच्च नमूने से जोड़ती है। जब कभी भी हमारी संस्कृति स्थिर हो गई है, भारत ने अपना मूल तत्व खो दिया है और वह राजनीतिक दृष्टिकोण से कमजोर हो गया है, विघटित हो गया है और सांस्कृतिकता खो गई है। इसलिए उनका तर्क, संवेगात्मक एकीकरण की ओर है जिसका अर्थ है हृदय और मस्तिष्क का समन्वय। जो कि सच्ची राष्ट्रीयता का आधार है।

#### **सामाजिक विकास करना :**

इस उद्देश्य के अनुसार व्यक्ति की अपेक्षा समाज या राज्य का स्थान ऊँचा है। समाज के हित के लिए व्यक्ति को अपना सब-कुछ बलिदान कर देना चाहिए। व्यक्ति समाज का एक अंग है, एक घटक है, उसका विकास समाज में रहकर होता है। उसकी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति समाज में रहकर होती है, देखा जाए तो व्यक्ति का जीवन समाज का दिया हुआ है अथवा कहा जा सकता है कि व्यक्ति समाज का ऋणी है। ऐसी स्थिति में समाज को प्रत्येक व्यक्ति से सेवा प्राप्त करने का अधिकार है तथा समाज का बदला चुकाना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। इस दृष्टि से जयप्रकाश नारायण समाजवादी ढाँचे के समाज की स्थापना के लिए कुछ मुख्य साधनों को आवश्यक मानते हैं, जैसे शिक्षा का अधिक-से- अधिक विस्तार हो, जिससे कि नागरिक अपने अधिकार एवं कर्तव्यों को ठीक से समझ सकें।

#### **नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का विकास करना :**

जयप्रकाश नारायण का कहना था कि शिक्षा का उद्देश्य नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास होना चाहिए। अपने लेखों में उन्होंने अनेक नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों की चर्चा की है और इनकी प्राप्ति के लिए आंतरिक स्वतंत्रता, आंतरिक शक्ति, आत्मानुशासन, धैर्य एवं ज्ञान को परमावश्यक माना है।

जयप्रकाश नारायण आगे कहते हैं कि शिक्षा का मुख्य उद्देश्य नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों पर बल देना है। उनका आवश्यक चिंतन, आत्मा, मनुष्य और मनुष्य की अंतरात्मा का पतन है, जो पूरे विश्व में घटित हो रहा है। यही मुख्य बीमारी शिक्षा के द्वारा समाप्त की जानी चाहिए।

#### **विश्वविद्यालय शिक्षा का उद्देश्य :**

जयप्रकाश नारायण आशा करते हैं कि विश्वविद्यालय से लेकर प्राइमरी स्कूल तक सभी शैक्षिक संस्थाओं को इस पवित्र कार्य को पूरा करना चाहिए। उनका सही उद्देश्य और मूल्यों पर जोर देना जो कि निश्चित रूप से बौद्धिक है, शिक्षा के सभी स्तरों पर लागू होता है। जयप्रकाश नारायण पूर्णतावादी थे जैसा कि एक शिक्षाशास्त्री को होना चाहिए। उनका विचार था कि यह प्रत्येक राज्य का कर्तव्य है कि वह देश के प्रत्येक बच्चे को अच्छी शिक्षा प्रदान करें।

### **व्यावसायिक उद्देश्य :**

जयप्रकाश नारायण की शिक्षा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य व्यवसायीकरण पर बल देना है। जय प्रकाश नारायण बालकों में व्यवसायिक योग्यता का विकास शिक्षा के हर स्तर पर करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने पाठ्यक्रम में प्रशिक्षित और योग्य व्यक्तियों के द्वारा औद्योगिक और कृषि के विकास के कार्यक्रम बनवाये जाने पर जोर दिया। प्राथमिक स्तर के उपरांत जयप्रकाश नारायण अधिसंख्यक विद्यार्थियों के माध्यमिक स्तर को इस शिक्षा का अंतिम पड़ाव मानना चाहते थे। 'उन्हें अतिरिक्त प्रशिक्षण लेना चाहिए अथवा वे एक अच्छे किसान, अच्छे दुकानदार अथवा अच्छे शिल्पकार बन सकते हैं।' जयप्रकाश नारायण बच्चों की इस प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था के पक्षपाती थे, जो रोजगारोन्मुख हो और उन्हें किसी विशिष्ट व्यवसाय से जोड़ती हो।

### **सत्य की खोज करना :**

जयप्रकाश नारायण जी के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य सत्य की खोज करना है। उनके अनुसार ये मूल्य हैं— सहनशीलता, दया और निडरता से सत्य की तलाश, जो मस्तिष्क की संकीर्णता पर निर्भर न होकर प्रकाश को किसी भी श्रोत से प्राप्त करने में निहित है।

### **सत्यं, शिवं, सुंदरम् की कल्पना करना :**

जयप्रकाश नारायण शिक्षा का एक उद्देश्य सत्यम् शिवम् सुंदरम् की कल्पना भी मानते थे। जयप्रकाश नारायण मुख्य रूप से लचीले ढाँचे में विश्वास नहीं रखते थे और चिंतित रहते थे कि हमें श्रोतों को शैक्षिक प्रक्रिया में खर्च करना चाहिए न कि ईंट-पत्थर पर। सुंदरता के विषय में जयप्रकाश नारायण के विचार गहरे थे जोकि व्यक्ति अपने जीवन में अनुभव करता है।

### **बच्चों के प्रति प्रेम पर बल :**

जयप्रकाश नारायण बच्चों के प्रति प्रेम पर बल देते थे। उनकी शिक्षा में रूचि मूलतः उनकी लोगों में रूचि से शुरू होती है। क्योंकि एक अच्छी सामाजिक व्यवस्था एक अच्छे मानवीय व्यक्तित्व के पालन-पोषण का ही श्रोत है और उनकी रूचि बच्चों में अधिक है जिनके लिए शिक्षा का सच्चा अर्थ एकांत और प्रेम होता है।

### **भाषा की शिक्षा पर बल :**

अपनी व्यक्तिगत उदारता के दर्शन को राष्ट्रीयता के साथ-साथ अंतर्राष्ट्रीय नीतियों में उतारकर जयप्रकाश नारायण ने बहादुरी के साथ संकीर्णता के खतरे के विरुद्ध संघर्ष किया है। जयप्रकाश नारायण अँग्रेजी और दूसरी भाषाओं के शिक्षण का स्वागत करते हैं।

### **राष्ट्रीयता का विकास करना :**

जयप्रकाश नारायण राष्ट्रवादी होने के नाते शिक्षा को राष्ट्रीय जागृति का उत्तम व सफल साधन मानते थे। उनका मत है कि देश को सुदृढ़ बनाने के लिए हमें अपने सभी मतभेदों को भुलाना होगा, पृथक्तावाद की भावना समाप्त करनी होगी तथा सभी समस्याएँ परस्पर मिलजुलकर हल करनी होंगी। इन सभी कार्यों को हम शिक्षा के द्वारा ही पूर्ण कर सकते हैं।



### अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास करना :

जयप्रकाश नारायण के अनुसार शिक्षा का अंतिम उद्देश्य बालक में अंतर्राष्ट्रीयता की भावना का विकास करना है। वे अंतर्राष्ट्रीय समाज के समर्थक थे और विश्व में एकता स्थापित करना चाहते थे। वे एक महान राष्ट्रवादी होने के साथ-साथ महान अंतर्राष्ट्रवादी भी थे। उनके शैक्षिक उद्देश्यों का आज की परिस्थितियों में विशेष महत्त्व है और जो बच्चों के सर्वांगीण विकास के लिए आधार प्रदान करते हैं।

#### संदर्भ

1. जयप्रकाश नारायण, सिंहासन खाली करो, भूदान यज्ञ प्रकाशन, 19, राजघाट कालोनी, नई दिल्ली
2. जयप्रकाश नारायण, संपूर्ण क्रांति के लिए आह्वान, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, राजघाट वाराणसी, 1974
3. जयप्रकाश नारायण, मेरी विचार-यात्रा, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, 1974
4. जयप्रकाश नारायण, संपूर्ण क्रांति की खोज में, मेरी विचार-यात्रा भाग-2, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, 1978
5. जयप्रकाश नारायण, तूफानी लहरों की चुनौती, तरुण शांति सेना प्रकाशन, संघर्ष कार्यालय, कदमकुआँ, पटना
6. जयप्रकाश नारायण, लोक स्वराज्य, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी 1974
7. जयप्रकाश नारायण, छात्रों के बीच, अखिल भारत सर्वसेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, काशी 1956
8. जयप्रकाश नारायण, जीवनदान, अखिल भारत सर्वसेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, काशी, 1955
9. जयप्रकाश नारायण, शिक्षण और शांति, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी 1966 (मैसूर विश्वविद्यालय में दीक्षांत भाषण)
10. जयप्रकाश नारायण, ग्रामदान और देश की समस्याएँ, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, 1965
11. जयप्रकाश नारायण, आज से आगे, तरुण शांति सेना प्रकाशन, संघर्ष कार्यालय, कदमकुआँ, पटना
12. जयप्रकाश नारायण, मेरी जेल डायरी, राजपाल एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली, 1977

## माध्यमिक स्तर पर स्काउट गाइड कार्यक्रम की भूमिका

श्रीमती कुसुमलता

प्रवक्ता

आर०जी० इंटर कॉलिज, मेरठ (उ०प्र०)

किसी भी देश की उन्नति एकता और बालक-बालिकाओं के शारीरिक, मानसिक व आध्यत्मिक उन्नति के लिए स्काउट/गाइड कार्यक्रम को संपूर्ण विश्व में सशक्त माध्यम भावृत्त में सम्मिलित होकर वर्तमान शिक्षा के संपूरक के रूप में अपने देश को सुनागरिक बनने की ओर अग्रसर कर रहा है। माध्यमिक स्तर पर स्काउट/गाइड की भूमिका इस प्रकार है।

### 1. मैं के स्थान पर हम की भावना का विकास :

कार्यक्रम के प्रशिक्षण में टोली की अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका होती है। टोली में रहकर ही स्काउट/गाइड को जिम्मेदारी निभाना सिखाया जाता है। जिससे उनमें उत्तरदायित्व की भावना विकसित होती है।

मेले अथवा सामूहिक आयोजन में मार्ग दिखाना जानकारी देना, यात्र के समय भटके हुए यात्री को सही जानकारी देना, प्रार्थना, प्रतिदिन भलाई का एक कार्य से मैं के स्थान पर हम की भावना का विकसित होती है जो हमारे व्यक्तित्व के विकास में सहायक होता है।

### 2. बौद्धिक क्षमता व तार्किक शक्ति का विकास :

गाइड कार्यक्रम के माध्यम से बालक एवं बालिकाओं में तार्किक एवं बौद्धिक क्षमता का विकास होता है। जैसे साधनों के आभाव में भोजन बनाना, उपलब्ध साधनों द्वारा तंबू का निर्माण करना, प्राथमिक चिकित्सा के द्वारा तत्काल उपचार करना, आपदा के समय साहस का परिचय देना आदि कार्यों से स्काउट/गाइड अपनी बौद्धिक एवं तार्किक शक्ति का विकास करते हैं।

### 3. मानव सेवा की भावना का विकास :

स्काउट/गाइड कार्यक्रम में मानव सेवा का महत्वपूर्ण स्थान है। स्काउट/गाइड दूसरों की सहायता के लिए प्रतिज्ञा लेता/लेती है। स्काउटिंग/गाइडिंग के माध्यम से बालक एवं बालिकाओं में बचपन से सेवा भाव का कार्य और दूसरों की सहायता करने का अभ्यास हो जाता है। स्काउट/गाइड निःशुल्क और निस्वार्थ भाव से समाज सेवा का कार्य करते हैं। यह कार्य घर से शुरू हो जाता है। जैसे बड़े बूढ़ों की सेवा करना, गरीब व पीड़ितों की सेवा करना, भोजन परोसना, जूतों पॉलिश करना, साक्षर बनाने में सहायता देना।

यात्रा में ज़रूरतमंदों की सहायता करना, बाढ़, भूकंप अन्य आपदाओं में सक्रिय

भूमिका अदा करना, पेड़-पौधों को सुरक्षित रखना, पानी देना पशुपक्षियों के प्रति दया करना, मेले में भूले-भटकों की सहायता करना आदि मानव सेवा को ओत-प्रोत करना है।

#### 4. शारीरिक विकास एवं स्वास्थ्य :

वर्तमान में समाज का शारीरिक स्वास्थ्य दिन प्रतिदिन गिरता जा रहा है। स्काउटिंग/गाइडिंग कार्यक्रम में आसन, प्राणायाम, खेलकूद/तैरना आदि के प्रशिक्षण से उनका शारीरिक विकास किया जाता है। अपना कार्य स्वयं करना, सफाई करना, लकड़ी चुनकर लाना, भोजन बनाना, श्रम आदि कार्य करने से स्काउट/गाइड फुर्तीले रहते हैं। स्काउट/गाइड कार्यक्रम के अंतर्गत गाइड/स्काउट शिशु परिचारिका एवं रोगी परिचारिका प्राथमिक उपचार करना सीखते हैं। चरित्र निर्माण-स्काउट/गाइड कार्यक्रम के अंतर्गत अपना चरित्रगत विकास करते हैं।

स्काउट/गाइड के नौ नियम जो नैतिकता से परिपूर्ण हैं। इनके पालन-मात्र से ही सद्आचरण का विकास होने लगता है। प्रत्येक स्काउट/गाइड एक-दूसरे को भाई-बहन मानते हैं। स्काउट/गाइड शिविर में अपने व्यक्तित्व विकास के साथ आत्मसम्मान, आत्मगत भाव सत्य अहिंसा आदि नैतिक गुणों का विकास होता है।

महापुरुषों के बारे में वार्ता करके चरित्र का निर्माण होता है। उदाहरणस्वरूप एक बार स्वामी विवेकानंद बाल्यकाल में ही अपनी ऊनी शाल एक दीन दुःखी व्यक्ति को देकर घर गए। उन्हें इस तरह देख माँ पूछे बैठी 'क्यों नरेंद्र ऊनी शाल कहाँ है? बालक नरेंद्र ने कहा, 'माँ मैंने सड़क पर खड़े भिखारी को दे दिया।'

माँ उनके ऊपर क्रोध करके बोली, 'यह तुम क्या करते हो? यदि तुम ऐसे ही करोगे तो मैं तुम्हें कमरे में बंद कर दूँ।' कुछ दिनों के बाद नरेंद्र ने पुनः उसी कार्य को दोहराया। माँ ने तंग होकर उन्हें कक्ष में बंद कर दिया।

कक्ष में एक खिड़की थी, जो सड़क की ओर खुलती थी। कुछ देर नरेंद्र चुपचाप बैठे रहे। अचानक उन्हें एक आवाज़ सुनाई पड़ी—'बाबा तेरा भला हो, बहुत ठंड लग रही है। हे ईश्वर! तू मेरी सहायता कर नहीं तो इस ठिठुरन में मर जाऊँगा।'

दयावान नरेंद्र की आँखों में आँसू छलछला आए। उन्होंने तुरंत कमरे में खूँटी पर टँगे अपने पिता का कोट खिड़की से बाहर फेंक दिया। पुकारनेवाला व्यक्ति कोट पहनकर आशीर्वाद देता हुआ चला गया। कुछ देर के बाद जब माँ ने कमरे का दरवाजा खोला, तब देखा नरेंद्र उस समय भी किसी अर्द्धनग्न व्यक्ति को कपड़े उतारकर दे रहे थे। उनकी सहृदयता को देख माँ स्वयं भी अभिभूत हो उठीं और गले से लगा लिया।

इस प्रकार नैतिकता-भरी कहानी सुनने से बालक एवं बालिकाओं में परोपकार की भावना अर्थात् दूसरे की सहायता, स्वयं में अनुशासन भावना विकसित होगी, जो आज के समय में लगातार ये भावनाएँ गिरती जा रही हैं। जो स्काउट/गाइड माध्यम से ओत-प्रोत की जा सकती है, जिससे वसुधैव कुटुंबकम् की भावना का विकास होता है।

#### 5. कम संसाधनों के साथ सुखमय जीवन :

स्काउट/गाइड कार्यक्रम के माध्यम से कम संसाधनों में सुखमय जीवन कैसे बिताया जाए जैसे तंबू निर्माण, खुले में खाना बनाना, प्राथमिक चिकित्सा सहायता करना और आपस में सहयोग की भावना विकसित होती है।

## 6. प्रकृति प्रेमी एवं पर्यावरण :

पर्यावरण दो शब्दों से मिलकर बना है परि+आवरण अर्थात् चारों तरफ का वातावरण से है। स्काउट गाइड कार्यक्रम के माध्यम से स्वच्छता, चेतना, शिविर, वृक्षारोपण महोत्सव, श्रमदान द्वारा पेड़ पौधों को लगाना, सफाई स्वच्छता, विश्वसंरक्षण-भू-संरक्षण, बागवानी, प्राकृतिक विज्ञान स्वच्छ प्रेरक आदि कार्य से स्काउट/गाइड जनसाधारण को प्रेरित करता है। तथा स्वयं भी इस उद्देश्य की पूर्ति में क्रियाशील रहते हैं।

1. पर्यावरण/संतुलन के लिए कार्य करते हैं।
2. वृक्षों की कटाई विरुद्ध प्रचार करती हैं।
3. पर्यावरण प्रदूषण के प्रति जागरूकता लाती है।
4. भूमि कटाव की बरबादी रोकने हेतु उपाय करना।
5. पर्यावरण संस्थाओं से संबंधित जानकारी रखता है।

## 7. हस्तकाल और कौशल के विकास के साथ विकास में सहायक :

स्काउट/गाइड कार्यक्रम के सहयोग से बालक एवं बालिकाओं में हस्तकला और कौशल का विकास होता है जैसे पाक कला, रोगी का परिचारिका बनना, कृषिकार्य, वस्त्रों की धुलाई करना, सूत कातना आदि गुणों का विकास होता है। घर में आने बच्चों का पालन-पोषण करते हुए स्काउट/गाइड अपने परिवार को अच्छे से प्रसन्नचित सहयोगी बनकर सुखी गृह-निर्माण कर सकता है।

## 8. आदर्श नागरिकता एवं देशभक्ति की भावना :

स्काउट/गाइड कार्यक्रम के माध्यम से बालक एवं बालिकाओं में स्वावलंबन की विधियों का ज्ञान कराते है जैसे हस्तकलाओं का ज्ञान कारना, कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाना, स्वास्थ्य के प्रजि जागरूकता, अभियान, सफाई की व्यवस्था करना, रोगी की सेवा करना आदि गुणों का विकास होता है, जो हमारे आदर्श नागरिक होने के परिचायक तो है साथ में हमारे अंदर देशभक्ति की भावना को भी जाग्रत करते है। हमारे आदर्श नागरिक के रूप में विद्यालय, गाँव जिला, प्रदेश को लाभान्वित करती हुई विश्वबंधुत्व की भावना को विकसित करता है।

### निष्कर्ष :

अतः सच्ची शिक्षा वह है, जो बालकों की आत्मिक, बौद्धिक और शारीरिक क्षमताओं को उसके अंदर से बाहर प्रकट करें और उत्तेजित करें। माध्यमिक विद्यालय स्तर पर स्काउट/गाइड कार्यक्रम से बालक एवं बालिकाओं को बहुआयामी व्यक्तित्व का विकास होता है। इससे आदर्श नागरिक बनने का मार्ग प्रशस्त होता स्काउट गाइड प्रशिक्षण के माध्यम से बच्चों में संयम, परोपकार, अनुशासन आदि भावनाओं का विकास होता है जिसके परिणामस्वरूप उनमें व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही जीवन में सामंजस्य स्थापित करने की योग्यता का विकास होता है। इस तरह यह प्रशिक्षण 'वसुधैव कुटुंबकम्' की भावना को विकसित करने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है।

अतः मेरा मानना है कि स्काउट/गाइड प्रशिक्षण के लिए स्कूल/विद्यालय में ऐसा ढाँचा

विकसित होना चाहिए, जिससे कि प्रत्येक छात्र/छात्रा को प्रशिक्षण प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हो सके। प्रशिक्षण कार्यक्रमों का सतत मूल्यांकन की प्रक्रिया का विकास होना चाहिए, जिससे कि समय रहते ही उत्पन्न समस्याओं का निवारण किया जा सके।

### संदर्भ

1. स्काउट/गाइड शिक्षा बेसिक शिक्षा परिषद उ०प्र० (कक्षा 6, 7 एवं 8 के लिए)
2. स्काउटिंग फॉर व्वाँज लार्ड वेडेन पावेल
3. माध्यम
4. गागर के सागर की ओर, कृष्णचंद्र अग्रवाल
5. <http://www.statemeastercom/encyclopedia/Bharat Scout and Guides>.

# माध्यमिक विद्यालय स्तर पर नैतिक शिक्षा की उपादेयता एवं भूमिका

श्रीमती कुसुमलता

प्रवक्ता

आर०जी० इंटर कॉलेज, मेरठ

## 1. प्रस्तावना

किसी देश या समाज की वास्तविक शक्ति तथा संपन्नता का मूल्यांकन वहाँ के विशाल भवनों, कल-कारखानों, उद्योगों मात्र से ही नहीं, अपितु वहाँ के नागरिकों के चारित्रिक बल तथा कार्यक्षमता के स्तर से लगाया जाता है, मानवमूल्य के विषय में लाला लाजपतराय का कथन बहुत प्रासंगिक है—

‘किसी राष्ट्र की संपत्ति उसकी धनराशि नहीं होती, बल्कि उस देश के नागरिकों का स्वस्थ शरीर, उनकी शक्तिपूर्ण रक्त-धमनियाँ, उनका विशाल हृदय और उनका सहचरित्र ही उस देश की वास्तविक संपत्ति है।’

नैतिकता समाज का एक ऐसा दिव्य गुण है, जिससे ऐसी महान शक्ति का संचार होता है कि राष्ट्र एवं समाज उन्नति के शिखर की ओर अग्रसर होते रहते हैं। नैतिकता से वंचित बुद्धि का विकास अव्यवस्था और विनाश को आमंत्रित करता है। मूल्य मनुष्य में निहित वह गुण होता है, जिसके आधार पर व्यक्ति के विचार और लक्ष्य निर्धारित होते हैं और मूल्य ही व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् आर्थिक, औद्योगिक, वैज्ञानिक तथा शैक्षिक क्षेत्र में निःसंदेह भारत में उन्नति हुई है, लेकिन हम न्यायप्रिय, खुशहाल और स्वस्थ समाज का निर्माण नहीं कर पाए। उपभोक्तावाद का जन्म हुआ, जिसमें समष्टिहित को व्यष्टिहित तक ही सीमित कर दिया है। आज स्वार्थपरता, लोलुपता तथा अपने-पराए का जो कटु वातावरण फैल रहा है, उसका मूल कारण नैतिक गुणों का ही अभाव है। भारत नैतिक गुणों से संपन्न राष्ट्र रहा है, जिसका प्रेरक वाक्य है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे संतु निरामयाः

सर्वेभद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत्

इस प्रेरक वाक्य से हम सब दूर हटते जा रहे हैं। इसका कारण है नैतिक शिक्षा का अभाव, आज नैतिक गुणों का बच्चों में विकास करना समय सापेक्ष है।

## 2. नैतिक शिक्षा का अर्थ :

नैतिक शब्द ‘नी’ धातु से बना है, जिसका अर्थ है—ले जाना, निर्देश, दिग्दर्शन, प्रबंध, आचरण, नियम, औचित्य आदि। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि समाज द्वारा निर्धारित मूल्य, नियम

जो उपयोगी, वांछनीय आवश्यकता की पूर्ति करते हैं, उनके अनुसार छात्र/व्यक्तियों को निर्देशन दिया जाना ही नैतिक शिक्षा कहलाती है। नैतिकता को समाज द्वारा निर्धारित किया जाना नैतिक शिक्षा कहलाती है। नैतिकता को समाज द्वारा निर्धारित नियम के अनुसार चलने की विधि भी कहा जा सकता है, क्योंकि वे नियम जिन पर चलने से मानव का लौकिक और पारलौकिक कल्याण हो, समाज में स्थिरता, शांति और संतुलन बना रहे। नीतिशास्त्र के विद्वानों का मत है कि समाजिक हित नैतिकता का प्रमुख मापदंड है। 'नीति वस्तुतः एक आचार-संहिता है। मानव इसी के ज्ञान से कर्तव्य, अकर्तव्य का निर्णय करके धर्म के प्रति आकृष्ट एवं अधर्म से विरत होता है।' हवार्ट महोदय ने कहा है कि निरंतर प्रवृत्तियों का दमन एवं उच्चतर विचारों का सृजन ही नैतिकता है।

अरस्तु का कहना है कि मानव में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ होती हैं—आवेगिक एवं पाशविक। बौद्धिक एवं मानवीय द्वितीय प्रकार की प्रवृत्ति नैतिकता का आधार है।

### 3. राष्ट्रीय शिक्षा आयोग (1964-66) :

कोठारी आयोग या राष्ट्रीय शिक्षा आयोग ने सुझाव दिया है कि छात्रों में (नैतिक शिक्षा) दया, परोपकार, सहानुभूति, नैतिक एवं चारित्रिक मूल्यों के विकास पर ध्यान दिया जाए। धार्मिक पाठ्यक्रम तैयार करने में सभी धर्मों के विद्वानों की सहायता ली जाए। प्राथमिक स्तर पर विश्व के महान धर्मों के सिद्धांतों की सहायता ली जाए। विभिन्न धर्मों के सिद्धांतों एवं धर्मों को पढ़ा जाए। विश्वविद्यालय स्तर पर भी स्नातक प्रथम वर्ष में विभिन्न धर्मों का सामान्य अध्ययन, धार्मिक नेताओं की जीवनी पढ़ाई जाएँ। द्वितीय वर्ष में सर्वाभौमिक अंश पढ़ाए जाएँ। तृतीय वर्ष में दर्शन की प्रमुख समस्याओं का अध्ययन कराया जाए। विश्वविद्यालय स्तर पर तुलनात्मक धर्म को पढ़ाया जाए।

### 4. कोठारी आयोग के सुझाव ( धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा के संबंध में ) माध्यमिक विद्यालय स्तर :

- (अ) छात्रों को सत्यता, ईमानदारी, जीवों पर दया, अपने से बड़ों का आदर, दूसरों के प्रति सहानुभूति आदि मूलभूत नैतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा दी जाए।
- (ब) उपर्युक्त मूल्यों को विद्यालय के कार्यक्रम में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाए।
- (स) उपर्युक्त मूल्यों की शिक्षा के लिए विद्यालय की समय-सारणी में प्रति सप्ताह कुछ घंटे निर्धारित किए जाएँ।
- (द) पाठ्यक्रम में सभी धर्मों को उचित स्थान प्रदान किया जाए।
- (य) संपूर्ण देश के लिए समान पाठ्यक्रम की समान पुस्तक तैयार कराने के लिए धार्मिक विद्वानों की सहायता ली जाए।
- (र) प्राथमिक स्तर पर भारत-सहित विश्व के महान धर्मों से ली गई रोचक कथाओं के माध्यम से मूलभूत मूल्यों और जीवन-समस्याओं की शिक्षा दी जाए।
- (ल) माध्यमिक स्तर पर शिक्षक और विद्यार्थियों द्वारा उपर्युक्त मूल्यों और समस्याओं पर विचार-विमर्श किया जाए।
- (व) माध्यमिक स्तर की उच्च कक्षाओं में महान धार्मिक और आध्यात्मिक व्यक्तियों को जीवनीयाँ पढ़ाई जाएँ अर्थात् जीवन से संबंधित कहानियाँ पढ़ाई जाएँ।

विभिन्न धर्मों के प्रमुख सिद्धांतों का अध्ययन किया जाए।

### माध्यमिक विद्यालयों में नैतिक शिक्षा की आवश्यकता :

वर्तमान परिपेक्ष्य में नैतिक शिक्षा की आवश्यकता गिरते हुए नैतिक मूल्यों के कारण अति आवश्यक है। हमारे देश के उत्कृष्ट मूल्यों—वसुधैव कुटुंबकम् की भावना, अतिथि देवो भवः, मातृदेवो भवः, पितृदेवो भवः, आचार्य देवो भवः आदि से छात्र/व्यक्ति दूर भागता जा रहा है, जबकि प्राचीन समय से यह माना जाता है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः

चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्।

अर्थात् अभिवादनशील और हमेशा वृद्धों की सेवा करने से मनुष्य की आयु, विद्या, यश और बल बढ़ता है। ये सभी मूल्य धीरे-धीरे कम होते जा रहे हैं। आज हिंसा, लालच, चोरी, ईर्ष्या, अविश्वास, अनास्था आदि अवगुण व्यक्ति के व्यक्तित्व में स्पष्ट परिलक्षित हो रहे हैं। इतना ही नहीं, माध्यमिक विद्यालयों में नैतिक मूल्यों की ओर ध्यान न देने के कारण छात्रों में उद्दंडता, अविनयशीलता, अहंकार, गुरुजनों के निर्देशों के प्रति अवहेलना, परीक्षा-भवन में नकल करने से रोकने पर कक्ष-निरीक्षक पर प्रहार आदि अवगुणों के प्रति छात्र की बढ़ती प्रवृत्ति को रोकने के लिए नैतिक-शिक्षा की आवश्यकता है। बढ़ती जनसंख्या, गरीबी, बेकारी, आतंक, पर्यावरण-प्रदूषण आदि नैतिक मूल्यों में गिरावट के प्रमुख कारण हैं। इन समस्याओं से मुक्ति पाने तथा मानवीय कल्याण-चेतना को विकसित करने हेतु नैतिक शिक्षा की आवश्यकता है।

### 5. नैतिक शिक्षा का महत्त्व :

नैतिक शिक्षा के संबंध में विभिन्न शिक्षाशास्त्रियों ने अपने मत इस प्रकार प्रस्तुत किए हैं—

श्री प्रेमचंदजी के शब्दों में, 'जीवन को सफल बनाने के लिए शिक्षा की जरूरत है, डिग्री की नहीं। हमारी डिग्री है— हमारा सेवाभाव, नम्रता, जीवन की सरलता आदि। ...यदि डिग्री नहीं मिली, अगर हमारी आत्मा जाग्रत नहीं हुई तो कागज़ की डिग्री व्यर्थ है।'

जी० जांटाइल के अनुसार, 'जिस शिक्षा-संस्था में नैतिक शिक्षा का समावेश नहीं है, वह विद्यालय निरर्थक है।'

रामकृष्णन, 'कमीशन ने नैतिक शिक्षा के महत्त्व को स्वीकारते हुए कहा कि यदि हम अपनी शिक्षा-संस्थाओं से आध्यात्मिक शिक्षण को अलग कर दें तो हम अपने संपूर्ण ऐतिहासिक विकास के विरुद्ध कार्य करेंगे।'

अतः हम सार रूप में नैतिक शिक्षा के महत्त्व को निम्नलिखित बिंदुओं के अंतर्गत स्पष्ट कर सकते हैं—

1. नैतिक शिक्षा, शिक्षा की आधार शिक्षा है।
2. नैतिक शिक्षा के द्वारा बालकों के व्यवहार, आचरण एवं क्रियाकलापों में मानवीय दृष्टिकोण विकसित होता है। बालकों में सहयोग, उदारता, नम्रता और सहनशीलता की भावना विकसित होती है।
3. नैतिक शिक्षा के द्वारा विश्वबंधुत्व तथा सर्वधर्म की भावना विकसित होती है।
4. नैतिक शिक्षा के द्वारा मानव-समाज में सहअस्तित्व, सुख, शांति एवं समृद्धि का



- मार्ग प्रशस्त होगा और युद्धों तथा अशांति के वातावरण से छुटकारा मिलेगा।
5. नैतिक गुणों से संपन्न नागरिक राष्ट्र के चरित्र की रक्षा कर सकते हैं और समाज में फैली कुरीतियों से मुक्ति दिला सकते हैं।
  6. नैतिक शिक्षा के द्वारा व्यक्ति को संसार का वास्तविक ज्ञान होता है और समुचित आदतों का निर्माण होता है।

उपर्युक्त महत्त्व एवं आवश्यकता को देखते हुए शिक्षण-संस्थाओं में नैतिक शिक्षा की व्यवस्था करना आवश्यक है। इस हेतु संगठित प्रयास किया जाएँ।

#### उपसंहार :

समाज को उन्नति के पथ पर अग्रसर करते रहने के लिए आवश्यक है कि छात्र में नैतिक मूल्यों (बड़ों का सम्मान करना, सहानुभूति, दया, निष्कपटता, आत्मनियंत्रण, कर्म के प्रति निष्ठा) का विकास किया जाए। हम सभी का यह प्रयास होना चाहिए कि विद्यालय-परिवार पूरे समाज को सुवासित करे और सतत लोकसेवा में तत्पर हो। यही हमारी नैतिक शिक्षा की संकल्पना का मूल आधार है। नैतिक शिक्षा से जुड़ी निम्नलिखित पंक्तियाँ विद्यार्थियों के लिए बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं—

सदा सत्य बोलो, धर्म का पालन करो।

स्वाध्याय में कभी आलस मत करो।

भूलकर भी सत्य का साथ मत छोड़ो।

अपने मन को शांत करो। अपने स्वास्थ्य का संवर्धन करो।

सदा कल्याण के सत्यपथ पर चलो।

जितनी लगन से सीखो, उतनी ही लगन से संसार को सिखाओ।

देवताओं और पितरों के कार्यों में प्रमाद न करो।

देवस्वरूप माता, पिता, गुरु तथा अतिथि की सदा सेवा और सत्कार करो।

वेदों तथा उपनिषदों का यही आदेश है, यही उपदेश तथा सच्चा ज्ञान है, यही अनुशासन है, प्रतिदिन इसी की उपासना करो, यही तुम्हारे जीवन का व्रत हो।

नैतिक गुणों से पूर्ण दी जानेवाली यह शिक्षा ही समाज के विकास की महत्त्वपूर्ण पहचान है। विकास के लिए परिस्थितियाँ विपन्न होते हुए भी व्यक्तियों का नैतिक आधार सुदृढ़ हो और हर व्यक्ति देश और समाज के प्रति अपने दायित्व को समझकर उनके निर्वाह के लिए जुट पड़े तो कोई कारण नहीं कि प्रगति अग्रगामी न हो सके। किसी भी विकसित राष्ट्र का इतिहास खोजा जाए तो यही देखा जाएगा कि वहाँ के नागरिकों ने नैतिक उत्थान का प्रयास किया और समृद्धि सहचरी बनकर साथ चली आई।

#### संदर्भ

1. शिक्षा के आयाम, डॉ॰ शंकरदयाल शर्मा
2. भारतीय शिक्षा का विकास एवं सामयिक समस्याएँ, डॉ॰ मालती सारस्वत
3. शिक्षा तथा मानवमूल्य, प्रो॰ एस॰एल॰ गौतम
4. मूल्य आधारित शिक्षा, डॉ॰ अश्विनी शर्मा

## बालसाहित्य में अनुसंधान

डॉ० नागेश पांडेय 'संजय'

हिंदी में बालसाहित्य का जहाँ लगभग सौ वर्षों का समृद्ध इतिहास है, वहीं बालसाहित्य में अनुसंधान की परंपरा का विकास हुए भी पचास वर्ष से अधिक समय व्यतीत हो चुका है। इस कालावधि में बालसाहित्य और उसके विविध पक्षों पर बहुत महत्वपूर्ण शोध-प्रबंध लिखे गए हैं। यदि बालसाहित्य में संपन्न शोधों/लघु-शोधों की गणना की जाए तो उनकी संख्या दो सौ से भी ऊपर होगी। निःसंदेह, बालसाहित्य में अनुसंधान की यह चामत्कारिक प्रगति स्वयं में गौरवपूर्ण है, क्योंकि किसी भी अन्य भाषा के बालसाहित्य पर इतने अधिक शोध-प्रबंधों का उल्लेख नहीं मिलता।

भारत में बालसाहित्य पर प्रथम अनुसंधान 1952 में श्रीमती ज्योत्सना द्विवेदी ने किया। यह वह काल था, जब बालसाहित्य में आलोचनात्मक सामग्री थी ही नहीं। और यदि कुछ था भी तो बालसाहित्य पर एकाध लेख और कृष्णविनायक फड़के की पुस्तक 'बालदर्शन' (1946), जिसमें मूलतः बालक और उसके मनोविज्ञान की चर्चा है। ऐसे में बालसाहित्य पर अनुसंधान की पहल करना निःसंदेह अभूतपूर्व साहस और समर्पण का विषय था, जिसके लिए सुश्री द्विवेदी की जितनी भी सराहना की जाए, कम होगी।

'हिंदी किशोर साहित्य' शीर्षक से संपन्न सुश्री द्विवेदी का उक्त अनुसंधान यद्यपि लघु शोधप्रबंध रूप में था और इसकी रचना एम०एड० उपाधि की आंशिक अभिपूर्ति हेतु की गई थी, किंतु बालसाहित्य में अनुसंधान की दृष्टि से भी ज्योत्सना द्विवेदी का उक्त प्रयास हिंदी में पहला और अनूठा है। निःसंदेह, उन्होंने बालसाहित्य के क्षेत्र में अनुसंधान की परंपरा का सूत्रपात किया। बालसाहित्य में पी-एच.डी. हेतु संभावनाओं का मार्ग प्रशस्त हुआ।

भारत में बालसाहित्य पर सर्वप्रथम पी-एच.डी. उपाधि 1960 में सुश्री आशा गंगोपाध्याय को कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्राप्त हुई। उनके शोधप्रबंध का विषय था-बांग्ला शिशु साहित्येर क्रम विकास।'

1966 में किताब महल, इलाहाबाद से प्रकाशित निरंकारदेव सेवक की कृति 'बालगीत साहित्य' किसी भी पी-एच०डी० स्तर के शोध से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। इसकी पांडुलिपि को देखकर उनके एक मित्र ने कहा भी था- 'यह तुमने बिल्कुल नए विषय पर इतना काम किया है। इस पर तो तुम्हें किसी विश्वविद्यालय से डॉक्टरेट मिल सकती है। सेवक जी ने उक्त प्रसंग को हँसकर टाल दिया था। फिलहाल उनकी कृति ने हिंदी-बालसाहित्य में अनुसंधान को दिशा दी और बहुतों को 'डाक्टरेट' मिली।

अब तक बालसाहित्य के क्षेत्र में पी-एच०डी० उपाधि हेतु सौ से अधिक शोधप्रबंध लिखे जा चुके हैं और कोई 50 के लगभग शोधप्रबंध लेखन की प्रक्रिया में हैं। ये प्रबंध स्वतंत्र

रूप से बालसाहित्य पर बालसाहित्य की विभिन्न विद्याओं पर, अन्य भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन पर, बाल-पत्रकारिता पर और बालसाहित्य लेखकों के व्यक्तित्व-कृतित्व पर केंद्रित हैं। इनका संक्षिप्त विवरण निम्नांकित है-

#### स्वतंत्र रूप से बालसाहित्य पर केंद्रित

1. हिंदी बालसाहित्य : एक अध्ययन, डॉ० हरिकृष्ण देवसरे, जबलपुर विश्वविद्यालय, 1968
2. हिंदी बालसाहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन, डॉ० मस्तराम कपूर 'उर्मिल', सरदार पटेल विश्वविद्यालय, गुजरात 1968
3. हिंदी बालसाहित्य, डॉ० ज्योतिस्वरूप, आगरा, 1971
4. हिंदी बालसाहित्य, डॉ० श्रीप्रसाद, काशी विद्यापीठ 1973
5. हिंदी शिशु साहित्य का कथ्य और शिल्पपरक समीक्षात्मक अध्ययन, डॉ० एस०के० गुप्त, आगरा 1982
6. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी-बालसाहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन, डॉ० मंजु गोयल, मेरठ, 1982
7. आधुनिक हिंदी में बालसाहित्य का विकास, डॉ० विजयलक्ष्मी सिन्हा, जबलपुर, 1983
8. हिंदी बालसाहित्य : परंपरा, विकास एवं मूल्यांकन, डॉ० सुरेंद्रनाथ तिवारी, काशी, 1992
9. हिंदी में बालोपयोगी साहित्य, डॉ० कृष्णकांत भल्ला, मेरठ
10. हिंदी बालसाहित्य का विकासात्मक अध्ययन, डॉ० विनायकशंकर श्रीवास्तव, कानपुर,
11. स्वतंत्र भारत में प्रकाशित हिंदी बालसाहित्य का उद्भव और विकास, डॉ० विजया गुप्ता, दिल्ली, 1991
12. समकालीन बालसाहित्य का अनुशीलन, अरुणा श्रीवास्तव, कानपुर, 1993
13. हिंदी बालसाहित्य अद्यतन विकास, डॉ० सुनीता वर्मा, इंदौर 1993
14. साठोत्तरी बालसाहित्य प्रतिपाद्य और शिल्प, डॉ० विद्याधर, उस्मानिया, 1994
15. स्वातंत्र्योत्तर बालसाहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन, डॉ० सरफराज अली, रुहेलखंड, 2008

#### शिक्षा और मनोविज्ञान से संदर्भित

16. हिंदी में बालसाहित्य का मनोवैज्ञानिक एवं साहित्यिक अनुशीलन, डॉ० राष्ट्रबंधु, सागर, 1971
17. हिंदी बालसाहित्य और बाल-मनोविज्ञान, डॉ० राज्यश्री सिंह, काशी, 1988
18. हिंदी बालसाहित्य और शिक्षाशास्त्र, डॉ० रुद्रशंकर दुबे, काशी, 1992
19. हिंदी बालसाहित्य में रस व उसकी शैक्षिक महत्ता, डॉ० स्नेहप्रभा, दिल्ली, 1992
20. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी बालसाहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, डॉ० सत्यदेव आजाद, आगरा, 1994
21. हिंदी बालसाहित्य में सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय चेतना, डॉ० डी०एस० नरवार, आगरा, 1996
22. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी बालसाहित्य में राष्ट्रीय चेतना, डॉ० बबिता जैन, आगरा, 1999
23. हिंदी बालसाहित्य में नैतिक मूल्य, डॉ० सुनीता यादव, आगरा, 2002
24. आधुनिक हिंदी बालसाहित्य में अभिव्यक्त नैतिक मूल्यों का अनुशीलन, डॉ० इंदु सिंह, आगरा, 2006

25. हिंदी बालसाहित्य में पर्यावरण चेतना, डॉ० अलका चमोला, गढ़वाल, 2003
26. पंचतंत्र एवं हितोपदेश में निहित मूल्यपरक शिक्षा की वर्तमान में प्रासंगिकता, डॉ० प्रवीणा, आगरा, 2005

#### **बालसाहित्य आलोचना पर केंद्रित**

27. हिंदी बालसाहित्य के समीक्षा-सिद्धांत, डॉ० नागेश पांडेय 'संजय', आगरा, 2006

#### **बाल-कथासाहित्य पर केंद्रित**

28. हिंदी बाल-कथासाहित्य में शब्द-योजना, डॉ० छम्मनलाल मिश्र, भोपाल, 1981
29. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी बाल-कथासाहित्य : एक अध्ययन, डॉ० सुमन वाही, काशी, 1986
30. हिंदी बाल-कहानी का कथानक-विश्लेषण, डॉ० उषादेवी सिंह, काशी, 1987
31. हिंदी बाल-उपन्यासों में कथानक रूढ़ियाँ, डॉ० परमिंदर कौर, गुरुनानक देव, 1993
32. हिंदी के बाल-उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, डॉ० मंजरी मिश्रा, कानपुर, 1995
33. हिंदी और तेलुगु में बालसाहित्य : दशा और दिशा बोध, कथासाहित्य के परिप्रेक्ष्य में, आंध्र 1995
34. आधुनिक हिंदी बाल-कहानियों में भारतीय संस्कृति, सन् 1970 से 2000 तक, डॉ० प्रेमलता शुक्ल, आगरा 2004
35. हिंदी बाल-कहानियों में राष्ट्रीय चेतना, सीमा अग्रवाल, आगरा,
36. स्वातंत्र्योत्तर बाल कथासाहित्य : सर्जन एवं मूल्यांकन, डॉ० विष्णुकुमार व्यास, राजस्थान, 2006
37. हिंदी बाल-कथासाहित्य का अध्ययन, आशा विष्ट, कुमायूँ (शोधरत)
38. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी बाल-उपन्यास : एक अनुशीलन, डॉ० माया जाधव, पूना, 2008
39. हिंदी के स्वातंत्र्योत्तर बाल-उपन्यासों का समीक्षात्मक अध्ययन, मालती बसंत, इंदौर, (शोधरत)
40. आधुनिक बाल-कहानी का विवेचनात्मक अध्ययन, जाकिर अली 'रजनीश', आगरा, 2011

#### **बालकाव्य पर केंद्रित**

41. हिंदी-बालकाव्य में प्रतीक एवं कल्पना तत्त्व, डॉ० कुसुम डोभाल, गढ़वाल, 1980
42. हिंदी-बालकाव्य : एक अध्ययन, डॉ० निर्मला बर्मन, काशी, 1987
43. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी बालकाव्य का विश्लेषणात्मक अध्ययन, डॉ० पुष्पा जैन, काशी, 1988
44. आधुनिकयुग के प्रमुख हिंदी-बालगीतकार, डॉ० राजकिरण दीक्षित, लखनऊ, 1988
45. बीसवीं सदी के सातवें दशक में हिंदी बालोपयोगी कविता, डॉ० विद्यावती देवी, विश्वभारती, 1991
46. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी बाल-कविता : विश्लेषणात्मक अध्ययन, डॉ० प्रतिमा, काशी, 1994
47. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी बालकाव्य में हास्य-व्यंग्य, डॉ० प्रीति सिंह, आगरा, 1999
48. बालगीत साहित्य, डॉ० बृजेंद्र वैद्य, रीवाँ
49. हिंदी में बाल-कविता : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन, डॉ० सुनीलकुमार एस०, केरल, 2000

50. आधुनिक हिंदी बालगीत काव्य में राष्ट्रीय भावना, डॉ० सुमनलता, आगरा, 2002
51. आधुनिक हिंदी बालगीत काव्य में भारतीय संस्कृति, डॉ० रेखारानी, आगरा, 2002
52. आधुनिक हिंदी बालकाव्य में पशु-पक्षियों का बाल-मनोविज्ञान पर प्रभाव, डॉ० संगीता गौतम, आगरा, 2002
53. आधुनिक हिंदी बालकाव्य में प्रकृति-चित्रण, डॉ० नीतू गुप्ता, आगरा, 2002
54. गत दो दशकों की बाल-कविता का आलोचनात्मक अध्ययन, डॉ० गीतारानी, जामिया, 2006
55. हिंदी बालगीतों में लोकसंस्कृति की अभिव्यक्ति, डॉ० प्रीति अग्रवाल, जामिया
56. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी बालकाव्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, डॉ० मंजु कोठारी, अजमेर, 2006

#### **बाल-नाटक पर केंद्रित**

57. हिंदी बाल-नाटक : एक अध्ययन, डॉ० रेणु सिंह, काशी, 1987
58. हिंदी के बाल-नाटक और रंगमंच, डॉ० अनिल शर्मा, दिल्ली
59. हिंदी बाल-नाटकों में निरूपित अंतर्वस्तु का अध्ययन, रविंदर कौर, तमिलनाडु (डीम्ड विश्वविद्यालय)

#### **बाल-पत्रकारिता पर केंद्रित**

60. हिंदी की बालोपयोगी पत्र-पत्रिकाएँ, डॉ० वैद्यनाथ सिंह, मगध, 1983
61. हिंदी बाल पत्र-पत्रिकाओं का अनुशीलन, डॉ० जतनलाल सैनी, रविशंकर, 1983
62. देवपुत्र, विकास दबे, इंदौर, 2011

#### **परिक्षेत्र-केंद्रित**

63. कानपुर परिक्षेत्र में हिंदी बालसाहित्य : सृजन का स्वरूप, सीमाएँ एवं संभावनाएँ, डॉ० विभा सिंह, कानपुर, 1998
64. हिमाचल में रचित बाल-सर्वेक्षण एवं विश्लेषण, अदिति गुलेरी
65. बिहार के हिंदी बालसाहित्य का विशेषतः 8 से 12 वर्षों के वयक्रम का संवादी मनोविज्ञान एवं उदीयमान वयस्क जीवन की दृष्टियों से अध्ययन, दिनेशप्रताप सिंह, मिथिला, 2005
66. उत्तरांचल में हिंदी बालसाहित्य : सृजन एवं मूल्यांकन, डॉ० रंजू उनियाल, गढ़वाल, 2006
67. भारतीय बालसाहित्य के संदर्भ में राजस्थान का बालसाहित्य, विनय सिंह, राजस्थान
68. रुहेलखंड परिक्षेत्र में स्वातंत्र्योत्तर बालसाहित्य सृजन : एक अध्ययन, डॉ० श्रीकांत मिश्र, रुहेलखंड, 2009
69. हरियाणा के बालसाहित्यकार, ऋषिपाल, कुरुक्षेत्र

#### **तुलनात्मक अध्ययन**

70. हिंदी और गुजराती का लोरी साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० प्रदीपकुमार हंस, बंबई, 1980
71. हिंदी एवं उड़िया के बालसाहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० स्नेहप्रभा महापात्र, रविशंकर, 1981
72. हिंदी तथा मराठी में चरितपरक बालसाहित्य, डॉ० विद्यागणपत राय, पूना, 1985

73. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी और मराठी बालसाहित्य : एक तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० दिलीप अच्युत साधले, पूना, 1987
74. हिंदी-गुजराती के बाल-नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन : रंगशिल्प एवं बाल-मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में, डॉ० जयंती भाई पटेल, गुजरात, 1988
75. संत साहित्य और बालसाहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० राजकिशोर प्रसाद, सुभारती, 1992
76. स्वतंत्रता-पूर्व एवं स्वातंत्र्योत्तर हिंदी बालगीतों का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० मंजू पाठक बरकतउल्ला, 1996
77. स्वतंत्रता-पूर्व एवं स्वातंत्र्योत्तर हिंदी बालगीतों का तुलनात्मक अनुशीलन, डॉ० पुष्पा पांडेय, भोपाल, 1997
78. हिंदी और कन्नड़ में बालसाहित्य : एक तुलनात्मक अध्ययन, बीसवीं शताब्दी के संदर्भ में, डॉ० समी उल्लाह, मैसूर, 1997
79. हिंदी एवं तमिल बालसाहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० आर०पी० कला, लखनऊ
80. हिंदी और बंगला की बाल-पत्रिकाओं का तुलनात्मक अध्ययन, (1960 से 1990 तक), मंदिरा चक्रवर्ती, विश्वभारती
81. हिंदी और मलयालम बालगीतों तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० केथरिन पी०डी०, कोट्टयम
82. हिंदी बाल-कहानियों तथा पंचतंत्र की कहानियों का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० कंचन सक्सेना, आगरा, 2002
83. डॉ० राष्ट्रबंधु और बालशौरि रेड्डी के बालसाहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० निशा सिंह, आगरा, 2011

#### **बालसाहित्यकारों पर केंद्रित**

84. प्रेमचंद साहित्य में शिशु-मनोविज्ञान, डॉ० सुसन्ना चन्ने, इलाहाबाद, 1974
85. शंभूदयाल सक्सेना : व्यक्तित्व-कृतित्व, डॉ० विभा दुबे, राजस्थान, 1984
86. निरंकारदेव सेवक के काव्य का समीक्षात्मक अध्ययन, डॉ० अवधेशकुमार शुक्ल, रुहेलखंड, 1987
87. हिंदी बालसाहित्य के विकास में श्री चंद्रपाल सिंह यादव 'मयंक' की साहित्य-साधना का मूल्यांकन, डॉ० कंचनलता यादव, कानपुर, 1988
88. द्वारिकाप्रसाद माहेश्वरी के साहित्य-साधना के विविध आयाम, डॉ० सुनीलकुमार दुबे, आगरा, 1990
89. हिंदी का बालसाहित्य और भवानी भिख दिव्य का योगदान, डॉ० जे०पी० शुक्ल, उस्मानिया, 1992
90. चंद्रपाल सिंह यादव 'मयंक' : व्यक्तित्व-कृतित्व, डॉ० ज्योत्सना शर्मा, आगरा, 1993
91. निरंकारदेव सेवक की बाल-कविताओं का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, डॉ० नृपेंद्रकुमार, रुहेलखंड, 1994
92. छत्तीसगढ़ अंचल का हिंदी बालसाहित्य : श्री नारायणलाल परमार के विशेष अध्ययन सहित, डॉ० सुधा हिशीकर, रायपुर, 1995

93. चंद्रपाल सिंह यादव 'मयंक' की बाल-कविताओं में राष्ट्रीय भावना, डॉ० वंदना चिटकारा, आगरा, 1996
94. डॉ० राष्ट्रबंधु का व्यक्तित्व-कृतित्व, डॉ० ममता तिवारी, कानपुर, 1999
95. डॉ० रोहिताश्व अस्थाना के विशेष संदर्भ में साठोत्तरी बालसाहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन, डॉ० शेषपाल सिंह 'शेष', आगरा, 1999
96. हिंदी बालसाहित्य के विकास में श्रीमती शकुंतला सिरोठिया का योगदान, डॉ० रामवीर शर्मा, आगरा
97. हिंदी बालसाहित्य के विकास में विनोदचंद्र पांडेय का योगदान, डॉ० रेखा, आगरा, 2000
98. जयप्रकाश भारती की साहित्य-साधना के विविध आयाम, डॉ० यज्ञदत्त अवस्थी, आगरा, 2001
99. डॉ० उषा यादव : साहित्य-साधना के विविध आयाम, डॉ० मिथिलेश मुद्गल, आगरा, 2002
100. डॉ० रोहिताश्व अस्थाना के बालसाहित्य में संवेदना एवं शिल्प सौष्ठव, डॉ० तेजवीर सिंह, आगरा
101. निरंकारदेव सेवक के बालसाहित्य का समालोचनात्मक अध्ययन, डॉ० चिरौंजीलाल, आगरा, 2002
102. द्वारिकाप्रसाद माहेश्वरी के काव्य में सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय चेतना, डॉ० राखी शर्मा, आगरा, 2003
103. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी बालसाहित्य में डॉ० श्रीप्रसाद का योगदान, डॉ० पुष्पा देवी, आगरा, 2003
104. डॉ० उषा यादव और उनकी साहित्य-साधना, डॉ० राजेशकुमार बाधवा, कुरुक्षेत्र, 2004
105. श्रीमती शकुंतला सिरोठिया की साहित्य-साधना के विविध आयाम, डॉ० कृष्णकुमार, आगरा, 2004
106. हिंदी बालसाहित्य के विविध आयाम : विनयकुमार मालवीय के बालसाहित्य के विशेष संदर्भ में, डॉ० बुद्धसेन, रुहेलखंड, 2004
107. हिंदी के समकालीन प्रमुख बालसाहित्यकार, डॉ० अनुराधा त्रिपाठी, कानपुर, 2008
108. कन्हैयालाल मत्त की साहित्य-साधना के विविध आयाम, डॉ० जगदीप यादव, आगरा, 2006
109. पं० भूपनारायण दीक्षित : जीवन और साहित्य, कमला कनौजिया, कानपुर
110. द्वारिकाप्रसाद माहेश्वरी के बालसाहित्येतर साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन, अनार सिंह, आगरा
111. द्वारिकाप्रसाद माहेश्वरी के साहित्य में जीवनमूल्य, कविता सिंह, आगरा
112. डॉ० विनयकुमार मालवीय के बालसाहित्य का समीक्षात्मक अनुशीलन, डॉ० हेमा जोशी, गढ़वाल, 2006
113. डॉ० किशोर काबरा का बालसाहित्य : एक अध्ययन, डॉ० मीना भगवान भाई, सौराष्ट्र, 2009
114. डॉ० परशुराम शुक्ल का बालसाहित्य : एक अनुशीलन, डॉ० शुचिता सेठ, जीवाजी, 2009

115. साठोत्तरी हिंदी-बालकविता का विश्लेषणात्मक अध्ययन : बालकृष्ण गर्ग की बाल-कविताओं के विशेष संदर्भ में, डॉ० शबीना परवीन, रुहेलखंड, 2010
116. बालकृष्ण गर्ग के बालसाहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन, विधु गुप्ता, मेरठ, 2011
117. डॉ० सुरेंद्र विक्रम के बालसाहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन, डॉ० स्वाति शर्मा, रुहेलखंड, 2011
118. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी बालसाहित्य को डॉ० दिनेश चमोला की देन, मल्लिका पुरोहित, गढ़वाल

### लोकसाहित्य केंद्रित

119. हिंदी का बाल लोकसाहित्य एक समीक्षात्मक अध्ययन, डॉ० मीना सिंह, कानपुर, 1992
120. लोकसाहित्य के विशेष संदर्भ में हिंदी और मलयालम बालसाहित्य का विश्लेषणात्मक अध्ययन, डॉ०के.वी. इंदु, कोचीन, 2006

### गद्य साहित्य केंद्रित

121. हिंदी बाल-गद्यसाहित्य एक अध्ययन, डॉ०भोलानाथ, बनारस, 1989।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बालसाहित्य के क्षेत्र में अनुसंधान की अजस्र धारा अनवरत प्रवहमान है। संपन्न विविध विषयक शोधप्रबंध जहाँ नवीनता, मौलिकता और उत्कृष्ट स्थापनाओं से परिपूर्ण हैं, वहीं प्रक्रियारत प्रबंध आश्वस्त के नये द्वार खोलते प्रतीत होते हैं।

बालसाहित्य अनुसंधान के क्षेत्र में हुई यह आशातीत वरन कल्पनातीत प्रगति, विशेषकर तथाकथित आलोचकों के लिए, विस्मयकारी ही है, जो बालसाहित्य को बचकाना अथवा विपन्न साहित्य कहने में संकोच और लज्जा का अनुभव नहीं करते।

आज से एक दशक पूर्व बालसाहित्य के क्षेत्र में संपन्न शोधप्रबंधों के सार-संक्षेप डॉ० सुरेंद्र विक्रम द्वारा संपादित पुस्तक 'बालसाहित्य : शोध, समीक्षा, संदर्भ' में प्रकाशित हुए थे। तबसे अब तक इतना अधिक कार्य इस क्षेत्र में हुआ है कि उक्त पुस्तक को अद्यतन बनाए जाने की आवश्यकता है। आज यदि उक्त पुस्तक का पुनर्लेखन और संपादन किया जाए तो कम से कम ढाई गुना पृष्ठ-सामग्री तो सहज रूप से स्वतः बढ़ जाएगी।

बालसाहित्य अनुसंधान का क्षेत्र विस्तीर्ण नभ की भाँति है, जहाँ संभावनाओं का कोई अंत नहीं है। आवश्यकता है उस अनंत में उड़ान भरने का हौसला रखनेवाले परिंदों की। आवश्यकता है 'नये' विषयों पर कार्य कराने की चुनौती को स्वीकार कर सकनेवाले शोध-निर्देशकों की। इससे बालसाहित्य का भला तो होगा ही, भावी राष्ट्र के मेरुदंड बालक के संदर्भ में चिंतन-मनन का सुमार्ग भी प्रशस्त हो सकेगा।

तथापि, बालसाहित्य अनुसंधान के क्षेत्र में हुई प्रगति, निःसंदेह, गरिमामयी है। सहज रूप में कहूँ तो इतना कार्य हो चुका है कि आज यह 'अनुसंधान कार्य' ही स्वयं अनुसंधान का एक विषय बन गया है।

□ 39 सुभाष नगर

निकट रेलवे कालोनी, शाहजहाँपुर (उ०प्र०)

242001

मो० 09451645033



## निजता और सार्वजनिकता के साथ लिखी आत्मकथा : पानी बीच मीन पियासी

डॉ० प्रमोदकुमार दुबे

विख्यात कथाकार मिथिलेश्वर का मानना है कि 'पानी बीच मीन पियासी' उनकी आत्मकथा है। लेकिन, दूसरों ने कृति का अलग परिचय दिया, यह कि आत्मकथात्मक उपन्यास है। इन दोनों परिचयों में एक बारीक अंतराल है और इस अंतराल में सृजन का नाजुक पक्ष भी। किसी रचनाधर्मी व्यक्ति की तन्हाई और खामोशी लोकमानस में शब्द संप्रेषित करती हुई छिपी रहती है, इसका अर्थ यह नहीं होता कि उसका अस्तित्व है ही नहीं।

ऐसी निजता क्या सिर्फ निजता होती है? नहीं, यह निजता सार्वजनिक है। मिथिलेश्वर की आत्मकथा को इसी विशेषता के कारण आत्मकथात्मक उपन्यास कहा गया, यह आत्मकथा के अतिरिक्त और भी कुछ है, कोई चाहे तो इसे ग्राम्य जीवन का प्रामाणिक महाकाव्य कह सकता है अथवा भोजपुरी जनजीवन की जातीय स्मृति का दस्तावेज़। इस कृति का उपयोग समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए किया जा सकता है। इसकी परिशुद्धता की गारंटी है।

एक समय था, जब किसी रचना की खिड़की से ताक-झाँककर रचनाकार के जीवन की वास्तविकता जानने के प्रयास होते थे, रचनाकार छिपता-छपाता था। शेखर : एक जीवनी के लेखक सच्चिदानंद वात्स्यायन अज्ञेय को एक चर्चित विवाद ने घेरा। विवाद कहता शेखर ही अज्ञेय है और यदि है तो शशि और शेखर का मामला कहाँ तक उचित है? अज्ञेय ने सफ़ाई दी—'सृजित यथार्थ और मूल यथार्थ में अंतर होता है।' इसी दौर में बाबा नागार्जुन ने भी कालिदास की बाँह पकड़कर पूछा 'कालिदास, सच-सच बतलाना तुम रोए या अज रोया था?' बाणभट्ट की आत्मकथा के लेखक हजारीप्रसाद द्विवेदी को भी बाणभट्ट की विगत काया में परकाया प्रवेश करनेवाला योगी बताया गया। किसी ने उन्हें बीसवीं सदी का बाणभट्ट भी कहा। ये खोजें इसलिए हुई कि रचनाकार आपबीती को कहीं और आरोपित करता है और आलोचक भोगे हुए यथार्थ के समांतर रचना की वास्तविकता खोजता है। रचनाकार की निपट निजता 'पानी बीच मीन पियासी' में आत्मकथा होकर खड़ी है। इसमें सार्वजनिक निज है, पुराने शब्दों में कहें तो, एक ऐसा निजत्व इस कृति में है, जिसका अपना द्विजत्व है। पृथ्वी जब अपनी धुरी पर चौबीस घंटे में घूमती हुई दिन-रात उत्पन्न करती है, जब निजा होती है पूषा कही जाती है और जब तीन सौ पैसठ दिनों में विश्वात्मा सूर्य का परिभ्रमण करती हुई वर्ष-भर की छह ऋतुओं को प्रकट करती है, तब द्विजा होती है उषा कही जाती है, एक गति से पोषण पाती है दूसरी गति से सर्वसमृद्धि। ये दोनों गतियाँ पृथ्वी की संतानों के लिए भी आवश्यक हैं। सृजनधर्मी चेतना

में पृथ्वी की तरह दोनों गतियों के देश-काल प्रकट होते हैं। दूसरी गति पहली गति का विस्तार है, किंतु दूसरी में पहली गति विलीन हुई रहती है। लेखक की निजता उसकी द्विजता में खो जाती है, यही वह रचना रहस्य है जिसमें स्व का अनुभव नहीं होता, जबकि वह सतत होता है कुछ लोग आत्मकेंद्रित लेखन को नकारते हैं। पर सृजन कभी भी आत्मकेंद्रित नहीं होता। पानी बीच अक्सर यह मीन पियासी होकर रहने को विवश है, इसीलिए विशेष है। यही मरजीवापन रचनाकार के व्यक्तित्व का हिस्सा है। मिथिलेश्वर ने भी अपने जीवन के संघर्षों से और एकबार तो मृत्यु के पास जाकर भी इस विशेषता को जीवन का हिस्सा बनाया है।

लेखन भी भाषा के भीतर घटित होनेवली एक अंतःक्रिया ही है। किसी रचनाकार के रचनाधर्म की सामाजिक व्याप्ति और स्वीकृति इस बात पर निर्भर है कि उस रचनाकार के मस्तिष्क की भाषा उसके स्व को समाज के साथ कितना एकात्म करती है। इस एकात्मता को गहराई से पकड़ने के लिए दरिदा ने लेखन की भाषा की तुलना में उसकी बोली-बानी को अधिक शक्तिशाली बताया। अभिप्राय यह कि यदि लेखक की बोली-बानी भोजपुरी है और उसके लेखन की भाषा हिंदी, तो उसकी भोजपुरी उसके हिंदी लेखन पर छाई रहेगी। इस पृष्ठभूमि में 'पानी बीच मीन पियासी' नामक आत्मकथा के रचयिता के विचार लें—'मार्क्सवाद की मुख्य विशेषता उसका वैचारिक आधार ही है, लेकिन भाषा के मामले में वे इतने परजीवी हैं, यह उस आयोजन में ही मैंने पहली बार जाना। वहाँ यह प्रश्न मेरे मन को व्यथित करता रहा कि क्या भाषा से अलग विचार अपना महत्त्व कायम कर सकता है? अँग्रेजी भाषा जिस वर्ग की है या जिस परिवेश से आई है, क्या विचार पर वह अपना असर कायम नहीं करेगी? कोई विचार किसी भाषा के बीच रहकर क्या उस भाषा की प्रकृति से निरपेक्ष रह सकता है? मेरा स्वयं का उत्तर था— नहीं। यह असंभव है (पृ० 419)।

ज्ञान और वाक् और प्राण का अभिन्न संबंध है। इस बात को भारतीय शास्त्रों में अनेक बार कहा गया है। नोम चेम्स्की पाणिनी और भर्तृ से परिचित है। लेकिन मात्र उन्तीस वर्ष की उम्र में सोवियतलैंड नेहरू पुरस्कार के अँग्रेजीमें संचालित हो रहे समारोह के अंतर्गत बिना अभिभूत हुए पुरस्कार विजेता मिथिलेश्वर ने वही सोचा-विचारा जिसे लगभग नब्बे के दशकों में दुनिया के अगुआ आलोचक जागरूक भी नहीं थे, व्यवहार लाने की बात तो दूर है। सूक्ष्म विमर्शों से किसी पार्टी लाइन का क्या वास्ता, जिसने राजनीतिक उद्देश्य पूरा नहीं हो सके। वास्तव में पश्चिमी विचारक अपनी विचार पद्धति में जिस मूल ज्ञान को अब तय कर रहे हैं, वह भारतीय संस्कारों में स्वाभाविक रूप से व्याप्त है। सत्व या विशदीभूत मनोमुकुर वाले विचारक जिनमें निष्ठा और श्रद्धा सृजन के लिए सजग हों, इसी प्रकार सोचते हैं। प्रतिभा की यही विरासत मिथिलेश्वर को भी प्राप्त हुई। चारपाई से लेकर हवाई जहाज तक निर्माण के पहले मनुष्य के मस्तिष्क में होता है, फिर यथार्थ ग्रहण करता है।' (पृ० 269)।

लेखक ने बड़ी सहजता से यह अनुभूत सत्य लिखा। क्योंकि जब उसके कंधे पर जिम्मेदारियों का बोझ पड़ा, उसने कलम की नौक से नकारते समय के विरुद्ध जीवन को पुनर्सृजित किया। उसके मन के अमूर्त शब्द और विचार विधा में मूर्त होने लगे और वह एक विख्यात कथाकार बन गया। 'मकान निर्माण का कार्य भी साहित्य सृजन से कम आनंददायक

नहीं होता ... जैसे भाव-भाषा और शब्दों से कोई रचना निर्मित होती है वैसे ही ईंट, सीमेंट, छड़, मिट्टी आदि के मकान। एक का निर्माण साहित्यकला के अंतर्गत आता है, दूसरा वास्तुकला के अंतर्गत... मैं स्वयं महसूस कर रहा था कि मेरी सृजन-प्रक्रिया की तरह ही एक निर्मित है (पृ०299)। मिथिलेश्वर का सृजनबोध व्यापक है। उन्होंने लिखा है, 'अपनी रचना के प्रति लेखक का लगाव संतानवत होता है। 'झुनिया' की पांडुलिपि गुम होने पर इसकी सत्यता का पुख्ता एहसास भी कर लिया' (पृ०366)।

इस लेखक की सृजनशील प्रतिभा तीनों कालों में विचरण करती है और गणितीय भी है। स्मृति का धनी लेखक बचपन से वर्तमान तक किसी उम्र में जाकर उन्हीं अनुभूतियों में इच्छित समय तक बैठ सकता है। आत्मकथा के अध्याय तरह में उन्नीस सौ सतत्तर का वाक्या लिखते हुए लेखक ने उसे छह हिस्सों में पहले ही बाँट लिया है और क्रमशः उन्हें लिपिबद्ध किया है। तटस्थता, दायित्व-निष्ठा, संवेदना और सहानुभूति के साथ लेखक में आत्म आलोचना करने का साहस भी है। उसने अपने खिलाफ भी लिखा है, 'मउग जैसा दिन में पत्नी के पास न रह ...' (पृ०185)। और यह भी कि मुझे लग रहा था कि रामशरण बहू की कथा मैं नहीं लिख रहा, मेरी मेज के समीप उपस्थित रामशरण बहू स्वयं अपनी दास्तान लिखवा रही हैं (पृ०432)।

मनस्वी रचनाकार एकाग्रचित होकर सृजित होनेवाले पात्रों में जितना अधिक समाहित होता है, उसके पात्र शब्द-तरंगों में उतने ही सजीव होकर ग्रंथित हो जाते हैं और वह रचना अपने पाठक के चित्त को उतना ही स्वयं में डुबो लेती है। लेखक बतलाता है, 'मेरे साथ अक्सर होता था कि कहीं इतमीनान से बैठते ही अतीत या वर्तमान का कोई-न-कोई प्रसंग मेरे जीवन में जीवंत हो उठता' (पृ०385)। मनोहारी रोचकता और मनन विस्मयकारी सहजता वाली आत्मकथा 'पानी बीच मीन पियासी' में कहने के लिए एक दोष यह मिला कि लेखक ने पृ० 145-146 पर जिस पेंशन और नौकरी के प्रावधान की चर्चा की है, वही चर्चा उसने पृ० 229 पर भी की है। इसे पुनरावृत्ति कहा जाए या प्रसंग की संवेदना और संवेग के कारण आवश्यक? आत्मीय संवादों में भावावेग स्वाभाविक रूप से होता है। लेखक के आत्मिक सृजन में अबोधपूर्वा स्मृति, सजग होती है, जिसमें वंशगत संस्कार भी प्रवाहित होते हैं, जैसा कि स्वयं लेखक ने पिता को यादा करते हुए लिखा है, 'वे मौलिक चिंतक, प्रखर आलोचक और विलक्षण स्मरणशक्ति के धनी थे' (पृ०39)।

प्रथम राष्ट्रपति राजेंद्रप्रसाद से तुलना करते हुए बताया है कि जिस तरह की टिप्पणी परीक्षक ने परीक्षार्थी राजेंद्रप्रसाद की उत्तर-पुस्तिका पर दी थी, ठीक वही उसके पिता की उत्तर-पुस्तिका पर परीक्षक ने दी थी। वे भी राजेंद्र कालेज, छपरा के टॉपर थे (पृ०36)। अपने पिता के बारे में यह भी लिखा है कि डॉ०बोस को लगा, सचमुच यह आदमी गुदड़ी का लाल है इसकी जिह्वा पर सरस्वती का वास है (पृ०40)।

जिस गाँव के ईष्याजनित द्वेष ने पिता को बार-बार आहत किया, अंततः वे बीमार पड़े और पैंतालीस वर्ष की अल्पायु में दिवंगत हो गए, उसी गाँव के परिवेश को अपने लेखन की जमीन बना लेखक ने उसकी चिकित्सा की। उसने लिखा है, 'बचपन का मेरा देखा-भोगा

और अपने मन पर आतंक की तरह छाया आजादी के तत्काल बाद का सामंती गाँव अपनी अभिव्यक्ति के लिए मेरे रचनाकार को प्रेरित कर रहा था' (पृ०356)।

स्पष्ट है कि पैतृक गाँव को लेखक ने छोड़ा नहीं, बल्कि उससे दूरी बनाई जैसे किसी डूबते व्यक्ति को बचानेवाला उससे दूरी बनाता है, वह उसकी पकड़ के बाहर रहकर ही अपना नेक काम कर पाता है। लेखक ने भी अपने गहरे प्यार को गाँव के दोषों के विरुद्ध घृणा में नहीं, सृजन में रोप दिया गाँव में रहते हुए जिस जिंदगी को उसने जीया, सुखद और दुखद प्रसंगों को भोगा, उन्हें बड़ी सजीवता और आत्मीयता से अपनी आत्मकथा में लिखा है। मिथिलेश्वर लिखते हैं कि 'अपने गाँव और ग्रामीण जीवन की चिंताओं-समस्याओं से मैं बचपन से ही आक्रांत था। मुझे तो लगने लगा कि अनंत विषयों की खान के बीच में हूँ। अभावों, उपेक्षाओं तथा बंद परिवेशों की अज्ञानता से घिरा मेरा समाज कथा का भंडार है। इसे प्रकाश में लाने के लिए इस पर रोशनी देना तथा अपनी समझ के अनुसार इसकी चेतना को जाग्रत करना मेरे रचनाकार का उद्देश्य होना चाहिए' (पृ०255)। यह दृष्टि उन्हें प्रथम प्रेरणा के रूप में प्रेमचंद की रंगभूमि से प्राप्त हुई। उनकी पंक्ति है, 'जिस दिन उसे समाप्त किया उस दिन ऐसा लगा, कोई गुप्त खजाना मिल गया हो।' जीवन के विशद और गहन अनुभव ने मुझे चमत्कृत कर दिया' (पृ०137)।

'पानी बीच मीन पियासी' हिंदी में लिखी गई रचना है, जिसकी आंतरिक वाणी भोजपुरी है। इसलिए भोजपुरी अंचल में ख्यात 'कथा-परतोख' अर्थात् 'कथा परितोष' का विशेष गुण लेखक की कृति में व्याप्त है। यह विशेषता कथा के पाठक-स्रोत को रेत में दौड़ाती हुई अतृप्त बनाकर नहीं छोड़ती, अपितु उसे पढ़ने-सुनने को पारितोषिक देती है, तत्काल एवज देती है, फलश्रुति प्रदान करती है। इसीलिए यह लेखन दायित्वनिष्ठा में रह सकता है, परंतु किसी बाहरी विचार का वाहक नहीं बन सकता। मिथिलेश्वर लेखन में प्रगतिशीलता के पक्षधर हैं, लेकिन किसी खेमे के कब्जे में नहीं हैं। 'नागेश्वर बाबू ने बताया, मुझ लगता है कि आप जितना और जैसा लिख रहे हैं आलोचना के दायरे में उसका उतना और वैसा प्राप्य आपको इसलिए नहीं मिल रहा है कि लोगों को प्रतीक्षा है, आप इस ओर हैं या उस ओर-वामपंथ में या दक्षिण-पंथ में?' (पृ०484)।

वास्तविक लेखक अपने सृजन की ज़मीन का स्वयं स्वामी होता है। वह किसी का हाँक-दाब नहीं सहता। और तब उसकी कथा अपने परितोष आवंटन से स्वयं जनाधार बना लेती है। 'पानी बीच मीन पियासी' में लेखक स्मृति में डूबता है, विगत घटनाओं का विश्लेषण करता है और पाठक को कोई निर्णायक वाक्य परितोष के रूप में थमा देता है जैसे- 'बिना व्यवस्थित हुए मुझे शादी करनी ही नहीं चाहिए, अगर शादी कर भी ली तो बच्चे पैदा नहीं करने चाहिए' ... 'सांसारिक पीड़ाओं से मुक्ति सृजन में ही संभव है' ... 'जो अपनी जमीन के नए लेखकों को नहीं अपनाता वह नया रह ही नहीं सकता।' तटस्थ अवलोकन के साथ निष्ठा और श्रद्धा दोनों मिथिलेश्वर के मन की बुनावट में निहित है। इसलिए उनका सृजन कथा के साथ परितोष अर्थात् बोध के साथ तृप्ति प्रदान करता है।

उनके जीवन-संघर्ष का ताप उन्हें शुष्क नहीं बना सका, कहीं-न-कहीं से उत्साह

और सहानुभूति भी प्राप्त हुई। 'बाबू जी' कहानी के लेखक को माँ का आशीर्वाद प्राप्त हुआ। 'तूने अपने पिता की सेवा की है, अब फलरूप में उन्हीं का पद तुम्हें मिल रहा है, भगवान तुझे उनसे भी नामी प्रोफेसर बनाए' (पृ०457)। भोजपुरी की गहरी सांस्कृतिक परंपरा और भाषिक चेतना मिथिलेश्वर के सृजन में व्याप्त है। हिम-द्रवित गंगा से सींची गई भोजपुरी की माटी में यज्ञ, योग, भक्ति और सिद्धों, नाथों-संतों की वाणी घुली हुई है, भारतेंदु, प्रेमचंद इत्यादि का लोकदायित्व मिला हुआ है। ऐतिहासिक संघर्ष और स्वाधीनता के लिए आत्माहुति देने के बाद भी यह अंचल उपेक्षित रहा, तो इसलिए कि पराधीनता इसे असह्य है। यहाँ के स्वातंत्र्यचेता लोग विकृतियों की ओर प्रवृत्त होकर भी गुलामी के सुख को सिर आँखों पर रख धन्य नहीं हुए। यही जमीनी व्यक्तित्व मिथिलेश्वर के सृजन संसार में है।

अल्पसंख्यक होने का दर्द झेलते हुए भी पैतृक गाँव लेखक की अंतरात्मा है। वह लिखता है, 'गाँव का कोई आम परिवार खेत बेचता या गाँव छोड़कर शहर जाने की बात करता तो सारा गाँव उसे हेय और तुच्छ समझने लगता, जैसे वह अपनी बेटी बेच रहा है' (पृ०269)। आज जिस भारतीय गाँव को आधुनिक युग का अंधड़ उजाड़ बनाता जा रहा है, वही गाँव भारत की वास्तविकता और मूल आधार है। वन्य जीवन और नागर जीवन के मध्य की यह कड़ी बचेगी तो देश बचेगा। लेखक ने इसी ग्रामीण परिवेश को सृजन का उपास्य बनाया, जहाँ जलालत और मुहब्बत दोनों का अंतर्द्वंद्व खेलता रहा। इस कशमकश के प्रसंग देखने योग्य हैं, 'अल्पसंख्यक होते हुए भी खेती गृहस्थी में पिता को आगे न निकलने देना उनका जातिगत पक्ष था, जबकि बीमारी पर उनके प्रति सहानुभूति गाँव की बुनियादी संवेदना का सच' (पृ०80)। उनके बीच कोई उनसे अच्छा खाने-पीने, ओढ़ने-पहनने और आगे बढ़ने लगा तो उसके पाँव खींचना आवश्यक समझते हैं, उस पर भी तब और जब वह व्यक्ति जातिगत धरातल पर उस गाँव का अल्पसंख्यक हो।' इसके बावजूद जब लेखक के परिवार ने गाँव छोड़कर जिला मुख्यालय में रहने का मन बना लिया तो गाँव की आवाजें उन्हें धिक्कारने लगीं, 'धिक्कार है ऐसे औलाद की जो पुरखों का बेख छोड़कर चल दे। हमें तो पहले ही ऐसा लगा था कि लाला होकर गाँव में नहीं रह सकेंगे। भला कायस्थ कहीं गाँव में टिकता है, एक-से-एक गाँव खाली पड़े हैं, सब कायस्थ शहर भाग गए प्रोफेसर साहेब मरद आदमी थे, जिंदगीभर यही डटे रहे ... अपने पुरखों की जगह-जमीन में शांति नहीं मिली तो और कहीं नहीं मिलेगी बच्चों' (पृ०312) यह वही गाँव है, जिसे किसी को उन्नति फूटी आँखों नहीं सुहाती फिर भी रहट की चोरी, बैल की चोरी, घर की संपत्ति की चोरी से तंग परिवार के प्रति गाँव के अच्छे लोगों की सहानुभूति भी है। लेखक की टिप्पणी है, 'सचमुच शहर एक बाजार है, जहाँ खरीदार बनकर ही रहा जा सकता है, गाँव की तरह तटस्थ होकर नहीं' (पृ०320)

गाँव और शहर के बीच कुछ छोड़ने और पकड़ने जैसा नासूरी अनुभव इसलिए है कि देश की विकास नीतियाँ शुरू से ही विलायतीपन से ग्रस्त रही हैं। 'जहाँ नौकरियाँ धीरे-धीरे महत्त्वपूर्ण होती चली गईं और खेती पीछे छूटती गई। आज नौकरियों के समक्ष खेती गौण है' (पृ०224) और नौकरियाँ अंततः मनुष्य के स्वायत्त कर्म को समाप्त कर देती हैं। एक रचनाकार इसे अनुभव करता है। यह दुर्योग अभी भी हमारे समाज में है कि रचनाकार के सामाजिक

अवदान को महत्त्व नहीं मिलता और 'लउरधर' संख्याबल वाली जातियाँ चुनाव जीतती हैं, ठेका हासिल करती हैं, दूसरों की संपत्ति झटक लेती हैं। लेखक ने प्रश्न उठाया है, 'व्यक्ति और समाज को संस्कारित करनेवाले साहित्य सर्जकों के प्रति क्या देश और समाज का कोई दायित्व नहीं बनता' (पृ०291) यह प्रश्न राजतंत्र में नहीं उठता था। कुछ-न-कुछ गुणी-विद्वान प्रतिष्ठित थे। यह प्रश्न अँग्रेजी की पूँजी प्रधान दुनिया में आज भी नहीं पनपता, लेकिन हिंदी के अंचल में हैं। पंक्ति आई है, 'गौड़ साहब ने हिंदी के प्रकाशकों के उस पक्ष का भी खुलासा किया, जहाँ वे स्वयं हवाई जहाज से चलते और उनके लेखक जमीन पर चप्पलें चटकाते नजर आते हैं' (पृ०386)। यही स्थिति हिंदी की नौकरियों की भी है, जहाँ अनेक तरह के चोचले हैं। लेखक ने आहत होकर लिखा है, 'मुझे सम्मानित देखने वाले काश मेरे जीवन एवं परिवार की तंगहाली देख पाते' (पृ०473)। यह स्थिति आत्मघाती है। इससे अँग्रेजी का वर्चस्व बढ़ रहा है, हिंदी दुर्बल हो रही है, जैसे शहरीकरण बढ़ रहा है, गाँव उजड़ रहे हैं।

'पानी बीच मीन पियासी' का दर्द विकृत व्यवस्था के कारण है। वैकल्पिक व्यवस्था कहीं से आयातित नहीं की जा सकती है। विकल्प इसी ज़मीन पर निर्मित करना होगा। इस तथ्य को भुलावा देने की ज़रूरत नहीं है कि अमुक देश में ऐसा है, दुनिया ऐसी हो रही है, वैसी हो रही है। एक संकीर्ण ग्रामीण परिवेश से निकलकर जैसे लेखक विस्तृत गाँव का निवासी हुआ, जिसके विषय में उसने लिखा है, 'यहाँ रहना और बसना वही लोग चाहते हैं, जो ग्रामीण मन-मिजाज के हैं या गाँव का ठेठ जीवन जिन्हें रास आता है। संभवतः मैं भी वैसे ही लोगों में हूँ' (पृ०316)। अपनी स्थानिकता में रहते हुए राष्ट्रीय और वैश्विक होना होगा। स्व और समाज का यही संबंध स्वाभाविक है। आत्मनिंदा के मनोरोगी आत्मसमृद्ध नहीं होते। ये पराधीनता की आँच में मोम-सा पिघल जाते हैं। ये आज भी हैं, तुलसीकाल में भी थे। लेकिन एक सर्जक को सृजन की अपनी ज़मीन चाहिए। वह अपनी स्मृति कैसे छोड़ सकता है? वह अपनी जातीय स्मृति को ऐतिहासिक भँवर से बाहर निकालता है।

गाँव मन-मिजाज के रचनाकार मिथिलेश्वर गाँव से बाहर बड़े गाँव में आ बसे। इस बड़े गाँव की ज़मीन भी उनके पिता की ख़रीदी हुई थी। वह भी पैतृक संपत्ति ही हुई। नई पैतृक ज़मीन पर रहकर अपनी निष्ठा और श्रद्धा से उन्होंने विस्तृत साहित्यिक समाज अर्जित किया। उनकी स्थानिकता छूटी नहीं, विस्तृत हुई। जैसा कि उन्होंने डॉ० नवलकिशोर गौड़ से सुना था—'मैं तो लेक्चरर के अभ्यर्थियों से कथासाहित्य के बारे में प्रेमचंद से मिथिलेश्वर तक पर प्रश्न पूछता हूँ। अब आप पर प्रश्न पूछे जा रहे हैं तो कालेज में आपकी नियुक्ति को लेकर परेशानी नहीं होनी चाहिए। आप ही की तरह शिवपूजन सहाय को शायद दूसरे विभाग में क्लर्क की नौकरी भी नहीं मिलती, लेकिन राजेंद्र कालेज, छपरा में बिना एम०ए० किए, उन्हें प्रोफ़ेसर बना दिया गया था' (पृ०387)। एक दिन प्रेमचंद और शिवपूजन सहाय की ऐतिहासिक शृंखला में लेखक ने भी अपना स्थान बनाया।

रचनाकार और प्राध्यापक के रूप में कार्यरत मिथिलेश्वर ने साहित्य-जगत के उन सभी व्यक्तियों को अपनी आत्मकथा में स्थान दिया है, जिनसे उनका जिस किसी रूप में संपर्क हुआ था। उनकी टिप्पणियाँ उन लोगों के चरित्र चिह्नित करती हैं। राजेंद्र यादव से संपर्क के

क्रम में टिप्पणी आई है—‘उस समय मेरी नई साहित्यिक समझ की भूल थी। राजेंद्रजी, राजेंद्रजी थे, भीष्म साहनी नहीं... मैं भीष्म साहनी जैसे लेखक से मिलकर आया था, जिनके आदर्श व्यक्तित्व से पूरी तरह प्रभावित था। शायद उसी आलोक में राजेंद्रजी को भी पाना चाहता था’ (पृ०242)। धर्मवीर भारती, नागार्जुन, रेणु, नंदन, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, अशोक वाजपेयी, भैरवप्रसाद गुप्त, निलय उपाध्याय, अब्दुल विस्मिल्लाह, उषाकिरण खान, शंकरदयालसिंह, विनीता अग्रवाल, घनश्याम पंकज, अनामिका और प्राध्यापक-आलोचक विश्वंभरनाथ उपाध्याय, नामवरसिंह, कल्याणमल लोढ़ा इत्यादि अनेक प्रसंगों में अपने-अपने व्यवहारसहित लिपिबद्ध हुए हैं। सबका लेन-देन हिसाब-किताब लेखक ने ‘ज्यों-की-त्यों धर दीन्हीं चदरिया’ की तर्ज पर चुकता किया है। एक अनबुझी सृजनशील प्यास के साथ यह कृति कथा-परितोष देती हुई गाँव, विस्तृत गाँव और साहित्य-जगत में विकसित होकर विराम लेती है। इसी में इस आत्मकथा की निजता और सार्वजनिकता है, स्थानिकता और वैश्विकता है।

**पानी बीच मीन पियासी** (आत्मकथात्मक उपन्यास); लेखक : मिथिलेश्वर; प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली 110003; संस्करण : 2010; मूल्य : 480.00

□ भाषा विभाग, एन०सी०ई०आर०टी०  
श्री अरविंदो मार्ग, नई दिल्ली-110016

## विश्वसाहित्य की अनमोल विरासत : मॉरिशस में भारत

डॉ० शकुंतला कालरा का यह ‘यात्रा-वृत्तांत’ इस विधा की एक अद्भुत कृति है। अपने देश भारत के लिए तो यह गौरवगाथा है ही, अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि से भी यह विश्वसाहित्य की एक अनमोल विरासत कहा जा सकता है। इसमें भारत से बरबस ले जाए गए भारतीयों पर नृशंस अत्याचार एवं उनकी जिजीविषा की कहानी है, जिसने मॉरिशस की धरती को वास्तव में सोना उगलनेवाली धरती बना दिया। अँग्रेजों के दलाल उनको यह कहकर ले गए थे कि वहाँ पत्थर तोड़ने पर सोना निकलता है। वहीं उन्होंने अपने परिश्रम से भूखे-प्यासे रहकर कोड़ों की मार सहकर यह सत्य सिद्ध कर दिया। उनकी व्यथा को लेखिका ने अपने भाव-भरे शब्दों में अभिव्यक्त कर दिया है।

‘मॉरिशस में भारत’ को शकुंतला जी ने निजी डायरी के रूप में लिखा है। अंतर्राष्ट्रीय रामायण-मेले में भाग लेने के लिए भारत से 2:30 बजे वे विमान में बैठीं, साढ़े नौ बजे मॉरिशस पहुँच गईं। वे सात दिन मॉरिशस में रहकर साढ़े सात घंटे की लंबी उड़ान के बाद इंदिरा गांधी

हवाई अड्डे पर वापस उतरतीं। इन्हीं सात दिनों की सच्ची डायरी है उनकी प्रस्तुत रोचक पुस्तक, जिसको उन्होंने दिनों के हिसाब से आठ खंडों में बाँटा है।

अपनी इस डायरी में लेखिका ने वहाँ के संपूर्ण इतिहास, भौगोलिक परिवेश को उजागर किया है। साथ ही उनसे जुड़ी पौराणिक कथाएँ अथवा जनश्रुतियों का भी परिचय दिया है। पुस्तक में लेखिका के ज्योतिषज्ञान का भी परिचय मिलता है। भारतीय संस्कृति की प्रतिछवि मॉरिशस में लेखिका ने अपने देश की धरती की धड़कनों को सुना है और उस सुखद अहसास को पाठकों तक पहुँचाकर उन्हें कृतार्थ किया है। पर्यटन-प्रेमी एवं संस्कृति-अनुरागीजन इसे अवश्य पढ़ना चाहेंगे।

मॉरिशस में एक भारत है यही प्रस्तुत पुस्तक 'मॉरिशस में भारत' का उद्देश्य है। लेखिका ने जिस प्रकार अपनी खुली आँखों से चौकन्ना होकर वहाँ की प्रकृति, जीवन-दर्शन, त्योहारों का तथा भारतीय भावनाओं से जुड़े रहने का वर्णन किया है, वह अद्भुत है। मैंने तो इस कृति को एक ही बैठक में पढ़ा और इसके विषय में कुछ कहने को मन मचल पड़ा। पहला विश्व हिंदी सम्मेलन भारत के नागपुर महानगर में संपन्न हुआ था। उसमें मॉरिशस से डॉ० शिवसागर रामगुलाम, अनिरुद्ध जी तथा अभिमन्यु अनत से वार्तालाप हुआ था। व्यथा से भरे उनके वक्तव्य भी सुने थे। इच्छा थी कि द्वितीय विश्व-हिंदी-सम्मेलन में मॉरिशस की यात्रा करूँ, परंतु परिस्थितियों की बेड़ियों ने बाँधे रखा। कदाचित इसीलिए मुझे डॉ० शकुंतला कालरा की यह डायरी बहुत अच्छी लगी, ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे यह मैं ही हूँ, जो वहाँ की यात्रा करके आई हूँ।

मैं लेखिका को इसके लिए बार-बार बधाई देती हूँ। पुस्तक का आवरण पृष्ठ सुंदर है। मॉरिशस के प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक सौंदर्य के सुंदर चित्रों से सुसज्जित है। लेखिका के साथ प्रकाशक भी बधाई का पात्र है।

**मॉरिशस में भारत** (यात्रा-वृत्तान्त); लेखिका : डॉ. शकुंतला कालरा; प्रकाशक : मंजुली प्रकाशन, पिलंजी गाँव, सरोजनी नगर, नई दिल्ली; संस्करण : 2010; मूल्य : 250.00

समीक्षिका

**डॉ० सरोजिनी कुलश्रेष्ठ**

(भूतपूर्व प्राचार्या किशोरी रमण महिला महाविद्यालय, मथुरा (उ०प्र०))

सी-56, सेक्टर 40, नोएडा 201301

09868452899



**हिन्दी साहित्य निकेतन**  
**16 साहित्य विहार, बिजनौर ( उ०प्र० )**  
फोन : 01342-263232, 09368141411

ई-मेल :

giriraj3100@rediffmail.com  
giriraj@hindisahityaniketan.com

वेबसाइट :

www.hindisahityaniketan.com

**महत्त्वपूर्ण कोश एवं संदर्भ ग्रंथ**

गूज़ल और उसका व्याकरण/निश्चर खानकाही एवं डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	150.00
हिंदी साहित्यकार संदर्भ कोश : भाग-1/डॉ० गिरिराजशरण, डॉ० मीना अग्रवाल	495.00
हिंदी साहित्यकार संदर्भ कोश : भाग-2/डॉ० गिरिराजशरण, डॉ० मीना अग्रवाल	700.00
शोधसंदर्भ-भाग-1/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल एवं डॉ० मीना अग्रवाल	500.00
शोधसंदर्भ-भाग-2/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल एवं डॉ० मीना अग्रवाल	550.00
शोधसंदर्भ-भाग-3/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल एवं डॉ० मीना अग्रवाल	525.00
शोधसंदर्भ-भाग-4/ डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल एवं डॉ० मीना अग्रवाल	595.00
शोधसंदर्भ-भाग-5/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल एवं डॉ० मीना अग्रवाल	895.00
तुकांत कोश/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल एवं डॉ० मीना अग्रवाल	300.00

**समीक्षा एवं समालोचना**

वादविवाद प्रतियोगिता : पक्ष और विपक्ष/डॉ० गिरिराजशरण, डॉ० मीना अग्रवाल	300.00
डॉ० कुँअर बेचैन के साहित्य में प्रतीक विधान/डॉ० अंजु भटनागर	500.00
मृदुला गर्ग कृत अनित्य : इतिहास और आख्यान का संबंध/डॉ० ज्योति सिंह	150.00
मृदुला गर्ग और नारी-अस्मिता का प्रश्न/ डॉ० ज्योति सिंह	300.00
काका हाथरसी : एक समीक्षा-यात्रा/डॉ० मिथिलेश माहेश्वरी	300.00
सांप्रदायिकता और हिंदी कथासाहित्य/डॉ० मनोजकुमार	250.00
अपनी कविताओं में अशोक चक्रधर/डॉ० दीपा के०	250.00
आधुनिक हिंदी गीतिकाव्य में संगीत (पुरस्कृत)/डॉ० मीना अग्रवाल	450.00
डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल : व्यक्ति और साहित्य/डॉ० हरीशकुमार सिंह	350.00
साठोत्तरी हिंदी-गूज़ल : डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल का योगदान/ डॉ० अनिलकुमार शर्मा	350.00
एक साक्षात्कार : पं० अमृतलाल नागर के साथ/डॉ० शंकर क्षेम	150.00
गूज़ल : सौंदर्य और यथार्थ/अनिरुद्ध सिन्हा	150.00
समय के हस्ताक्षर ( हिंदी के आधुनिक कवि )/डॉ० ज्योति व्यास	150.00
कालिदास के साहित्य में भौगोलिक तत्त्व/डॉ० लालबहादुर रावल	300.00

जनपद बिजनौर के आधुनिककालीन साहित्यकार/डॉ० अशोककुमार	350.00
बिजनौर क्षेत्र की ग्रामोद्योग-संबंधी शब्दावली का अध्ययन/डॉ० ओमदत्त आर्य	500.00
आस्थावाद एवं अन्य निबंध/डॉ० मिथिलेश दीक्षित	300.00
साहित्य और संस्कृति/डॉ० मिथिलेश दीक्षित	300.00
हास्य-निबंध : स्वतंत्रता के पश्चात्/डॉ० आशा रावत	350.00
आज़ादी के बाद का हिंदी गद्य-व्यंग्य/डॉ० प्रेम जनमेजय	350.00
हिंदी बालकाव्य के विविध पक्ष/विनोदचंद्र पांडेय	300.00
फिजी में प्रवासी भारतीय/डॉ० शुचि गुप्ता	300.00
मुक्तिबोध का रचना-संसार/डॉ० शिवशंकर लधवे	200.00

### हास्य-व्यंग्य

मेरी हास्य-व्यंग्य कविताएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	150.00
मेरे इक्यावन व्यंग्य/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	300.00
चुनी हुई हास्य कविताएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	250.00
मंचीय व्यंग्य एकांकी/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
बाबू झोलानाथ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	60.00
राजनीति में गिरगिटवाद/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	100.00
भज्जी का जूता/महेशचंद्र द्विवेदी	150.00
क्लियर फंडा/महेशचंद्र द्विवेदी	120.00
प्रिय-अप्रिय प्रशासकीय प्रसंग/महेशचंद्र द्विवेदी	170.00
वसीयतनामा/पं० सूर्यनारायण व्यास, सं० राजशेखर व्यास	250.00
नो टेंशन/डॉ० सुरेश अवस्थी	170.00
काका की विशिष्ट रचनाएँ/काका हाथरसी	200.00
काका के व्यंग्य-बाण/काका हाथरसी	60.00
कक्के के छक्के/काका हाथरसी	200.00
लूटनीति मंथन करी/काका हाथरसी	200.00
खिलखिलाहट/काका हाथरसी	60.00
पैसे कहाँ से दें/डॉ० आशा रावत	200.00
चाहिए एक और भगतसिंह/डॉ० आशा रावत	100.00
गुरुदक्षिणा (व्यंग्य उपन्यास)/डॉ० आशा रावत	100.00
नमस्कार प्रजातंत्र/महेश राजा	150.00
ए जी सुनिए/अशोक चक्रधर	100.00
इसलिए बौड़म जी इसलिए/अशोक चक्रधर	100.00
चुटपुटकुले/अशोक चक्रधर	60.00
तमाशा/अशोक चक्रधर	60.00
रंग जमा लो/अशोक चक्रधर	65.00
सो तो है/अशोक चक्रधर	60.00
हँसो और मर जाओ/अशोक चक्रधर	60.00

नमस्ते जी/डॉ० बलजीत सिंह	150.00
अब हँसने की बारी है/डॉ० बलजीत सिंह	200.00
1991 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	50.00
1992 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	50.00
1993 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	50.00
1994 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	60.00
1995 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	65.00
1996 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
1997 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
1998 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
1999 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	220.00
2002 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	250.00
2003 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	250.00
2004 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	270.00
पिछले दशक की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य कहानियाँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
पिछले दशक की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य कविताएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
पिछले दशक के श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य एकांकी/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
शिवशर्मा के चुने हुए व्यंग्य/डॉ० शिव शर्मा	50.00
बजरंगा (व्यंग्य-उपन्यास)/डॉ० शिव शर्मा	250.00
अपने-अपने भस्मासुर/डॉ० शिव शर्मा	150.00
उलटा-पुलटा/डॉ० राकेश शरद	60.00
हास्य-व्यंग्य : मधुप पांडेय के संग/मधुप पांडेय	160.00
धमकीबाज़ी के युग में/निश्तर खानकाही	60.00
ला खर्चा निकाल/गजेंद्र तिवारी	200.00
जलनेवाले जला करें/गजेंद्र तिवारी	60.00
प्रतिनिधि व्यंग्य/दामोदरदत्त दीक्षित	100.00
कवयित्री सम्मेलन/सुरेंद्रमोहन मिश्र	100.00
पेट में दाढ़ियाँ हैं/सूर्यकुमार पांडेय	100.00
ये है इंडिया/डॉ० हरीशकुमार सिंह	120.00
आँखों देखा हाल/डॉ० हरीशकुमार सिंह	150.00
लिफ्ट करा दे/डॉ० हरीशकुमार सिंह	200.00
देवेंद्र के कार्टून/देवेंद्र शर्मा	80.00
कार्टून कौतुक/देवेंद्र शर्मा	120.00
लिफाफे का अर्थशास्त्र/डॉ० पिलकेंद्र अरोरा	120.00

### कहानी

जिज्ञासा और अन्य कहानियाँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	260.00
--	--------

पच्चीस कहानियाँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
कथा जारी है/बाबूसिंह चौहान	150.00
इक्कीस कहानियाँ/सत्यराज	200.00
अंदर धूप बाहर धूप ( नारी-मन की कहानियाँ )/डॉ० मीना अग्रवाल	150.00
उत्तराखंड की लोकगाथाएँ/डॉ० दिनेशचंद्र बलूनी	200.00
एक बौना मानव/महेशचंद्र द्विवेदी	100.00
लव जिहाद/महेशचंद्र द्विवेदी	200.00
भीगे पंख/महेशचंद्र द्विवेदी	200.00
कौन कितना निकट/रेणु 'राजवंशी' गुप्ता	120.00
लघु कथाएँ/डॉ० हरिशरण वर्मा	150.00

### उपन्यास

अनोखा उपहार/श्रीमती सुषमा अग्रवाल	200.00
आसरा/श्रीमती सुषमा अग्रवाल	100.00
तीन बीघा ज़मीन/श्रीमती सुषमा अग्रवाल	200.00
मन के जीते जीत/श्रीमती सुषमा अग्रवाल	200.00
कालचक्र से परे/श्रीमती नीरजा द्विवेदी	200.00
और लहरें उफनती रहीं/डॉ० तारादत्त निर्विरोध	200.00
बजरंगा (व्यंग्य-उपन्यास)/डॉ० शिव शर्मा	250.00
अराज-राज/डॉ० मोहन गुप्त	200.00
सुराज-राज/डॉ० मोहन गुप्त	350.00
एक गुमनाम फौजी की डायरी/डॉ० आशा रावत	150.00
एक चेहरे की कहानी/डॉ० आशा रावत	150.00
गुरुदक्षिणा (व्यंग्य-उपन्यास/डॉ० आशा रावत	200.00

### एकांकी-नाटक

मंचीय व्यंग्य एकांकी/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	300.00
बच्चों के हास्य नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	300.00
बच्चों के रोचक नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	300.00
बच्चों के शिक्षाप्रद नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	300.00
बच्चों के अनुपम नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	300.00
बच्चों के उत्तम नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	300.00
भारतीय गौरव के बाल नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	300.00
प्रेमचंद की कहानियों पर आधारित नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	300.00
ग्यारह नुक्कड़ नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	300.00
नीली आँखें/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	300.00
संसार : एक नाट्यशाला/बाबूसिंह चौहान	150.00

ग्यारह एकांकी/डॉ० हरिशरण वर्मा	200.00
दमन/रामाश्रय दीक्षित	100.00

### ललित निबंध एवं रेखाचित्र

कैसे-कैसे लोग मिले/निश्तर खानकाही	325.00
यादों का मधुबन/कृष्ण राघव	150.00
समय के चाक पर/डॉ० लालबहादुर रावल	125.00
समय एक नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	160.00
दर्पण झूठ बोलता है/बाबूसिंह चौहान	60.00
मकड़जाल में आदमी/बाबूसिंह चौहान	80.00
उफनती नदियों के सामने/बाबूसिंह चौहान	100.00
पीठ पर नील गगन/बाबूसिंह चौहान	100.00
इन दिनों इस समर में/डॉ० कृष्णकुमार रत्न	250.00

### गीत-गज़ल

निश्तर खानकाही समग्र (प्रकाशनाधीन)/निश्तर खानकाही	500.00
मोम की बैसाखियाँ (गज़ल-संग्रह)/निश्तर खानकाही	50.00
गज़ल मैंने छेड़ी (गज़ल-संग्रह)/निश्तर खानकाही	80.00
गज़लों के शहर में (गज़ल-संग्रह)/निश्तर खानकाही	200.00
मेरे लहू की आग (गज़ल-संग्रह)/निश्तर खानकाही	150.00
कोई आवाज़ देता है/डॉ० कुँअर बेचैन	150.00
दिन दिवंगत हुए/डॉ० कुँअर बेचैन	150.00
कुँअर बेचैन के नवगीत/डॉ० कुँअर बेचैन	200.00
कुँअर बेचैन के प्रेमगीत/डॉ० कुँअर बेचैन	150.00
पर्स पर तितली (हाइकु)/डॉ० कुँअर बेचैन	200.00
मातृभूमि के लिए/रमेश पोखरियाल 'निशंक'	200.00
संघर्ष जारी है/रमेश पोखरियाल 'निशंक'	170.00
देश हम जलने न देंगे/रमेश पोखरियाल 'निशंक'	150.00
जीवन-पथ में/रमेश पोखरियाल 'निशंक'	150.00
तुम भी मेरे साथ चलो/रमेश पोखरियाल 'निशंक'	150.00
शमा हर रंग में जलती है/रामेश्वरप्रसाद	150.00
अक्षर हूँ मैं (कविताएँ)/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	150.00
सन्नाटे में गूँज (गज़ल-संग्रह)/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	160.00
भीतर शोर बहुत है (गज़ल-संग्रह)/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	160.00
मौसम बदल गया कितना (गज़ल-संग्रह)/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	100.00
रोशनी बनकर जिओ (गज़ल-संग्रह)/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	150.00
शिकायत न करो तुम (गज़ल-संग्रह)/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	150.00

आदमी है कहाँ (ग़ज़ल-संग्रह)/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
हिंदी की सर्वश्रेष्ठ ग़ज़लें/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	150.00
सच सूली पर टँगने हैं (अनुपलब्ध)/डॉ० अजय जनमेजय	80.00
तुम्हारे बाद (अनुपलब्ध)/डॉ० अजय जनमेजय	80.00
आदमी के हक़ में (ग़ज़ल-संग्रह)/डॉ० रामगोपाल भारतीय	100.00
यहाँ तक वहाँ से (कविताएँ)/रमेश कौशिक	200.00
हास्य नहीं व्यंग्य (कविताएँ)/रमेश कौशिक	150.00
गांधारी का सच (खंडकाव्य)/आर्यभूषण गर्ग	200.00
राधेय (खंडकाव्य)/डॉ० आकुल	120.00
असित चंद्र : अवदात चंद्रिका (काव्य-नाटक)/डॉ० आकुल	120.00
जिंदगी गाती तो है/डॉ० आकुल	120.00
आसमान मेरा भी है (ग़ज़ल-संग्रह)/किशनस्वरूप	100.00
बूँद-बूँद सागर मैं (ग़ज़ल-संग्रह)/किशनस्वरूप	100.00
पंथ के पाँवड़े (काव्य-संग्रह)/किशनस्वरूप	100.00
आँचल-आँचल खुशबू (ग़ज़ल-संग्रह)/कर्नल तिलकराज	100.00
ज़ग़्म खिलने को हैं (ग़ज़ल-संग्रह)/कर्नल तिलकराज	100.00
अग्निसुता/राजेंद्र शर्मा	150.00
सीतायनी/डॉ० शंकर क्षेम	150.00
हिरना लौट चलें (गीत-संग्रह)/शचींद्र भटनागर	150.00
तिराहे पर (ग़ज़ल-संग्रह)/शचींद्र भटनागर	150.00
ढाई आखर प्रेम के (गीत-संग्रह)/शचींद्र भटनागर	200.00
अखंडित अस्मिता (मुक्तक-संग्रह)/शचींद्र भटनागर	200.00
गुलमुहर की छाँव में (ग़ज़ल-संग्रह)/मनोज अबोध	100.00
स्नेहा/तारा प्रकाश	100.00
उजियारा आशाओं का/तारा प्रकाश	150.00
बुलंदी इरादों की/तारा प्रकाश	150.00
चलने से मंज़िल मिलती है/तारा प्रकाश	200.00
इंद्रधनुष/तारा प्रकाश	200.00
संवेदनाओं के रंग/तारा प्रकाश	200.00
सुरों के ख़त/अश्विनीकुमार 'विष्णु'	100.00
सुनहरे मंत्र का जादू/अश्विनीकुमार 'विष्णु'	100.00
सुनाते हुए ऋतुगीत/अश्विनीकुमार 'विष्णु'	200.00
सफ़र में साथ-साथ (मुक्तक-संग्रह)/डॉ० मीना अग्रवाल	150.00
जो सच कहे (हाइकु-संग्रह)/डॉ० मीना अग्रवाल	150.00
यादें बोलती हैं (कविताएँ)/डॉ० मीना अग्रवाल	200.00
एक मुट्ठी धूप/नीरजा सिंह	100.00
कटे हाथों के हस्ताक्षर/डॉ० कमल मुसद्दी	150.00

फ़ासले मिट जाएंगे (गज़लें)/डॉ० बलजीत सिंह	150.00
शब्द-शब्द संदेश (दोहा-संग्रह)/डॉ० बलजीत सिंह	150.00
जीवन है मुस्कान (दोहा-संग्रह)/डॉ० बलजीत सिंह	150.00
भीतर का संगीत (दोहा-संग्रह)/ डॉ० बलजीत सिंह	200.00
सुख के बिरवे रोप (दोहा-संग्रह)/ डॉ० बलजीत सिंह	200.00
इंद्रधनुष के रंग (दोहा-संग्रह)/ डॉ० बलजीत सिंह	200.00
बहती नदी हो जाइए (गज़ल-संग्रह)/ डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'	150.00
जीवन-अमृत : पर्यावरण चेतना (दोहा-संग्रह)/ डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'	200.00
अक्षर-अक्षर हो अमर (दोहा-संग्रह)/ डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'	200.00
वैदुष्यमणि विद्योत्तमा (खंडकाव्य)/ डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'	200.00
अंधियारों से लड़ना सीखें (गज़ल-संग्रह)/ डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'	200.00
स्मृतियाँ/श्रीमती सुषमा अग्रवाल	100.00
अनजाने आकाश में/महेशचंद्र द्विवेदी	170.00
बातें कुछ अनकही/सत्येंद्र गुप्ता	200.00
मैंने देखा है/सत्येंद्र गुप्ता	200.00
हौसला तो है/सत्येंद्र गुप्ता	200.00
ज़िंदगी रुकती नहीं/सत्येंद्र गुप्ता	200.00
जज़्बात की धूप/धूप धौलपुरी	250.00
आड़ी-तिरछी यादों-सा कुछ/नवलकिशोर शर्मा	180.00
जब चाँद डूब रहा था/नवलकिशोर शर्मा	200.00
एड्स शतक/पूरणसिंह सैनी	150.00
गोगाचरित (महाकाव्य)/पूरणसिंह सैनी	350.00
खोजें जीवन सत्य (दोहा-संग्रह)/डॉ० ओमदत्त आर्य	150.00
राष्ट्र-शक्ति/सलेकचंद संगल	150.00
माँ तुझे प्रणाम/सलेकचंद संगल	150.00
हर वृक्ष महाबोधि नहीं होता/ महेंद्रकुमार	200.00
समय के भूगोल में/ राजेंद्र मिश्र	200.00
लहरों के विरुद्ध/ डॉ० रामप्रकाश	200.00

### आत्मकथा-संस्मरण

मेरा जीवन : ए-वन/काका हाथरसी	300.00
आत्मसरोवर/ओम्प्रकाश अग्रवाल	125.00
निष्ठा के शिखर-बिंदु/नीरजा द्विवेदी	200.00
सफ़र साठ साल का/डॉ० अजय जनमेजय (संपादक)	400.00
यादों की गुल्लक/गीतिका गोयल, अनुभूति भटनागर (संपादक)	300.00
आधी हकीकत आधा फ़साना/डॉ० बलजीतसिंह	150.00

## बाल-साहित्य

धरती पर चाँद (बालगीत)/शंभूनाथ तिवारी	150.00
हम बगिया के फूल (बालगीत)/डा० बलजीतसिंह	150.00
आओ गीत सुनाओ गीत (बालगीत)/डा० बलजीतसिंह	150.00
दिन बचपन के (बालगीत)/डा० बलजीतसिंह	200.00
छुट्टी के दिन बड़े सुहाने (बालगीत)/डा० बलजीतसिंह	200.00
जादूगर बादल (बालगीत)/विनोद भुंग	150.00
आटे-बाटे दही चटाके (शिशुगीत)/बालकृष्ण गर्ग	150.00
चुनमुन की कहानियाँ (पुरस्कृत)/गीतिका गोयल	200.00
किशोर मन की कहानियाँ/डॉ० सरला अग्रवाल	150.00
मानव-विकास की कहानी/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	300.00
मानव का विकास/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	300.00
मानव सभ्यता का विकास/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	300.00
पाटी गोम्स/चाँदनी कक्कड़	125.00

## विविध

उत्तराखण्ड में आध्यात्मिक पर्यटन/डॉ० सरिता शाह	200.00
निश्तर खानकाही, डॉ० गिरिराजशरण, डॉ० मीना अग्रवाल	
पर्यावरण : दशा और दिशा (पुरस्कृत)	300.00
नारी : कल और आज	300.00
निश्तर खानकाही, डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	
विश्व आतंकवाद : क्यों और कैसे	300.00
हिंसा : कैसी-कैसी	300.00
मानवाधिकार : दशा और दिशा (पुरस्कृत)	300.00
रमेशचंद्र दीक्षित, गिरिराज शाह, गिरिराजशरण अग्रवाल	
अमृतवाणी/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	300.00
वेद-वेदान्त दर्शन/डॉ० मूलचंद दालभ	300.00
प्रकृति : एक ज्ञेय तत्त्व/डॉ० मूलचंद दालभ	300.00
कन्हैया गीता /डॉ० मूलचंद दालभ	900.00
मैं हरिद्वार बोल रहा हूँ/डॉ० कमलकांत बुधकर	395.00
टास्कफोर्स : हैल्थकेयर प्रोजेक्ट्स/डॉ० गोविंद शर्मा एवं रवि लंगर	450.00
सिद्धाश्रम का संन्यासी/मनोज भारद्वाज	300.00
समुद्री दैत्य सुनामी/डॉ० लालबहादुर रावल	300.00

## हिंदी साहित्य निकेतन

16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ०प्र०)

फोन : 01342-263232, 09368141411